पुरुषार्थ

'भारतरत्न' डॉ. भगवानदास

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

१०१

॥ श्रीः ॥

पुरुषार्थ

लेखक

'भारतरत्न' डॉ० भगवान्दास

(संशोधित परिष्कृत तृतीय संस्करण)

चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१

१९६६

THE

VIDYABHAWAN RASTRABHASHA GRANTHAMALA

101

****

PURUṢĀRTHA

[*Principal objects of Human Life*]
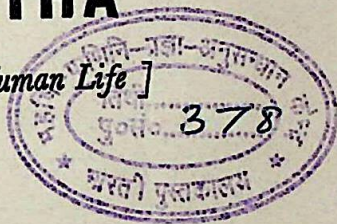
By

BHĀRATARATNA

Dr. BHAGAWĀN DĀS

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1966
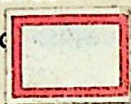
नवीन संस्करण (१९४७) का

प्राक्-कथन

इस ग्रन्थ के पुराने संस्करण मे, पृ० २४१-२५० पर नीचे लिखा हुआ वक्तव्य छपा था, टिप्पणी (फुट नोट) के रूप मे; उस सब का समावेश अब इस प्राक्-कथन (फ़ोर-वर्ड) मे कर दिया जाता है :—

"कुछ निज सम्बन्धी, कुछ शास्त्र विषयक, निवेदन; तथा, ग्रन्थ के छपने मे विलम्ब के हेतु"-इस ग्रन्थ का पहिला फर्मा (पृ० १-१६ = १-१४) सौर २५-२-१९९३ वि० (८-६-१९३६ ई०) को छपा; और पन्द्रहवां (पृ० २२५-२४० = २१०-२२६), सौर १७-९-११४४ वि० (१-१-१९३८ ई०) को। उन दिनो भारत की केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा, 'सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली', का सदस्य, संयुक्त प्रान्त के सात नगरों की जनता की ओर से, निर्विरोध 'निर्वाचित' 'वृत्त' हो जाने के कारण, नई दिल्ली और शिमला मे, ('श्यामला' देवी के प्राचीन मंदिर के कारण यह नाम बन गया है), प्रतिवर्ष प्रायः पांच महीने मुझे बिताने पड़ते थे; तथा, बचे सात महीनो मे भी सभा-सम्बन्धी कार्य, और अन्य अनिवार्य कार्य भी, रहता था; ऐसे हेतुओं से, 'पुरुषार्थ' के छपने का काम बहुत मन्द गति से चलता रहा। सन् १९३८ ई० के अंत मे, उस सभा की सदस्यता के त्याग का पत्र, गवर्मेण्ट को, मै ने भेज दिया। हिन्दुओं मे, अन्तर्वर्ण, अर्थात् भिन्न वर्णों का परस्पर, विवाह, वैध, जायज़, 'ला-फ़ुल', हो जाय; दूषित और धर्म-विरुद्ध न माना जाय; 'वर्ण' का अर्थ 'पेशा', 'जीविका कर्म', 'वृत्ति' समझा जाय, और जाति का अर्थ 'जन्म'; विवाह के पीछे, पत्नी का 'वर्ण' वही माना जाय जो पति का हो (जैसे गोत्र), जिस से 'असवर्ण' विवाह का लांछन, कलंक, लगा कर, ऐसे पति-पत्नी को 'जात-बाहर' न किया जाय; समान शील-व्यसनता और समान-वृत्तिता ही असली सच्ची 'स-वर्णता' समझी जाय, जो ही मनु और ऋषियों की स्मृतियों का आशय है; और हिंदू-समाज और हिन्दू धर्म, दिन-दिन अधिकाधिक हीन क्षीण न किया जाय—इस

के लिए, व्यवस्थापक सभा से एक विधान क़ानून, 'ऐक्ट', बनवाने का मैं ने बहुत प्रयत्न किया। आर्ष प्रमाणो का संग्रह किया; ऐतिहासिक उदाहरण एकत्र किये; महात्मा गांधी, पंडित मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु चित्तरंजन दास प्रभृति जैसे तपस्वी विद्वान् , आत्मत्यागी, देशभक्त, वर्त्तमान काल मे भारतीय महा-जन-ता के सर्वादृत नेताओं के कुटुम्बों मे जो ऐसे विवाह हुए और हो रहे हैं, उन का दृष्टान्त दिया; दैनिक अंग्रेज़ी और हिन्दी पत्रों मे, इस विषय का ज्ञान फैलाने के लिये, और जन-मत को इस ओर झुकाने के लिये, बहुत से लेख छपवाये; पर, तो भी, जिस कांग्रेस दल, 'पार्टी', का मै सदस्य था उस के ही बहुतेरे सदस्यों ने इस ओर उपेक्षा की, ओर कुछ ने स्पष्ट वैमत्य बतलाया, जैसा 'सनातनधर्म' की पुकार करने वाले दलों ने; यद्यपि अन्य दलों के कुछ सदस्यों ने, और देश की बहुतेरी संस्थाओं ने, और मान्य गण्य सज्जनो ने मेरे विचार और अनुष्ठान का अनुमोदन किया; इस कारण से मेरा सब प्रयास, व्यवस्थापक सभा मे, व्यर्थ और निष्फल हो गया, और मेरा प्रस्ताव, गवर्मेण्ट की ओर से (प्रायः राजनीतिक हेतुओं से) विरोध होने के कारण, गिर गया। पर, देश मे, दो वर्ष तक, इस विषय पर बहुत चर्चा हुई; और लिखे-पढ़े, विचारशील, नये समय की नयी अवस्था को पहिचानने वाले लोगों पर इस का असर हुआ; यहां तक कि बहुत से संस्कृत-पाठी युवा विद्यार्थियों, और कुछ प्रौढ़ और वृद्ध पंडितों, पर भी, इस बुद्धि-संमर्द और क्षुण्ण-क्षोद का प्रभाव पड़ा, और वे '(जीविका-) कर्मणा वर्णः' के सिद्धान्त के कम-बेश पक्षपाती हो गये। इतना लाभ हुआ, और इसी आशय का एक विधान, केवल आर्य-समाजी हिंदुओं के लिये, व्यवस्थापक सभा मे बन भी गया।

त्याग-पत्र का हेतु

इस प्रकार से, अपने परिश्रम की अकृतार्थता वा स्वल्प कृतार्थता के अलावा, व्यवस्थापक सभा मे कोई अन्य ठोस काम भी, प्रजा के स्थायी सच्चे हित का, होते हुए, मै ने नहीं देखा। गवर्मेंटी सदस्यों मे हठ और वितंडा, और प्रजा-वृत सदस्यों मे विवाद और जल्प, और दोनो मे उन्ही बातों, तर्कों, प्रतितर्कों, का पुनः पुनः पिष्टपेषण, और समय का बहुत अपव्यय देखा। और भी : न तो प्रजा-वृत सदस्यों मे, दूर-दर्शिनी शिष्ट-

सग्राहिणी, दुष्ट-निग्राहिणी, समाज के सब अंगों के समन्वित कल्याण का ध्यान रखती बुद्धि से, कोई सर्वांगीण विधान बनाने की प्रवृत्ति ही देखी, न उन को, यदि चाहते तौ भी, कोई भी विधान, भला या बुरा, 'वाइस-राय' 'उप-सम्राट्', 'स्थानीय सम्राट्' की स्वीकृति के बिना बना डालने की शक्ति ही गवर्मेंट ने दे रक्खी थी; अन्तिम अधिकार, हाँ या नहीं का, सब 'वाइस-राय' के ही हाथ मे था और है; 'प्रजा-वृत व्यवस्थापक सभा'—यह केवल ढोंग और अर्थ-शून्य नाम मात्र है। हां, शासन-सम्बन्धी विविध विषयों पर, सभा मे गवर्मेंटी सदस्यों से प्रश्न करने का अधिकार प्रजा-निर्वाचित सदस्यों को मिला है; और इस के सुप्रयोग से, तथा वाद-विवादों के प्रवाह मे भी, शासकों के अनाचारों का उद्घाटन, और दुःशासन की पोल का प्रकाशन, जनता के समक्ष हो सकता है. और कुछ न कुछ होता रहता है, जिस से भारत की जनता को, शासन के प्रकार, 'फ़ार्म आफ़ गवर्मेण्ट', के बदलने और 'स्व-राज' की प्राप्ति के यत्न मे, जागरूक, जागर, सजग, साधवान, दृढ़, रक्खा गया है। स्यात् गवर्मेण्टी अफ़सरों के हृदयों मे भी, कभी कभी, कुछ त्रपा, लज्जा, शर्म, कुछ क्षणो के लिए जाग उठती हो।

स्व-राज योजना का अभाव

परन्तु, सच्चे 'स्व-राज्य' की कोई सर्वाङ्गीण योजना वा रूप-रेखा, कांग्रेस के वा अन्य किसी दल के नेताओं ने, भारत जनता के सामने आज तक कभी नहीं रक्खी। यदि रखते तो उस से समग्र जनता को विस्पष्ट ज्ञान होता कि 'स्व-राज्य' यह वस्तु है, उस का यह अर्थ है, इस मे समाज की ऐसी-ऐसी सुव्यवस्था करने से प्रत्येक मनुष्य को पेट भर खाना, पीठ भर कपड़ा, सिर पर छानी छप्पर, उचित गार्हस्थ्य-जीवन, उचित कलत्र-पुत्र सुख, उचित काम-दाम-आराम, तथा अपनी रुचि और बुद्धि के अनुसार 'ईश्वर' नाम के वा अन्य किसी नाम के किसी पदार्थ का यथेष्ट उपासन करने का अवसर, बिना दूसरे के भोजन भजन मे विघ्न किये, मिल जायगा, और उन के शरीर की तथा चित्त की स्वार्थी भी और परार्थी भी भूख-प्यास उचित परिमित मात्रा मे तृप्त हो सकेगी। ऐसी योजना देश के सामने रखने के लिए, १९२१ ई० से, मैं निरन्तर दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्रों मे, तथा पुस्तक पुस्तिकाओं मे, रटता रहा

हूँ, तथा महात्मा गाँधी आदि नेताओं से ज़बानी भी और पत्र-द्वारा भी कहता रहा हूँ, और समय-समय पर केंद्रीय व्यवस्थापक सभा मे भी सूचना करता रहा। ऐसी योजना से सारी जनता को बहुत उपयोगी उत्तम-शासन और समाज व्यवस्थापन सम्बन्धी शिक्षा मिलती, उन की विमर्श-बुद्धि जागती, परस्पर विचार-विनिमय करते, 'स्व' का सच्चा अर्थ (अधम 'स्व' नहीं, उत्तम 'स्व') समझ जाते, और इस समझ से स्व-अलवम्वन स्व-शासन स्व-राजन का सामर्थ्य पाते, हिन्दू-मुस्लिम का कलह मिटता, मेल, सहायन, 'एका', बढ़ता; जिस एका के लिए सभी नेता नायक चिल्लाते पुकारते रहे, पर जिस का गुर, रहस्य, राज़, किसी ने भी ठीक-ठीक नहीं पहिचाना, न बताया, न काम मे ला सके—वह गुर सव को प्रकट और विदित हो जाता, 'स्व-राज' 'स्वतन्त्रता', 'पूर्ण-स्वतन्त्रता' आदि शब्द, निरे क्षोभ वर्धक, उपद्रवकारक, विभिन्न, विरुद्ध, भ्रमऽवह, घोष, 'नारे' आरव, 'आरो', पुकार, आक्रन्द, प्रत्येक व्यक्ति वा दल वा जात वा सम्प्रदाय के मनमाने अर्थों के आधार न रह जाते; गवर्मेण्ट के रूप को बदलने का प्रयत्न सफल होता; क्योंकि, सम्भवतः वर्तमान गवर्मेण्ट को भी, तथा अन्य देशों की गवर्मेण्टों को भी, यह सूझ जाता कि, हाँ, यह योजना युक्तियुक्त बुद्धिसंगत है, और, आवश्यकीय बहुसम्मत घटाव बढ़ाव के बाद, मान्य अनुमोद्य है; और गवर्मेण्ट अपना रूप बदलने को स्वयं राज़ी हो जाती, जिस से 'ब्रिटिश इंडियन कामन्-वेल्थ' वा संघ-राज्य की स्थापना हो जाती; और वह संघ, क्रमशः, अन्य राष्ट्रों के भी शामिल होते जाने से, विश्व-संघ का रूप धारण कर लेता। और भी; तत्काल, ऐसी योजना, जनता के लिए अंधकार मे दीपक का काम करती; सच्चा, बुद्धि-ग्राह्य, बुद्धि-संतोषक, लक्ष्य दिखा कर, भूल भटक शंका के प्रत्येक स्थान पर पथ-प्रदर्शन करती, (क्योंकि विना लक्ष्य को, विना साध्य को, निश्चित और स्थिर किये, उचित साधन का उचित मार्ग का, निर्णय कैसे हो सकता है ?); जोश के साथ होश को, उत्साह के साथ ज्ञान को, तपस् के साथ विद्या को बढ़ा कर, पेश-रवों-पेशवाओं और पै-रवों, नेताओं और नीतों, को सत्-लक्ष्य की ओर, सन्-मार्ग से 'नयन' करने के लिये दूरदर्शी 'नयन', नेत्र, नेता, नायक, आंख, भी दे कर, उस जोश और उत्साह को दृढ़, बद्धमूल, चिरस्थायी कर देतीं, वर्तमान गवर्मेण्ट पर, अपना रूप बदलने के लिये,

संघटित उचित, शांत, न्याय्य, अधृष्य और सफल दबाव डालने की शक्ति देती; उत्साह की ज्वाला को ज्ञान का तैल देती रहती। इस के विना जनता का जोश, पुनः पुनः असहयोग के लिये, विविध प्रकार के सत्याग्रह के लिये, उभड़ कर, गवर्मेण्ट की ओर से प्रयोग की गई दमन की कार्रवाइयों से पुनः पुनः शीघ्र ही दब गया, आतशबाजी की फुलझरी ज्वालाओं और कणो के ऐसा, कुछ क्षणों के लिए चमक उचक कर राख हो गया; और गवर्मेण्ट को वह कहने का मौक़ा, अवसर, मिलता रहा कि हिन्दू-मुसलमानो मे, छूत-अछूत मे, तथा अन्य राजनीतिक और साम्प्रदायिक दलों मे, एकमत्य नहीं, प्रत्युत बहुत वैमत्य है, इस लिये कांग्रेस की बात सुनी नहीं जा सकती। साधारण मनुष्यों की प्रकृति है, दूसरों पर दोष डालना, अपना दोष नहीं देखना। भारत मे, सब दल एक दूसरे को तथा गवर्मेण्ट को, और गवर्मेण्ट-वाले इन सब को ही कलंक लगाते हैं; अपने भारी अवगुण कोई नहीं पहिचानते। यूरोप मे भी, राष्ट्रों के बीच यही हाल है। इसी से मानव संसार कलहमय युद्धमय हो रहा है।

राजन्!, सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि,
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन् अपि न पश्यसि।
(विदुर-नीति)

इन बातों से कामऽध्यात्म का सम्बन्ध

अस्तु; यह सब, भारतीय 'इति-ह-आस', क्या 'इति-ह-अस्ति' और 'इति-ह-भवत्', की बात, यहाँ इस 'कामऽध्यात्म' के प्रसंग मे इस हेतु लिखा कि मानव समाज की सर्वांगीण सुव्यवस्था के विना चारो मे से कोई पुरुषार्थ न काम ही, न धर्म, अर्थ, मोक्ष ही, सिद्ध हो सकता है; '(जीविका-) कर्मणा वर्णः' और 'वयसा आश्रमः' के सिद्धान्त पर समाज की वर्णाश्रम-धर्मऽत्मक सुव्यवस्था करना ही राजा का परम धर्म है; क्योंकि सब धर्म इसी के अंतर्गत हैं।

वर्णानां आश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता। (मनु)
सर्वे धर्माः राज-धर्मे प्रविष्टाः (म० भा० शा०)

तथा ऐसी ही सुव्यवस्था से, न केवल भारतवासियों का, अपितु सारी दुनिया के सब देशों के, सब सल्तनतों, राज्यों, राष्ट्रों, के, सब आदमियों

का भला हो सकता है; और समय जो दारुण युद्ध सब दिशाओं मे प्रवर्त्तमान है, उस की जगह सब मुल्कों और क़ौमो मे मेल मुहब्बत बढ़ सकती है।

ऐसे विचारों की ओर, केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा मे, मैं ने किसी की रुचि नहीं देखी; "दीर्घं पश्यत, मा ह्रस्वं" की प्राचीन बुद्धि की अवहेला कर के, ह्रस्वदर्शिता अल्पदर्शिता की ही ओर रुचि देखी; छोटी छोटी तात्कालिक बातों मे ही प्रजा-वृत सदस्य लोग प्रायः मन अटकाते थे, और उन्हीं पर बहस मुबाहिसा करने मे अधिकांश शक्ति और समय का व्यय कर देते थे, व्यापक और स्थायी लोकहित की बातों पर विचार प्रायः नहीं के बराबर करते थे; और गवर्मेण्टी सदस्यों का तो इष्ट और यत्न ही रहता था, कि अन्य सदस्यों का मन ऐसी छोटी बातों मे ही फँसा रहै; सर्वांगीण प्रजाहित की व्यापक और गंभीर बातों की ओर न जाय; इस से, मेरा मन उधर से निराश और उदास हुआ, और मैंने त्याग-पत्र भेज दिया।

इस ग्रन्थ की प्रगति मे अन्य बाधक; स्व-राज के स्थान मे कलि-राज

इस के बाद, 'पुरुषार्थ' ग्रंथ का कार्य चलाना चाहता था। पर, देश और परदेश की दशा देखते हुए, अंतरात्मा की प्रेरणा से कुछ अन्य ग्रन्थों का लिखना छापना अधिक आवश्यक और अविलंब्य (त्वरऽकांक्षी, ताकीदी, 'अर्जेंट', जान पड़ा। हिन्दू-मुस्लिम का विरोध, छूत-अछूत का द्रोह, 'नीचजात-ऊँचजात' का वैमनस्य, 'जात-जात' का द्वेष, राष्ट्रों का घोर युद्ध, रक्तपात, प्राणहरण, द्रव्यध्वंसन, प्रजानाशन का उद्योग, काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर का ताण्डव, सच्चे स्वराज के स्थान मे कलि के निर्मर्याद साम्राज्य का विस्तार, बढ़ता ही जाता था; जिस का मूल-कारण, सात्त्विक तात्त्विक सारधर्म को भुला कर, धर्माभासों और मूढ़-ग्राहों से साधारण जनता का प्राण अंटकाना ही जान पड़ता है; जिन धर्भाभासों, मूढ़ग्राहों, परस्पर-द्वेष-बुद्धियों को सभी प्रचलित धर्मों मे, तथा सभी राष्ट्रों मे स्वार्थी, कपटी, दम्भी, लोभान्ध, मदान्ध, आसुरी-सम्पत्-सम्पन्न, अज्ञानमय धर्माधिकारियों और राष्ट्रनायकों ने, एक ओर उत्पन्न किया, सिखाया, फैलाया, और दूसरी ओर अविवेकी अंध-विश्वासी, श्रद्धा-जड़ जनता ने दाँतों से पकड़ लिया और अपनाया।

ऐसे महारोग की चिकित्सा का महौषध, सदा से, एक ही रहा है—भूले हुए सद्धर्म के सार का पुनः पुन प्रचार। मानव जाति के इतिहास मे जब जब सद्धर्म की ग्लानि हुई, असद् धर्माभासों और मूढ़ग्राहों के रूप से ढंके हुए अधर्म का अभ्युत्थान हुआ, तब तब जागदात्मा की तेजो-अंश-रूप विभूतियों ने पृथ्वी पर जन्म लिया; भगवान् मनु के कहे हुए धर्म का, देश-काल-अवस्था के अनुरूप स्वयं अनुसरण आचरण किया; तथा पूर्णतः वा अंशतः उपदेश किया। इन विभूतियों मे प्रसिद्धतम, जगद्विख्यात, नितान्त आदृत पूजित व्यक्ति, ये हैं—भारत मे राम और वाल्मीकि, कृष्ण और व्यास, गौतम बुद्ध, महावीर जिन; ईरान (आर्यायण, आर्याना, 'फ़ारस' 'पर्शिया', पार्थिया') मे ज़र्दुश्त ('जरदुष्ट्र' ?, जैसे 'श्वेताश्वतर' ऋषि); यहूदिस्तान (फ़िलिस्तीन आदि प्रदेश) मे मूसा (मोज़ेज़'); फ़िलिस्तीन मे ईसा; अरबिस्तान मे मुहम्मद; चीन मे लाओत्से और कङ्फ़ुत्से; जापान मे 'शिं-तू' (हिं-दू')? धर्म के अज्ञातनामा प्रवर्तक; और भारत मे, पुनः, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, कबीर, तुलसी दास, गुरु नानक, और गुरु गोविंदसिंह।

अन्य ग्रन्थों का संकलन

इस लिये, इन सब महापुरुषों की, तथा वेदों और उपनिषदों के ऋषियों की, और सूफियों की, सार सार, एकार्थ, समानार्थ, प्रधान-प्रधान सूक्तियों को संग्रह कर के, 'सब धर्मो की तात्त्विक एकता' ('दि-एसेन्शल यूनिटी ऑफ़ ऑल रिलिजन्स')[1] नाम की, अंग्रेज़ी भाषा मे लिखी पुस्तक का, (जिस को पहिले, छोटे आकार मे छपवा चुका था), पूरे एक वर्ष के परिश्रम से, बहुत परिवर्धित, त्रिगुणीकृत, नया संस्करण सन् १९३९ ई० मे छपवाया। १-९-१९३९ ई० को द्वितीय विश्व-युद्ध का यूरोप मे आरम्भ हुआ; उस की विकराल ज्वाला को चतुर्दिक् फैलती देख कर 'विश्वयुद्ध और उस की एक-मात्र महौषध-विश्वधर्म पर प्रतिष्ठित विश्वव्यवस्था', 'दि वर्ल्ड वार एण्ड इट्स ओन्ली क्यूर—वर्ल्ड आर्डर एण्ड वर्ल्ड रिलिजन')[2] नाम की

---

१. *The Essential Uuity of all Religions*. अब इस का नया परिवर्धित संस्करण छप रहा है।

२. *The World War and its Only Cure—World-Order and World Religion.*

पुस्तक सन् १९४१ ई० मे लिखा और छपवाया। सन् १९३१ मे आरम्भ हुए और सन् १९३७ से घोरतर रूप धारण किये हुए और अब तक प्रवर्त्तमान जापान-चीन युद्ध की, और द्वितीय विश्वयुद्ध की तयारी मे व्यग्र यूरोपीय राष्ट्रों को, देख कर, इन्हीं दो ग्रन्थों के कुछ आशयों को लेते हुए, किन्तु 'हिन्दू'-नाम-धारियों के अन्तर्जातीय कलह को विशेष रूप से ध्यान मे रखते हुए, संस्कृत साहित्य के विशेषज्ञ कई पंडित मित्रों के अनुरोध से, संस्कृत श्लोकों मे, 'जीविका-कर्मणा वर्णः' के सिद्धान्त का आर्ष प्रमाणो से समर्थन करते हुए, सन् १९४० ई० मे, 'मानव-धर्म-सार' नाम का, ३५०० श्लोकों का ग्रन्थ लिखा और छपवाया; किन्तु मुझे संस्कृत भाषा का ज्ञान कम, और उस मे लिखने का अभ्यास बिलकुल ही नहीं था; इस कारण, ग्रन्थ मे व्याकरण आदि की अशुद्धियां स्यात् अधिक हों।[1] इन के सिवा, 'आत्म-शास्त्र' ('दी सायंस आफ़ दि सेल्फ')[2] नाम का ग्रंथ सन् १९३८ मे; तथा 'योग-सूत्र-भाष्य-कोष' (संस्कृत शब्द और अंग्रेज़ी मे अर्थ का, 'योग-कॉंकार्डेंस-डिक्शनरी' नाम का,[3] सूत्र और भाष्य के प्रत्येक शब्द का, अकारादि क्रम से, अर्थ सहित कोष भी सन् १९३८ मे; तथा 'दर्शन का प्रयोजन' नाम का हिंदी ग्रन्थ सन् १९४० मे छपवाया। इन ग्रन्थों की पांडुलिपियां बहुत वर्षों पहिले से लिखी पड़ी थीं; अब चित्त में आया कि विलम्ब न करना, यथाशक्ति परिष्कार परिवर्धन कर के छपवा ही देना। इन्ही पांच वर्षों मे, प्रथमोक्त तीन ग्रन्थों के विषयों और आशयों के, बहुत से छोटे मोटे लेख भी, विशेष-विशेष अवसरों पर, दैनिक, साप्ताहिक, मासिक हिंदी और अंग्रेज़ी पत्रों के लिये लिखे।

---

१. अब इस का नया परिवर्धित संस्करण, ६००० श्लोकों का, छप गया है। प्रायः १००० श्लोक, प्राचीनतम वैदिक धर्म-ग्रन्थों से उद्धृत हैं; ५००० नए, व्याख्या रूप हैं। संस्कृत मे यह ग्रन्थ इस हेतु से लिखा गया कि भारत के सब प्रान्तों के 'पंडित' जन, न हिंदी ही जानते हैं, न अंग्रेज़ी ही; पर संस्कृत को सब ही।

२. *The Science of the Self.*

३. *Yoga-Concordance Dictionary.*

काग़ज़ का नीवाक

सन् १९४१ मे, जून से अगस्त तक, तीन महीने एक कठिन रोग से, शय्या पर पड़ा भी रह गया, जिस से शरीर और मानस शक्तियां शेष आयु के लिए दुर्बल हो ही गईं। इस सब के पीछे, जब 'पुरुषार्थ' की ओर फिर ध्यान दिया और, उसको पूरा करने के लिये बिखरे हुए विचारों को बुद्धि मे पुनः एकत्रित करने लगा, तो, 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि', प्रवर्तमान दारुण विश्वयुद्ध के निमित्त, ब्रिटिश गवर्मेंट की अतिशय खींच के कारण, अन्य सभी जीवन सामग्रियों के साथ साथ, काग़ज़ का भी एक ओर भारी नीवाक (दुर्भिक्ष, महर्घत्व, दुष्प्राप्यत्व, अलभ्यत्व), प्रयाम, और समभक्त हो गया;[1] और, दूसरी ओर सोना, चांदी, ताम्बा आदि धातुओं के सिक्कों और वस्तुओं के ब्रिटेन को चले जाने और क़ागज़ी नोटों के दिन दिन अधिकाधिक संख्या मे छापे जाने से, धर्माभासों की तरह 'रुपया-आ-भासों' की चारों ओर बहुतायत हो गई; जिस से प्रत्येक वस्तु का तथा काग़ज़ का दाम, दिन दूना रात चौगुना छःगुना होता गया। किसी प्रकार से, नई दिल्ली के 'सस्ता साहित्य मंडल' के उत्साह से, यह कार्य, मौनी अमावस्या, सौर २२ माघ, १९९९ वि० (४-२-१९४३ ई०) से पुनः आरम्भ किया गया। 'कालः क्रीडति, गच्छति, आयुः', वार्धक्य बढ़ता गया; ७५ वां वर्ष उक्त मौनी अमावस्या को आरम्भ हुआ; तन और मन की सभी शक्तियां घट गई थक गई हैं, स्मृति अस्थिर हो गई है, उत्कट मंदाग्नि सदा घेरे रहती है, रोगों ने शरीर मे घर बना लिया है; ऐसे हेतुओं से, पुनरुक्ति अनुक्ति आदि विविध दोष, पहिले भी आए तो अब आगे के ग्रन्थ मे तो आवेंगे ही; सो उनको पाठक सज्जन दया कर के क्षमा करेंगे, और स्वयं यथारुचि यथामति शोध लेंगे। यदि अंतर्यामी की मर्ज़ी हुई तो ग्रन्थ सम्पूर्ण समाप्त

---

१. नीवाकः, अर्थितं वस्तु न-अस्ति, न लभ्यं, इति वाक्यं यदा सर्वत्र श्रूयते। प्र-यामः, प्र-कर्षेण, दृढ़तया, यमनं नि-यमनं, प्र-यमनं, मूल्यस्य, वस्तूनां। सम-भक्तं, समं, समानतया, तुल्यतया वि-भज्यन्ते जनतायां आवश्यकीयानि वस्तूनि, इति। *Dearth, dear-ness, non-availability, scarcity, famine; control of prices; rationing of quantities.*

होगा; अन्यथा, मुझ से बहुत अधिक योग्य सज्जन, इस ग्रन्थ के विषय का प्रतिपादन, जनता के हित के लिये करेंगे और कर रहे ही हैं।

सस्ता–साहित्य-मंडल के मंत्री के उत्साह से यह नया संस्करण भी किसी-किसी तरह सम्पूर्ण हो गया। ग्रंथ के अन्त में कई अनुक्रमणियां, वर्णमाला के क्रम से, उद्धृत ग्रन्थों की, ग्रन्थकर्त्ताओं के नामो की, विषयों की, देने का विचार था; पर काग़ज़ और छपाई की कठिनाइयों के कारण यह विचार छोड़ देना पड़ा; पाठक सज्जनो से बहु-विध त्रुटियों के लिए क्षमा मागता हूँ।

९ मार्च, १९४७ ई०, भगवान्दास
भ्रातृ-द्वितीया, बनारस
चैत्र कृ० २, २००३ वि०

प्रस्तावना

(श्री इन्दिरारमण[1] शास्त्री लिखित)

श्रद्धेय डाक्टर श्री भगवान्दास जी के लिये मेरे मन मे जैसी श्रद्धा है, उस का पूरा वर्णन यदि करूँ, तो वह सज्जन उसको अतिरञ्जित समझेंगे, जिन को निकट से उनका रहन-सहन, आचार-विचार, शास्त्राभ्यास और लोक-व्यवहार देखने सुनने का अवसर नहीं मिला है; जैसा मुझ को दस बारह वर्ष से मिला है। उन्हीं के ग्रन्थ के प्रारंभ मे उस सब का लिखना प्रायः उचित भी न होता; किन्तु भारत-जनता के समष्टि चित्त ने जो 'श्रद्धेय' की पदवी उन को दे रक्खी है, उस से ऐसी अनौचिती का स्यात् परिमार्जन हो जाता है।

मनीषि प्रवर ग्रन्थकार के परिचय के लिए, उन का नाम ही पर्याप्त है। स्थानीय, दैशिक तथा सर्वमानवीय लोकसेवा के उन के कार्यों से देश-विदेश के बहुतेरे सज्जन—विशेषतः विद्वान् जन—परिचित हैं। उन्हों ने अपने जीवन के विगत पचास वर्षों में अनेक लोकाऽभ्युदयिक व्यावहारिक काम भी किये हैं; पर उन सब से अधिक महत्त्वशाली और परार्थ-परमार्थ-पथ-प्रदर्शक उन का बौद्धिक शास्त्र-कर्म है। आप ने हिन्दी, अंग्रेज़ी, तथा संस्कृत मे, लोक-कल्याण-प्रवर्तक बहुत ग्रन्थ लिखे हैं, जिन मे एक यह 'पुरुषार्थ' है, जो अब प्रकाशित हो रहा है।

---

१. श्री इंदिरारमण जी के और मेरे परस्पर सौहार्द के आरम्भ और वृद्धि की कथा, उन के रचे 'मानव-आर्ष-भाष्य' नाम के, सद्विचार और सद्विद्या से पूर्ण ग्रन्थ के आरम्भ मे 'परिचायन' मे लिखा है। शास्त्री जी ने 'पुरुषार्थ' के लिए जो 'प्रस्तावना' लिखी है, उस मे इस सौहार्द से पक्षपात तो बहुत है, तौ भी उसको यहां स्थान देना उचित जान पड़ा; संस्कृत शास्त्रों के एक बहुश्रुत उत्कृष्ट विद्वान् के चित्त पर ग्रन्थ का क्या प्रभाव पड़ा, चाहे पक्षपात से उस मे अतिरञ्जन भी कुछ हो, इस का जानना पाठक सज्जनो को प्रायः अरुचिकर न होगा।—भगवान्दास

ग्रन्थ-विषय-आलोचन

यह सद्-ग्रन्थ, अपने विषय को स्वतः अति स्पष्टता से प्रकट करता है। एक बार पढ़ने से ही सुज्ञ सज्जनों को यह सुज्ञात होगा। इस ग्रन्थ के उपक्रम और उपसंहार को देखने से, तथा ग्रन्थ से सम्बन्ध की बहुतसी ज्ञातव्य बातें विदित होंगी। यहाँ कतिपय विशेष अवधेय विषयों पर ही पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ; वह भी बहुत संक्षेप से।

ग्रन्थप्रणयन का प्रयोजन

श्रद्धेय भगवान् दास जी के ग्रन्थ-निर्माण का प्रवर्त्तक हेतु लोक-सेवा भाव ही होता है; और प्रायः आप के ग्रन्थों का उपक्रम, किसी न किसी व्याख्यान से होता है, जो किसी विशेष अवसर पर, किन्हीं सज्जनों के अनुरोध वा सूचना से किया गया। इस ग्रन्थ के अध्यायों के आरम्भ मे जो टिप्पणियाँ लिखीं हैं, उन से इन दोनों बातों का संकेत स्पष्ट है।[1]

विचार पद्धति

यद्यपि अध्यात्मविद् ग्रन्थकार की सदसद्विवेकिनी बुद्धि से विचार की स्वतन्त्रता है, तथापि आप, मुख्यतः, एकवाक्यता-साधक मीमांसक विचार-पद्धति से ही ग्रन्थ लिखते हैं; और शब्दार्थ के निर्वचन के लिये नैरुक्त पद्धति का भी बहुधा प्रयोग करते हैं; तथा शास्त्रार्थ की स्पष्टता के लिये, वस्तूपस्थापन मे, ऐतिहासिक विमर्श-पद्धति की भी सहायता लेते हैं। शब्द और अर्थ को 'तुलाधृत इव' अच्छी तरह जाँच कर, यथार्थ प्रयोग करने मे तो आप नितान्त कुशल हैं। संस्कृत तद्भव तत्सम शब्दों के साथ तुल्यार्थक अंग्रेजी, फ़ारसी, आदि शब्दों को भी लिख देने से विभिन्न-भाषा-भाषी बहुजन-समाज को कितना लाभ होने की संभावना है, यह बताना न होगा: इसके उदाहरणो से सारा ग्रन्थ ओत-प्रोत है; आप के अन्य प्रयत्न जैसे प्रायः सर्वपथीन होते रहे

---

१. इस संस्करण मे, भूल से ये टिप्पणियां कभी अध्याय के अन्त मे छाप दी गई हैं, कभी बिल्कुल छूट गई हैं।

हैं वैसे यह शब्द-प्रयोग-शैली भी सर्वपथीन है; इस से विज्ञाप्य आशय भी अधिक विशद हो जाता है, हिन्दी शब्दकोष का भी परिवर्धन होता है, तथा अंग्रेजी और फ़ारसी के पर्याय शब्दों का ज्ञान भी पाठक सज्जनो मे फैलता है, जो ज्ञान इस काल मे, हिन्दी-उर्दू का झगड़ा मिटाने मे वहुत उपयोगी है। श्रद्धेय भगवान् दास जी की वाक्य-रचना-पद्धति का, पर्यायवहुल शब्द-प्रयोग के कारण, और प्रतिपाद्य शास्त्रार्थ को हेतुहेतुमद्भाव-निर्देश-पूर्वक विशद करने की चेष्टा से, कहीं-कहीं जटिल होने का सम्भव था; पर विविध विराम चिह्न और कोष्ठक आदि के प्रयोग से यह जटिलता दूर कर दी गई है।

प्राचीनता मे अपूर्वता

श्रद्धेय डा० भगवान् दास जी की प्रतिभा ने शास्त्रार्थ का कलेवर वदल दिया है। आप, प्राचीनतम आर्ष वचनो का ही ऐसा अर्थ लगाते हैं, जो नये देश, काल, पात्र, निमित्त आदि के लिये उपयुक्त भी, और प्राचीन भाव के अविरुद्ध भी, सिद्ध होता है। यही कारण है कि आप के ग्रन्थ, नवीन के प्रतिपादन होने पर भी प्राचीन, तथा, प्राचीन के अनुशासन होने पर भी नवीन, 'मौलिक' वा 'अपूर्व' मालूम पड़ते हैं। इन के द्वारा, वृद्ध जरा-ग्रस्त शास्त्र-शरीर का कायाकल्प भी हो जाता है; और उस की सनातन वेदार्थात्मा इन मे अक्षत और अनुस्यूत भी वनी रहती है वस्तुतः प्राचीनतम ऋषि-दृष्ट वेद-शास्त्र के प्र-णवी-करण' के उद्देश्य से ही श्रद्धेय भगवान् दास जी का शास्त्र-कर्म प्रवृत्त है; किसी नये शास्त्र के आविष्कार के लिए नहीं।

शास्त्र-प्रस्थान-भेद

शास्त्र के प्रस्थान-भेद का निरूपण, इस (पुरुषार्थ) ग्रन्थ के प्रथम भाग मे है। इस मे 'चार पुरुषार्थ के चार शास्त्र' को 'साहित्य का पूर्ण रूप' कहा है। अनन्तर, विविध शिरस्कों से निर्दिष्ट (सूची को देखिये) विविध शास्त्रों के सच्चे स्वरूप, लक्षण, साधन, विषय, प्रयोजन, परस्पर सम्बन्ध वा अङ्गाङ्गिभाव, योग्य अधिकारी आदि का विशद वर्णन किया है। इन शास्त्रों की वर्त्तमान अल्पविषयता, संकुचितार्थता, और विकृति का वर्णन करते हुए, इन के संस्कार की आवश्यकता तथा सुधार की रीति वतायी है। इस प्रसंग मे चार शास्त्रों के प्रतिपाद्य चार पुरुषार्थों के क्रम-

योग , मिथःसहायकत्व, तथा हेतु-हेतुमद्भाव, और मनुष्यमात्र के लिए उन की प्राप्ति के उपाय पर, जो सोपपत्तिक प्राञ्जल विचार किया है, उससे ग्रन्थकार की उदार चित्तवृत्ति, महती लोकहितैषिता, और प्रगाढ विद्वत्ता का परिचय मिलता है। इस प्रकरण (प्रथम भाग) मे आप ने साहित्य वा वाङमय के पूर्ण और व्यापक रूप का निरूपण कर के सच्छास्त्रत्व और पुरुषार्थसाधकत्व की सिद्धि का उपाय भी बताया है।

ग्रन्थकार का कविकर्म

श्री भगवान् दास जी की विद्वत्ता से तो प्रायः देश-विदेश के शिक्षित वर्ग परिचित हैं; एवं आप की संस्कृत श्लोक-रचना की योग्यता भी 'मानव-धर्म-सार' ऐसे ग्रन्थ को श्लोकबद्ध लिखने से प्रसिद्ध हुई है। पर यह वहुत कम लोग जानते हैं कि आप हिन्दी मे भी उत्तम कविता कर सकते हैं। 'पुरुषार्थ' के प्रथम पृष्ठ पर मंगलाचरण के रूप मे जो भागवत का गंभीरार्थक पद्य उद्धृत है; इसी ग्रन्थ के पाँचवें पृष्ठ पर, आप ने उस का जैसा सुन्दर, सरस, सरल, कोमल, श्रुतिमधुर, मूलार्थप्रवण और यथार्थभावऽभिव्यञ्जक हिन्दी पद्यऽनुवाद किया है, ऐसा कोई कवि-कर्म-निपुण सहृदय विद्वान् ही कर सकता है। वस्तुतः निपुण कवि-कर्म के सच्चे अधिकारी, श्री भगवान् दास जी के सदृश आध्यात्मिक पुरुष ही होते हैं। प्राणि स्वभाव-विज्ञान-पूर्वक, प्रकृति के रहस्य का अपरोक्ष अनुभव करने वाले, साक्षात्कृतधर्मा, श्रुतिप्रत्यक्षहेतुभूत, मन्त्र-द्रष्टा ऋषि लोग ही वास्तविक कवि हुए। लोक-कल्याण-चिन्तन के लिए योगस्थ ऋषियों के निर्मल चित्त मे जो भावों का उद्रेक होता है, उसी का सहज वाङ्मय उद्गार, तत्वत सच्ची कविता है। इसी लिये त्रयी वा त्रिवेदी महा-कविता है : इस के रचयिता ऋषियों को "कविर्मनीषी" कहते हैं; "कवयो विदुः", "कवियोऽप्यत्र मोहिता", इत्यादि वाक्यों मे 'कवि' का अर्थ वही सहज प्रतिभाशाली, आध्यात्मवित्तम, प्रकृति का पुरोहित, है। सत्कविकर्म के उज्ज्वल उदाहरणो को सन्त साहित्य मे (सूर, तुलसी, कवीर, नानक, तुकाराम आदि की वाणियों मे) और सहज ग्राम–गीतों मे देखना चाहिये; 'पुरुषार्थ' के पृ० १४४–५ पर एक ग्राम-गीत, उदाहरणार्थ छापी है। हटादाकृष्ट कतिपय पदों की रचना, जिस मे काव्य के गुण, दोष, रीति, अलङ्कार, शय्या, पाक, रस, भाव आदि का

समावेश, अस्वाभाविक ('आर्टिफ़िशल', कृत्रिम) रूप से, अस्थान मे भी, ठूंस-ठूंस कर किया गया हो, वह प्राकृतिक ('नेचुरल') कविता नहीं है। श्रद्धेय भगवान् दास जी ने कवि-वाङ्मय के क्षेत्र मे भी प्राचीन-पद्धति का ही अनुसरण किया है। आप का विचार, सम्पूर्ण भागवत पुराण का वैसा ही हिन्दी काव्यमय अनुवाद करने का था; पर इतर ग्रन्थों के निर्माण और दूसरे सार्वजनिक कार्यों मे सतत व्यस्त रहने के कारण, अभी तक उस के लिये आप को अवकाश नहीं मिला है। यदि आप के द्वारा वह अनुवाद महाकाव्य सम्पन्न हो सकता, तो हिन्दी को एक महती अमर कृति प्राप्त होती, और देश के बहुजन वर्ग के लिये सर्वसात्त्विक रस-भावमय भागवतऽमृत का सहज स्रोत खुल जाता। इस विषय में स्वयं श्रद्धेय श्री भगवान् दास जी के विचारों को जानने के लिये, इस ग्रन्थ के ७९वें पृष्ठ से आरम्भ होने वाले "भागवत का अनुवाद" शिरस्क वक्तव्य को, तथा पृ० ८०, ३९, ४७, ८०-८५, १०३, १४३-१४४, १४९ पर, उन के स्वकृत, भागवत के अनेक श्लोकों के, हिन्दी पद्यऽनुवाद को देखना चाहिये।

अपूर्व "रसमीमांसा"

'पुरुषार्थ' के तीसरे अध्याय मे 'रस' के सम्बन्ध का विशद विचार हुआ है। इस अध्याय के पूर्व ही १०५-६ वें पृष्ठ पर, 'रसों की संख्या' का उपक्रम कर के, १०७ वें पृष्ठ से 'रस-मीमांसा' प्रकरण का आरम्भ होता है। आगे; साहित्य और सौहित्य', 'रस क्या है ?', 'उस के कै भेद हैं ?' इत्यादि (सूची को देखिये) प्रकरणार्थ सूत्र-रूप शीर्षकों के नीचे, रस-सम्वन्धी सभी विज्ञातव्य विषयों पर जो मार्मिक विवेचन, इस ग्रन्थ मे किया गया है वह सच-मुच सर्वथा अपूर्व है। रस-रहस्य-अन्वेषण मे अपने प्रयत्न का और तद्विदों के साथ एकद्विषयक वार्तालाप का, जो इतिहास स्वयं ग्रन्थकार से लिखा है, उसी से यह स्पष्ट विदित होता है, कि आप की रस-विज्ञान-विषयक जिज्ञासा का सन्तोषप्रद उत्तर, विद्वानों से न मिलने पर, आप को स्वयं प्रगाढ़ प्रणिधान द्वारा, अध्यात्मयोगऽधिगम से रसरहस्य की उपज्ञा करनी पड़ी। वस्तुतः रस-ज्ञान के विषय मे जो प्रतिभा श्रद्धेय भगवान् दास जी को प्राप्त हुई है, उस का कारण है, आप का अध्यात्मवित्त्व; साहित्यिक अनुसन्धान मात्र नहीं। क्यों कि प्रचलित संस्कृत वा हिन्दी काव्य-साहित्य, कामशास्त्र, गुह्यसमाजागम,

तन्त्र ग्रन्थ आदि मे कहीं भी, रस, भाव, आदि के संबंध मे ऐसा अपूर्व और इतना सर्वाङ्गपूर्ण विचार-विमर्श, अब तक नहीं दृष्टिगोचर हुआ है। मनीषिप्रवर ग्रंथकार ने इस विषय का मौलिक उपज्ञान किया है, और अनेक रस तत्त्व ऐसे बतलाये हैं, जो रसिक जीवन को हित-मित रस-सेवी, सच्चा रसज्ञ एवं सुखी, करने के लिए अवश्य अवधेय उपादेय हैं। बात यह है कि श्री भगवान् दास जी ने, यद्यपि पुस्तकीय ज्ञान का संपादन बहुत किया है; आप का, अनेक भाषाओं द्वारा नाना शास्त्रों का अधिगम करना लोक-प्रसिद्ध है; तथापि आप अपनी प्रतिभा मे उपस्थित, दृढ़, श्रुत, ध्यात आदि सभी विषयों पर, अध्यात्मदृष्टि से विचार करते हैं; केवल ग्रन्थ-ज्ञान के आधार पर नहीं। मनुष्य के मूल प्राकृतिक सत्त्वादिगुण, तत्तदनुसार शमादि-स्वभाव-धर्म, तत्तदनरूप, चित्त-चैतसिक-वृत्ति, तदनुसारिणी प्रवृत्ति-निवृति आदि, अध्यात्म भावों की कार्य-कारणत्व-परम्परा को समझकर ही, डॉक्टर भगवान् दास जी अतःकरण की परिणतियों और उन से जायमान शारीरिक वा आध्यात्मिक तत्त्वों, का अधिगम करते है। इस ध्यानिक अन्वीक्षा-पद्धति के द्वारा चित्त चैतस-तत्त्वानुसन्धान से ही रस-भाव प्रभृति चित्तवृतियों के व्यञ्जक प्रकाशक शारीरिक पदार्थों का ज्ञान, और उन के नाम, संख्या, स्वरूप, लक्षण, प्रभाव परिणाम वा कार्य आदि का यथार्थ विश्लिष्ट भान होना संभव है। सुतरां, किसी भी विषय पर आध्यात्मिक (मानव-स्वभाव-विज्ञानुऽनुसारिणी) दृष्टि से ही विचार करने वाले श्री भगवान् दास जी को, यदि अध्यात्म परिवार के ही परम परिचित 'रस' प्रभृति भावों का इतना पूर्ण परिज्ञान हुआ, तो इससे आश्चर्यचकित होने का कोई कारण नहीं; पर इतना तो मानना पड़ता है कि श्रद्धेय जी की 'रस-मीमासा' साहित्यक वाङ्मय में एक नयी क्रांति, उपज्ञा, वा आविष्कार है। इस पर विशेष अवधान और मनन करना, तथा तदनुसार 'रस'-सेवन की उन्नति मर्यादा बांध कर लौकिक जीवन को सरस और सुखी बनाना, प्रत्येक परहित और आत्महित चिंतक सज्जन का श्रेयस्कर कर्त्तव्य है।

"कामशास्त्र के आध्यात्मिक तत्त्व"

जैसे 'पुरुषार्थ' के पूर्व अध्यायों में, 'साहित्य' और 'रस' के संबंध मे, मौलिक 'अपूर्व' विचार प्रकट हुए हैं, वैसे ही, इस ग्रंथ के चतुर्थ—

'कामऽध्यात्म'—अध्याय मे (पृ० १५४-४१८) 'कामशास्त्र के आध्यात्मिक तत्त्व' का निरूपण, बड़ी आरभटी से किया गया है। साहित्य और रस-शास्त्र का, कामशास्त्र से तादात्म्य संबंध है, अतः इन मे से एक के निरूपण के प्रसंग मे दूसरे दोनों का विचार भी आ ही जाता है। और साहित्य, रस, काम आदि सभी चैतस तत्त्व हैं भी एक ही आध्यात्म वा शारीरिक परिवार के अवयव। यह बतलाया ही जा चुका है कि श्रद्धेय भगवान्दास जी आध्यात्मिक परिवार के तत्त्व विज्ञान में बड़े निपुण और अध्यात्म-दृष्टि से, तथा तन्मूलक विचार-पद्धति से ही तत्त्वऽधिगम करने के अभ्यस्त हैं। आपके इस अभ्यास के परिणाम और उदाहरण आप के अनेक अंग्रेज़ी ग्रन्थ हैं; (इस पुस्तक के अंत में ग्रन्थ सूची देखिये); तथा 'समन्वय' 'प्रयोजन' आदि हिंदी ग्रन्थ भी। ये सभी अध्यात्ममूलक और शरीर मे आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति के प्रतिपादक ग्रंथ हैं। सुतरां इनके सोदर्य 'पुरुषार्थ' के अंतर्वर्ती, इस 'कामऽध्यात्म' शास्त्र को अध्यात्मज होना ही चाहिये। अतः साहित्य, रस, भाव आदि के साथ काम विषयक विचार की भी 'सह वा प्रवृत्तिः, सह वा निवृत्तिः', सह निरूप्यत्व वा साहचर्य होना अनिवार्य है। श्री भगवान्दास जी ने इन सभी विषयों पर आध्यात्मिक-विवेचन-पूर्ण 'पुरुषार्थ-शास्त्र' के प्रणयन से मानव जाति का जो उपकार किया है वह महान् और अमोघ है। यह कामऽध्यात्म प्रकरण तो इतना काम्य और कमनीय हुआ है, कि इस के गुण-वर्णन और योग्यता-प्रदर्शन के लिये इस से भी बड़ा एक दूसरा ग्रन्थ चाहिये। इस ग्रन्थ मे ग्रन्थकार की 'सर्वपथीना मतिः' विश्वतोमुखी प्रतिभा जाग उठी है, ऐसा कहना अतिरंजन नहीं है। सामान्य मानव, विशेषतः गृहस्थाश्रमी, के विशुद्ध-जीवन-निर्माण, सत्सन्तानोत्पादन, सात्त्विक-प्रमोद-प्रद पवित्र दाम्पत्य-धर्म-संप्राप्ति, समस्त-स्त्री-पुंस-समाज-कर्तव्य-बोधन, आदि के लिये जितना सज्ज्ञान अपेक्षित है, उतना इस ग्रन्थ-रत्न-पिटक मे भरा है। सच तो यह है कि मानव जाति के अभ्युदय और निःश्रेयस, ऐहिक तथा आमुष्मिक योग-क्षेम, चतुः–पुरुषार्थ भूत त्रिवर्ग और मोक्ष की सिद्धि, के लिये, विश्व के ऋषि-मुनियों, धर्माचार्यों, महापण्डितों, और सन्त महात्माओं ने जो कुछ साधनोपाय उपज्ञात किया है, उन सब का सार-संकलन, नये युग-धर्म की आवश्यकता के अनुसार, नयी भाषा, नूतन रचनाओं, नवीन विचार पद्धतियों

से, अपने अनेक हिन्दी संस्कृत अंग्रेज़ी ग्रन्थों मे, श्रद्धेय भगवान् दास जी ने पहिले किया; और अब उन सब का भी निष्कर्ष निकाल कर इस एक ही ज्ञानभाण्डार, 'पुरुषार्थ', मे भर दिया है; अतः यह तत्त्वतः 'साहित्य का पूर्ण रूप—चार पुरुषार्थ के चार शास्त्र' का वास्तविक समवाय वन गया है; एवं इस मे भी सारभूत यह 'कामऽध्यात्म'-प्रकरण हुआ है। महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की आलोचना मे किसी ने लिखा है,

काव्येषु नाटकं श्रेष्ठं, नाटकेषु शकुन्तला,
तत्रऽपि च चतुर्थोऽङ्कः तत्र श्लोकचतुष्टयम्।

यहां भी एक ऐसे ही श्लोक का प्रसङ्ग है,

शास्त्रेषु भगवद्दासग्रन्थाः सारप्रदर्शकाः,
तत्रऽपि 'पुरुषार्थोऽयं', तत्रऽध्यायश्चतुर्थकः।

सारांश यह कि श्रद्धेय ग्रन्थकार ने, शताब्दियों से दूषित, विकृत, अश्लील, वीभत्स, घोर-कामुक-जन-जुष्ट, कोक-दुःशास्त्र भूत, अतएव 'गोपनीय-कथित' असत् कामशास्त्र को आध्यात्मिक संस्कार द्वारा विशुद्ध कर के 'सत्कामशास्त्र', और सब के लिये अगोप्य, प्रत्युत अनुष्ठेय, बना दिया है। यह प्रसन्न-गम्भीर ग्रंथ, गूढ़ आध्यात्मिक विवेचनमय होने पर भी सुस्पष्टार्थ है; क्योंकि साधारण शिक्षित लोगों को भी, तृतीय महा-पुरुषार्थ काम के विषय का सज्ज्ञान प्रदान करने के उद्देश्य से, उदार-चेता ग्रन्थकार ने सरल आरभटी से, एक शब्द के अनेक भाषान्तर-पर्यायों के प्रयोग से, ग्रन्थ को विस्पष्टार्थ वनाने के लिये यथेष्ट प्रयत्न और परिश्रम किया है। ग्रन्थ, विवेकशील पाठकों के हाथों में जा रहा है; वे स्वयं इस के गुणोत्कर्ष को पहिचानेंगे। यहां उदाहरण-प्रदर्शन के लिये मूल ग्रन्थ से सन्दर्भ उद्धृत करना आवश्यक है। इस नितान्त अवधेय कामशास्त्रऽध्याय के प्रतिपाद्य विषयों के आपाततः-ज्ञान के लिये विषय-सूची को देखना चाहिये।

मुख्य शिरस्कों के अन्तर्गत अनेक अवान्तर विषयों के विभाग सूचक लघुशीर्षक हैं, जिन मे तत्तद्विषय का विश्लेषण-पूर्वक निरूपण है। काम-ऽध्यात्म के दोनो परिशिष्ट, बच्चों और नव विवाहित वर-वधुओं के लिये, बहुत मनोरञ्जक भी और उत्तम शिक्षाप्रद भी हैं। 'चेतावनी', कामान्ध-

कुदृष्टि की चिकित्सा, कामऽतुरता-व्याधि से मुमूर्षुओं के लिये सञ्जीवनी बूटी, समीचीन शिक्षा है। कामऽध्यात्म के प्रथम परिशिष्ट की टिप्पणी "(दादा जी के लिये; छोटे पौत्रादिकों के पढ़ने के लिये नहीं)" प्रत्येक दादा जी को, पौत्रादिकों के प्रति सतत सावधान रहने, और उन्हें काम-पिशाच रूपी दुर्जनों के संसर्ग सम्पर्क से बचाये रखने, की चेतावनी देती है।

विशेष द्रष्टव्य

बहुत कम लोगों का इस ओर ध्यान है कि प्रवर्त्तमान प्रजाविनाशक विश्वयुद्ध भी अतिकाम और दुष्टकाम का ही परम्परया परिणाम है; इस अध्याय का परिशीलन करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी; यों तो, प्रत्येक पृष्ठ मे एक एक बात विशेष अवधेय है; वह सब बात, समग्र ग्रन्थ के पुनः पुनः पठन से ही सुविदित करनी चाहिये।

इस ग्रन्थ के पांचवें अध्याय मे "विवाह और वर्ण; चतुःपुरुषार्थ-साधक वर्णाश्रम धर्म मे अन्तर्वर्ण-(अ-स-वर्ण) विवाह का स्थान; बिगड़ी प्रथा के शोधन के लिये, नये विधान की आवश्यकता"—इस विषय पर विद्वत्ता पूर्ण विचार हुआ है। यह उसी सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ-विमर्श का परिणाम है, जो श्री भगवान् दास जी के 'अन्तर्वर्ण' वा 'अ-सवर्ण' विवाह सम्बन्धी प्रस्ताव पर, भारत की केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा मे हुआ था। इस के सम्बन्ध की सभी बातों का उल्लेख, स्वयं ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के 'प्राक्-कथन' में किया है तथा इस प्रकरण के आरम्भिक वक्तव्य मे (पृ० ४१९ पर) किया है। यह भूरिसद्विचारमय निबन्ध अवश्य पठनीय है। इस के अनुसार, यदि वह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया होता, तो हिन्दुत्व का कलेवर बदल जाता; पर 'हिन्दू दास' की दुर्बुद्धि और दुर्भाग्य से यह नहीं हो सका।

इस ग्रन्थ के अन्तिम षष्ठ अध्याय "चतुःपुरुषार्थ-साधक, विश्व-व्यवस्था-कारक, विश्व धर्म" के विषय मे मनीषिविचारोत्तेजक निबंध है। इस के संक्षिप्त इतिहास, और प्रवृत्ति-निमित्त, का वर्णन, प्रकरण के आरंभ में स्वयं ग्रन्थकार ने किया है।

यह सन्निबन्ध, उपर्युक्त स्वविषय मे पर्याप्त कृतार्थ, और प्रचुर-विज्ञातव्य का बोधक, है। "वादे वादे जायते तत्त्वबोधः" "वीतरागकथा

वादः", "वादः प्रवदतामहम्", इत्यादि सद्भावोपहित निर्विकार हृदय से, इस मे श्रद्धेय निबन्धकार ने जो सद्विचार प्रकट किये हैं, उन को अपनाने और कार्यान्वित करने से विश्वमानव-समाज की सब विषम समस्याओं का 'हल' और सभी जटिल प्रश्नों का सम्यक् उत्तरण हो सकता है। इस पर लोक-हितैषी मनीषियों को विशुद्ध सद्भाव से निष्पक्ष विचार करना चाहिये।

श्रद्धेय भगवान् दास जी ने स्वयं तो इस निबन्ध के विचारों को सर्वमान्य-कल्याण के लिये, अनेक ग्रन्थों द्वारा, लोक की सद्बुद्धि जगाने के लिये, विश्व भर मे फैलाने का महान् उद्योग, वर्षों से किया है। यह प्रस्तुत ग्रन्थ भी, साक्षात् वा परम्परया, इसी सर्वसंग्राहक भावशुद्धि, संयम, और "सार-वृद्धि" [वास्तविक सामान्यधर्मतत्त्व की एकता] के उद्देश्य से, साहित्य के पूर्ण रूप चार पुरुषार्थ के चार शास्त्रों का संशोधन करने के लिये उपस्थित किया है, जो अपने विषय मे पूर्ण कृतार्थ हुआ। किन्तु पाठक सज्जनो का भी इस सम्बन्ध मे कुछ कर्त्तव्य है।

पाठक सज्जनो से विनम्र विनीत प्रार्थना है, कि यदि उन को इस ग्रन्थ के भाव और विचार, सच्चे लोकोपकारी जान पड़ें तो उन से स्वयं प्रसन्न हो कर संतोष न करें; अपितु उन का प्रचार और विस्तार कर के, भारत मे उज्ज्वल नवयुग के प्रवर्त्तन मे सहायता करें। सज्-ज्ञान के प्रचार से ही सद् इच्छा, और उससे सत् क्रिया सद्व्यवहार का प्रसार होता है।

इति विशेषु अलं। इन्दिरारमणः

काशी;
सौर १, पौष; २०००, वि०,
(१६ दिसम्बर, १९४३ ई०)

विषय-सूची

पुरुषार्थ

* ॐ *

१

साहित्य का पूर्ण रूप—
चार पुरुषार्थ के चार शास्त्र ।

(१)

यः स्वानुभावं अखिलश्रुतिसारं एकं
अध्यात्मदीपं अतितितीर्षतां तमोऽन्धम्,
संसारिणां करुणयाऽह पुराणगुह्यं,
तं व्याससूनुं उपमयामि गुरुं मुनीनाम् ।

सज्जनो !

यह इस देश का पुराना शिष्टाचार है कि शुभ काम के आरम्भ मे मंगलाचरण, देवता, ऋषि, महात्माओं का स्मरण वन्दन, किया जाय । इस से काम करने वालों का मन शुद्ध और शान्त होता है, और उस मे सात्विक भाव उत्पन्न होते हैं, जिन से वह काम सब के लिये हितकारी होता है।

इस लिये मैं इस समय भागवत पुराण के कहनेवाले व्यास जी के पुत्र शुकदेव जी का स्मरण करता हूँ और आप को कराता हूँ ।

यह ऋषिवन्दना का श्लोक मुझे इस अवसर के लिये विशेष उपयुक्त जान पड़ा । साहित्य का प्रसंग है । साहित्य के विद्वानों ने कहा है, "रसेषु करुणो रसः" । सब रसों मे करुण रस श्रेष्ठ है । इस श्लोक मे करुणा का शब्द आया है । इस से साहित्यसम्बन्धी एक मूलसिद्धान्त की सूचना होती है, जिस की चर्चा आगे चल कर करूँगा । और एक मेरे निज के विषय में भी आप लोगों की ओर से करुणा की दृष्टि होने की आवश्यकता है, इस की भी सूचना होती है ।

आज से केवल छः दिन हुए, पिछले शनिवार को दोपहर को, साहित्य सम्मेलन की स्थायी समिति के धुरन्धर श्रीपुरुषोत्तमदास जी टण्डन पच्छिम दिशा से, और इस ग्यारहवें वार्षिक अधिवेशनके महामंत्री श्रीयुत कृष्णबलदेव जी वर्म्मा पूर्व दिशा से, मेरे पास काशी मे आ पहुंचे, और आज के काम का भार इन मायामित्रों ने, अनुग्रह के वेष मे दुराग्रह

करते हुए नितान्त निर्दयता से मेरे कन्धों पर रख ही दिया, और मेरी विनती एक न सुनी।

एक तो मैं हिन्दी साहित्य का अत्यन्त अनजान। सारी आयु मे प्रायः पचास ग्रन्थ भी हिन्दी के आद्योपान्त न पढ़ पाया होगा। हिन्दी व्याकरण का एक भी पूरा ग्रन्थ सारे जीवन मे देख नहीं सका। हिन्दी कविता मे कितने और कौन छन्द होते हैं, और किस मे कै पद कै अक्षर कितनी मात्रा होनी चाहिये, इसका कुछ भी मुझ को ज्ञान नहीं। अन्य कार्यों से जो कुछ अवकाश मिला उसे कुछ थोड़े संस्कृत, कुछ थोड़े अंग्रेजी, ग्रन्थों के ही देखने मे लगा दिया। दूसरे आज काल जो राजनीतिक आन्दोलन की व्यग्रता फैली है उस के कारण से, तथा काशी मे एक नया विद्यापीठ खुलने के कारण से, अन्य कार्यों के बोझ से दबा हुआ हूँ। तिस पर यह बड़ा बोझ इन मित्रों ने और रख दिया। और छः दिन की अवधि, जिस मे आवश्यक प्रसक्त कार्यों को समेटना, और काशी से यहां तक आना, और आप को सेवा करने की सामग्री एकत्र करना। यदि मैं आप की करुणा का पात्र नहीं हूँ तो और कौन हो सकता है। मैं ने पुरुषोत्तमदास जी से भी और कृष्णबलदेव जी से भी कह दिया था कि आप ऐसा अन्याय कर रहे हैं तो मैं भी अन्याय करूँगा, और आप महाशयों से भी मेरी यही प्रार्थना है कि इस अवस्था मे यदि मैं कुछ उच्छृङ्खल बात कहूँ तो क्षमा कीजियेगा। मैं हिन्दी शब्द का भी और साहित्य शब्द का भी तथा अन्य शब्दों का स्यात् ऐसा अर्थ करना चाहूँगा जो अभ्यस्त अर्थ से कुछ भिन्न हो। इस की चर्चा आगे समय समय पर होगी।

साहित्य का प्रयोजन।

अब इस स्थान पर करुणा के ध्यान का सिद्धान्तविषयक हेतु कहूँगा। साहित्य शब्द का जो इधर सैकड़ों ही वर्षों से इस देश मे संकुचित अर्थ हो रहा है, उस का हेतु यही है कि काव्य साहित्य के ग्रन्थों की रचना के प्रेरक भाव ही संकुचित हो रहे हैं। ग्रन्थ उन्हीं संकुचित भावों के प्रतिपादक होते रहे हैं। जैसा कारण वैसा कार्य।

मम्मट का काव्यप्रकाश नामक ग्रन्थ प्रायः छः सौ वर्ष हुए लिखा गया। उस मे कहा है,

काव्यं यशसेऽर्थकृते, व्यवहारविदे, शिवेतरक्षतये,
सद्यः परनिर्वृतये, कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ।

अर्थात्, काव्य बनाया जाता है यश के लिये, धन के लिये, व्यवहार का ज्ञान होने के लिये, अमङ्गल का नाश करने के लिये, तत्काल परम-सुख के लिये, और कान्ता स्त्री जैसे मधुर प्रकार से उपदेश देती है उस प्रकार से उपदेश देने के लिये ।

यश के लिये, धन के लिये, तत्काल हास्य आदि रसास्वाद के लिये—माना कि प्रवृत्ति मार्ग मे यह अनुचित नहीं है, पर नीची कक्षा की बात है। ऐसी कविता से तात्कालिक क्षणिक सभा-चातुर्य ही प्रकट होता है; यह कविता स्थायी चिरायु नहीं होती; आज बनी, लोग खुश हो गये, वाहवाही हुई, कल भूल गई। दोहा पीछे, शेर पीछे, अशर्फी या रुपया मिलेगा, या हाथी, घोड़ा, खिलअत मिलेगी, या लोग ताली बजा कर प्रशंसा करेंगे, ऐसे प्रयोजन से लिखी कविता देश का कुछ कम ही उपकार कर सकती है। व्यवहार का ज्ञान हो, अमङ्गल का नाश हो, सद्-उपदेश हो, उत्तम रसास्वाद हो—यह कुछ उस से ऊँची कक्षा की बात है। पर तो भी उस मे भी वह बुद्धि की उदारता, आर्यता, लोकसंग्राहकता नहीं झलकती जो ऋषियों के बनाये ग्रन्थों मे देख पड़ती है।

प्राचीन संस्कृत के, भारत—'हिंद' के, अतएव 'हिन्दी' साहित्य के, जो प्रसिद्ध रत्न हैं उन के लिखने का प्रयोजन दूसरा है। मनु की सन्तान के लिये ऋषि के हृदय मे करुणा उमड़ी, और उस ने शब्द और छन्द का रूप धारण किया। उस रूप, उस ग्रन्थ, की महिमा कुछ और ही है। इस व्याख्यान के आरंभ मे, मंगलाचरण के रूप से कहे गये भागवत के श्लोक का यही भाव है,

अति दीन जन, संसार साने, घोर तम मे भ्रमि मरैं,
कस पार पावैं? सब तरैं, जो ज्ञान के दीपक वरैं।
करुणा विवश अस व्यास-सुत, गुरु गुरुन को, विरच्यो यही,
उपदेश, जाते ज्ञान कर्म्म रु भक्ति सत छावै मही।
श्रुतिसाररूप, परात्मभावन ते भर्‌यौ, उज्ज्वल महा,
अध्यात्मदीप पुराण, जन हित गूढ़ हू सुनिश्रुत कहा।
बाल रोवत देखि कै ज्यों जननि के स्तन तें स्रवै

छीर ह्वै कै स्नेह, त्यौं मुनिबाल की करुणा द्रवै,
देखि इन दुखियान, अरु बानी अमृतमय ह्वै वहै।
तिन बालमुनि की भक्ति सब के मन सदा छाई रहै,
अरु होय उनके वचन मे श्रद्धा—यही आशिष अहै।

वाल्मीकि की कथा प्रसिद्ध है। व्याध ने पक्षी को मारा। इस को देख के मुनि के हृदय मे करुणा भरी। और श्लोकरूप हो गई। उसी भूतदया की शक्ति का विस्तार पीछे रामायण के ग्रन्थ के रूप से हुआ। जिस ग्रन्थ का प्रयोजन यही था कि,

पठन् द्विजो वाग्-ऋषभत्वं ईयात्, स्यात् क्षत्रियो भूमिपतित्वं ईयात्,
वैश्यो जनः पण्यफलत्वं ईयात्, जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वं ईयात्।

उस ग्रन्थ के परिशीलन से, 'ब्रह्मा' के (जिस को सांख्य मे महत्तत्त्व बुद्धितत्त्व अथवा कभी अहङ्कारतत्त्व भी कहते हैं, उस के) चार पुत्र, चारो सगे भाई, चार भिन्न भिन्न स्वभाव के जीव, अर्थात् ज्ञान-सत्त्व-प्रधान, क्रिया-रजः-प्रधान, इच्छा-तमः-प्रधान, और अनुद्बुद्ध बुद्धि वाले, चारो अपने अपने स्वभाव के अनुरूप कल्याण पावें और सुखी हों।

महाभारत के लिखे जाने का कारण भी करुणा है।

प्रायशो मुनयो लोके स्वार्थैकान्तोद्यमाः हि ते;
द्वैपायनस्तु भगवान् सर्वभूतहिते रतः।
सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु,
इत्युक्ताः सर्ववेदार्थाः भारते तेन दर्शिताः।
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च, भरतर्षभ!,
यद् इहास्ति, तद् अन्यत्र; यन्न इहास्ति, न तत् क्वचित्।
धर्मार्थकाममोक्षाणां वेदनाद् वेद उच्यते।

मनुष्य मात्र के जो परम पुरुषार्थ हैं—संसार भी सधे, परमार्थ भी बने, दुनिया और आक़बत दोनों मे सुख मिले, संसार का सुख तो, धर्म से अर्थ, अर्थ से काम, के द्वारा, और परमार्थ का सुख, मोक्ष के द्वारा—ये चारो पुरुषार्थ, जहां तक बन पड़े, सब मनुष्यों को मिलें, इस दयाबुद्धि से कृष्णद्वैपायन व्यास ने, महाभारत के शब्दों में, वेद का सब अर्थ, सर्व-साधारण के समक्ष जाने के लिये, रख दिया। वेद के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का भी यही प्रयोजन है, कि कर्मकाण्ड से धर्म अर्थ और काम

की, और ज्ञानकाण्ड से मोक्ष की, सिद्धि सब मनुष्यों को हो। वेद तो अनन्त हैं, "अनन्ता वै वेदाः," यह स्वयं तैत्तिरीयश्रुति का वाक्य है। और प्रत्यक्ष भी है। 'वेदन' अर्थात् ज्ञान का विषय अनन्त है, तो उस का जानने और जताने वाला ग्रन्थ भी अनन्त ही होगा। और जैसे ज्ञेय सृष्टि अपौरुषेय है, सब तत्त्वज्ञान अपौरुषेय है, वैसे ही उस के जानने वाली शक्ति और उपाय भी अपौरुषेय हैं। जो विशेष शब्दसमूह विशेष कर के वेद के नाम से आज काल बर्ते जाते हैं, यह तो एक संकेत मात्र है। तत्त्वतः सब तत्त्वज्ञान, सब सच्चा 'सायन्स', वेद के अन्तर्गत है। और सब का ही मनुष्य के जीवन मे उपयोग हो सकता है।

पर ऐसा उपयोग करना साधारण मनुष्य की सामर्थ्य के सर्वथा बाहर है। इस लिये वेदों का नया संस्करण कर के उन का अनुवाद भी वेद-व्यास ने, अपने समय के तथा आगे होने वाले मनुष्यों के हित के लिये, देश-काल-अवस्था के अनुरूप, प्रचलित शब्दों मे, महाभारत के आकार मे रख दिया। क्योंकि जो वेद चतुर्वेद के नाम से कहे जाते हैं, उन की भाषा व्यास जी के समय में सर्वसाधारण के बर्ताव में नहीं रह गई थी। और इस बात की आवश्यकता थी कि उस समय की प्रचलित बोली, अर्थात् पौराणिक संस्कृत, मे, वेदों का सार, लोकहितार्थ, प्रकाशित किया जाय।

सर्व शास्त्र के साहित्य के अन्तर्गत वैद्यक शास्त्र के ग्रन्थ चरकसंहिता मे भी आयुर्वेद के ग्रन्थों के प्रवर्तन का हेतु यही लिखा है।

अथ मैत्रीपरः पुण्यं आयुर्वेदं पुनर्वसुः,
शिष्येभ्यो दत्तवान् षड्भ्यः सर्वभूतानुकम्पया।

महर्षि पुनर्वसु जी ने सब मनुष्य मात्र के ऊपर दया कर के, उन के हित के लिये, पुण्यमय, परम पवित्र, आयुर्वेद, छः शिष्यों को सिखाया। उन्हों ने उसका विस्तार प्रचार किया।

साहित्य शब्द का पूरा अर्थ।

इस सब उपोद्घात से मै आप के सामने केवल इतनी ही सूचना रखना चाहता हूँ कि साहित्य शब्द का अर्थ बहुत उदार और विस्तारशील करना चाहिये। "सहितानां भावः साहित्यम्", एकत्र होकर, साथ बैठ कर, गाना, बजाना, रसीली बात करना, रसास्वाद करना, चतुरता के पद्य

रचना और कहना, कवियों और काव्यों की चर्चा करना, निस्सन्देह यह भी साहित्य है। "साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः" इत्यादि श्लोक प्रसिद्ध हैं। पर सुख से भी अधिक दुःख मे एक दूसरे के सहित होना, परस्पर सहायता करना, ऐसा यत्न करना कि यथाशक्ति सब को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारो पुरुषार्थों का लाभ हो जाय, तथा इन चारो लक्ष्यों के साधक चार शास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, काम अथवा कलाशास्त्र, और मोक्ष-शास्त्र, इन सब शास्त्रों पर अच्छे अच्छे ग्रन्थों का निर्माण और विचार और प्रचार हो—यह साहित्य शब्द का पूरा अर्थ जान पड़ता है। प्रचलित अर्थ साहित्य का तो 'काम' अथवा कलाशास्त्र की चतुःषष्टि कलाओं मे से कुछ कलाओं से ही सम्बन्ध रख कर, संकुचित हो गया है। इस संकोच का विस्तार करना आवश्यक है। और हर्ष की वात है कि धीरे धीरे हो रहा है। पर "श्रेयसि केन तृप्यते", भूखे प्यासे आदमी को त्वरा, जल्दी, रहती है। हमलोगों को यही चिन्ता रहती है कि हिन्दी साहित्य का भाण्डार अभी बहुत रिक्त पड़ा है।

धर्म्मशास्त्र। इतिहासपुराण।

धर्मशास्त्र मे पहिला स्थान तो स्पष्ट ही प्राचीन प्रथा ने वेद को दे रखा है। "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (मनु), सब वेद धर्म का मूल है। यदि वेद शब्द का अर्थ, जैसा पहिले कहा, सब आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक विषयों का मूल रहस्य और 'सायन्स', सत् ज्ञान, समझा जाय, तो वेद को पहिला स्थान पाना उचित ही है। आज काल की पश्चिम देश की सभ्यता मे भी यही प्रयत्न रहता है कि धर्म अर्थात् क़ायदा क़ानून (लेजिस्लेशन) जहां तक हो सके सायंस के अनुकूल हो, उस के प्रतिकूल न हो। यह बात न्यारी है कि सायंस का ज्ञान मिथ्या हो तो तदनुसार जो धर्म बनाया जायगा वह भी लाभकारक नहीं प्रत्युत हानिकारक होगा। जैसे, 'शीतला' (मसूरिका-रोग) के लिये टीका लगाने मे बहुत विवाद है। जिन्हों ने निश्चय कर लिया कि यह सच्चा सायंस, सच्चा विज्ञान है, कि टीका लगाने से फिर शीतला का रोग नहीं होता, और न उस के स्थान मं कोई दूसरे प्रकार के रोग पैदा हो जाते हैं, उन्हों ने तो यह धर्म, यह क़ानून, बना दिया कि सब बच्चों को अवश्य ही टीका लगाया जाय। पर अब बहुत लोगों को, अनुभव के पीछे, यह सन्देह होने लगा है कि टीका

से शीतला का रोग भी सदा के लिये नहीं रुकता, और अनेक प्रकार के दूसरे दोष भी शरीर में पैदा हो जाते हैं। यदि यही पक्ष, अधिक अनुभव के पीछे, स्थिर हुआ, तो उस 'धर्म' को बदलना पड़ेगा। सारांश यह कि सच्चे ज्ञान, वेद, के आधार पर सच्चा आचार, धर्म, बन सकता है। इस हेतु से वेद, सच्चे शास्त्र और सायंस, का स्थान धर्मग्रन्थों में पहिला है। उस के पीछे, उसी पुरानी प्रथा ने, इतिहास-पुराणों को स्थान दिया है। महाभारत के पहिले ही अध्याय में लिखा है,

इतिहास-पुराणं च पंचमो वेद उच्यते;
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्;
बिभेति अल्पश्रुताद् वेदो—मां अयं प्रतरिष्यति।
महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महा-भारतं उच्यते;
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते।

बिना इतिहास और पुराण की सहायता के वेद का अर्थ ठीक ठीक समझ में नहीं आता; जो अल्पश्रुत अल्पज्ञ है, बहु-श्रुत बहु-वेदी नहीं है, उस से वेद डरता है, कि यह मेरे अर्थ का अनर्थ कर देगा। इस लिये इतिहास-पुराण को पांचवा वेद माना है। वेद और इतिहास पुराण के ग्रन्थों की व्याख्या करने के लिये निरुक्त-शास्त्र से काम लेना चाहिये। शाश्वतिक, पुनः पुनः आवर्त्तमान, ऐतिहासिक घटनाओं को, और उन के मूलसिद्धान्तों और व्यवहारोपयोगी तत्त्वों को दिखाने समझाने वाला यह ग्रन्थ, बहुत बड़ा और बहुत भारी है, इस लिये महा-भारत कहलाता है। 'निरुक्त' से, निर्वचन से, शब्दों के सब प्रकार के अर्थों का निर्णय करके, जो उन तत्त्वों को, व्यवहार मे, काम मे लावेगा, वह पापों से बचेगा। बिना निरुक्त के, इन्द्र और वृत्र की लड़ाई के पौराणिक वर्णन से यही समझा जायगा, कि दोनों, मनुष्य के आकार के, बड़े भारी लम्बे चौड़े जीव थे, और एक ने दूसरे को मार गिराया। इस से बालकबुद्धि को तो रस अवश्य आवेगा; और ऋषि ने सब प्रकार की बुद्धि के संतोष के लिये ग्रन्थ लिखा भी; पर प्रौढ़बुद्धि को शंका होगी, कि इस का अर्थ क्या, कि वृत्रासुर की एक दाढ़ पृथ्वी पर थी, दूसरी दाढ़ आकाश में छुई थी, इन्द्र ने उस को ऐरावत हाथी पर चढ़ कर वज्र से मारा ? जिस को ऐसी शका हो उस के लिये निरुक्त से उस का समाधान करना चाहिये; "वृश्च्यते इति वृत्रः मेघः" और "इन्दति इति इन्द्रः विद्युत्", तथा "इरा आपः, तद्वान्

समुद्रः, तस्मादुत्पन्नः ऐरावतः, अन्यप्रकारको मेघः"। यह सब समुद्र के जल से उत्पन्न हुए दो प्रकार के मेघों के संघर्ष से विद्युत् की उत्पत्ति हो कर बादलों के टूटने और गलने का और वर्षा का, रूपक से, वर्णन है।

पुराण में इस की चर्चा इस लिये की है कि अति प्राचीन काल मे, लाखों वर्ष पहले, पृथ्वी की यह अवस्था नहीं थी जो अब है। जल स्थल का ऐसा रूप नहीं था जो अब है। विशेष प्रकार के भाफ और 'गेस'-घूम* के पर्वत उड़ते फिरते थे, जिन का भी पर इन्द्र ने काटा, अर्थात् विद्युत् शक्ति से वे भी गले। पीछे एक ऐसा समय आया कि जल स्थल का विशेष भेद होने लगा। वर्षा का आरम्भ हुआ। पृथ्वी मे जो गढ़े पड़ जाते थे वे वर्षा मे मिट्टी बह कर पूरे होने लगे। वृक्षों की उत्पत्ति हुई, उन मे सुगन्धित फूल और सुस्वाद फल भी होने लगे, ईन्धन आदि के लिये काटे भी जाने लगे, और काट देने पर फिर बढ़ जाने लगे। नदी, तालाब, समुद्र भी हुए, और उन मे मैले फेन भी हुए और रत्न भी होने लगे। और मनुष्य सन्तान की प्रकृति मे, और रहन सहन के प्रकार मे, कई नई बातें उत्पन्न हुईं, नित्य-काम का सुख भी हुआ और मास-धर्म और प्रसव की पीड़ा भी हुई। इन बातों की सूचना पुराण मे इस प्रकार से की है, कि वृत्र की हत्या से इन्द्र को पाप लगा। उस पाप को पृथ्वी ने और वृक्षों ने और स्त्रियों ने एक एक वरदान ले कर बांट लिया। पाप का फल ऊसर आदि, वरदान का फल खातपूर्ति आदि। इन बातों का समर्थन पच्छिम के नवीन 'जियालोजी'† 'भूगर्भ'-शास्त्र, आदि से कथञ्चित् होता है। जब से निरुक्त के अङ्ग की पढ़ाई ढीली हुई तब से इस देश के ऐतिहासिक-पौराणिक ज्ञान मे भारी त्रुटि आ गई, अर्थ मिथ्या होने लगा, जिज्ञासा का नाम नास्तिक्य हो गया। सब प्रकार की हानियां 'परस्परा-नुग्रह-न्याय' से एक दूसरे को बढ़ाने लगीं। इसी लिये कहा है कि जो इतिहास-पुराण-निरुक्त को नहीं जानता उस से वेद डरता है कि मेरे अर्थ का अनर्थ करेगा।

पच्छिम के विद्वान् कहा करते हैं कि हिन्दुओं को इतिहास-बुद्धि, 'हिस्टारिकल सेन्स,'‡ ही नहीं है। यह उस देश पर आक्षेप है जहां वेद के पीछे, अथवा उस से भी ऊँचा, स्थान इतिहास-पुराण को दिया है।

* Gas. † Geology. ‡ Historical sense.

छांदोग्य उपनिषत् मे "इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं भगवो अध्येमि" ऐसा लिखा है। अर्थात् इस को पञ्चम वेद कहा है।

महाभारत के पहिले अध्याय में, अर्थवाद के द्वारा, इस से भी अधिक कहा है।

> एकतश्चतुरो वेदाः, भारतं चैतद् एकतः,
> पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम्;
> चतुर्भ्यः स-रहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा,
> तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतं उच्यते।

वेदों से भी अधिक महिमा महाभारत नामक इतिहास की है। देवों ने एक ओर चारों वेदों को, एक ओर भारत को, रख कर तौला। रहस्य सहित वेदों से भारत का ग्रन्थ अधिक 'गुरु' भारी, तौल में भी और गुण में भी, गौरवयुक्त पाया गया। तब से इस का नाम 'महा-भारत' पड़ा।

पर अब इस समय मे जिस प्रकार से अर्थ किया जाता है, न तो वेद ही का, न इतिहास पुराण ही का, गौरव जान पड़ता है। उलटे, शङ्का और अश्रद्धा, और किसी किसी को अपहास भी, होता है। कारण यही कि जो बालक-समान बुद्धि वालों के लिये रुचिकर अक्षरार्थ है वही तो अब कहा सुना जाता है। और परिपक्व बुद्धि का सन्तोष करने वाला जो अर्थ हो सकता है वह, निरुक्त के तथा अन्य आधिभौतिक-आधिदैविक-आध्यात्मिक शास्त्रों के ज्ञान के, इस देश मे उच्छिन्न हो जाने के कारण, सब भूल गया है। अन्यथा जो आज काल पच्छिम देश के विद्वानों का कहना है, कि 'सायंस' को 'हिस्टरी' की दृष्टि से और 'हिस्टरी' को 'सायंस' की दृष्टि से देखना-जाँचना चाहिये, वही अर्थ इस पुराने वाक्य का है कि,

> इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

अथवा इस से भी अधिक सारगर्भ यह वाक्य है, क्योंकि पुराण शब्द का अर्थ 'हिस्टरी' शब्द के अर्थ से बड़ा है।

इतिहास शब्द का प्रायः वही सांकेतिक अर्थ है जो हिस्टरी का है अर्थात् मानव-वंश के किसी अंश का इति-वृत्त, यथा भारतीयों का इतिहास, या चीनियों, जापानियों, ईरानियों, ग्रीकों, रोमनों, यहूदियों, मिस्रियों; या अंग्रेजों, जर्मनों, रूसियों आदि का इतिहास, 'इति-ह-आस', 'ऐसा हुआ'। पर,

सर्गश्च, प्रतिसर्गश्च, वंशो मन्वन्तराणि च,
वंशानुचरितं चैव, पुराणं पञ्चलक्षणम् ।

पुराण मे, पहिले तत्त्वों का आविर्भाव, फिर इस ब्रह्माण्ड अथवा सौर-सम्प्रदाय की सृष्टि, फिर उस मे विशेष कर इस पृथ्वी पर स्थावर जङ्गम सजीव चतुर्विध भूतग्राम की सृष्टि, फिर और विशेष रूप से मनु-सन्तान का इतिहास, तथा अन्य जीवों के वंशों का विस्तार, और इस के पश्चात् प्रतिसर्ग अर्थात् इन सब का क्रम से तिरोभाव और प्रलय—यह, पांच प्रकार से, एक ब्रह्माण्ड का, सृष्टि से प्रलय तक का इतिहास होता है, केवल मनुष्यों ही का इतिहास नहीं। अंग्रेजी के शब्दों मे इन पांच बातों को प्रायः यों कहेंगे, (१) 'इवोल्यूशन् आफ् दी इन्-आर्गेनिक् एलिमेंट्स्', (२) 'इवोल्यूशन् आफ दी सोलर् सिस्टम्स, स्टार्स एण्ड प्लानेट्स', अथवा 'आस्ट्रोनामिकल् एण्ड जियालोजिकल् इवोल्यूशन्', (३) 'बायोलाजिकल् इवोल्यूशन् आफ़ दी किङ्डम्स आफ़् नेचर', (४) 'इवोल्यूशन् आफ़् ह्यूमन् रेसेज़ एण्ड देयर हिस्टरी', (५) 'इवोल्यूशन् आफ़् ज़ूओलाजिकल् आर्डर्स', तथा इन सब का प्रतिसंचर, प्रतिप्रसव, प्रलय, (जो प्रतिसर्ग शब्द का अर्थ है। दूसरा अर्थ 'अवांतर सर्ग' भी है)।*

पश्चिम में हर्बर्ट स्पेन्सर का दस जिल्दों का बृहद् ग्रन्थ, एक दृष्टि से, इस परिपाटी का अनुसरण करता है। और एक नयी पुस्तक 'औटलैन्स आफ़् हिस्टरी' के नाम से जो एच० जी० वेल्स महाशय ने, १९२० ई. मे, कई विद्वान् लेखकों की सहायता से निकाली है, जिस मे इस सौर सम्प्रदाय के आरम्भ से अमृतसर (जलियांवालाबाग़) के बलिदान के वृत्तान्त तक की कथा थोड़े मे सायंस के तर्कों और अनुमानों के अनुकूल, तथा मानव-इतिहास-वेत्ताओं के विचार के अनुसार, लिख दिया है—यह उत्तम पुस्तक भी इस देश की प्राचीन पुराणों की शैली का अनुकरण करती है।

---

* 'विकास', 'इवोल्यूशन', 'एक्सफ़ोलियेशन', के विपरीत, 'संकोच', सर्ग के प्रतिसर्ग, का तुल्यार्थ, अंग्रेज़ी शब्द 'इन्वोल्युशन' वा 'इन्फ़ोलियेशन' हो सकता है; तथा 'प्रलय' का 'डिस्सोल्यूशन'; एवं, 'संघात, संहनन, संग्रन्थन, संगठन', 'इंटिग्रेशन' का विपरीत, प्रतिद्वन्द्वी, प्रतियोगी, 'विघात, विहनन, विग्रथन, विघटन', 'डिस-इंटिग्रेशन'।

इस का क्या कारण है कि पश्चिम देश की सब से नयी बुद्धि पूर्व देश की अति पुराण बुद्धि के सदृश होती जाती है ? कारण यही है कि इतिहास पुराण से बढ़ कर कोई प्रकार सर्वसाधारण की शिक्षा का, 'पाप्युलर एज्युकेशन' का, है ही नहीं। मनुष्य के चारो पुरुषार्थों की उपयोगी बातें प्रायः सभी इतिहास पुराण मे, सरस कथा और आख्यायिका की लपेट मे, कही हैं, जिस से बाल, युवा, वृद्ध. स्त्री, पुरुष, सब को रोचक होती हुई, विज्ञान की, राजधर्म की, भूगोल की, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, गृहधर्म, परस्पर व्यवहार की, सुख दुःख के कारणभूत पुण्य पाप की, विविध देशों और जातियों के रहन सहन की, अर्थशास्त्र की, विविध कलाओं की, बातों का ज्ञान सहज मे हो जाता है। सर्वोपरि, ब्रह्मविद्या (परमात्मविद्या), तथा अध्यात्मविद्या, (जीवात्मविद्या, मानवप्रकृतिशास्त्र, अंतःकरण-बहिःकरण-शास्त्र, चित्तविद्या) का भी आवश्यक ज्ञान, उत्तम कविता के रसों के आस्वादन के सहित, प्राप्त होता है।

इस देश में इतिहास पुराण के द्वारा सर्वसाधारण की शिक्षा की प्रथा बहुत पुरानी है। और इस का देश के मनुष्यों से, क्या मनुष्य मात्र से, स्वाभाविक सात्म्य है। इस लिये इस का जीर्णोद्धार करना परमावश्यक है। अध्ययन-अध्यापन के सम्बन्ध मे आज काल जो अनन्त प्रश्न उठ रहे हैं, उन मे से बहुतों का उत्तम उत्तर सहज मे इस प्रथा के पुनर्वार जगाने से हो सकता है। पर इस जीर्णोद्धार मे एक भारी 'समय', 'शर्त' है। वह यह है कि इन इतिहास पुराणों का नया संस्करण होना चाहिये, और वह प्रति-संस्करण आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान से भी, और इस देश के प्रचलित व्यवहार से भी, सहायता लेकर होना चाहिये। कारण यह कि प्राचीन 'सायंस', विज्ञान, आधिदैविक और आधिभौतिक शास्त्रों, की परंपरा लुप्त अथवा भ्रष्ट हो गई है। प्राचीन आध्यात्मिक शास्त्र और निरुक्त जो कुछ बचा है उस से तो प्रतिपद सहायता लेना अत्यंत आवश्यक है ही, जैसा पहिले कहा। नहीं तो अनर्थ की परंपरा घटने के स्थान में बढ़ेगी।

रामचन्द्र की अयोध्या से लंका तक की यात्रा, भरत की केकय देश से अयोध्या तक की यात्रा, सुग्रीव के आदेश के अनुसार वानरों का पृथ्वी की चारों दिशाओं मे पर्यटन, यह सब वर्णन भूगोल के ज्ञान के लिये, इस समय में, तब उपयोगी होगा जब स्थानों के प्राचीन नामों के साथ-साथ

उन के नये नाम भी, जो आज काल वरते जाते हैं, रखे जांय। ऐसे ही, महाभारत मे पांडवों के दिग्विजय की यात्राओं का वर्णन।

यह केवल दिग्दर्शन मात्र है। इस विषय पर बहुत विस्तार से कहा जा सकता है। पर उसका समय नहीं है। थोड़े मे पुनर्वार यही सूचना है कि कम से कम प्रारम्भिक शिक्षा, 'स्कूल एज्युकेशन', के अधिकांश प्रश्न इतिहास पुराण के उचित व्याख्यान से उत्तीर्ण हो सकते हैं—यदि व्याख्याता सद्विद्वान्, आर्यबुद्धि का, निर्लोभ, लोकहितैषी हो, और प्रत्येक अध्याय के अन्त मे यह न कहे कि सोना चांदी हाथी घोड़ा मकान बाग मुझ को दान दे दो, यही धर्म का सार है।

यद्यपि हिन्दी भाषा मे प्रायः सभी संस्कृत इतिहास पुराणों के अनुवाद छप गये हैं, पर उन से देश की बुद्धि की मलिनता का मार्जन ठीक ठीक नहीं होता, प्रत्युत बहुत अंशों में वह मलिनता बढ़ती है। नये प्रकार से संसार के और मनु-सन्तान के इतिहास पुराण के लिखे जाने की बड़ी आवश्यकता है, जिन मे सब आवश्यक ज्ञान का संग्रह किया हो।

यदि भिन्न भिन्न शास्त्रों पर बड़े बड़े ग्रन्थ बने होते तो भी ऐसे संग्राहक ग्रन्थ की आवश्यकता होती, उन सब का समन्वय दिखाने को। नहीं तो परस्पर विरुद्ध जान पड़ेंगे। जो कुछ ब्रह्माण्ड मे है वह सब मनुष्य के पिण्ड मे है। सब शास्त्रों का विषय, मनुष्य देह और जीव, अन्तःकरण और बहिष्करण मे, वर्त्तमान है। जितने 'केमिस्ट्री' और 'फ़िज़िक्स', आधिभौतिक शास्त्रों, के तत्व, और 'बायोलाजी', आधिदैविक शास्त्र, की बातें और शक्तियां, 'सैकालोजी', अध्यात्मशास्त्र, की सूक्ष्म वृत्तियां, तथा 'मेटाफ़िज़िक', ब्रह्मविद्या, के विषय हैं, वे सब प्रत्येक मनुष्य के चित्त और देह मे एकत्र हैं। इसी प्रकार से मनुष्य समाज के जीवन और इतिहास मे, 'सोशियालोजी' मे, सब शास्त्रों का समावेश है, और उन का परस्पर उपयोग और साहित्य देख पड़ता है। इस हेतु से ऐसे इतिहास पुराण के ग्रन्थों के बिना उत्तम शिक्षा सिद्ध नहीं हो सकती।

ऐसे संग्रह ग्रन्थों के सिवा विशेष विशेष देशों और जातियों के सविस्तर इतिहासों का भी बड़ा प्रभाव है। इस पर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता है।

राजधर्म

इस के पीछे, विशेष शास्त्रों के सम्बन्ध मे, राजधर्म के ग्रन्थों की

हिन्दी साहित्य में बड़ी अपेक्षा है। राजधर्म में वह सब विषय अन्तर्भूत हैं जिस को अंगरेज़ी में 'पालिटिक्स', 'सिविक्स', 'सोशियालोजी' 'सोशल आर्गेनिजेशन', 'जूरिसप्रूडेंस' आदि कई नाम रख कर कई शास्त्रों मे विभक्त कर दिया है। ऐसा विभाग करने से शास्त्रियों को अपनी बुद्धि की एक विशेष चतुरता जान पड़ती है, और किसी अंश में ऐसा करना अच्छा भी है। पर उन सब का सम्बन्ध और समन्वय याद रखना बहुत आवश्यक है। "समास-व्यास-धारणम्" दोनों चाहिये। राजधर्म पदार्थ मे सब का समावेश है।

सर्वे योगाः राजधर्मेषु युक्ताः, सर्वे धर्माः राजधर्मेषु दृष्टाः,
सर्वाः विद्याः राजधर्मे प्रयुक्ताः, सर्वाः दीक्षाः राजधर्मेषु चोक्ताः,
सर्वे भोगाः राजधर्मेषु भुक्ताः, सर्वे लोकाः राजधर्मे प्रविष्टाः;
आत्मत्यागः, सर्वभूतानुकम्पा, लोकज्ञानं, पालनं पोषणं च,
विषण्णानां मोक्षणं पीड़ितानां, क्षात्रे धर्मे विद्यते पार्थिवानाम्।
(महाभारत, शांतिपर्व, अ० ६२, ६३, ६४)

सब 'योग' 'उपाय', सब धर्म, सब विद्या, सब दीक्षा, सब भोगविलास की कला, इहलोक परलोक सब का क्षेम, सभी राजधर्म के अंतर्गत है। प्राणोत्सर्ग तक कर के सब लोक की अनुकम्पा और भलाई करना, सब लोक का ज्ञान रखना, सब का पालन पोषण करना, दीन दुखियों को पीड़ा से बचाना, यह सब, सच्चे क्षत्रियों के राजधर्म मे अंतर्गत है। इसी लिये सच्चे क्षत्रियों का धर्म, राजा का धर्म और धर्मों का राजा, है।

राजधर्म का ऐसा बड़ा गौरव है। यदि लाला लाजपतराय जी ने 'पालिटिक्स' के लिये एक विशेष विद्यालय खोला है तो उन्हों ने इस देश के प्राचीन हृदय का ही अनुसरण किया है। इस शास्त्र के ज्ञान के प्रचार की देश मे बड़ी आवश्यकता है, और खेद का विषय है कि इस पर हिन्दी मे बहुत कम ग्रन्थ मिलते हैं। और यह भी खेद का विषय है कि जो एक दो ग्रन्थ लिखे भी गये हैं उन मे पश्चिम के भावों को ही हिन्दी शब्दों मे दिखाने का प्रयत्न अधिकतर किया गया है। चाहिये यह, और देश के कल्याण के लिये आवश्यक है, कि प्राचीन भावों को दिखाते हुए, उन की अपेक्षा से पश्चिम के नये भावों के गुणदोष, तथा इस देश के लिये उपयोगिता अथवा हानिकारकता दिखाई जाय। पश्चिम के ग्रन्थों के नये नये शब्दों पर रीझ जाना, और उन के लिये हिन्दी मे नये पर्याय शब्द

बड़े श्रम से गढ़ना, इस मे शक्ति का अपव्यय होता है। पर हां, यह कहा जा सकता है कि बिना रोग का अनुभव किये आरोग्य का सुख नहीं ही जान पड़ता। 'पैट्रियाटिज़्म' देशभक्ति जान पड़ती है, 'नैशनलिज़्म' जातिभक्ति जान पड़ती है, और ऐसा जान पड़ता है कि ये दोनों बहुत नये भाव हैं, पश्चिम की जातियों के नवीन कल्पना की है! पर जब हम याद करते हैं कि हमारे देश मे तो 'पैट्रियाटिज़्म' के स्थानपर 'यूनिवर्सलिज़्म' विश्वभक्ति रही है, और 'नेशनलिज़्म' के स्थान पर 'ह्यूमनिज़्म' सर्व-मानवभक्ति, "सर्वभूतहिते रतिः," "सर्वलोकहितैषिता," "सर्वप्रियहितेहा च," तब हमको वह देख पड़ता है कि जिस को देशभक्ति समझे थे वह केवल देशमद है, और जिस को जातिभक्ति जाना था वह जातिमद! हमारा स्वाभाविक विश्वास तो यह है कि,

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येव अनुपश्यति,
सर्वभूतेषु चात्मानं, ततो न विजुगुप्सते। (ईशोपनिषत्)
एवं तु पंडितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम्,
क्रियते सर्वभूतेषु भक्तिर् अव्यभिचारिणी। (विष्णुपुराण)
सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः,
भूतानि भगवति आत्मनि, असौ भागवतोत्तमः। (भागवत)

सब मे अपने को, अपने मे सब को, जो देखै, सब की जो भक्ति करै, वही सच्चा पंडित, सच्चा भागवत, भगवद्भक्त, 'भगवद्दास' है।

यह बात प्रसंगतः कही गयी। पर इस की आवश्यकता थी। आज काल बहुत ग्रन्थ विविध विषयों पर हिन्दी में लिखे जाते हैं जिन मे यह यत्न नहीं किया जाता कि प्राचीन शब्दों और भावों का, नयों की सहायता से, जीर्णोद्धार किया जाय। किन्तु नये दुर्बोध्य शब्द बना लिये जाते हैं जिन से अपनी अवस्था के उपकारक भाव हम को नहीं मिलते।

धर्मशास्त्र के अङ्ग मे मुख्य विषय ये ही हैं, इतिहास पुराण और राजधर्म, जिन पर तत्काल हिन्दी मे अच्छे ग्रन्थों की बहुत आवश्यकता है। इन के पीछे वेदाङ्गभूत ज्योतिष गणितादि के, तथा उपवेदात्मक आयुर्वेद मे स्वास्थ्यरक्षा, दिनरात्रिचर्या, ऋतुचर्य्या, शौचाचारादि के अच्छे, सरल, सुबोध्य, सर्वसाधारणोपयोगी ग्रन्थों का भी बहुत अभाव है।

इन के सिवा वह आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक शास्त्र जो विशेष रूप से अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, और मोक्षशास्त्र मे नहीं

आ जाते, वे सब ही वेदांग, वेदोपांग, और उपवेद के रूप से धर्मशास्त्र के समूह मे आवेंगे । इन सब पर हिन्दी मे ग्रन्थों की बहुत कमी है ।

अर्थशास्त्र

धर्मशास्त्र के पीछे अर्थशास्त्र के ग्रन्थों का तो और भी अभाव है । इस मे कृषिशास्त्र, 'सायन्स आफ ऐग्रीकल्चर,' गोरक्षाशास्त्र, 'सायन्स आफ़ कैटल ब्रीडिंग, डेयरी फ़ार्मिङ्ग, डोमेस्टिक ऐनिमल्स,' वाणिज्यशास्त्र, 'सायंस आफ ट्रेड एण्ड कामर्स,' यह बात अन्तर्गत है । कुसीदशास्त्र, 'सायंस आफ बैंकिंग' और शिल्प शास्त्र 'सायंस आफ एन्जिनियरिंग' के सब भेद, यह सब भी इसी मे अन्तर्गत हैं ।

पर एक बात इस स्थान पर कहने की है, कि जहां वैश्य धर्म कर्म मे कृषि गोरक्षा और वाणिज्य को फिर फिर याद कराया है वहां कुसीद और शिल्प पर इतना आग्रह प्राचीन ग्रन्थों मे नहीं किया है । शिल्प के नाम से अथर्ववेद सम्बन्धी उपवेद भी कहा है, अर्थात् शिल्पवेद, जिस का दूसरा नाम स्थापत्यवेद कहा है । तो भी इसका स्थान स्मृतियों मे ऊंचा नहीं रक्खा है, प्रत्युत महायंत्रप्रवर्तन को और तत्संबन्धी आकरकर्म को अर्थात् खानो के काम को, उपपातकों मे गिनाया है, और "उत्तमं गोधनं धनं," "वार्तामूलं इदं सर्वं," "वार्ता च सर्वजगतां परमार्त्तिहंत्री," "कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं लोकानां इह जीवनम्" इत्यादि कृषि गोपालन और वाणिज्य की प्रशंसा की है । यह भी विचारने की बात है कि शिल्पवेद सम्बन्धी अथर्ववेद को भी अपवित्र कहा है । इस मे, और बहुत सी बातों के साथ, अभिचार, मारण, उच्चाटन, आदि के उपाय भी मिलते हैं । "शत्रूणां अभिचारार्थं अथर्वेषु निदर्शिताः" ।

इसका हेतु यही जान पड़ता है कि जिन दो सभ्यताओं की चर्चा भगवद्गीता मे की है दैवी संपत् और आसुरी संपत्, और जिन के स्वरूप का प्रदर्शन, विस्तार से, वाल्मीकि रामायण मे, रावण की लंका और राम की अयोध्या के वर्णन से किया है, उन मे दैवी संपत् कृष्यादिमातृक है, और आसुरी संपत् महायन्त्रादिप्रधान है । इस देश की सभ्यता 'एग्रिकलचरल-पास्टोरल-रूरल सिविलिज़ेशन' कृषि-गोरक्ष्य-ग्राम-प्रधान सभ्यता की और वर्णाश्रमीय 'सोशलिज़्म' समाजवाद वा 'वयं' वाद की है । पश्चिम देश की आधुनिक सभ्यता 'इण्डस्ट्रियल-मिकानिकल-अर्बन

सिविलिजेशन' कारु-महायंत्र-नगर-प्रधान शिष्टता और 'इंडिविजुयेलिज़्म' व्यक्तिवाद वा 'अहं' वाद की है। 'प्रधान' शब्द पर ध्यान रखना चाहिये। सुर और असुर, आदित्य और दैत्य, सगे सौतेले भाई हैं, एक ही कश्यप और दो वहिन दिति और अदिति की सन्तान हैं। वही जीव जन्मभेद से कभी देव और कभी दैत्य होते हैं। और दोनो मे दोनो के गुण-दोष वर्तमान हैं। पर एक की प्रधानता से एक नाम पड़ता है, दूसरे की प्रधानता से दूसरा नाम। देवताओं मे भी शिल्पी हैं, जिनका नाम विश्वकर्मा है। निरुक्त बताता है कि जैसे "पश्यकः कश्यपो भवति, पश्यकः सूर्यः और अदिति दिति यह दोनो पृथ्वी के ही परार्थी और स्वार्थी अवस्थाओं के नाम हैं, वैसे विश्वकर्मा प्राण-वायु का नाम है। "विश्वं करोति, विश्वक् कर्म करोति, विश्वासां क्रियाणां मध्यमः" ('माध्यमः' नहीं) "विश्वकर्मा वायुः," (निरुक्त), इत्यादि।

पर दैत्यों के शिल्पी मयासुर शम्बर आदि, ये दूसरे प्रकार के हैं। प्राणशक्ति मन्त्रशक्ति से काम कम लेते हैं। और इन मे अग्नि यंत्र बनाते हैं, वायु वरुण देवताओं को अपनी तपस्या के वल से बन्द कर देते हैं, और उन से गुलामो का काम लेते हैं, एक बटन दबाया रौशनी हो गई, आग जल उठी, दूसरा 'स्विच' चलाया पंखा घूमा और हवा चलने लगी, तीसरा 'टेप' फिराया वरुण देवता पानी के रूप मे बहने लगे। फिर, कृषिप्रधान रामराज्य वाली दैवी सम्पत् की आर्य सन्तान को, रावणराज्य के और आसुरी संपत् के जीव, अपने मातहत कर के पीड़ा देते हैं, जिस का प्रतिकार तब होता है जब उन से भी अधिक तपस्या दैवी संपत् वाले करते हैं।

सारांश यह कि हम को इन सब शास्त्रों पर हिन्दी मे ग्रंथों की अपेक्षा है, पर कृषि, गोरक्षा अर्थात् सब प्रकार के उपयोगी घरैलू पलुआ पशुओं के पालन पर (गच्छतीति गौः), और वाणिज्य पर अधिक, और कुसीद और शिल्प पर दूसरे दर्जे मे।

कुसीद और शिल्प का प्रयोग जहां मर्यादा से थोड़ा भी आगे बढ़ गया, वहां सब आपत्तियां देश और जाति पर आ जाती हैं, जिन का अनुभव यूरोप देश इधर बहुत कई वर्षों से कर रहा है, और यूरोपियन सभ्यता और आंग्ल साम्राज्य के अधीन होने के कारण, भारतवर्ष जिन को और भी अधिक भुगत रहा है। इस प्रयोग के जो कुछ सुख हैं वे तो मिलते

नहीं, वे तो पश्चिम देश के धनाढ्यों और हुकूमत करने वालों को मिलते हैं किन्तु उस के जो दुःख हैं, करोड़ों की अत्यन्त ग़रीबी, चारों ओर नीयत का कच्चापन, जुआ, चोरी, खेला, फाटका का रोजगार, शराब कबाब का अधिकाधिक प्रचार—यह सब दुःख भले ही इस देश को भुगतने पड़ रहे हैं।

साहित्य का काम है कि देश को इन आपत्तियों की चेतावनी देता रहे, और इन से बचने का उपाय दिखाता रहे।

कामशास्त्र अथवा कलाशास्त्र।

अर्थशास्त्र के पीछे कामशास्त्र का स्थान है।

धर्माद् अर्थो, ऽर्थतः कामः, कामाद्धर्मफलोदयः,
इत्येवं निर्णयं शास्त्रे प्रवदन्ति विपश्चितः।
धर्मश्च, अर्थश्च, कामश्च, मोक्षश्चेति चतुष्टयम्,
यथोक्तं सफलं ज्ञेयं; विपरीतं तु निष्फलम्।

(पद्मपुराण, उत्तरखंड, अ० २४८)

धर्म से, क़ायदा क़ानून से, इस लोक और परलोक दोनो के लिये जो मर्यादा, अनुभवी और सात्विक बुद्धि के परार्थी और त्यागी महात्माओं ने बांधी है, उस के आचरण से, उस के मानने और पालने से ही, मनुष्य समाज मे अर्थ का, विविध प्रकार के धन धान्य का, सभी मनुष्य के भोग के उचित वस्तुओं का, संग्रह हो सकता है। और ऐसे अर्थ से ही, पशु के योग्य नहीं, किन्तु मनुष्योचित 'काम' का, इन्द्रियों के सुसंस्कृत सुपरिष्कृत विषयों के सुख का, अनुभव, सिद्ध हो सकता है। इन संसारी अनुभवों से तृप्त और विरक्त होने पर, मोक्ष शास्त्र मे कहे उपायों से, मोक्ष प्राप्त हो सकता है। ऐसा शास्त्र का सिद्धान्त है।

इस लिये कामशास्त्र के, और तदन्तर्गत विविध कलाशास्त्र के, ग्रन्थों की भी नितान्त अपेक्षा हिन्दी साहित्य मे है। पर जो दुर्दशा धर्म-शास्त्र की हो रही है उस से भी अधिक दुर्दशा कामशास्त्र की हो रही है। अर्थशास्त्र तो प्रायः लुप्त ही हो रहा है।

धर्मशास्त्र के विषय में देश का चित्र खींचते हुए, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने कहा है,

अपरस (अस्पर्श) सोल्हा छूत रचि, भोजन प्रीति छुड़ाय,
किये तीन तेरह सबै, चौका, चौका लाय।
रचि कै मत वेदान्त को सब को ब्रह्म बनाय,
हिन्दुन पुरुषोत्तम कियो, तोरि हाथ अरु पाय।

प्रसिद्ध चार धामो मे से एक जगन्नाथपुरी के मन्दिर मे, जो कृष्ण और बलदेव की मूर्त्तियां (काठ की, जो हर बारहवें वर्ष बदल दी जाती हैं) बिना हाथ पैर की बनाई जाती हैं। क्यों ऐसा किया जाता है, इसके विषय मे विविध कथानक हैं। श्रद्धा-जड़ हिन्दू सब को निगल लेते हैं। हरिश्चन्द्र जी ने, हिन्दुओं के इष्टदेव की, अतः हिन्दुओं की भी, इसी हस्त-पाद-हीनता की ('नि-हत्थे', 'नि-गोड़े', होने की) चर्चा, सर सभी, और उद्बोधक भी, शब्दों मे की है।

कृष्ण मिश्र के लिखे हुए प्रबोधचन्द्रोदय नाटक मे भी, जिस के विषय मे यह प्रथा है कि हज़ार बारह सौ वर्ष पहिले लिखा गया, इस धर्म की दुर्दशा का स्वरूप दिखाया है।

सदनं उपगतोऽहं पूर्वं अम्भोजयोनेः,सपदिमुनिभिर् उच्चैर् आसनेषुउज्झितेषु,
सशपथं अनुनीय,ब्रह्मणा,गोमयाम्भःपरिमृजितनिजोरौ आशुसंवेशितोऽस्मि।

दम्भ कहता है अहंकार से कि एक वेर मैं ब्रह्मा के घर गया; सब मुनि तुरत खड़े हो कर अपना-अपना आसन मुझे देने लगे, पर मैं ने नाक सिकोड़ी; तब ब्रह्मा ने, अपनी जांघ को गोबर से लीप कर शुद्ध कर के मुझ को, शपथ दिला कर और बहुत अनुनय विनय कर के, उसी पर बैठाया।

अधिकांश मिथ्या छूतछात के लोकविग्राहक ढोंग मे ही धर्म रह गया है। जो धर्म का मर्म है, जो सर्वलोक-संग्राहक राजधर्म राजनीति का सार है, उस की ओर कुछ भी ध्यान नहीं है।

धृतिः, क्षमा, दमो, ऽस्तेयं, शौचं, इन्द्रियनिग्रहः,
धीः, विद्या, सत्यं, अक्रोधो, दशकं धर्मलक्षणम्।
अहिंसा, सत्यं, अस्तेयं, शौचं, इन्द्रिय-निग्रहः,
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन् मनुः। (मनु)
श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैव अवधार्यताम्,
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्,
यद्यद् आत्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिंतयेद्।

(म० भा० शांति०)

वर्णानां आश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता । (मनु)

धीरज से सद्भावों को, उत्तम लक्ष्य को, धरे रहो, क्षमा करो, मन की अशुभ भावनाओं का दमन करो, चोरी मत करो, शरीर को शुचि स्वच्छ रक्खो, इन्द्रियों का निग्रह करो, उनको रोके रहो, बेलगाम के घोड़ों को ऐसा मनमाना इधर उधर दौड़ने मत दो, बुद्धि बढ़ाओ, विद्या सीखो, सच बोलो, क्रोध मत करो—ये ही धर्म के दस लक्षण हैं। इन मे से भी पांच और सारभूत हैं, सब वर्णों के लिये हैं। और भी। धर्म का सर्वस्व, सर्बस, धर्म का सार, सुनना चाहो तो यह है कि, जो अपने लिये न चाहो वह दूसरों के साथ मत करो, और जो अपने लिये चाहो वह दूसरों के लिये भी चाहो। राजा का एक मात्र कर्त्तव्य, समग्र राज-धर्म, इतना ही है कि, वर्ण धर्म और आश्रम धर्म की रक्षा करे। इस मे असंख्य विशेष विशेष धर्म सब आ जाते हैं।

"हेतुभिर्धर्ममन्विच्छेत्", "यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः;" यह धर्म क्यों बनाया गया, इस को हेतुओं से समझना, समझाना चाहिये, क़ानून की वजह बता जता कर क़ायल माक़ूल करना चाहिये; धर्म को ठीक ठीक वही जानता है जो उसके हेतुओं को भी जानता है; "दि रीज़न्स गोइङ् दि लॉ गोज़्"*; जिस कारण से कोई क़ानून बनाया गया, जब कारण बाक़ी नहीं रहा, तब क़ानून भी उठ जाता है। युग युग में धर्म बदलते हैं। पर इन सब बातों को भुला कर, स्वयं हेतुओं का ज्ञान भूल कर, इस देश के धर्माधिकारी पण्डितों और मौलवियों ने आज सैकड़ों वर्ष से 'दफ़ा १४४' का प्रयोग कर रक्खा है। हेतु मत पूछो, मुह पर ताला बन्द कर रक्खो, जो हम हुकम दें वही मानो। यह दुर्दशा धर्मशास्त्र की हो रही है।

ऐसी ही दुर्दशा, या इस से भी अधिक, कामशास्त्र की है। जो कुछ टूटे फूटे छिपे छिपाये हिन्दी मे इस विषय के ग्रन्थों का प्रचार सुना जाता है, और समाचार-पत्रों के विज्ञापनों से अनुमान किया जा सकता है, तथा बहुतेरी कविता मे देख पड़ता है, वह केवल अश्लीलता का भाण्डार, दुर्बुद्धि और दुराचार का बढ़ाने वाला, ब्रह्मचर्य का नाश करने वाला, तन और मन को हीन क्षीण करने वाला, दिन दिन जाति का ह्रास करने वाला जान पड़ता है। विपरीत इस के, सच्चे कामशास्त्र का अर्थ गार्हस्थ्य-शास्त्र

* The reasons going the law goes.

है, जिस से पति पत्नी का परस्पर स्नेह और गृह-सुख बढ़े, सन्तान उत्तम और ओजस्वी हो, गृह का प्रबन्ध, अन्नादि का संग्रह, आय व्यय का शोध, समय समय पर फल मूल तरकारी आदि का उत्पादन और सञ्चय हो। यह सब विषय प्राचीन कामशास्त्र का था। आज काल पश्चिम के खोजी विद्वान इस शास्त्र के एक मुख्य अंग के तत्वों को 'यूजेनिक्स' के नाम से खोज रहे हैं, जिसका मूल मन्त्र और सार मनु के एक श्लोक मे कह दिया है; तथा महाभारत मे भी, नल-दमयन्ती की कथा मे।

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैर् अनिन्द्या भवति प्रजा,
निन्दितैर्निन्दिता नृणाम्, तस्मान् निन्द्यान् विवर्जयेत्। (मनु)
विशिष्टायाः विशिष्टेन संगमो गुणवान् भवेत्। (म० भा०)

उत्तम स्त्री उत्तम पुरुष के सात्विक स्नेह और प्रीतिमय विवाह से उत्कृष्ट प्रजा उत्पन्न होती है। निन्दित सम्बन्धों से दुराचार दुःशील कुरूप निन्दनीय सन्तान उत्पन्न होती है।

तो इस परमोपयोगी गार्हस्थ्यशास्त्र पर उत्तम ग्रन्थों की नितान्त आवश्यकता है। और उस के सम्बन्ध मे विविध व्यवहारोपयोगिनी तथा रसमयी ललित कलाओं के ग्रन्थों की भी आवश्यकता है। तौर्यत्रिक गीत-वाद्य-नृत्य, चित्रकारी, रूपोत्किरण, वास्तुशिल्प, घर को रुचिर और उस की शालाओं को मनोहर बनाने की विद्या, पुष्प विद्या, सुगन्ध विद्या, षड्रस विद्या, काव्य साहित्य, सुन्दर आभूषण, सुरंजित सुक्लृप्त वस्त्र, तरह तरह के खेल, पहेली, उद्यान विद्या, पुष्पवाटिका, फलवृक्षवाटिका, क्रीड़ाशैल, 'आराम', (बाग) स्नानवापी, धारागृह आदि के निर्माण करने की विद्या, इत्यादि। काशी मे अब तक प्रथा है कि होली के दिनों मे 'चौसठ्ठी' देवी का दर्शन करते हैं। 'चौसठ्ठी' देवी का शास्त्रीय बुद्धियुक्त अर्थ चतुःषष्टि कलाओं का रूपक है। कोमल बुद्धि को सहज मे समझा देने के लिये, बालक की स्मृति मे एक रोचक रूप से ज्ञान के तत्त्व को दृढ़ बैठा देने के लिये, अमूर्त्त ब्रह्म की विविध मूर्त्तियों की कल्पना, प्राचीन दयामय ऋषियों ने कर दी। पर जैसे और विषयों मे तैसे यहां, हम लोग साल मे एक दिन कृत्रिम मूर्ति ही देख कर सन्तुष्ट हो जाते हैं और जो उस मूर्त्ति का मार्मिक अर्थ है उस को बिल्कुल भूले हैं।

मोक्षशास्त्र।

अन्त मे मोक्षशास्त्र के अंश की पूर्त्ति की आवश्यकता है। संस्कृत

ग्रन्थों से अनुवाद किये हुए ग्रन्थ इस विषय पर हिन्दी मे हैं। पर इन का भी पुनः संस्करण आवश्यक है। सांसारिक व्यवहार और अभ्युदय अर्थात् धर्म-अर्थ-कामऽात्मक त्रिवर्ग के शास्त्र कच्चे पड़ जाने से उन का प्रतिद्वन्द्वी मोक्षशास्त्र भी बहुत ढीला पड़ गया है, और उस का भी अर्थ के स्थान मे अनर्थ और दुरुपयोग बहुत हो रहा है। मनु ने कहा है।

ऋणानि त्रीणि अपाकृत्य, मनो मोक्षे निवेशयेत्;
अनपाकृत्य तान्येव, मोक्षं इच्छन् व्रजति अधः।
अनधीत्य द्विजो वेदान्, अनुत्पाद्य च सत्प्रजाः,
अनिष्ट्वा विविधैर्यज्ञैः, मोक्षंइच्छन् व्रजति अधः। (मनु)

जिस को पच्छिम के विद्वान् 'सोशल डेट' कह के पहिचानने लग गये हैं, उस के पूरे रूप को इस देश की पुरातन प्रथा मे 'ऋणत्रय' कहते हैं। ऋषि ऋण, पितृ ऋण, देव ऋण—मनुष्य इन तीनों ऋणों से बँधा हुआ, पृथ्वी पर शरीररूपी बन्ध मे जनमता है। इन ऋणों का, धर्म, अर्थ और काम का, उचित मर्यादानुसार सेवन कर के, ज्ञान का प्रचार साक्षात् या परम्परया कर के, अच्छी प्रजा को उत्पन्न कर के, और उस की शिक्षा रक्षा जीविका और मन-बहलाव का प्रबन्ध कर के, (जैसे सच्चे राजा का कर्त्तव्य प्रजा की ओर है), और विविध 'यज्ञ', परार्थ कर्म, कर के—इन सब ऋणों को चुकाता है। तब, उस के पीछे, यदि मोक्ष के लिये यत्न करे तो कृतार्थ होता है। तभी उस को मोक्ष का लाभ, सब ऋणों और बंधनों से छुटकारा, अर्थात् सब जीवात्माओं की एकता का निश्चय, परमात्मा का अनुभव, ठीक ठीक होता है; अन्यथा नहीं।

इस लिये जब तक अन्य तीनो शास्त्रों के ग्रन्थ अच्छे न बन जायँ, जब तक इन शास्त्रों के विषय का सच्चा ज्ञान और उत्तम पवित्र अनुभव देश में न फैले, तब तक मोक्ष का अनुभव भी ठीक नहीं हो सकता। जैसा पुनः पुनः पुराणो मे, तथा तुलसीदास जी की रामायण मे भी, कलियुग कें वर्णन में कहा है, आज काल तो सभी वेदांती हो रहे हैं, सभी प्रकार के नितांत विषयी और पापी जन भी, "अहं ब्रह्मास्मि, सर्व ब्रह्म" पुकारते हुए, दूसरों का मालमता 'आत्मसात्' करने के लिये, 'अपनाने' के लिये, सदा सन्नद्ध रहते हैं, और जीवन्मुक्त बने निर्द्वन्द्व विचरते हैं।

इस विषय पर कहने को तो बहुत है, पर यह स्थान और समय अधिक विस्तार का अवसर नहीं देता। इतने ही से अपने वक्तव्य के इस

अंश को समाप्त कर के मैं आप को स्मरण कराना चाहता हूँ, कि यह मैंने भारतवर्ष के प्राचीन संस्कार के अनुसार सर्वांग 'साहित्य' का सीधा सादा आकार खींच दिया है। और यह दिखाने का यत्न किया है कि मनुष्य-समाज के सर्वांग जीवन मे सहायता करना, 'साथ' देना, 'सहित' होना, मनुष्य के सुख की वृद्धि करना, मनुष्यमात्र को चारो पुरुषार्थों की प्राप्ति का उपाय दिखाना, यही सम्पूर्ण 'साहित्य' का प्रयोजन है, और यह प्रयोजन, बिना इस आकार के पूर्ण हुए, ठीक सिद्ध नहीं हो सकता।

---

(२)

अब मैं यह सूचना करने का प्रयत्न करूँगा कि ऐसे साहित्य की पूर्ति के क्या उपाय हैं, और तत्सम्बन्धी फुटकर बातों की भी चर्चा करूँगा।

जब सोता आदमी जागने लगता है, जब नशे से या चोट से बेहोश आदमी होश मे आने लगता है, तब पहिले उसके अंग एक साथ मिल के काम नहीं करते। हाथ किसी तरफ फेंकता है, पैर किसी तरफ़ ऐंठता है, आंख खुलती है और बन्द हो जाती है, कान कुछ और ही सुनता है, मुह से कुछ बेजोड़ असम्बद्ध आवाज़ अलग निकलती है। धीरे धीरे, सब देह मे प्राणसंचार हो कर आदमी उठ बैठता है, खड़ा हो जाता है, और यक़सू एकाग्र हो कर, एक लक्ष्य से, काम मे लगता है।

यही दशा भारतवर्ष की है। आज चालीस पचास वर्ष से इस देश और इस जाति मे जाग हुई है।

देश और जाति के विविध अंगों की जाग।

एक परमात्मा, एक ख़ुदा, एक अल्ला के बन्दों मे अनन्त मतों और फ़िर्क़ों के भेद पैदा हो कर आपस मे भाईचारा होने के बदले बापा-बैर बढ़ चला था। उस के शोधन के वास्ते जतन शुरू हुआ, और लोगों को चेतावनी दी जाने लगी, कि इस मूल बात को फिर से याद कीजिये कि सभी एक ही परमात्मा, एक ही ख़ुदा, एक ही अल्ला की संतान हो, आप भी जीयो और दूसरे को भी जीने दो, आपस मे स्नेह करो और वैर मत करो, अक़्ल से काम लो, लाठी से नहीं, सात कनौजिया नौ चूल्हा की थोथी बातों को छोड़िये, सच्चे सहेतुक शौचाचार को और बिना बनावट के धर्म को गहिये, दीन और धर्म के नाम की दुर्दशा कर के पशु के लिये मनुष्य

की हत्या मत कीजिये, बल्कि एक दूसरे को अक़्ल से समझाइये। कृष्ण ने, शराब कबाब वाला इन्द्र-मख उठा कर, गो-पूजा इस वास्ते क़ायम की कि देश मे अन्न दूध का सौम्य 'सिविलिज़ेशन', समयाचार और सभ्यता, चले, और शराब क़बाब का प्रचण्ड रौद्र 'सिविलिज़ेशन', जिस से एक दो नगर की अत्यन्त समृद्धि के वास्ते सारा देश उजाड़ हुआ जाता था, कम हो। (यद्यपि यह काम केवल गो-वर्धन मख से नहीं हुआ। इस के लिये कृष्ण को महाभारत का युद्ध और यादवों का संहार भी कराना पड़ा।)

जहां एक ओर इस प्रकार से साम्प्रदायिक वैरों को शांत करने का यत्न होने लगा, वहां दूसरी ओर यह यत्न आरम्भ हुआ कि नई पुश्त की शिक्षा का प्रचार देश की हालत के अनुसार हो, विदेश के मतलब के अनुसार नहीं। इस वास्ते ग़ैर सरकारी और नीम सरकारी स्कूल कालिज क़ायम किये जाने लगे, जिन का भाव यही था कि देश के काम की अर्थ-करी शिक्षा का प्रचार हो, और बेकार, बेसूद, अर्थ-रहित शिक्षा बंद हो।

तीसरी ओर देश के सुशासन, जनता के अधिकारों की रक्षा, के उपाय के संबंध मे, प्रजा को दुःशासन की पीड़ा से बचाने के प्रकार के बारे मे, बड़ा विचार और आन्दोलन शुरू हो गया।

चौथी ओर देश की डूबती हुई जीविका का कैसे पुनरुद्धार हो, कैसे यहां की जनता अपने पैरों पर खड़ी हो, अपने बूते अपना और बाल बच्चों का, बिना नितान्त पराधीनता के, पालन पोषण कर सके, कैसे स्वदेशी व्यापार सर्वथा नष्ट न हो जाय—इस बारे मे जतन होने लगा।

पांचवी ओर हिन्दी प्रचार, नागरी प्रचार की चर्चा उठी, और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र काशीवासी ने, जिन के दर्शन का सौभाग्य मुझ को बाल्यावस्था मे हुआ है, हिन्दी साहित्य मे नये प्राण का संचार किया, और अन्यान्य देशोद्धार और आजादी की बातों की चर्चा भी, आज से पैंतालीस चालीस वर्ष पहले, अपने गद्य-पद्यात्मक रसीले हिन्दी लेखों मे उठाई। स्त्रियों की भी, वर्तमान दुर्दशा से, उद्धार का यत्न शुरू हुआ।

यों तो देखने मे, जाहिरा, इन बातों का परस्पर सम्बन्ध न जान पड़ता हो, बल्कि परस्पर बाधक भी कभी कभी समझी जाती थीं, पर असल मे ऐसा था नहीं। भारतवर्ष की सूत्रात्मा मूर्छा के बाद होश मे आ रही थी। दिन दिन उस के शरीर मे अफीम, शराब, गांजा, भांग आदि मादक पदार्थों का, और अनुपयुक्त अथवा हानिकारक आचारों और

विचारों का, जो विष भरा जा रहा था, उस को दूर करने को हाथ पैर फेंक रही थी। और इन सब क्रियाओं मे, उस सूत्रात्मा की एकता के कारण, परस्पर सम्बन्ध था, और है।

शिक्षा, रक्षा, जीविका—इन्हीं का प्रबन्ध करना तो माता पिता का धर्म, सन्तान की ओर, और राजा, शास्ता, नृप का धर्म, प्रजा की ओर, है।

इन तीनो मे, तथा चौथे सात्विक मन-बहलाव, रञ्जन मे, "प्रजानाम् रंजनाद् राजा, शिक्षणात् शासनात् शास्ता, नृणाम् पालनाद् रक्षणान् नृपः, भरणाद् भर्त्ता", इन चार मे, जो ज्येष्ठ के कर्त्तव्य-धर्म कनिष्ठ की ओर हैं, और राजा के कर्त्तव्य-धर्म प्रजा की ओर हैं, वे सब कर्त्तव्य आ जाते हैं।

इन्हीं सब का संशोधन, भारतवर्ष की सूत्रात्मा ने, भिन्न भिन्न संघों द्वारा, देश मे आरम्भ किया। "संघे शक्तिः कलौ युगे।"

ब्राह्मण वर्ग, मौलवी वर्ग, विद्वान्-पादरी वर्ग, ज्ञानप्रधान जीवों, के द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध। क्षत्रिय वर्ग, सिपाही वर्ग, 'सोल्जर' वर्ग, क्रिया-प्रधान जीवों, द्वारा रक्षा का प्रबन्ध। वैश्य वर्ग, ताजिर और किसान और पशुपालक और शिल्पी वर्ग, अर्थात् इच्छाप्रधान जीवों, के द्वारा जीविका का प्रबन्ध। सेवक वर्ग, अनुद्बुद्धबुद्धि जीवों, बालबुद्धि जीवों, के द्वारा सब की सहायता और मनोरञ्जन आदि का प्रबन्ध, सब के वास्ते परस्पर कर देना, देश-काल-अवस्था के अनुसार—यही उत्तम शासन का स्वरूप और सिद्धान्त है।

ज्ञान की देवी ब्रह्मचारिणी सरस्वती, ग्राम और नगर से मिले हुए उपवन और अरण्य मे बसने वाली; क्रिया की देवी, शोभा सौन्दर्य सम्पत्ति की अधिष्ठात्री गृहस्थिनी लक्ष्मी, नगर मे वसने वाली; इच्छा की देवी, प्राण की, अन्न की, वैवाहिक स्नेह और सन्तान की, काम की तथा क्रोध और वीरता की भी, देवी, महागृहस्थिनी विविधरूपिणी गौरी, अन्नपूर्णा, दुर्गा, गांव देहात की रहने वाली; तथा सब से आगे, सब स्थान मे रहने वाले, जिन के बिना किसी का भी काम नहीं चल सकता, बालबुद्धि के देवता, अति पुराण, मोटे ताजे, गोल मोल, 'बालक' गणेश जी—हम भारतवासी जन तो इन सब को एक-सा मानते और पूजते हैं। हम को तो सभी चाहिये। इन चार मे से किसी एक को भी नहीं छोड़ सकते।

पर इस पच्छिमी सभ्यता ने, लक्ष्मी को माता न समझ कर वाराङ्गना

वना लिया है, और सरस्वती, अन्नपूर्णा, तथा गणेश जी को उस का गुलाम कर दिया है। उनका बराबरी का वास्ता मिटा दिया है। इसी के कारण सारे पृथ्वीमण्डल मे रामराज्य के स्थान मे रावणराज्य हो गया है।

जव तक इन तीनो देवियों की समताऽवस्था फिर से नहीं क़ायम होती, जव तक उन के प्रिय और पूज्य वालक गणेश जी का सब से पहिले आदर नहीं होता, तव तक न इस देश मे चैन होगा, न किसी और देश मे। "सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः।" जव तक शरीर मे कफ-वात-पित्त अत्यन्त विषम होंगे, तव तक भयङ्कर रोग होता ही रहेगा। यह अत्यन्त वैषम्य, मुट्ठी भर आदमी अत्यन्त धनी, मानी, अधिकारी, आरामी, और सैकड़ों कोटि आदमी अत्यन्त दरिद्र, यह वैषम्य ही तो घोर अशान्ति का और रावणराज्य मे सब के रोने का कारण है। "लोकान् रावयति इति रावणः", जो सब लोक को रोआवै, रुलावै, वह रावण।

यह महारोग कैसे शांत हो ?

शुद्ध ज्ञान होने से शुभ इच्छा होती है। शुभ इच्छा होने से तदनुसार शुभ क्रिया होती है। इस लिये शुद्ध ज्ञान का, उत्तम शिक्षा का, प्रचार सब से पहिले आवश्यक है।

व्यापक भाषा की आवश्यकता।

ज्ञान के प्रचार के वास्ते बोली आवश्यक है। अन्य इन्द्रियां होते हुए भी, मनुष्य का परस्पर बुद्धिसंक्रमण, श्रोत्रेंद्रिय और वागिंद्रय के द्वारा ही होता है। तुलसीदास जी ने कहा है, "गिरा अनयन, नयन बिनु बानी, स्याम गौर किमि कहौं बखानी"। मौलाना रूम, इन से पहिले कह चुके हैं, "मह्रमे ईं होश जुज़् बेहोश नीस्त, मर ज़बां रा मुश्तरी जुज़् गोश नीस्त", ज़वान के सौदे का खरीदार कान के सिवा दूसरा नहीं। इस होश, इस ज्ञान का मह्रम, रहस्य-वेदी, इस के मर्म को पहिचानने वाला, सिवा 'वेहोश', 'अनजान', 'ज्ञानातीत', के, दूसरा नहीं है। इसी से वेद का नाम श्रुति है, परम्परा से सुनी हुई पुरानी बात। तो उत्तम ज्ञान के देश भर में व्यापक प्रचार के वास्ते एक व्यापक बोली आवश्यक है। तथा शिक्षक, शिष्य, और शिक्षा के लिये स्थान आदि भी आवश्यक हैं। इन आवश्यकताओं को पूरा करने का कार्य साहित्य सम्मेलन का है। हिन्दी ही ऐसी एक भाषा है जो भारतवर्ष की व्यापिनी बोली कही जा सकती है। लोकमान्य तिलक

ने, महाराष्ट्र प्रान्त का शरीर रखते हुए भी, इस बात को स्वीकार किया, और पर साल (१९२० ई०) काशी में हिन्दी मे व्याख्यान दिया। महात्मा गान्धी ने, गुजरात प्रान्त का शरीर धारण करते हुए भी, इस बात पर सत्य आग्रह किया है कि हिन्दी ही समग्र भारतवर्ष की राष्ट्र भाषा है और होना चाहिये, और जिस जिस प्रान्त मे इसका प्रचार अभी कुछ कम है वहां अधिक होना चाहिये। स्वयं वे प्रायः अब हिन्दी ही मे अपने प्रभावशाली सारमय हृदयग्राही व्याख्यान देते हैं। वंग देश के भी कई विद्वान् और अग्रणी इस को मान चुके हैं। दूसरे देश के भी जो निष्पक्षपात निस्स्वार्थी विद्वान हैं वे भी इसको मानते हैं। और गत सम्मेलनों मे यह बात बड़े पाण्डित्यपूर्ण सद्युक्तिमय व्याख्यानों से सिद्ध की गई है। अब इस पर अधिक कहना निष्प्रयोजन है।*

हिन्दी या हिंदुस्तानी।

हां, 'हिन्दी' शब्द मे कुछ सन्देह हो गया है। इधर हिन्दी उर्दू का विवाद कुछ दिनो तक जो चला, उस के कारण मुसलमान धर्म वाले, 'हिंद' मे रहने वाले, अतः 'हिन्दी' हमारे भाइयों को इस शब्द से कुछ शंका हो गई। गो कि वह हुज्जत हिन्दी उर्दू ज़बानो की नहीं थी, बल्कि नागरी फ़ारसी हरफ़ों की थी, तो भी इस शक और हुज्जत को मिटाने के लिये इधर कई मुअज़्ज़िज़ पेशवाओं की सलाह यह है कि हिन्दी लफ़्ज़ की जगह हिन्दुस्तानी लफ़्ज़ का इस्तअ्माल किया जाय।

यह भी अच्छा है। मेरा निवेदन केवल यह है कि जो ही अर्थ हिन्दुस्तानी का है वही हिन्दी का है, और हिन्दी शब्द छोटा और बहुत दिनो से बर्ताव में है और सुविधा का है।

इस देश का नाम जैसे 'हिन्दुस्थान' है, वैसे ही 'हिन्द' है। बल्कि अफ़ग़ानिस्तान, फ़ारस, अरब, रूम, मिस्र आदि इस्लाम धर्म मानने वाले देशों मे 'हिन्द' ही मशहूर है, और हिन्दुस्तानी क़ौमें, यानी हिन्द के रहने

---

* यह सब, १९२१ ई० मे लिखा गया था। उसके बाद, हिन्दी उर्दू का झगड़ा बढ़ता ही गया, और इस कश-म-कश, खींता-तानी, के फल-रूप, दोनो भाषाओं का प्रचार, बोलने मे भी, और लिखने मे भी, बढ़ता ही गया। हिंदी का बर्त्ताव, प्रवर्त्तन, तो अब सभी प्रान्तों मे, इधर २०-२२ वर्षों मे, बहुत फैल गया है।

वाले, हिंदू, मुसलमान, ईसाई, सब 'हिन्दी' के ही नाम से पुकारे जाते हैं, 'हिन्दुस्तानी' नहीं ।

यों ही, पश्चिम और पूर्व के देश, यूरोप, अमेरिका, चीन, जापान आदि मे, 'इन्डिया' शब्द प्रसिद्ध है, जो 'हिन्द' शब्द का केवल रूपांतर है । और जैसे पंजाब प्रान्त का बसने वाला और उसकी बोली पंजाबी, बङ्गाल की बङ्गाली, गुजरात की गुजराती, फ़ारस की फ़ारसी, बनारस की बनारसी, शीराज़ की शीराज़ी, रूम की रूमी, मिस्र की मिस्री, फ़रासीस या फ्रान्स देश की फ़रासीसी या फ़िरिंगी, इसी चाल से हिन्द देश का रहने वाला 'हिन्दी', चाहे वह किसी धर्म का मानने वाला हो और किसी अवान्तर जाति का हो, और उस की बोली भी सामान्यतः 'हिन्दी' ही, चाहे उस का विशेष भेद बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, सिंधी आदि कुछ भी हो । 'सिन्धु' नदी, 'सिन्धु' देश, ये नाम वैदिक और पौराणिक काल से चले आते हैं । सिन्धु देश मे बसने वाली जातियां 'सैन्धव' कहलाती थीं । प्राचीन 'ईरानी' (पारस देश मे बसी हुई 'आर्य') जातियों की बोली 'ज़िन्द' ('छन्द') भाषा मे, इन शब्दों का रूप 'हिन्ध' और 'हैन्धव' हो गया । तथा 'यूनानी', ('ऐयोनिया' देश मे बसने वाली 'ऐयोनियन') 'यवन', ग्रीक, जातियों की भाषा मे 'इन्डस', 'इन्डिया', 'इन्डियन' आदि हो गया ।

हिन्द और हिन्दू शब्दों के विषय मे पिछले सम्मेलनो मे बहुत शंका समाधान हुआ है । इन शब्दों का प्रयोग, तिरस्कारक अर्थों मे, परदेशियों ने किया है, इस लिये इन का प्रयोग छोड़ देना चाहिये, 'भारत', और 'भारतीय' ही कहना चाहिये, इत्यादि । पर "योगाद् रूढिर्बलीयसी", यह सिद्धान्त है । अति प्राचीन वैदिक भाषा मे 'असुर' शब्द का वह अर्थ था जो अब 'सुर' का है, "असून् राति इति", प्राण देने बढ़ाने वाले, और सुर का वह अर्थ था जो अब 'असुर' का, पर ऐसा बदल गया कि अब उस मे शंका का स्थान ही नहीं है । ऐसे ही, यह तो प्रत्यक्ष स्पष्ट है कि हिन्दी मे जो 'तीता' और 'कड़ुवा' ये दो शब्द हैं, इन के मूल संस्कृत के दो शब्द 'तिक्त' और 'कटु' हैं। पर अर्थ बिल्कुल उल्टा है. "निम्बं तिक्तं", नीम कड़वी है, और "मरिचं कटु", मिर्च तीती है । तो "योगाद् रूढ़िर्बलीयसी"; अब तो 'हिन्द' हमारा प्यारा देश है, और 'हिन्दी' हमारी प्यारी बोली है, जिस को हिन्द के पैंतीस-चालीस करोड़ 'हिन्दियों' मे से पचीस तीस करोड़

किसी न किसी प्रकार से समझ लेते हैं, और साधारण कामो के लिये बोल भी लेते हैं। पर, साथ ही इस के, 'भारत' और 'भारतीय' को भुला नहीं देना है। इन शब्दों का भी प्रयोग समय समय पर होते रहना ही चाहिये।*

इस सम्बन्ध मे काशी की विशेष अवस्था की कुछ चर्चा यहां करना चाहता हूँ। कई मानी मे सारे हिन्द का संक्षेप रूप काशी है। लाहौरी टोला में पंजाबियों की बस्ती, बंगाली टोला मे बंगालियों की, केदार घाट हनुमान घाट पर तामिल तेलंगों की, दुर्गाघाट पंचगंगा पर महाराष्ट्रों की, चौखम्भा मे गुजरातियों की, घाट घाट पर विशेष विशेष राज-रियासतों के आदमियों की, मदनपुरा अलईपुरा मे मुसलमान भाइयों की, और सिक्रौल मे ईसाई भाइयों की आबादी है। इन की रिश्तादारियां चारो ओर हिन्द भर मे हैं और होती रहती हैं। ये सब, इन की बहू बेटियां तक, बनारसी हिन्दी अच्छी तरह बोलती समझती हैं, चाहे अपने अपने ख़ास प्रान्त की बोली कम भी जानें। इस देश के सब तीर्थों और विद्यापीठों मे सब से पुराना तीर्थ और विद्यापीठ भी काशी है। उपनिषदों मे काशी के आचार्यों की चर्चा है। काशी के राजा दिवोदास ने वैद्यक का जीर्णोद्धार किया, जो अब सुश्रुत संहिता के नाम से प्रसिद्ध है। भारतवर्ष के जो पुराने विद्यापीठ, सप्त पवित्र पुरी के नाम से प्रसिद्ध थे, उन मे अन्य सब शिथिलप्राय हैं, पर काशी अभी भी दो तीन सहस्र विद्यार्थियों को पुरानी रीति से भोजन-आच्छादन और शास्त्रज्ञान दे रही है। "ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः"। यह भी शास्त्र का वाक्य है। 'काश्यां मरणात् मुक्तिः" यह भी। तथा "अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवंतिका, पुरी द्वारावती चैव, सप्तैताः मोक्ष-दायिकाः" यह भी। इन वाक्यों का समन्वय कैसे हो? तो यों ही, कि ये

---

* १९४१ ई० की मनुष्यगणना से, भारत की जनसंख्या, ३८ कोटि हो गई; और प्रति वर्ष बढ़ती जाती है। तदनुसार, विविध-भाषा-भाषियों की संख्या मे भी वृद्धि हो रही है। यदि बर्मा देश की भी आबादी जोड़ी जाय तो प्रायः डेढ़ कोटि संख्या और बढ़ जाय। २३३,००० वर्ग मील का यह देश, १८५२ ई० तक स्वतंत्र राष्ट्र रहा; उस वर्ष, अंग्रेज़ों ने, इसके दक्षिणार्ध पर क़ब्ज़ा कर लिया, और १८८५ मे, राजा को क़ैद कर के, उत्तरार्ध पर भी। पहिले, बर्मा को भी भारत का एक प्रान्त, अंग्रेज़ी गवर्मेन्ट ने बनाया; पर १९३५ से, 'राज-नीतियों' के कारण, इस के शासन प्रबन्ध को भारतीय प्रबन्ध से अलग कर दिया है।

सब स्थान पुरानी 'यूनिवर्सिटी', विद्यापीठ, साहित्यकेन्द्र थे, ज्ञानी महात्मा सच्चे साधु जन यहां रहते थे, उन के संसर्ग से मंद बुद्धि वालों के हृदय में भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता था, और तब उस ज्ञान के द्वारा उन को मोक्ष मिलता था ।

न ह्यम्मयानि तीर्थानि, न देवाः मृच्छिलामयाः,
ते पुनंतिउरुकालेन दर्शनाद्एव साधवः । (भागवत)
तत्राद् आवासतु तीर्थानि, सर्वभूतहितैषिणः,
निधयो ज्ञानतपसां, तीर्थीकुर्वंति साधवः ।
परिग्रहान् (त्) मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता । (काशीखंड)

पर यह सब बात अब कथा शेष रह गई है । काशी मे भी जो संस्कृत विद्या के प्रचार का प्रकार अब बाक़ी रह गया है उस के बहुत संशोधन की आवश्यकता है । अब तो उस से न इह-लोक मे न पर-लोक मे कुछ फल दिखाई देता है ।

हां, उस प्राचीन विद्या के केन्द्र की, जो अब भी हिन्द का केन्द्र है, प्रचलित बोली हिन्दी मे, उत्तम साहित्य का संग्रह और प्रचार हो, तो पूरी आशा है कि सर्वाङ्गीण जाग ठीक ठीक हो जाय, और शिक्षा रक्षा जीविका आदि सब कार्यों मे सफलता, स्वतंत्र और स्वाधीन रूप से, हो । जिन की एक बोली, उन का एक मन । यदि देश के सब निवासियों का एक मन हो जाय, तो कौन सी इष्ट वस्तु है जो इन को न मिल सके ।

एक लिपि और विविध भाषाओं के शब्द ।

इस लिये इस बोली का जितना अधिक प्रचार हो उतना ही अच्छा है । मुझे इस का बहुत खेद है कि दिवंगत (कलकत्ता हाई-कोर्ट के भूतपूर्व जज) श्री शारदाचरण मित्र ने, जो 'एकलिपिविस्तारपरिषत्' स्थापित की थी, और उस की जो त्रैमासिक पत्रिका निकाली थी, वह दोनो शान्त हो गईं, और इस ओर पुनर्वार प्रयत्न नहीं किया गया ।*

यह प्रायः निर्विवाद है कि जैसे नागरी अक्षरावली, वैसे नागरी लिपि भी, अन्य सब वर्णमात्राओं और लिपियों की अपेक्षा अधिक शास्त्रीय,

* श्री प्रेमचन्द और श्री कन्हैयालाल मुंशी ने 'हंस' नामक मासिक पत्रिका मे इस प्रकार का कार्य फिर आरंभ किया; पर खेद है कि श्री प्रेमचन्द जी के देहावसान से वह काम, थोड़े ही समय बाद, बन्द हो गया ।

'सायन्टिफ़िक्', सम्पूर्ण, अभ्रान्त, और सब बोलियों के लिखने मे समर्थ है। यदि पांच सात आवाज़ें अरबी और अङ्गरेज़ी की ऐसी हैं जिन के लिये संस्कृत अक्षरावली और लिपि मे प्रवंध नहीं है, तो वे सहल मे, स्वरवर्ग और व्यजंनवर्ग मे, स्थान और प्रयत्न के अनुसार, वढ़ा ली जा सकती हैं, और अब बर्त्ती जाने भी लगी हैं। जैसे स्वरवर्ग में अरबी अ़, अङ्गरेज़ी (तथा वंगला) ऍ और ऑ। कवर्ग मे क़ और ग़, चवर्ग में ज़, पवर्ग में फ़, जिन के पुराने नाम जिह्वामूलीय और उपध्मानीय हैं। इत्यादि।

मुझे अपना अनुभव यह है कि जब तक एकलिपिविस्तारपरिषत् की पत्रिका निकलती थी, मैं उसे नियम से पढ़ा करता था, और नागरी अक्षरों में छपे हुए उस के बंगला, मराठी, गुजराती लेख भी प्रायः सब समझ जाता था। हां तेलुगू तामिल लेख तो नहीं समझ पड़ते थे। पर उस में भी कहीं कहीं पुराने संस्कृत शब्द पहिचान पड़ जाते थे। उर्दू का तो कहना ही क्या है। यह तो सिद्ध हो चुका है कि हिन्दी उर्दू मे इतना भी भेद नहीं है जितना हिन्दी बंगला या हिन्दी गुजराती या हिन्दी मराठी मे है। क्रियापद उर्दू मे प्रायः सब ही हिन्दी के अर्थात् संस्कृत प्राकृत के हैं। आना, जाना, खाना, पीना, देखना, सुनना, सोना, जागना, जानना, बूझना, समझना, चलना, फिरना, इत्यादि। वाक्यों की बनावट हिन्दी की ऐसी ही होती है। विभक्ति-वाचक शब्द सब हिन्दी के हैं। संज्ञापद, संज्ञा-विशेषण, और क्रिया-विशेषण, फ़ारसी-अरबी के ज्यादा प्रयोग करने से बोली उर्दू, और संस्कृत के अधिक होने से हिन्दी, कही जाती है। यह तो कुछ भी फ़रक़ नहीं है। संज्ञापद तो हम को सभी भाषाओं से, जो जो ज़रूरी हों, लेना उचित ही है। बहुत से अंग्रेज़ी के शब्द अब भाषा मे ले लिये गये हैं। अरबी-फ़ारसी के शब्द अगर कसरत से हिन्दी मे लिए जायँ, तो एक फ़ायदा यह होगा कि अरब, फ़ारस, मिस्र देश का सम्बन्ध इस अंश मे बना रहेगा, जिस से 'एशियाटिक यूनिटी', और उसके बाद 'वर्ल्ड यूनिटी', मे, सहायता मिलेगी। पर लिपि एक, नागरी, यदि सब प्रान्तों मे बरती जाने लगे, तो प्रान्तीय भाषाओं का भेद रहते हुए भी एक दूसरे का अभिप्राय समझने मे बहुत बड़ी सुविधा हो जाय। काशी का हाल तो मैं जानता हूँ कि, वहां के सब मुसलमान भाइयों की कोठियों मे भी वही खाते एक प्रकार की नागरी अर्थात् महाजनी लिपि मे ही लिखे जाते हैं। महाराष्ट्र भाषा के ग्रन्थ

और पत्र सब नागरी लिपि मे छपते हैं। और मेरी समझ मे तो ऐसा आता है कि बँगला और गुजराती तथा उर्दू के अच्छे अच्छे ग्रन्थ यदि नागरी लिपि मे छपें तो व्यापार रोजगार की दृष्टि से भी छापने वालों ही को बहुत लाभ होगा, क्योंकि हिन्दी के ही जानकार भी इन को, विना अनुवाद के श्रम के, मूल शब्दों मे ही पढ़ कर, अधिकांश का अर्थ ग्रहण कर सकने के कारण, खरीदेंगे, और इन का प्रचार, जो अब तत्तत्प्रांत की सीमा के भीतर संकुचित है, वह समग्र भारत मे फैल जायगा। ग़ालिब और ज़ौक़ की कविताओं के छोटे संग्रह जो नागरी मे छपे हैं, उन की अच्छी बिक्री है। परम प्रसिद्ध कवि अकबर इलाहाबादी के भी पद्य नागरी अक्षरों मे छपे हैं, और हजारों प्रतियां हाथों हाथ बिकी हैं।* इस सम्बन्ध मे एक बात और विचारने की है। हिन्दी मे जो संस्कृत, फ़ारसी, अरबी; अङ्गरेजी आदि के शब्द लिये जायँ वे अपने शुद्ध रूप मे बरते जायँ, या हिन्दी की बोली के अनुसार उन की शकल कुछ बदली जाय ? कुछ सज्जनो का विचार है कि, एक देश को छोड़ कर आदमी दूसरे देश मे जा बसता है, और अपना पुराना पहिरावा छोड़ कर उस देश के पहिरावे को धारण कर लेता है, तभी उस देश के आदमियों मे मिल पाता है, नहीं तो विदेशी बना रहता है, इस लिये ऐसे शब्दों का रूप भी कुछ बदल लेना अच्छा होगा। दूसरे कहते हैं कि अगर शकल बदलनी शुरू हुई तो रोज़ रोज़ बदलती ही जायगी, कहीं स्थिरता न आवेगी; और शब्दों की उत्पत्ति का स्थान भी भूल जायगा, और शायद अर्थ भी बदल जायगा। कहावत है कि—

दस बिगहा पर पानी बदलै दस कोसन पर बानी

और संस्कृत प्राकृत का भेद मुख्यतः इसी कारण से है; संस्कृत के रूप के, विविध प्रान्तों मे, विविध प्रकार से बदलने के कारण, प्राकृतें बहुत सी उत्पन्न हुईं; और लुप्त भी हो गईं; संस्कृत एक ही बनी है। साथ ही इस के, प्राकृत और संस्कृत का अन्योन्याश्रय भी है, वैसा ही जैसा सांख्य मे प्रकृति और विकृति का।

अव्यक्त प्रकृति मे जो अनन्त संस्कार लीन हैं, उन का उद्बोधन और अभिव्यंजन हो कर, विकृतियां उत्पन्न होती हैं, और अनन्त विषमता

---

* इधर २०-२५ वर्षों मे, अब कई छोटे बड़े संग्रह, नामी उर्दू कवियों के चुने हुए पद्यों के, छप गये हैं—(१९४४ ई०)।

और भेद दिखलाती हैं। फिर, विकृतियां, समता की ओर झुक कर, क्रमशः प्रकृति की अव्यक्तावस्था में प्रलीन हो जाती हैं। यदि किसी एक विकृति की संस्कृति, संस्कार, संस्करण, व्याकरण और कोष बनाकर, हो जाय, तो वह 'सम्यक्-कृत' विकृति कुछ दिनों के लिये स्थिर हो जाती है। इस को अङ्गरेजी में 'स्टैंडर्डाइज़ेशन' कहते हैं।

संस्कृत से अपभ्रंश हो कर तरह तरह की प्राकृतें पैदा हो गई हैं। प्राकृतों का पुनस्संस्करण होकर संस्कृत के लिये नवीन शब्द मिल सकते हैं।

मतलब यह कि ऐसे विचार वालों का यह कहना है कि दूसरी भाषाओं से लिये हुए शब्दों का स्वरूप शुद्ध रक्खा जाय तो भाषा स्थिर रहेगी; नहीं तो अपनी अपनी वागिन्द्रिय की बनावट के अनुसार सब ही मनुष्य उन मे रद्दोबदल करने लगेंगे। कोई कोमल तोतला आकार चाहेगा, कोई तेजस्वी, शानदार, शुस्ता, साफ़, और सफ्फ़ाफ़।

दूसरों का कहना है कि एक सेना मे कई तरह की वर्दी बेढब मालूम पड़ती है। अभी तक, दोनो पक्ष के समर्थक, युक्तियां लगा ही रहे हैं। सर्वसाधारण की सूत्रात्मा ने कोई निर्णय नहीं कर पाया है। पर ग्रन्थ-साहित्य अधिक बढने पर इस का भी निर्णय हो ही जायगा। जैसा अंग्रेज़ी मे हो गया है। जैसा सुनता हूं कि बंगला, गुजराती, मराठी मे कुछ न कुछ हो गया है। इन तीन भाषाओं को यह सुविधा है, कि इन को फ़ारसी अरबी शब्दों से काम कम है। प्रायः संस्कृत ही का आसरा है। हिन्दी को फ़ारसी अरबी से भी काम है और संस्कृत से भी। तुलसीदास जी ने, जिन्होने वाल्मीकि रामायण का हिन्दी मे अनुवाद वैसा किया जैसा व्यास जी ने वेदों का महाभारत के रूप मे, 'रज़ाइश' का आकार 'रजायसु' कर दिया है। 'आश्रय' का तो 'आसरा' सहज ही है। फारसी-दां 'रज़ाइश' पर ही ज़ोर देते हैं। संस्कृतज्ञ के कर्णों को 'आश्रय' ही प्रिय है। पर सर्व-साधारण को प्रायः रजायसु और आसरा ही भला लगेगा। मेरा निज का विचार कुछ ऐसा होता है कि, लिखे और छपे ग्रंथों के लिये यदि शब्दों के शुद्ध आकार पर ज़ोर दिया जाय, तो साहित्य की स्थिरता बढ़ेगी। बोलने मे चाहे थोड़ी ढिलाई भी रहे। ज़ाहिरा, 'खड़ी बोली' का प्रयोग बढ़ता भी जाता है। यही शकल हिन्दी और उर्दू के मेल की, अर्थात् हिन्दुस्तानी की, होती देख पड़ती है। मामूली बोल-चाल मे तो, जैसे आदमी आदमी की शकल सूरत मे और

आवाज़ में फ़र्क़ होता है, वैसे ही शब्दों मे कुछ न कुछ होता है और रहेगा। एक घर मे बच्चे कुछ और बोलते हैं, स्त्रियां कुछ और, पुरुष कुछ और, नौकर कुछ और। एक दूसरे की बात ठीक ठीक समझ जायँ, इतना तो ज़रूरी है, और जैसे हो वैसे साधना चाहिये; इस के बाद यदि थोड़ा भेद रहे, तो वह भी संसार की विचित्रता के आवश्यक रस मे सहायता ही देता है। जब शास्त्रीय विषयों (इल्मी मज़ामीन) पर लेख लिखना हो, तब संस्कृतज्ञ ग्रन्थकार अवश्य ही संस्कृत से संज्ञा-पद, विशेषण, आदि लेगा, और अरबी-फ़ारसी-दां उन ज़बानों से इस्म व सिफ़त के लफ़्ज़ों को। यह फ़र्क़, भेद, मिट नहीं सकता; न मिटाने की ज़रूरत है; जैसे तमिल, तेलुगू, गुजराती, मराठी, के ग्रन्थ अलग छपते ही हैं, वैसे ही हिन्दी और उर्दू के भी अलग क्यों न बनैं और छपैं? हां, अगर दोनो तरह के लिखने वाले इतना ध्यान रक्खैं और यह उपाय काम मे लावैं, कि ठेठ संस्कृत शब्द के साथ, 'ब्रैकेट,' कोष्ठक, मे उस का अरबी-फ़ारसी पर्याय, और ठेठ अरबी-फ़ारसी लफ़्ज़ के साथ ब्रैकेट मे संस्कृत पर्याय, रख दिया करैं, तो पांच-पांच छः छः सौ शब्द, दोनों तरफ़ के, दोनों तरफ़ वालों को अभ्यस्त हो जायँ।

लेख और ग्रंथ।

यहां तक तो बोली और लिपि की बात हुई। अब लेखों और ग्रन्थों की थोड़ी चर्चा आवश्यक है, जिन से ही साहित्य के सब अंगों की पूर्ति हो सकती है। दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक आदि पत्र और पत्रिकाओं पर तो बड़ा परिश्रम हो रहा है। देश मे जितने दैनिक आज काल हैं, उन मे से पांच तो इस महानगर कलकत्ते मे ही निकलते हैं। दो कानपुर मे, एक प्रयाग मे, एक लखनऊ मे, और एक काशी मे। साप्ताहिक पचीस या तीस हैं। अच्छी मासिक पत्रिका भी कोई पन्द्रह सोलह हैं, जिन मे चार पांच स्त्रियों के लिये; और तीन चार बालकों और बालिकाओं के लिये, हैं। अक्सर मासिक पत्रों मे चित्र रहते हैं। चार पांच मे रंगीन चित्र भी। तीन चार त्रैमासिक पत्रिकाएँ भी निकलती हैं,*

---

* सन् १९२१ ई० के बाद इधर २२-२३ वर्षों में यह सब संख्याएं बहुत बढ़ गई हैं, और कई बहुत अच्छे अच्छे, संयत, प्रामाणिक, ज्ञान-वर्धक, शीलवर्धक, मर्यादित, दैनिक और मासिक प्रकाशित होने लगे हैं—(१९४४ ई०)।

जिन मे काशी की नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका और जैन साहित्य संशोधक पत्रिका विशेष ध्यान के योग्य है। इस मे कुछ सन्देह नहीं कि इन के प्रकाशकों ने बहुत उत्साह किया है, और बड़ा श्रम और खर्च उठाया है। इन से देश की जाग में बड़ी सहायता मिल रही है, वर्त्तमान संसार की बातें बहुत मालूम होती हैं, और मासिक पत्रिकाओं मे स्थायी विषयों पर लेखों के द्वारा नये ज्ञान और नये विचारों का संग्रह होता जाता है। पर अभी बहुत संस्कार परिष्कार और उत्कर्ष के लिये अवसर है।

खेद यह है कि जैसे एक रोग के कारण दूसरे रोग उत्पन्न होते हैं, और इन दूसरों से पहिले की वृद्धि होती है, 'परस्परानुग्रहन्याय' से, वैसे ही इस देश के शीलभङ्ग से स्वाधीनता और धन की हानि हो गई, और निर्धनता से कोई भी व्यवसाय पनपते नहीं, और पराधीनता और दरिद्रता के कारण शील भी फिर से दृढ़ होने नहीं पाता। ऐसा अनर्थ-चक्रक हो गया है। 'उत्पद्य हृदि लीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः', 'बुभुक्षितः किं न करोति पापं', इत्यादि। पर लोग जाग रहे हैं, और दिन दिन परार्थबुद्धि, त्यागबुद्धि, राष्ट्रबुद्धि, कुछ न कुछ बढ़ती जाती है, यद्यपि स्वार्थ और लोभ के भाव भी अधिक तीव्र हो रहे हैं। इस से आशा कुछ की जा सकती है कि खोया हुआ शील स्यात् लौटेगा, और उस के साथ साथ अन्य सब कल्याण गुण वापस आवेंगे।

नाटक और 'उपन्यास' अर्थात् आख्यायिका के ग्रन्थ बहुत से अच्छे अच्छे अब हिन्दी मे लिखे जाते हैं। देशभक्ति की कविता अच्छी अच्छी निकलती हैं। छोटे काव्य भी कई अच्छे अच्छे छपे हैं। पर तुलसीदास जी की रामायण के ऐसे महाकाव्य की रचना का किसी ने प्रयत्न नहीं किया है। ऐतिहासिक नाटकों और आख्यायिकाओं का अनुवाद, अधिक संख्या मे होना चाहिये। इन के ग्रन्थ, अन्य भाषाओं मे बहुत और अच्छे अच्छे हैं। अनुवाद सहल मे हो सकता है। जो अन्यथा-सिद्ध है उस पर प्रयास करना अनुचित है। यदि स्वभावतः किसी की नवकल्पना की शक्ति अच्छी हो तो बहुत अच्छा है। पर अनुवाद मे कोताही करने का कोई कारण नहीं है। अलबत्ता इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि यदि किसी लेखक ने जातिमद से किसी दूसरी जाति के विषय मे अभद्र भाव प्रकट किये हैं, या मिथ्या बातें लिखी हैं, तो उन का

संशोधन अनुवादक कर ले। ऐतिहासिक आख्यानों और नाटकों की बहुतायत, अभिनंदन और प्रोत्साहन के योग्य है। पुरानी संस्कृत-प्रथा भी यही है कि ऐतिहासिक वृत्त के आधार पर काव्य नाटक आदि बनाना चाहिये। इस का फल यह है कि जो शिक्षा शुद्ध इतिहास से होती है वही इन से, और अधिक रुचिकर रूप मे, होती है। शुद्ध इतिहास के ग्रन्थों की भी यही दशा है। इस विषय का संग्रह अन्य भाषाओं मे बहुत भारी है। हिन्दी मे अनुवाद करने की देर है। उक्त जातीय पक्षपातों और द्वेषों से जो दोष मूल ग्रन्थों मे पैदा हो गये हों, उनके संशोधन की आवश्यकता है। पश्चिम देश के इतिहासों के विषय मे तो यदि कई भाषा जानने वाला अनुवादक हो, तो यह काम सहज मे हो सकता है। जैसे, इंग्लिस्तान के जो इतिहास अंग्रेज़ों ने लिखे हैं, उनका संशोधन, फ्रेंच और जर्मन विद्वानों के लिखे इंग्लिस्तान के इतिहासों से हो सकता है। यथा, १८१५ ई० में वाटरलू की प्रसिद्ध लड़ाई मे नेपोलियन की फ़रासीसी सेना, अंग्रेजी और जर्मन सेनाओं के मुक़ाबिले हार गई। अंग्रेज़ लेखक इस का यश अंग्रेजी सेना को ही देता है। जर्मन लेखक जर्मन सेना को ही। फ़रासीसी लेखक, हार के कारण ऐसे बताता है, जिन को अंग्रेज़ और जर्मन छिपाना चाहते हैं। इत्यादि।

भारतवर्ष का इतिहास तैयार करने मे बौद्ध, और, विशेष कर, जैन ग्रन्थों से, तथा फ़ारसी ग्रन्थों से, जो सहायता मिल सकती है, वह अभी तक पूरी तरह से नहीं ली गई है। पर जैन ग्रन्थों के छापने का प्रयत्न दिन दिन अधिक होता जाता है, और भारतवर्ष के पूरे इतिहास की सामग्री, धीरे धीरे, शिलालेख, ताम्रपत्र, पुराने सिक्के, वंशावली, पुरानी चित्रकारी, मूर्त्ति, खंडहर आदि के रूप की भी, पुरातत्त्व, पुरावृत्त, के गवेषकों के द्वारा जमा हो रही है।

अन्य शास्त्रों के विषय, मे, जिन की चर्चा पहिले की गई, अधिक परिश्रम की आवश्यकता है। उन पर हिन्दी मे अच्छे ग्रन्थ तभी तैयार होंगे जब उन के लेखक उस उस विषय के, न केवल पाश्चात्य ज्ञान और विचार से परिचित हों, किन्तु प्राचीन संस्कृत ज्ञान और विचार को भी अच्छी तरह जानते हों, और दोनो को, देश की वर्तमान दशा की दृष्टि से, देख कर ग्रन्थ लिखें। यह काम तभी ठीक होगा जब विद्यालयों मे तत्-तत् शास्त्र के आचार्य, पौर्व, पाश्चात्य दोनों ज्ञानों के जानकार हों, और

वे हिन्दी मे ग्रन्थ लिखें। जापान नें इसी प्रकार का अनुसरण कर के पंद्रह बीस ही वर्ष मे अपनी भाषा मे समस्त पाश्चात्य ज्ञान का निचोड़, निश्च्योत, रख लिया। निज़ाम हैदराबाद की उस्मानिया यूनिवर्सिटी मे भी उर्दू लिपि मे कुछ ग्रन्थ इसी प्रकार से तैयार किये गये हैं, और कई छप भी गये हैं, पर मैंने उनको पढ़ा नहीं है; यदि जांचने पर अच्छे समझे जायँ, तो उन का अनुवाद हिन्दी में होना चाहिये।§

साहित्य सम्मेलन ने जो हिन्दी मे परीक्षाओं का क्रम संवत् १९७१ से बांधा है, उस से अवश्य बड़ा उपकार हो रहा है। पर उन परीक्षाओं की ग्रन्थसारिणी देखने से मालूम पड़ता है कि उत्तमा परीक्षा के कई विषयों के लिये प्रायः अँग्रेजी भाषा के ही ग्रन्थ देखने पड़ते हैं। *

पर हर्ष का स्थान है कि यत्न बराबार हो रहा है। अट्ठाईस या तीस तो पुस्तकमाला निकल रही हैं, जिन मे चार पांच मालाओं मे अच्छे अच्छे ग्रन्थ रहते हैं। काशी नागरी प्रचारणी सभा की मनोरंजन पुस्तक माला मे विशेष कर शास्त्र विषयक ग्रन्थ रहते हैं। ऐसी सात संस्थाओं के नाम मालूम हुए हैं जो ग्रन्थों का प्रकाशन साहित्य के प्रचार की दृष्टि से करती हैं, केवल रोज़गार की दृष्टि से नहीं।

इस देश के संपत्काल के दस्तूर से, शास्त्र और शस्त्र, ब्रह्म और क्षत्र, शिक्षक और रक्षक, का अन्योन्याश्रय था; तथा दोनों का, अन्न-वस्त्र के संपादक वैश्य के साथ; तथा तीनो का, सर्वसहायक शूद्र के साथ, परस्पराश्रय था। आज काल, आपत्काल मे, प्रजा को राजा के मन की और राजा के काम की शिक्षा सीखनी पड़ती है, उस के लिये सब खर्च देना पड़ता है, और, इस के ऊपर से, अपने मन की और काम की शिक्षा और तदुपयोगी ग्रन्थों के तैयार करने का श्रम और खर्च अलग उठाना पड़ता है, और अनेक विघ्न भी सहने पड़ते हैं।

देशी राज-रियासतों मे कुछ इनी गिनी रियासतें ऐसी हैं जो हिन्दी साहित्य की पूर्ति की ओर ध्यान देने का यत्न करती हैं, पर जितना कर सकती हैं उस का शतमांश भी अभी नहीं कर पाई हैं। विज्ञान के सब

§ जब यह लिखा गया तब से, हज़ारों ग्रन्थ, हिन्दी मे, विविध प्रान्तों मे, अधिकतर संयुक्त प्रान्त, बिहार, और पंजाब में, छपे हैं। इन मे, सौ दो सौ उत्तम, आदरणीय और आयुष्मान् होने के योग्य भी हैं।

* इधर इस सारिणी मे यथोचित परिवर्तन हुआ है–(१९४४ ई०)।

ही विषयों पर सच्चे ग्रन्थ तभी लिखे जायँगे, जब शिक्षकों और शिष्यों को उन का ज्ञान, साक्षात् और अपरोक्ष, स्वदेशी विद्यापीठों मे होने लगेगा। एक विद्यापीठ तो सम्मेलन की स्थायी समिति ने खोला है। और अब नई जाग मे अन्य कई विद्यापीठ स्थान स्थान पर खुले हैं, जिन्हों ने हिन्दी ही मे शिक्षा देने का निश्चय किया है। यह काम होगा तो अवश्य, पर कुछ देर लगेगी।

शनैः कन्था, शनैः पन्थाः, शनैः पर्वतलंघनम्,
शनैर्विद्या, च वित्तं चापि, एते पंच शनैः शनैः।

सर्वसाधारण जनता को चाहिये कि, "संघे शक्तिः कलौ युगे", इस सिद्धान्त पर ध्यान लगाये हुए, यदि शासकवृन्द अपने काम में ग़ाफ़िल और लापरवा हैं तो उन को भी चेतावनी देते हुए, अपने कल्याण के सब काम अपने हाथ में लेवे, और इधर उधर के खर्चों मे कमी कर के, हिन्दी द्वारा शिक्षा और हिन्दी विद्यापीठों की स्थापना और हिन्दी साहित्य की पूर्ति मे चित्त और धन दे।

पर सब से पहिले करने का और सहल भी काम, जैसा मैं पहिले कह आया हूँ, इतिहास और राजधर्म के ग्रन्थों के सम्पादन का है। क्योंकि इन से मनुष्य के जीवन की अत्यन्त उपयोगी जो बातें हैं, वे सब, थोड़े में, रोचक रूप से, परमात्मा की महिमा के साथ साथ, मालूम हो जाती हैं। भागवत की कथा का आरम्भ यों ही कहा है। ऋषियों ने सूत से कहा,

अति विचित्र रचना हू बानी, हरियश जौ न बखाना,
जासों जग पवित्र होवै, तौ मानहु काग धसाना,
विविध प्रकारहु अन्न जहां है फेंक्यो जूठन बासी,
मानस हंस तहां नहिं रमते निर्मल नीर निवासी।
अति कराल कलिकाल चल्यो वह, अल्प आयु मतिहीना,
भाग्यरहित, रोगन तें पीडित, सब प्रानी अति दीना,
तिन के हित, मुनि, शास्त्रकथन मे, बहुत परिश्रम कीना।
शास्त्र बहुत अरु कर्म बहुत अरु सुनत करत न ओराय,
हे साधो! जो सार चुन्यो तुम, अपनी बुद्धि बराय,
वही कहौ, जो सुनि श्रद्धालुन की आतमा जुड़ाय।❀

॥ ॐ ॥

❀ अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ग्यारहवें अधिवेशन (कलकत्ता) के सभापति पद से (२६ मार्च १९२१ को) दिया गया भाषण।

(२)

सज्जनो !

सतां सद्भिः संगः कथमपि हि पुण्येन भवति ।

सत्संग बड़े सौभाग्य से मिलता है। उसका बिखरना अच्छा नहीं लगता। पर क्या किया जाय, संयोग के बाद वियोग होता ही है। यह दैवी नियम है। इस सभा का आवाहन कर के विसर्जन भी करना ही पड़ता है। पर संतोष का स्थान है कि जिस काम के लिये आप लोग एकत्र हुए थे, वह सब निर्विघ्न, शान्ति से, तुष्टि से, पुष्टि से, सौमनस्य से सम्पन्न हुआ।

मेरी प्रकृति कुछ ऐसी परमात्मा ने बनाई है कि नई बातों को पुरानी ही आंखों से देखना चाहता हूँ। पुरानी आंखों से अर्थात् पुराण की आंखों से। इस कारण बहुतेरे मेरे प्रिय मित्र मुझ पर, नये ज़माने मे डोकरिया पुराण फैलाने का यह जतन करता है, ऐसा आक्षेप करते हैं, और दया कर के स्नेह से हँसते भी हैं। पर मेरा विश्वास दृढ़ बना है कि जैसे देह बदलते रहते हैं और आत्मा पुराना ही बना रहता है, वैसे ही ज़माने नये होते रहते हैं, पर संसार की गति के नियम वे ही बने रहते हैं, जो पुराणों ने दिखलाये हैं। और यह उचित भी है। यौवन मे कैसा भी सुन्दर और बलवान शरीर रहा हो, पर बहुत काल पा कर जीर्ण शीर्ण होवेगा ही, और तब उस को बदल लेना ही अच्छा है, यद्यपि बदल कर शुरू मे बच्चे का ही अशक्त शरीर मिलेगा।

पुराने यज्ञों का नया रूप।

इस देश की पुरानी प्रथा रही है कि,

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे, सत्रे द्वादशवार्षिके,
प्रजानां हितकामाय ऋषयस्तु समागमन्।

मैं ने इस का अर्थ यह समझ रखा है कि प्रति बारहवें वर्ष नैमिष क्षेत्र में देश के वृद्ध, तपस्वी, जिन का हृदय सब लोक की ओर वैसा था जैसा पिता पितामह का अपनी प्रजा की ओर होता है, एकत्र हो कर विचार करते थे, कि क्या क्या उपाय लोक के हित के लिये किया जाय। उन उपायों मे एक मुख्य उपाय, इतिहास पुराण का पुनः संस्करण और

प्रचारण हुआ करता था, जिस से उपयोगी ज्ञान देश भर मे फैले, अविद्या का अंधकार मिटै, और सद्विचार सदाचार का प्रकाश उदय हो। शायद अब तक जो कुम्भ के मेले की चाल बारहवें वर्ष की चल रही है, कुछ इसी का लेश शेष हो। पर अब पुराने मेलों का आंतरिक भाव बिल्कुल बिगड़ गया है, जैसे अति वृद्ध शरीर रोगों का घर हो जाता है। इस कारण भारतवर्ष की सूत्रात्मा ने इन मेलों के प्राचीन उत्तम भाव के वास्ते नया शरीर, ऐसे सम्मेलनों का, ग्रहण किया है। हजार वर्ष पुराने हिन्दी साहित्य ने भी अपना बहुत पुराना रूप छोड़ कर नई काया को धारण किया है। इस बत्तीस करोड़ (सन् १९४१ की मनुष्य-गणना से अड़तीस करोड़) मनुष्यों की महाजाति की, इस पांच लाख वर्ग-कोस के महादेश की, दृष्टि से, इन सम्मेलनों की अभी बहुत बाल्यावस्था है, तौ भी इन्हों ने बड़ा काम कर लिया है।

विघ्नो और त्रुटियों से निराश नहीं होना चाहिये।

जो लोग काम मे लगे हैं, उस की भीड़ मे पड़े हैं, इस विषम आपत्काल मे अपने बूते (वित्त, शक्ति) से बहुत अधिक बोझ उठाये हैं, और इस कारण खिन्न हो रहे हैं, उन को तो कभी कभी नाउमैदी होती है, और ऐसा जान पड़ता है कि परिश्रम निष्फल जायगा। पर ऐसा नहीं है।

न इह अभिक्रम नाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते,
स्वल्पं अपि अस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्। (गीता)

अच्छे काम मे जो मिहनत की जाती है वह कभी बरबाद नहीं जाती।

कहावत है, "दीपक के तले अँधेरा"। इस का अर्थ प्रायः अपवादात्मक, निन्दात्मक, ही लगाया जाता है। पर नहीं, इस का अर्थ पूरा यह है कि, यद्यपि दीया के नीचे अँधेरा होता है, पर दूर तो प्रकाश होता है। यह बात कभी न भूलना चाहिये। तेल और बत्ती जलेंगे ही, एक दूसरे के जलने जलाने मे मदद करेंगे, कभी धुँआ भी देंगे, दीवट पर तो चीकट जमा हो ही गी। पर जिन को प्रकाश मिलता है, उन को तेल और बत्ती का उपकार मानना चाहिये, कि हमारे सुख के वास्ते ये अपने को बलिदान कर रहे हैं, होम हवन हो रहे हैं।

दूसरी कहावत का भी ऐसा ही अर्थ है, "दूर के ढोल सुहावने"। इस का भी अर्थ प्रायः लोग आक्षेपात्मक, दूषणात्मक करते हैं। वे लोग 'सुहावने' इस शब्द को भूल जाते हैं। ढोल पीटने वाले के, और उस के अत्यन्त पास बैठ कर उस की सहायता करने वालों के, हाथ और कान को चाहे जो क्लेश होता हो, पर दूर से सुनने वालों को तो सुहावनी ही ध्वनि सुन पड़ती है। इस वास्ते उन को ढोल वालों का गुण ही मानना चाहिये।

इन हेतुओं से हम लोगों का धर्म है कि इस सत्समागम के विसर्जन के समय हिन्दी साहित्यसेवियों, नागरी प्रचारिणी सभाओं, साहित्य-सम्मेलन के जन्मदाताओं, उस की स्थायी समिति और स्वागत-समितियों के कार्यकर्त्ताओं, तथा सहायकों, प्रतिनिधियों, अभ्यागतों, और विशेष कर इस ग्यारहवें सम्मेलन की स्वागत-समिति के सभापति, (श्री घनश्याम-दास जी बिड़ला) तथा सब उपसभापतियों को, तथा मंत्रियों, अन्य कार्यकर्त्ताओं, और स्वयंसेवक जनों को, हृदय से धन्यवाद दें।

इन सब के परिश्रमों से हिन्दी प्रचार का भी काम, और हिन्दी ग्रन्थों के संग्रह और नवनिर्माण का भी काम, देश मे बहुत हो भी गया है, और आइन्दा के वास्ते बद्धमूल हो गया है, जो और अधिक संतोष की बात है। अब वह अवश्य दिन दिन बढ़ता जायगा, रुक नहीं सकता। भारतवर्ष की सूत्रात्मा ने इस को प्रत्यक्षरूपेण अब अपने जीवन के सब अंगों मे नये प्राणसंचार का एकमात्र उपाय मान लिया है।

हिन्दी साहित्य के इस नये जन्म मे, जरूर है कि शुरू मे ऐयारी तिलिस्म आदि के बहुत ग्रन्थ लिखे गये। पर यह भी बाल्यकाल की रुचि के अनुसार ही था। और इस प्रकार के जो उत्तम ग्रन्थ हैं वे भी रक्षणीय हैं। पुराणों का एक बड़ा अंश इसी वास्ते ऐसे आकार मे लिखा गया है, जो बालको को रुचिकर और प्रमोदजनक हो। पर हां, ऐसी कहानियों का भाव शुद्ध होना चाहिये। उन मे ऐसे भाव न होने चाहियें जिन से बालकों की निर्मल और स्वच्छ बुद्धि पर मैला छू जाय।

अब वह बाल्यावस्था, साहित्य की, हटी; यौवनावस्था आई; इस के अनुरूप, अर्थकरी विद्या के, रोजगार बढ़ाने वाले उपायों के, तरह तरह के प्रौढ़ इतिहास के, ज्ञान-विज्ञान के, शास्त्र-सायंस के, तथा ऐतिहासिक

और सामाजिक नाटक आख्यानादि के, ग्रन्थों की आवश्यकता है; और ऐसे ग्रन्थ, कुछ न कुछ, बनते भी जाते हैं।

गुणग्रहण की आवश्यकता।

पर यह सदा याद रखने की बात है कि स्वदेश, स्वभाषा, स्वसाहित्य की जाग मे, विदेश के ज्ञान का तिरस्कार न होने पावे। विदेश के कई आचार, विदेश के कई पहिरावे, विदेश के अत्यन्त धनलोभ के भाव, हमारे लिये अति हानिकारक हैं। पर उन का विज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा है। यदि हम उस का तिरस्कार करेंगे तो हमारे जीर्ण शरीर मे जो नया प्राण आ रहा है वह रुक जायगा, और इस जाग के पहिले जो उस शरीर की अत्यन्त रोगग्रस्तावस्था थी वह फिर हो जायगी। चौदह वर्ष के वनवास के अनुभव के बल से राम ने रामराज्य स्थापन किया; रावण को दंड दिया, पर विभीषण से गाढ़ मैत्री की। पांडवों को भी तेरह वर्ष के वनवास से बहुत ज्ञान मिला; उस मे भी, अर्जुन ने अपने चार भाइयों को छोड़ कर विशेष प्रवास और विशेष तपस्या किया, और रावण के चचेरे भाई इन्द्र और सौतेले भाई कुबेर आदि देवों से तरह तरह के अस्त्र सीखे, जो महाभारत मे काम आये। देवगुरु बृहस्पति ने अपने पुत्र कच को विलायत भेज कर दैत्यगुरु शुक्राचार्य से मृतसंजीवनी विद्या सिखवा मंगाई। यह उदाहरण ग्रहण करने लायक गुणो के हुए।

दोषत्याग।

युधिष्ठिर ने मयासुर से अपना सभा-भवन बनवाया, पर यह बात अनुकरणीय नहीं है, क्यों कि लक्ष्मी के इसी अत्यन्त विलास और नुमाइश से ही तो दुर्योधन दुःशासन को ईर्ष्या पैदा हुई। तथा राम की 'सीता,' अर्थात् उर्वराभूमि, उपजाऊ खेत की ज़मीन (जो अर्थ भी 'सीता' शब्द का निरुक्त ने बताया है), मायामृग के ऊपरी चमड़े की चमक-भड़क के लोभ में पड़ी, और रावण के कारागार में बँध गई।

निष्कर्ष, निखरी बात, यह है, कि अच्छी तरह छान बीन कर, पच्छिम देश का जो ज्ञान विज्ञान हमारे उपयोगी है, उसी का हम को संग्रह करना चाहिये। और उस को हिन्दी के वेश मे इस देश मे फैलाना चाहिये। मेरा कुछ ऐसा विश्वास हो गया है, चाहे ग़लत ही हो, कि बिना

यूरोप और एशिया दोनों की अवस्था व्यवस्था ठीक ठीक जाने, बिना पुराण ज्ञान और नवीन ज्ञान के एकत्र हुए, बिना पूर्व के अध्यात्म और अधिदेव तथा पश्चिम के अधिदेव और अधिभूत शास्त्र के हिन्दी साहित्य मे सम्मेलन हुए, भारतवर्ष का जीर्णोद्धार नहीं होगा। इस लिये कुछ साहित्यसेवियों को खास खास विषय मे, दोनो ओर परिश्रम कर के, दोनो ज्ञानो का सम्पादन करना आवश्यक है।

इस सम्मेलन के कार्य।

इस सम्बन्ध मे इस सम्मेलन मे जो कई निश्चय हुए हैं, वे वड़े सन्तोष् देने और आशा बढ़ाने वाले हैं।

स्थान स्थान पर हिन्दी मे शिक्षा देने वाले विद्यापीठ का आरंभ, जबलपुर मे सच्चे विद्वानो और देशभक्तों के मठ का स्थापन, ग्रन्थनिर्माण के लिये विशेष प्रवन्ध, "मंगलाप्रसाद पारितोषिक" का व्यवस्थापन, यह सब कार्य वड़े होनहार हैं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मुख से, देश की सूत्रात्मा ने, हिन्दी साहित्य की सहायता के लिये, जो प्रार्थना उन से की, उस ओर, प्रचलित सरकारी और नीम-सरकारी विद्यालयों ने ध्यान नहीं दिया, उपेक्षा किया, अथवा तिरस्कार और अपहास भी किया, सिवाय शायद एक के, अर्थात् कलकत्ता की यूनिवर्सिटी के, जिस ने एक बहुत थोड़े से अंश मे, इस प्रार्थना को माना। इस उपेक्षा और तिरस्कार का फल यह हुआ है कि, इन सरकारी और नीम सरकारी यूनिवर्सिटियों और कालिजों से, सर्वसाधारण की श्रद्धा हट गई और हटती जाती है, और प्रायः आगे चल कर उन की सहायता सर्वसाधारण की ओर से धीरे धीरे बन्द हो जायगी।*

किन्तु देश की सूत्रात्मा के प्राण का सर्वथा निरोध तो नहीं हो सकता, जब तक उस सूत्रात्मा की आयु समाप्त न हो। योग शास्त्र का सिद्धांत है कि, स्थूल की ओर से वृत्तियों का निरोध होने से, दिव्य इन्द्रियां खुल जाती हैं, और सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान होने लगता है। इन प्रचलित स्कूल कालिजों की ओर से, और इन की अब व्यर्थप्राय,

* अब इस दोष के मार्जन की ओर यूनिवर्सिटियों ने ध्यान देना आरंभ कर दिया है—(१९४४ ई०)।

क्या हानिकारक, शिक्षा की ओर से, निरुद्ध हो कर, अब यह सूत्रात्मा नये और अधिक उपयोगी स्वदेशी बोली मे शिक्षा देने वाले विद्यापीठ खोल रही है। पर यह कार्य सरल नहीं है, बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, और पड़ेगा।

अध्ययनाध्यापन और ग्रन्थनिर्माण का सम्बन्ध स्वाभाविक है। जहां बुद्धिमान् अध्येता और अध्यापक एकत्र हों, वहीं शास्त्र की चर्चा, काव्य साहित्य की चर्चा, होगी। और परस्पर बुद्धि के संमर्द से, तथा गुरु शिष्य के साथ मिल कर संसार के व्यवहार व्यापार को देखने से, ज्ञान विज्ञान विशुद्ध होगा। तब उत्तम ग्रन्थ धीरे धीरे तैयार होंगे।

यह काम यदि संग्रथन, संघटन, व्यूहन, कर्मविभाग, के साथ किया जाय, तो यत्न बहुत पूरी तरह से सफल होगा। प्रसिद्ध है कि एक प्रधान संपादक और तीस चालीस विशेष-विभाग-संपादकों की मातहती मे, पन्द्रह सौ लेखकों ने काम कर के, दो वर्ष के भीतर भीतर "एनसैक्लोपीडिया ब्रिटानिका" ऐसा बृहत्काय आकर-ग्रन्थ तैयार कर लिया, जिस मे समग्र पाश्चात्य ज्ञानसमूह का, सब शास्त्रों के विषय का, निचोड़ रखा है।

यह पुराना सिद्धान्त है कि, ज्ञानसंग्रह और ज्ञानप्रचार करने वाले ज्ञानप्रधान और तपस्वी जीव को, आदर सम्मान ही से, अधिक हृदया-प्यायन होता है। धन तो, भोजनाच्छादन और कुटुम्ब-निर्वाह के लिये जितना पर्याप्त हो, उतना चाहिये ही। ज्ञानप्रचार का कार्य, वाणिज्य के ऐसा, धन के लोभ से चलाने मे बड़े बड़े दोष पैदा हो जाते हैं, जिन का भी उदाहरण पश्चिम देश की दुरवस्था है। यहां भी अब बुद्धि को बिगाड़ने वाले, सद्भावों का नाश करने वाले, असद्भावों को फैलाने वाले, बहुतेरे ग्रन्थ और लेख, धन के लोभ से लिखे जाने लगे हैं। दुर्व्यसन सिखाना सीखना सरल है, सद्व्यसन कठिन। बालक की कच्ची बुद्धि, रोगोत्पादक खट्टे तीते मीठे की ओर जल्दी ढुलती है, शुद्ध और बलकारक पदार्थों की ओर नहीं। इस दृष्टि से मै उक्त तीन चार कार्यों को बहुत होनहार समझता हूं।

ग्रन्थ-निर्माण के अधिकारी।

एक बात यहां और कहना चाहता हूं। जैसे शरीर का ब्रह्मचर्य आवश्यक है, वैसे बुद्धि का ब्रह्मचर्य भी। अपरिपक्व शरीर की सन्तान

कच्ची होती है। वैसे ही अपरिपक्व बुद्धि की ग्रन्थरूप सन्तान भी कच्ची और रोगी होती है। इस लिये यह आवश्यक है कि जिन को भीतर से स्वभावतः इस ओर प्रेरणा हो, कि ग्रन्थ लिख कर हम साहित्य की सेवा करें, वे पहिले ऐसे विद्यापीठों मे, इस नये समय के अनुसार, विद्वानो के नये आश्रमो और सच्चे मठों मे, अपनी बुद्धि को और विद्या को परिपक्व कर के, और जिस विषय पर लिखना हो उस का उचित अनुभव प्राप्त कर के, तब ग्रन्थ-निर्माण मे प्रवृत्त हों। तथा, भिन्न भिन्न मतों के, रागद्वेष से प्रेरित हो कर, परस्पर दूषण की बुद्धि को सदा बचाते रहें, क्योंकि परमात्मा की दृष्टि से सब अवश्यमेव, निश्चयेन, एक हैं, यद्यपि प्रकृति की दृष्टि से अनेक और भिन्न हैं; कपड़ों के आकार प्रकार मे अनन्त भेद हैं, पर शरीर की सामान्य आकृति तो सब की समान है। मनुष्यता, इंसानियत, एक है, और इस का साधन ही परम धर्म है। जिस साहित्य मे यह भाव भरा रहेगा, वही साहित्य ठीक ठीक लोकोपकारक होगा। जैसा प्राचीन आर्य संस्कृत साहित्य रहा है। सादृश्य पर ज़ोर देना चाहिये, वैदृश्य पर नहीं। अभेद-बुद्धि बढ़ाना चाहिये, भेद-बुद्धि नहीं। समन्वय (सम्-अनु-अय) का, संग्रह का, विरोधपरिहार का, यत्न करना चाहिये, विपर्यय (वि-परि-अय) का, विग्रह का, विरोध-वर्धन का, नहीं।

सज्जनो ! हम लोगों ने इस समागम मे अच्छे-अच्छे निश्चय किये; अच्छे अच्छे व्याख्यान सुने, कोई ओजस्वी, कोई रसमय, कोई ज्ञानवर्द्धक, कोई उत्तेजक, कोई पथप्रदर्शक; और परस्पर जानपहिचान और स्नेह के बन्धन बढ़ाये।

अब आप सब लोगों को, और विशेषकर स्वागत-समिति के महाशयों को, जिन्हों ने अतिथिसत्कार का इतना भार उठाया, पुनः धन्यवाद देता हूं। तथा बंगीय साहित्य-परिषत् को, जिस ने इस सम्मेलन का सम्मान किया। तथा उन सज्जनो को जिन्हों ने अत्युत्तम प्राचीन चित्रों, ग्रन्थों, सिक्कों और कारीगरियों की प्रदर्शिनी का प्रबन्ध किया। तथा नाटक-समिति को, जिस ने, अपने नाटक मे, समाज के अद्भुत मायामयरूप का चित्र, प्रतिनिधियों को दिखाया।

अन्त मे, उसी अपने संस्कार के अनुसार, फिर से आप लोगों का ध्यान, इतिहास पुराणो के पुनः संस्करण की ओर दिलाता हूँ। इन्हीं से पुनः पुनः इस देश के ज्ञान की शुद्धि हुई है, और अभ्युदय और निःश्रेयस,

ऐहिकार्थ और परमार्थ, दोनों सधा है। भागवत मे लिखा है कि नारद ने व्यास को भागवत पुराण लिखने के लिये उपदेश दिया। इस समय भारतमाता की सूत्रात्मा ही नारद के स्थान पर है, और उस की अड़तीस कोटि सन्तान मे से जो जो साहित्य मे प्रवीण हैं, वे ही व्यास-स्थानीय हैं। नारद के वचन व्यास को ये हैं,

अहो महाभाग !, भवान् अमोघदृक् , शुचिश्रवाः, सत्यरतो, धृतव्रतः;
उरुक्रमस्य, अखिलबंधमुक्तये, समाधिनाऽनुस्मर तद्विचेष्टितम्।
इत्थं सम्भाष्य, भगवान् नारदो, वासवीसुतम्;
आमन्त्र्य, वीणां रणयन् , ययौ याहच्छिको मुनिः।
(भागवत)

हे बड़भागी, बुद्धि तुम्हारी सब रहसन कौं देखि सकै,
यश निर्मल, जिह्वा सांचो, तन मन व्रत धारत नाहिं थकै;
सब रस अरु सब ज्ञान भरे इतिहास पुराण बनावौ,
अरु तिन तें सब लोकन कौ तुम आतमरूप जनावौ;
करि समाधि, अपने मन मे तुम हरिचरितन को ल्यावौ,
अरु लोकन के बंध छुडावन, सब को तिनहिं सुनावौ।
अस संभाषण करि कै नारद वेदव्यास तें बिदा भये,
मन माने, वीना झनकारत, तुरत्तहिं तहं ते चले गये। *

॥ ॐ ॥

चतुरङ्ग साहित्य का परिशिष्ट

(सौर आषाढ़ १९९३ वि०, १५ जून १९३६ ई०, को लिखा गया)

'अर्थ्यते, प्रार्थ्यते, इति अर्थः,' जो चाहा जाय वह 'अर्थ'। 'पूः, शरीरं च, पुरं च; पुरि शेते इति पुरुषः'। जो शरीर मे सोआ हो, प्रवेश किये हो, देह का धारण किये हो, उस चैतन्यांश को, जीव को, 'पुरुष' कहते हैं। उस का अभीष्ट, 'पुरुषार्थ'। जीवमात्र का एक ही अभ्यर्थनीय साध्य, सुख। वह दो प्रकार का, विषयानन्द और ब्रह्मानन्द, लज्जतुद्-दुनिया और लज्जतुल् इलाहिया। शरीर मे वर्त्तमान ज्ञानेन्द्रियों कर्मेन्द्रियों के

* अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन (कलकत्ता) मे सभापतिपद से दिया गया अन्तिम दिन (२९ मार्च १९२१) का उपसंहारात्मक भाषण।

विषयों और क्रियाओं के अनुभव से जो, 'मै यह शरीर हूँ, मै यह शब्द स्पर्श आदि विषयों का अनुभव कर रहा हूँ, मै यह क्रिया कर रहा हूँ,' एतद्-अस्मिता-आत्मक, अहं-कार-आत्मक (दुःख से मिश्रित) सुख, वह विषयानन्द। इन विशेष विशेष विषयों और क्रियाओं से थक कर ('मै यह शरीर नहीं, प्रत्युत सब कुछ मै ही है,' यह ब्रह्म-अस्मिता-आत्मक, भूमा-आत्मक, स्व-महिमा-रूपी, निर्-अहंकार-आत्मक, परम-अहंकार-आत्मक, परम-ईश्वर-आत्मक), 'गाढ निद्रा' के ऐसा, परा शांति का (सुख-दुःख दोनों से पृथक्) सुख, वह ब्रह्मानन्द।

विषयानन्द की इच्छा का नाम 'काम', 'भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा'। ब्रह्मानन्द की इच्छा 'नैष्काम्य', 'मोक्तुमिच्छा मुमुक्षा'। राग-विराग, साराग्य-वैराग्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति, ईहा-उपरम, व्युत्थान-निरोध आदि इन्हीं दो के पहलुओं के, रूपान्तरों के, भिन्न स्थानो से देख पड़ते भिन्न आकार प्रकारों के, नाम हैं।

इस दृष्टि से, पुरुष के दो ही अर्थ, काम और मोक्ष। पर, जैसा पहिले कहा, सुपरिष्कृत मनुष्योचित काम-सुख का साधन, बिना धन के, बिना विविध प्रकार की सम्पत्ति के, नहीं हो सकता। पशु के उचित होगा। 'अर्थ' का विशेष अर्थ, अभिप्राय, 'धन' है। धन क्या है? 'दधन्ति, फलति', जो फलै, सब फलने वाली वस्तु, 'धन-धान्य', फलवान् वृक्ष, और 'उत्तमं गोधनं धनं'। और भी, पर दूसरे दर्जे मे, 'धनति, स्वनति' जो बजै, खनखनाय, सोना, चांदी, ताम्बा, आदि, और (अब कागज़ के नोट भी) जिस को जनता, वाणिज्य-व्यवसाय की, 'वार्त्ता' की, रोजगार-व्यापार की, सुकरता के लिये, अन्न-वस्त्र—पात्र—उपकरण—आभूषण—गृहनिर्माणद्रव्य-भवनालंकरणसामग्री—सवारी—शिकारी—स्थलयान-जलयान—वायुयान आदि अनन्त जीवनव्यवहारोपयोगी वस्तुओं के, अर्थात् सभी मनुष्य-भोग्य पदार्थों के, विनिमय का साधक ('मीन्स आफ़ एक्सचेंज'*) मान ले—वह भी। उक्त मनुष्य-भोग्य बहुविध पदार्थ भी। जिस से सुख का साधन, 'धन', सम्पन्न हो, बढ़ै, पूरा हो, वह 'सम्पत्ति'।

ज्यों केला के पात मे पात पात मे पात,
त्यों वेदन की बात मे बात बात मे बात।

*Means of Exchange.

अस्तु। सुसंस्कृत विषयसुख का साधन 'अर्थ', यानी 'धन' है। और सभ्य 'सिविलाइज़्ड'* मनुष्य के अनुरूप धन, विना 'धर्म' के स्थिर नहीं होता। इस लिये काम-रूपी पुरुषार्थ के तीन अङ्ग, दयामय दूरदर्शी महर्षियों ने, कर दिये। और उन मे भी 'धर्म' पर सब से अधिक ज़ोर दिया, 'अर्थ' पर उस से कम, और 'काम' पर सब से कम। क्योंकि काम की ओर तो मनुष्य की प्रवृत्ति स्वभाव से ही है, उस से कम अर्थ की ओर, और सब से कम धर्म की ओर। इस त्रिवर्ग की सिद्धि का नाम 'अभ्युदय', और मोक्ष का नाम 'निःश्रेयस'। संसार मे मनुष्य का 'अभितः', चारो ओर, 'उदय' होना, सुखी होना, यह 'अभ्युदय'। 'नास्ति श्रेयान् यस्मात्', जिस से बढ़कर और कोई श्री, श्रेयान्, न हो वह 'निःश्रेयस'। इस प्रकार से, एक पुरुषार्थ से दो, और दो से चार, हो गये।

इसी के अनुसार, एक वेद मे दो विद्या, कर्मकांड और ज्ञानकांड, अपरा विद्या और परा विद्या। दो विद्याओं से चार शास्त्र। अपरा विद्या का ही नाम मोक्षशास्त्र भी। अपरा विद्या के तीन शास्त्र, धर्म का, अर्थ का, और काम का।

"द्वे विद्ये वेदितव्ये; परा चैवापरा च। तत्रापरा, ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छंदो, ज्योतिषमिति। अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते" (मुण्डकोपनिषत्)।

परा विद्या, ब्रह्मविद्या, जिस से अक्षर, अजर, अमर, अनादि, अनन्त, निरंजन, निराकार, निर्विशेष आत्मा का, ('आत्ता', 'आपणा', 'अपना', 'आपा') का ज्ञान हो। अपरा विद्या, ऋग्वेदादि अन्य सब अनंत विद्या। "अनन्ता वै वेदाः"। पहिले कही प्रथा से, प्राचीनो ने, वेदभगवान्, साहित्य-देव, ज्ञानमयेश्वर, की मूर्त्ति की भी कल्पना कर ली है।

छंदः पादौ तु वेदस्य, हस्तः कल्पोऽथ पठ्यते,
ज्योतिषां अयनं चक्षुः, निरुक्तं श्रोत्रं उच्यते,
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्;
तस्मात् सांगं अधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।

इन पुराने श्लोकों मे अधूरी बखानी मूर्त्ति की पूर्ति, उक्त वेदांगों के साथ वेदोपांगों और उपवेदों का भी समावेश कर के, स्यात् यों की जा सकती है।

---

*Civilised.

आयुर्वेदः स्मृतः प्राणः, धनुर्वेदो महाभुजौ,
गान्धर्ववेदः कंठोऽस्य, शिल्पम् ऊरू सुदर्शनौ,
आधिभौतिकशास्त्राणि देहनिर्मातृधातवः,
तथाऽधिदैविकानि अस्य शक्तयः स्पंदहेतवः,
हृदयं धर्मशास्त्रं स्यात्, अर्थशास्त्रम् अथ उदरम्,
कामशास्त्रं च जघनं शुभ्रसंततिभूषितम्;
मोक्षशास्त्रं ब्रह्मविद्या मूर्धा सर्वनियामकः,
वेदांतसंज्ञाऽस्य, यतो वेदस्तत्र समाप्यते,
ज्ञानस्य परमा काष्ठा धर्मकर्मादिमर्मणाम्,
सर्वेषां शास्त्रसाराणां दर्शनाच्चापि दर्शनम्,
सर्वविद्याप्रतिष्ठा या ब्रह्मविद्येति गीयते।
एवं तु भगवान् वेदो सम्पन्नोऽङ्गैर्विराजते।
धर्मं बुभुत्समानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः (म०);
श्रुतिं बुभुत्समानानां आत्मज्ञानं परायणम्।
न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते (म०);
ध्यानेनैव कृतं सर्वम् आत्मना, ऽऽह मनुर्यथा।

वेद भगवान् का पैर छंदःशास्त्र है; कल्प नामक शास्त्र हाथ है; ज्योतिःशास्त्र, आंख; निरुक्त, कान; शिक्षा, नासिका; व्याकरण, मुख है। आयुर्वेद, प्राण; धनुर्वेद, भुजा; गान्धर्ववेद, कंठ; शिल्पवेद, जांघ हैं। सब आधिभौतिक शास्त्र, सप्त धातु, पांच तत्त्व हैं, जिन से शरीर बनता है। सब आधिदैविक शास्त्र, वह शक्तियां हैं जिन से शरीर के सब अंग यथोचित क्रिया करते हैं, हिलते, चलते हैं। धर्मशास्त्र, हृदय; अर्थशास्त्र, उदर; कामशास्त्र, सुन्दर सन्तति से अलंकृत गोद है। मोक्षशास्त्र, सब का नियामक मूर्धा है, सिर है; इसी को ब्रह्मविद्या कहते हैं; इस को, उपनिषत् मे, सब अन्य विद्याओं की प्रतिष्ठा, नीवी, नीव, आधार, कहा है। सब वेद का, सब धर्मकर्मों के मर्मों का, सब मूल तत्त्वों का, ज्ञान इस मे परिसमाप्त हो जाता है, इस लिये इस को वेद का अन्त 'वेदान्त' कहते हैं। सब शास्त्रों के सार का इस से दर्शन हो जाता है, इस लिये इस को दर्शन, सम्यग्दर्शन, आत्मदर्शन, भी कहते हैं। इस प्रकार से, 'वेद भगवान्', सब अंगों से सुसम्पन्न हो कर विराजते हैं। धर्म को जानने मे परम प्रमाण श्रुति हैं, और श्रुति का अर्थ जानने के लिए आत्मज्ञान ही का आसरा है। बिना अध्यात्म

शास्त्र को जाने, कोई भी किसी क्रिया को सफल नहीं कर सकता, उस से सत्फल नहीं पा सकता; क्योंकि यह सब जगत्, परमात्मा ने, अपनी आध्यात्मिक ध्यानशक्ति से ही बनाया है। ऐसा भगवान् मनु ने कहा है।

कृष्ण ने भी कहा है,

यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति,
तत एव च विस्तारं, ब्रह्म संपद्यते तदा। (गीता)

जब संसार के अनन्त भूतों के, पदार्थों के, चराचर प्राणियों, द्रव्यों, वस्तुओं के, पृथग्भाव को, नानात्व को, भेदभाव को, अनेकत्व को, एक तत्त्व मे, अभेदभाव से स्थित, प्रतिष्ठित, देख लेता है, तथा उसी एकत्व मे से, एक परमात्मा मे से, अथवा परमात्मा मे ही, विस्तार पाते देख लेता है, तब जीव का ब्रह्म, अर्थात् वेद भी, ज्ञान भी, और ब्रह्मत्व भी, परमात्मा के साथ एकत्व भी, परमात्मभाव भी, सम्पन्न सम्पूर्ण होता है।

सब 'अनेक' पदार्थ 'एक मे' और सभी 'एक से', हैं—यह ज्ञान, यह वेद, दो विद्या, चार शास्त्र, से सम्पूर्ण सम्पन्न होता है।

स्यात् किसी को सन्देह हो कि वेद शब्द का व्यवहार तो ऋक्, यजुः, साम, और अथर्व नामक चार प्रसिद्ध वेदों के लिए ही होता है। सब विद्या, सब शास्त्र, कैसे वेद कहला सकते हैं? इस शंका का समाधान, और "अनन्ताः वै वेदाः", इस तैत्तिरीय श्रुति की व्याख्या, वेदव्यास जी ने महाभारत के शांति पर्व के (कुम्भकोण वाले संस्करण के) १२२ वें अध्याय मे की है—

अंगानि, वेदाश्चत्वारो, मीमांसा, न्यायविस्तरः,
पुराणं, धर्मशास्त्रं च, विद्याः ह्येताश्चतुर्दश।
आयुर्वेदो, धनुर्वेदो, गान्धर्वश्चेति ते त्रयः,
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु, विद्या हि अष्टादशैव तु।
एतासामेव विद्यानां व्यासम् आह महेश्वरः,
शतानि त्रीणि शास्त्राणां, महातंत्राणि सप्ततिम्।
पुनर्भेदसहस्रं तु तासामेव तु विस्तरः,
ऋषिभिर्देवगन्धर्वैः सविकल्पः सविस्तरः,
शश्वद् अभ्यस्यते लोके; वेद एव तु सर्वशः।
वेदाश्चतस्रः संक्षिप्ताः, वेदवादाश्च ते स्मृताः।
एतासां पारगो यस्तु स चोक्तो वेदपारगः।

वेद नाम से प्रसिद्ध चार वेद, चार उपवेद, छः वेदांग, पुराण-इतिहास, धर्मशास्त्र, न्याय, मीमांसा, इन अठारह विद्याओं के आधार पर, उन के उपबृंहण के रूप मे, शंकर ने तीन सौ शास्त्र और सत्तर महातन्त्र बनाये। और इन का विस्तार, ऋषियों, देवों, गंधर्वों ने, हज़ारों तरह से किया। यह सब वेद ही है, और इन सब वेदों मे वेद ही का अभ्यास, पढ़ना-पढ़ाना, लोक में हो रहा है। संक्षिप्त रूप को 'चार वेद' कहते हैं, विस्तीर्ण रूप को 'वेदवादाः' कहते हैं। जो इन सब को, संक्षेप को भी, विस्तार को भी, जानै, वही 'वेदपारग' कहलाने के योग्य है। प्रसिद्ध चार वेदों की भी अधिकांश शाखाओं का लोप हो गया है, यह भी प्रसिद्ध है। कूर्मपुराण मे, तथा पतंजलि के महाभाष्य मे, कहा है कि ऋग्वेद के इक्कीस भेद, यजुः के सौ, साम के एक सहस्र, और अथर्व के नौ थे। अब तो इन मे से बहुत ही थोड़ा मिलता है।

साम्प्रतकाल के प्रतीचीन यूरोपीय शास्त्रों का समावेश, उक्त वेदमूर्त्ति के अंगों मे, अथवा धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष [शास्त्रों के भीतर, किस प्रकार से किया जा सकता है, इस को दिखाने का यत्न मैं ने अपनी अंग्रेजी पुस्तक 'दि सायंस आफ़ सोशल आर्गेनिज़ेशन, इन् दि लाज़ आफ़ मनु,' की पहली संचिका (जिल्द) के पृ० २६८–२७० में किया है। संक्षेप से यों कह सकते हैं कि 'सायंस' के दो विभाग, 'स्पिरिचुअल' (परा विद्या) और 'मैटीरियल' (अपरा विद्या); और पहिले के अंदर तीन विभाग होंगे।

(१—क)—समाज के 'शिक्षण,' 'धारण,' व्यवस्थापन, संग्रहण के, साक्षात् या परम्परया, उपयोगी शास्त्र, यथा 'ग्रामर' (व्याकरण), 'फ़िलालोजी' (निरुक्त), 'प्रासोडी' (छंद), 'माथेमाटिक्स' और 'आस्ट्रोनोमी' (गणित और ज्योतिष), 'सोसियालोजी' (समाजशास्त्र), 'हिस्टरी' (इतिहास-पुराण), 'पालिटिक्स' 'सिविक्स' (राज-शास्त्र), 'एथिक्स' (सदाचार-शास्त्र और पूर्वमीमांसा), 'ला एंड जूरिस्प्रूडेन्स' (व्यवहार-धर्म और पूर्वमीमांसा) इत्यादि।

(१—ख)—समाज के 'रक्षण' के उपयोगी शास्त्र, यथा 'मेडिकल सायंस' (आयुर्वेद), और उस के अंतर्गत, अंगभूत, 'ज़ूआलोजी', 'बाटनी', 'बायोलोजी', 'फ़िसिओलोजी', 'एनाटोमी' (प्राणि-शास्त्र, वृक्षवनस्पति-शास्त्र, चतुर्विध-भूतग्राम-शास्त्र, 'शारीर-स्थान',) आदि, तथा 'मिलिटरी सायंस' (धनुर्वेद) इत्यादि।

ये सब 'धर्मशास्त्र' मे आवेंगे।

(२) समाज की 'जीविका' साधने वाले, तथा श्री, शोभा, समृद्धि, 'सम्पत्ति' और शक्ति बढ़ाने वाले शास्त्र। यथा, 'फ़िज़िक्स' (विद्युदादि-शक्तिशास्त्र, 'तन्मात्र'-शास्त्र ?), 'केमिस्ट्री' (महाभूतशास्त्र, रसायनशास्त्र ?) 'जियालोजी' (भूगर्भशास्त्र), 'मिनरालोजी-मेटालर्जी' (खनिजशास्त्र, धातु-शास्त्र), 'इकोनोमिक्स' (सम्पत्तिशास्त्र, अर्थशास्त्र, कुसीदशास्त्र), 'एग्री-कल्चर' (कृषिशास्त्र), 'डेयरी-फ़ार्मिङ्', 'कैटल्-ब्रीडिङ्' (गोरक्षाशास्त्र), 'ट्रेड-एण्ड-कामर्स' (वाणिज्यशास्त्र)। इत्यादि। यह सब अर्थशास्त्र मे आवेंगे।

(३) समाज के सांसारिक सुख के परिष्कार करने और बढ़ाने वाले शास्त्र। यथा 'सेक्सालोजी और यूजेनिक्स' (विवाह-शास्त्र, संतानोत्कर्ष-शास्त्र), सभी 'फ़ाइन आर्ट्स' (कला-शास्त्र), 'पोयट्री' (विविध रसों से भरी, विविध अलङ्कारों से भूषित, कविता), 'म्यूज़िक' (संगीत-शास्त्र), 'पेंटिङ्' (चित्र-शास्त्र), 'स्कल्पचर' (रूपोत्किरण-शास्त्र, प्रतिमा-शास्त्र), 'आर्किटेक्चर' (वास्तु-शास्त्र), गार्डनिङ्' (उद्यान-शास्त्र), इत्यादि। यह सब कामशास्त्र में आवेंगे।

(४) दूसरे, अर्थात् 'स्पिरिचुअल सायंस,' मे; 'मेटाफ़िज़िक' (ब्रह्म-विद्या), 'सैकालोजी' (अध्यात्मशास्त्र), 'एप्लाइड सैकालोजी' (योगशास्त्र), 'सैको-एनालिसिस' और 'सैकियाट्री' (उन्माद-चिकित्सा-शास्त्र, चित्त-चि-कित्सा-शास्त्र), 'मिस्टिसिज़्म' (भक्तिशास्त्र)। इत्यादि। यह सब मोक्षशास्त्र मे आवेंगे।

पर यह याद रखना चाहिये कि जैसे संसार मे किसी भी वस्तु का किसी भी अन्य वस्तु से सर्वथा पार्थक्य नहीं है; महाभूत सब एक दूसरे में और चैतन्य मे ओत-प्रोत हैं; इसी तरह, अथ च इसी हेतु से, किसी भी शास्त्र का किसी भी अन्य शास्त्र से सर्वथा स्वातंत्र्य अथवा सम्बन्धाभाव नहीं है। 'सर्वं सर्वेण सम्बद्धं'। सभी शास्त्र प्रत्येक शास्त्र के अंतःपतित हैं। इसी लिये सुश्रुत ने कहा है,

> एकं शास्त्रं अधीयानो न विद्यात् शास्त्रनिश्चयम्;
> तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः।

अन्यत्र भी कहा है,

एकमेव शास्त्रं जानानः न किंचिदपि शास्त्रं जानाति ।

एक ही शास्त्र को जानने वाला कोई भी शास्त्र नहीं जानता; उस एक के अर्थ को भी निश्चित रूप से नहीं जान सकता। जो बहुश्रुत है, अन्य शास्त्रों की भी बातों को कुछ न कुछ जानता है, वही वैद्य अपने शास्त्र को भी ठीक जान सकता है। इस लिये, बहुश्रुत हो कर, वैद्य को, परमोपयोगी, प्राणरक्षक, आयुर्वेद को जानना चाहिये।

केवल, "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः", "भूयसा व्यपदेशः", प्रधान विषय के नाम से विशेष-विशेष शास्त्र का विशेष-विशेष नाम पड़ता है। ऊपर कहा हुआ, शास्त्रों का विभाजन और राशीकरण, केवल अध्ययनाध्यापन के सौकर्य की दृष्टि से ही सार्थक है। वेद भगवान्, साहित्य देवता, सरस्वती देवी, के अंगो का विच्छेद कैसे हो सकता है। एक ही प्राण, एक ही रक्त, सब मे सदा संचार करता रहता है, और सब को आप्लावित, आप्यायित, जीवित, रखता है। अंग-अंगी-भाव से सब मिल कर के ही साहित्य के पूर्ण रूप को संपन्न करते हैं। जीवन्ती मूर्त्ति के रूपक का यही आशय है।

साहित्य-सम्मेलन के वार्षिक उत्सवों पर, अब कई वर्षों से, उस के अंगों के रूप मे, दर्शन परिषत्, इतिहास परिषत्, विज्ञान परिषत्, आदि के अधिवेशनो का भी प्रबन्ध किया जाने लगा है। यह कार्य सर्वथा सभाजन अभिनन्दन के योग्य है। इस से विदित होता है कि प्रबन्धकर्त्ता विद्वान् सज्जनो ने अनुभव किया है कि, साहित्य पदार्थ मे सभी शास्त्र, सभी विद्या, का समावेश है। यदि 'साहित्य' शब्द को 'काव्य' शब्द का पर्याय ही माने, तो काव्य शब्द भी बड़ा महिमाशाली है। गीता मे, वेद मे, "कविं पुराणं अनुशासितारं अणोः अणीयांसं अनुस्मरेद् यः", "कविः मनीषी परिभूः स्वयंभूः याथातथ्येनार्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः", ऐसे सूक्तों मे, परमात्मा को 'कवि' संज्ञा से, भक्तिपूर्वक स्मरण किया है। परमात्मा ही तो 'अद्वितीय कवि' है। समस्त और व्यस्त जगत् सब उसी की कविता है, अचिन्त्य, अप्रज्ञात, अलक्षण, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय, महाकाव्य है। "रसो वै सः" परमात्मा ही रस का सार है। "आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रियं भवति"। आत्मा ही रसास्वाद करने वाला है, जो कुछ भी पदार्थ, रसीला, प्रीतिपात्र, सुखदायक, जान पड़ता है, वह सब आत्मा ही के लिये प्रिय है, और आत्मा, अनन्त अनात्म-पदार्थों के द्वारा, अपनी सत्ता का ही

आस्वादन, रसन करता है, इस लिये आत्मा ही रस-सार है। अनंत रस, अनंत अलंकार, सब जगद्रूपी महाकाव्य मे भरे हैं। इस के किसी भी अंश का, अंग का, सद् वर्णन, मनुष्य का किया हुआ भी, काव्य है। सहृदय के लिये, 'सायंस' मे, 'शास्त्र' मे, भी रस भरा है। उस के आस्वादन के अनुकूल, मनुष्य की प्रकृति होनी चाहिये। जिस जगत् को परमात्मा का महाकाव्य कहते हैं, उसी को परमात्मा की प्रकृति भी कहते हैं। उस प्रकृति के सौन्दर्य का, अनंत महाकाव्य के एकमात्र विषय का, क्या कहना है।

तथा ते सौन्दर्यं, परमशिवदृङ्मात्रविषयं,
कथंकारं ब्रूमः, सकलनिगमागोचरगुणे !

उस अनंत अगाध सौन्दर्य का पूरा दर्शन और आस्वादन तो परम शिव, परम कल्याणमय परमात्मा, की ही दृष्टि कर सकती है। सकल निगम, सब वेद और वेदवाद, अशेष साहित्य जिस का मनुष्य सङ्कलन कर सकता है, उस सौंदर्य का निरूपण चित्रण नहीं कर सकता।

लिखति यदि प्रयत्नात् शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानां ईश पारं न याति।

॥ ॐ ॥

२

हिन्दी साहित्य

॥ ॐ ॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च, विश्वाधिपो, रुद्रो महर्षिः,
हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानं, स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु । ॐ ॥

सज्जनो !

संस्कृत व्याकरण के जानकारों मे कहावत है, "सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः" । सब ही शब्द सब ही अर्थों के वाचक हो सकते हैं । जैसे 'सन्'— इस आवाज़ का अर्थ हिन्दी में 'रस्सी बनाने की एक वस्तु' का है, और अंग्रेज़ी मे इसी आवाज़ से 'पुत्र' का, 'सूर्य' का भी, ग्रहण होता है* । 'पर'—इस शब्द से हिंदी मे 'लेकिन', 'किंतु', 'परंतु', 'मगर', का संकेत होता है, 'चिड़िये के पर' का भी, संस्कृत मे अर्थ 'पराया' और 'दूसरा' तथा 'परम' भी होता है, अंग्रेज़ी मे इसी आवाज़ का अर्थ 'द्वारा', तथा बिल्ली तेंदुआ व्याघ्र आदि पशुओं के प्रसन्नावस्था मे एक प्रकार के बोलने का† । इन उदाहरणो से आप देखते हैं कि न केवल अर्थ और शब्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है, किन्तु शब्दमात्र का अर्थमात्र से सम्बन्ध है । और यह केवल किसी जनसमूह के संकेत की, मान लेने की, बात है, कि किस शब्द से किस स्थान और किस काल मे किस अर्थ का ग्रहण किया जाय ।

यह तो हुई वैयाकरणो के सिद्धान्त की बात । अब आप देखिये कि मेरे और आपके प्रिय सुहृत् श्री गोविन्ददास जी ने इस की क्या दुर्दशा की है । इन्हों ने इस का अर्थ यह किया है कि सब आदमियों से सब काम लिया जा सकता है । और मुझ को स्नेह की रस्सियों से बाँध कर इन्हों ने आप के सामने राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर के तृतीय वार्षिकोत्सव के सभापति का काम करने के लिये नियुक्त करा दिया है ।

क्षमापन

इस काम के लिये मेरी योग्यता केवल इतनी ही है कि इस जन्म मे मेरा शरीर हिंदी, अर्थात् हिंद का, है, मेरी मातृभाषा भी हिंदी है, मैं

---

* Son; Sun.   † Per; Purr.

हृदय से मनाता हूँ कि इस का प्रचार भारतवर्ष के कोने-कोने मे हो जाय, इस मे अच्छे-अच्छे ग्रन्थ सब विषयों के लिखे जायँ, और इस का सर्वाङ्गीण साहित्य बढ़े। एक वेर पहिले भी, आज से दो वर्ष हुए, श्री पुरुषोत्तमदास जी टंडन ने ऐसी ही मुसीबत मे मुझ को कलकत्ते ले जा कर डाल दिया था। और उस समय भी मुझ को ऐसे ही क्षमापन करने पड़े थे।

मेरी क़िस्मत मे दूसरी झंझटें लिखी हैं, जिन के कारण, बहुत अच्छा रहते हुए भी, हिंदी के ग्रन्थ पढ़ने-लिखने की फ़ुर्सत मुझ को नहीं ही मिलती। ज़रूर है कि श्री गोविंददास जी ने मुझ से, दो महीना हुआ, यहाँ आने का क़रार ले लिया था। पर, दूसरे कामो मे अत्यन्त व्यग्र होने के कारण, कल शाम तक, यानी आप के नगर मे पहुँच जाने तक, मुझ को फ़ुर्सत नहीं मिली, कि आप के सामने 'पत्रं पुष्पं' आदि जो उपहार ले कर आना हो उस की सामग्री एकत्र करूँ। तात्कालिक व्याख्यान करने का अभ्यास मुझे नहीं के बराबर है। "रिक्तपाणिर्न पश्येत्तु मित्राणि स्वजनान् गुरून्"। खाली हाथ मित्रों के पास नहीं जाना, इस की फ़िक्र बड़ी भारी। कल रेल पर बड़ी मिहनत से विचार रहा था कि क्या क्या बात, नौसिखवों के आमोख्ता सी, आप लोगों को सुना जाऊं। यहां पहुंचने पर मालूम हुआ कि रविवार को, सवेरे से नहीं, शाम को कार्य आरम्भ होगा। इस से चंद घंटों की मुहलत मुझ को मिली। उस में कुछ नोट कर लिया है, वही आप को सुनाता हूँ। इस मे से जो बात आप को पसन्द आवे रख लीजियेगा, बाक़ी को दर गुज़र कीजियेगा। कहावत है,

नामंत्रमक्षरं किंचिन्, न च द्रव्यं अनौषधम्,
नायोग्यः पुरुषः कश्चित्, प्रयोक्तैव तु दुर्लभः।

कोई अक्षर नहीं जिस मे मंत्र की शक्ति न हो, कोई द्रव्य नहीं जिस मे औषध की शक्ति न हो, कोई पुरुष नहीं जो सर्वथा अयोग्य हो; हाँ, प्रयोक्ता जानकार होना चाहिये। इस कार्य मे मेरे प्रयोक्ता आप लोग हैं। यदि मुझ से काम न बन पड़ा तो दोष प्रयोक्ता की, आप की, जानकारी पर आवेगा।

यह राष्ट्रीय हिन्दी मंदिर, श्री गोविंददास जी और उन के कुल के वृद्धों तथा अन्य देवियों और सज्जनो की उदारता और परिश्रम से स्थापित हुआ है। कई वर्ष तक यह दूसरे नाम से काम करता रहा। अब तीन वर्ष से इस

नये नाम से काम कर रहा है। वार्षिक विवरणों से मालूम हुआ कि इस के तीन अंग हैं, पुस्तकालय, नई पुस्तकों का प्रकाशन, मासिक पत्रिका 'श्री शारदा' का प्रकाशन।

पुस्तकी भवति पंडितः।

पुरानी कहावत है, "पुस्तकी भवति पंडितः"। जिस के पास पुस्तकें होती हैं, वह कभी न कभी, कुछ न कुछ, पढ़े ही गा, और पढ़ेगा तो कुछ न कुछ पांडित्य उसको प्राप्त हो ही गा। अंग्रेज़ी मे भी यह विश्वास हो चला है; 'अच्छा पुस्तकालय अच्छे विद्यापीठ के बराबर है'*। यह कथा साधारण मनुष्यों की दृष्टि से है। उन विशेष व्यक्तियों की दृष्टि से नहीं जिन के विषय मे निरुक्त मे लिखा है "स्थाणुः अयं भारहारः किलाभूद्, अधीत्य वेदान्, न विजानाति योऽर्थम्", जिस का तर्जुमा शेख सादी ने यों किया है कि—

न मुहक़्क़िक़् बुवद्, न दानिश्मंद,
चारपाये बर् ऊ किताबे चंद।

वेद को कंठस्थ कर लिया, पर उस का अर्थ नहीं समझा, और उस के अनुसार सद् आचरण नहीं किया, तो मानो काठ की चौकी पर पुस्तक लाद दी। न उस को सत्य का ज्ञान हुआ, न सद्बुद्धि, नेक नीयत, हुई; मानो चौपाये पर किताबों का बोझ रक्खा है। 'पंडित' शब्द का अर्थ याद रखने योग्य है, 'सद्-असद्-विवेकिनी बुद्धिः पंडा, सा संजाता यस्य सः पंडितः।' सच और झूठ, भले और बुरे, नेक व बद, पुण्य और पाप का विवेक करने वाली बुद्धि का नाम 'पंडा'; वह जिस को प्राप्त हो गई है वह 'पंडित'।

यह विचार पश्चिम मे तो प्रायः स्थिर हो गया है कि विद्यापीठों के मुख्य अंग दो ही हैं, 'ज्ञानविभाग' (आर्ट्स) के लिये 'पुस्तकागार', 'लाइब्रेरी', और 'विज्ञानविभाग' (सायंस) के लिये 'शिल्पागार', 'योग्याशाला', 'प्रयोग-शाला', 'लाबोरेटरी'। वयःप्राप्त विद्यार्थी के लिये 'ज्ञानविभाग' मे प्रायः इतनी शिक्षा पर्याप्त होती है, कि उस को बता दिया जाय, कि जिस विषय का वह अध्ययन करना चाहता हो उस के अमुक-अमुक ग्रंथ इस इस क्रम से पढ़ जाय, और, फिर, उन मे जहां जहां उस को शंका हो वहां वहां अध्यापक लोग उस का समाधान कर दें।

* A good library is a home-university.

पुस्तकों की रक्षा

उत्तम ज्ञान के प्रचार का उत्तम और मुख्य उपाय यह है कि उत्तम पुस्तकों का संग्रह कर दिया जाय, और ऐसा प्रवन्ध कर दिया जाय कि सच्चे जिज्ञासु विद्यार्थी उन पुस्तकों को, रक्षा के साथ, पढ़ सकें। इस सम्बन्ध मे, 'रक्षा' शब्द का अर्थ करना अवश्य है। बहुत पुराना अनुभव यह है कि, मंगनी की पुस्तक के विषय मे प्रायः लोग सद्‌बुद्धि छोड़ देते हैं। इसी से कहावत हो गई है कि "पुस्तकी···परहस्तगता गता"। मेरा निजी अनुभव है कि लोग मंगनी न देने से बुरा मानते ही हैं, मांग कर स्वयं लौटाना जानते ही नहीं, तक़ाज़े पर कोप करते हैं और यदि लौटाया भी तो प्रायः जिस रूप से पोथी गई थी उस रूप से नहीं ही वापस आती। कभी जिल्द टूटी और मैली, कभी पन्नों के कोने मुड़े, कभी पन्ने फटे और ग़ायब भी। अकसर लोग, ख़ाह-म-ख़ाह, टेढ़े मेढ़े, पिंसिल रौशनाई के निशान भी बना देते हैं, और व्यर्थ के नोट निहायत बदसूरती से लिख दिया करते हैं, जिस से पुस्तक नितान्त कुरूप हो जाती है। दूसरों की क्या कहूं ? मैं स्वयं भी मित्रों से मांगी हुई पुस्तकों को बिना याद दिलाये प्रायः नहीं लौटा पाता हूं। मुझे याद है कि एक बेर एक मित्र से कई पुस्तकें मैं ने मंगनी लीं, जिन मे एक ग्रन्थ दो मोटी-मोटी जिल्दों मे था। लौटाते वक़्त एक जिल्द मेरी निजी किताबों में मिल कर रह गयी। कुछ दिनो बाद मित्र ने पूछा। मैं ने कहा कि मैं ने तो लौटा दिया। बड़े शीलवान् थे। कुछ नहीं बोले। एक दिन मुझे वह जिल्द, अपनी किताबों को उलटते पलटते मिली। बहुत अपराध-क्षमापन का पत्र लिख कर उस को मैं ने उन के पास भेजा। पिंसिल से, पुस्तक के गुर्वर्थ वाक्यों के सामने, मर्म (हाशिये) पर, चिन्ह करने तथा टिप्पणी लिख देने के भी दुरभ्यास मुझ को भी स्वयं हैं, पर यह प्रायः अपनी निजी पुस्तकों पर करता हूं, जिन से मुझे अपने लेखों के लिये काम लेना होता है, और निशान भी, हरी, काली, नीली, लाल पिंसिलों से, 'रूलर' रख कर, सीधा करता हूं, और टिप्पणियों को, अक्षर बना कर, सीधी पंक्तियों मे लिखता हूं, जिस से पुस्तक की शोभा घटे नहीं, बल्कि बढ़े।

उत्तरदातृत्व।

इस विषय की चेतावनी हर वक़्त देते रहने की ज़रूरत है। जिस को

अंग्रेजी मे 'सेन्स आफ़ रिस्पांसिबिलिटी' कहते हैं, जिस को आज कल 'दायित्व' के नाम से हिंदी मे कहने लगे हैं, पर जिस का ठीक पुराना संस्कृत नाम 'उत्तरदातृत्व' और फ़ारसी नाम 'जवाबदिही' अथवा ज़िम्मेदारी है, वह भाव हम भारतवासियों मे कम हो गया है। हमारे ह्रास का यह एक मुख्य कारण है। जवाबदिही दो चाल की होती है, एक बाहरी, एक भीतरी। बाहरी तो तब होती है जब कोई बाहरी दंडदाता हो, प्रश्न करे और उत्तर मांगे, कि तुम ने ऐसा क्यों किया या नहीं किया, और संतोषजनक उत्तर न पाने पर दंड दे। इस चाल की जवाबदिही से दुनियां मे बहुत कार्य चलता है। इसी लिये मनु ने कहा है।

> दंडः शास्ति प्रजाः सर्वाः, दंडः एव अभिरक्षति,
> दंडः सुप्तेषु जागर्ति, दंडं धर्मं विदुर्बुधाः।

'दमनाद् दंडः', जो दमन करै, मजबूर करै, कि ऐसा ही करो, इस के विरुद्ध मत करो, वह (अंग्रेज़ी मे 'पावर आफ़ कम्पल्शन') दंड शक्ति है। यही शक्ति प्रजा की शिक्षा, शासन, करती है। यही रक्षा करती है। जब सब सोते हैं तब यही जागती और पहरा देती है। यह दंड ही, धर्म का, 'समाज-धारण शक्ति' का, रूपान्तर है।

पर यह बाहरी दंड के भय की जवाबदिही, दूसरे दर्जे की है। इस को बचा जाने की आशा से, लोग तरह तरह के जतन, माया के अथवा धृष्टता के, करते हैं। उत्तम जवाबदिही भीतरी है, अपनी आत्मा के सामने उत्तरदातृत्व। जिस के मन मे यह भीतरी उत्तरदातृत्व पैदा हो गया, वह प्रायः वंचना या धृष्टता नहीं कर सकता, क्योंकि उस को निश्चय हो गया है कि मै अपनी आत्मा के दंड से बच सकता ही नहीं।

इसी भाव के दूसरे नाम अथवा दूसरे रूप, परार्थ-बुद्धि, सामाजिक भाव, सार्वजनिक दृष्टि, 'पब्लिक स्पिरिट' आदि हैं।

पुस्तकों के सम्बन्ध मे इस को जगाने का शायद एक प्रकार यह अच्छा हो कि पुस्तकालय के प्रत्येक कमरे मे तथा प्रत्येक पुस्तक पर, छपे काग़ज़ लगा दिये जायँ, जिन पर लिखा हो कि—"कृपा कर के यह याद रखिये कि जिस पुस्तक को आप पढ़ रहे हैं उस को आप के बहुत से भाइयों बहिनों को भी पढ़ना है, इस लिये रक्षा से पढ़िये। आप के हाथ मे

पुस्तक की अवस्था बिगड़ने न पावे, नहीं तो आप के भाइयो बहिनो के काम मे न आ सकेगी" ।*

लोग प्रायः जान बूझ कर काम नहीं बिगाड़ते, वल्कि लापरवाई से, और विचार और दूरदर्शिता के वैसे अभाव से जैसा वालकों को होता है। उन को याद दिलाते रहने ही की अधिकांश जरूरत है।

मेरा निज का अनुभव है। रेल मे एक अन्य मुसाफ़िर साथ बैठे थे। खिड़कियाँ खुली थीं, सिर्फ़ सिर फेरने की जरूरत थी। पर नहीं, खांसी आई तो खखार कर गाड़ी के अन्दर ही उन्हों ने थूका, और पानी पी कर, गुसलखाने के, जो पास मे खुला था, दर्वाजे के अन्दर, कुल्ला, जहां बैठे थे वहीं से, कर दिया। कुल्ले का गंदा पानी 'बेंचों' के नीचे और गुसलखाने के फर्श पर फैल गया। मैने अर्ज किया कि, जनाब ने खिरकी के बाहर थूका होता, और कुल्ला किया होता, तो अच्छा होता। उन्हों ने बहुत सादगी से कहा कि, मुझे अगले स्टेशन पर उतर जाना है। मै ने उन से फिर अर्ज किया कि, लेकिन मुझे तो अभी दूर जाना है, और दूसरे लोग भी इस मे आते रहेंगे। तब उन को याद आई, और उन्हों ने कहा कि जरूर भूल हुई।

पर सब लोग ऐसे नहीं होते। कुछ की प्रकृति अधिक कड़ी होती है। मेरे एक मित्र को भी ऐसा अनुभव हुआ। लेकिन जब उन्हों ने इन दोस्त की तवज्जह सफ़ाई की तरफ दिलाने की कोशिश की, तो यह जवाब मिला कि "जनाब, अगर आप को ऐसी सफाई पसन्द है तो आप रिज़र्वड क्लास मे चला करें"। मेरे मित्र ने मजबूर हो कर उन से कहा कि "अगर आप को गंदगी इस क़दर पसंद है, तो आप बग़ल के जाय-ज़रूर मे ही बैठ कर सफ़र कीजिये"।

आप लोगों को ख़याल होगा, कि कलकत्ता, बम्बई आदि की ट्राम गाड़ियों मे, और कभी-कभी रेलगाड़ियों मे भी तख़्ती लगाई रहती है, जिस

---

* इस सम्बन्ध में, पुराने श्लोक, कुछ इस प्रकार के हैं,
कीटाद्, अग्नेर्, जलाद्, धूलेर्, मूर्खात्, शिथिलबंधनात्,
चोराच् च रक्ष मां, विद्वन्!, एवं वदति पुस्तकी।
रक्षिता, एवं तु, भूयासं बहूनां उपकारिणी,
अन्यथा, शीघ्रम् एव स्यां भ्रष्टा, जीर्णा, विखंडिता।

पर लिखा रहता है कि गाड़ी के अन्दर मत थूकिये। इसी क़िस्म की चेतावनी पुस्तकागारों मे और पुस्तकों मे लगी रहे, कि किताबों की शकल को बनाये रखिये, तो कुछ तो अवश्य सुधार होगा।

सदाचार, शिष्टाचार, अदब-क़ायदा; विनयन, तबियत, इन सब का हृदय, मर्म, यही है कि बचपन ही से सब को हर वक़्त चेतावनी होती रहे, कि सिर्फ़ अपनी ही फ़िक्र नहीं करना, दूसरों की भी फ़िक्र करना, अपने थोड़े से आराम के वास्ते, या श्रम बचा जाने के लिये, या विनोद के लिये, दूसरों को भारी क्लेश न देना, उन का बड़ा नुक़सान नहीं कर देना।

जिस समाज मे शिष्टाचार सदाचार का यह भाव फैला हुआ है, वही समाज उत्तम और दृढ़ रीति से संग्रथित और संगृहीत है, और परस्पर सहायता के कारण बलवान् है। इस भाव का प्रचार पुस्तकालय के कर्मचारी, पुस्तकों की रक्षा की चेतावनी के प्रकार से, कर सकते हैं।

आय-व्यय।

हिन्दी मन्दिर के जो दो और अंग हैं, अर्थात् 'श्री शारदा' पत्रिका और नये ग्रंथों का आविष्कार, ये पुस्तकसंचय के फलरूप ही हैं। पुस्तकसंचय का अर्थ ज्ञानसंचय, और ज्ञानसंचय का फल ज्ञानप्रचार। मन्दिर से कई अच्छे अच्छे ग्रन्थ निकल चुके हैं—इतिहास, विख्यात पुरुषों की जीवनी, जो इतिहास का ही अवान्तर रूप है, अर्थशास्त्र, कवि और काव्य की समालोचना, आख्यायिका आदि के। जहाँ तक मालूम हुआ, इन ग्रंथों का आदर जनता ने अच्छा किया, और किसी किसी के पुनः संस्करण की आवश्यकता पड़ी। शारदा-पत्रिका का नया रूप भी। बहुत सुन्दर और विविध विषयों के ज्ञान से और रस-भाव से पूर्ण हो रहा है। पर एक बात व्यवहार-दृष्टि से विचारने की है। इन पुस्तकों के, और पत्रिका के, प्रकाशन मे व्यय बहुत बड़ा होता है, और तदनुसार आय नहीं है। कई पुस्तकों मे एक पृष्ठ पर उस के प्रकाशन के खर्च का हिसाब दिया हुआ है; इस से यह मुझ को जान पड़ा। इस का क्या प्रबन्ध होगा, यह घाटा कैसे पूरा किया जायगा, आगे घाटा न होने का क्या उपाय होगा, यह प्रबन्धसमिति को सोचना आवश्यक है। श्री गोविंददास जी ने अपने वार्षिक कार्यविवरणरूपी व्याख्यान मे इस की चर्चा की, और, अंशतः जो क़र्ज़ इस संस्था पर हो गया है, उस का समाधान भी किया, पर तौ भी हम लोगों को याद रखना

चाहिये कि, पच्छिम के देश का यह उसूल, जितना ही बड़ा 'नेशनल डेट' उतना ही बड़ा 'स्टेट', हमारे भारतवर्ष की दशा और भावों के अनुकूल नहीं है।

शास्त्रीय ग्रंथ।

दस पाँच 'पब्लिशिंग' कारख़ानो का हाल जो मैं ने दर्याफ़्त किया; उस से तो ऐसा जान पड़ा कि निजी कारख़ानो मे, जहां एक ही आदमी अपना कारख़ाना स्वयं चलाता है, वहां नुक़सान प्राय: नहीं है। शायद "आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रियं भवति", इस न्याय से वह परिश्रम और सावधानी अधिक करता है। पर साथ ही इस के, यह भी मालूम होता है कि ऐसे कारख़ानों मे शास्त्रीय ग्रन्थ, जिन से नये ज्ञान का विस्तार हो, पर जिन के पढ़ने-पढ़ाने मे श्रम लगता हो, कम निकलते हैं। नाटक और आख्यायिका (जिन को आज काल 'उपन्यास' कहने की चाल पड़ गयी है) के ही ग्रन्थ, और उन मे भी बहुत से अनुवादरूप, ऐसे कारख़ानो से ज़्यादा निकलते हैं। उन मे से कितने ही अच्छे भी होते हैं। पर शास्त्रीय साहित्य की पूर्त्ति उन से नहीं होती। और ऐसे साहित्य की आवश्यकता रोज़ रोज़ बढ़ती जाती है। जब से राष्ट्रीय पाठशालाओं और विद्यापीठों की ओर देश का ध्यान झुका है, और यह भी ध्यान हुआ है कि पढ़ाई मातृभाषा मे हो, तब से इस कमी का क्लेश और भी तीव्र होता जाता है। इस की पूर्त्ति के लिये सार्वजनिक संस्थाओं के चालकों को अवश्य ही यत्न करना होगा, और तन, मन, धन, का व्यय बर्दास्त करना होगा, और उस के ऊपर अवाच्य कुवाच्य भी सुनना होगा। फ़ारसी मे मसल मशहूर है, "न कर्दन् यक् गुनाह, कर्दन् सद् गुनाह।" सूरदास जी भी कह गये हैं, "दयानिधि, तेरी गति लखि न परै। एक गऊ जो देत विप्र को, सो सुरलोक तरै; कोटिन गौ देवै राजा नृग सो भव-कूप परै"। पर यह तो 'पब्लिक वर्क', सार्वजनिक सेवा, का फल ही है। यदि उस मे चारो ओर से यश ही यश और मदद पर मदद मिलै, तो फिर तपस्या और स्वार्थ-त्याग ही क्या रह जाय। सार्वजनिक काम मे जो नेकनीयती से पड़ना चाहे, उस को अपना दिल बहुत मज़बूत कर लेना चाहिये, और समझना चाहिये कि पूर्व जन्म मे खाया हुआ कर्ज़ चुकाने के लिये, यह 'पब्लिक' का काम कर रहा हूं, और यदि सर्वथा निष्काम

भाव से कार्य नहीं कर सकता, तो जो कुछ स्वार्थ फल की आशा रखता हो, उस को परलोक से ही, या दूसरे जन्म से ही, बाँधना चाहिये ।

कैसे ग्रन्थों की आवश्यकता है ।

किस किस विषय पर नये ग्रन्थों के निर्माण की आवश्यकता है, यह बात बहुत विचारने की है । अब तक तो 'साहित्य' का अर्थ, हिन्दी मे, प्रायः छन्दोबद्ध काव्य और नाटक ही समझा जाता था । हिन्दी साहित्य सम्मेलन, भारतीय अथवा प्रांतीय, जो होते रहे हैं, उन के कार्य के विवरणो के देखने से, तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास, छोटे मोटे, जो निकलते हैं, उन के देखने से भी, यह जान पड़ता है । पर इस अर्थ से काम नहीं चलने का । कलकत्ते के सम्मेलन मे मै ने यह दिखाने का यत्न किया कि साहित्यशरीर कहिये, शास्त्रशरीर कहिये, उस को समग्र सम्पूर्ण करने के लिये हम को किन किन अंगों की आवश्यकता है । चार पुरुषार्थों के साधक चार शास्त्रों के ग्रन्थ हम को चाहियें । धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, और मोक्षशास्त्र । इन चारो के अंदर जितने नये पुराने ज्ञान, विज्ञान, शास्त्र, विद्या, काव्य, नाटक, संगीत, साहित्य हैं, सभी आ जायँगे । 'हिन्दू धर्म क्या है' यह बताने वाले सर्वांगीण सर्व-सम्मत ग्रन्थ की उत्कट आवश्यकता है । अंग्रेजी मे, 'सेंट्रल् हिन्दू कालिज' की ओर से, लघु प्रश्नोत्तरी (कैटेकिज़्म), मध्य ('एलिमेंटरी'), और बृहत् ('ऐड्वान्स्ड') तीन ग्रन्थों की श्रेणी, प्रकाश की गई थी । दस बारह वर्ष तक उस का प्रचार, भारत मे, दूर दूर की शिक्षा-संस्थाओं मे हुआ । उस के बाद, जब उक्त कालिज का प्रबन्ध 'हिन्दू यूनिवर्सिटी' के हाथ मे गया, तब से वह प्रचार रुक गया । दक्षिण मे, उन ग्रन्थों की बहुत मांग होने के कारण, वे मद्रास मे फिर छाप दिये गये हैं । मेरे देखने मे, उन से अच्छे, कोई दूसरे ग्रन्थ, इस विषय के, ज्ञानकांड, भक्ति (वा उपासना)-कांड, कर्मकांड, तीनो के युक्तियुक्त प्रतिपादक, सर्वांगीण, नहीं आये । इन का उत्तम आशयानुवाद (अक्षरानुवाद नहीं) हिन्दी मे, परिष्कार और परिबृंहण कर के, अवश्य होना चाहिये ।

राष्ट्रीय साहित्य का राष्ट्रीय शिक्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह तो प्रत्यक्ष ही है । शिक्षा का क्रम भी इन्हीं चारो शास्त्रों को ले कर बांधना

चाहिये। और उस शिक्षा के उपयोगी ग्रंथ भी उन्हीं के ऊपर, क्रमशः लघु, सरल, और विस्तृत रूप से, तयार करना चाहिये।

संमतं विदुषां ह्येतद् समासव्यासधारणम्।

इसी भाव से पुरानी प्रथा, सूत्र, तब भाष्य, और तब टीका, फैली। जिस को पच्छिम मे टेबुल आफ़ कंटेन्ट्स' कहेंगे वह सूत्र-स्थानीय है। 'एलिमेंटरी टेक्स्ट बुक', सरल वृत्ति-स्थानीय है। जिस को 'एडवांस्ड' कहेंगे वह भाष्य-स्थानीय है, जिस को 'एक्सपर्टस्' और 'स्पेशलिस्टल्स् मैनवल्स्' कहेंगे वह टीका-स्थानीय है।

संस्कृत से अनुवाद किये हुए, हिंदी मे बहुत ग्रंथ, दर्शनों के, पुराणों के, तथा वैद्यक के, मौजूद हैं। पर प्रायः अनुवाद ठीक नहीं है। संस्कार परिष्कार पर श्रम नहीं किया गया है। और परिपक्व बुद्धि और विद्या उन मे नहीं लगायी गयी है। साहित्य सम्मेलनो मे इन की ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता, यद्यपि इनकी चर्चा होना चाहिये, क्यों कि बिना ऐसी चर्चा के ऐसे ग्रन्थों की वृद्धि और शुद्धि नहीं होगी। हर्ष का स्थान है, कि कुछ दिनो तक पश्चिमी विद्याओं का प्रचार होने के बाद, अब यहां फिर स्वदेशी भावों की ओर बुद्धि फिरी है। इस का फल यह हो रहा है कि नये पुराने भावों मे से उत्तम अंश ले कर एक नया 'कल्चर', समुदाचार, शालीनता, तयार होने की आशा हो रही है। और भारतवर्ष की वर्त्तमान भाषाओं मे, ऐसे भावों को एकत्र करने वाले, अच्छे अच्छे नये ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं। अनुवाद के द्वारा कुछ ऐसे ग्रन्थ हिन्दी साहित्य को भी मिल गये हैं। इन मे अत्युत्तम ग्रन्थरत्न, लोकमान्य तिलक का 'गीतारहस्य' है, जो श्री माधवराव जी सप्रे के परिश्रम से हिन्दी साहित्य को मिला। दर्शनशास्त्र के अध्येता के लिये इस का पाठ अनिवार्य है। एक और उत्तम ग्रंथ भी इन्हीं के परिश्रम से हिंदी मे तयार हो गया है, श्री चिंतामणि वैद्य की "महाभारत मीमांसा"। यह ग्रंथ बड़े खोज का, बहुत विचार-पूर्ण, बहुत बुद्धिवर्धक है। जबलपुर के हिन्दी मन्दिर से भी एक बहुत अच्छा ग्रन्थ, इतिहास का, अनुवाद द्वारा, हिन्दी मे आ गया है, श्री नरसिंह केलकर जी का 'अंग्रेज और मराठे'। बंगला मे से भी कई अच्छे इतिहास के और ऐतिहासिक आख्यायिका के ग्रंथ हिन्दी मे अनुवाद द्वारा आ गये हैं। 'सिराजुद्दौला' नाम का ग्रन्थ हाल मे मेरे देखने मे आया। बहुत अच्छा है। विषय तो ऐतिहासिक है ही, लेख भी बहुत सरल, रस और

अलंकार से शोभित, और उदार भाव से युक्त है। एवं 'महाराज नन्द-कुमार की फांसी' नामक ऐतिहासिक उपाख्यान भी।

'अपूर्व' और 'अनुवाद'।

इस प्रकार के इतिहास के अच्छे अच्छे ग्रंथ हिंदी मे हो जायँ तो अवश्यमेव नयी राष्ट्रीय पाठशालाओं और विद्यापीठों मे विद्यार्थियों को जितना ज्ञान अंग्रेज़ी पुस्तकों द्वारा चार वर्ष मे होता है उतना दो वर्ष मे, बल्कि एक ही मे, सहज मे हो जाय। और अपने देश की जो पुरानी प्रथा है,

इतिहास-पुराणं च पंचमो वेद उच्यते,

वह सार्थक हो जाय। अच्छे ग्रन्थों का अनुवाद—यह सब से सहज उपाय अपना भाण्डार भरने का है। और इस मे कभी संकोच नहीं करना चाहिये। "चिराग़ से चिराग़ जलता है," यह नैसर्गिक विधि है। इस मे शर्म करने की कोई वजह नहीं है। 'मौलिक' 'अपूर्व' ('ओरिजिनल्') ग्रन्थों और आविष्कारों की प्रतीक्षा करते हुए, अनुवादों मे कमी करना ठीक नहीं। ऐसे अपूर्व आविष्कार, सब देश और सब काल मे, अन्तरात्मा की प्रेरणा से, विशेष विशेष व्यक्तियों द्वारा हुआ करते हैं, और प्रायः जंगलों मे, कुटियों मे, आश्रमो मे। रामायण, महाभारत, भागवत, 'ईलियड', 'ओडिसी', शेक्सपियर, मिल्टन आदि के काव्य, तथा बड़े-बड़े पश्चिमी वैज्ञानिक आविष्कार भी, किसी सार्वजनिक संस्था की प्रेरणा से अथवा उसके द्वारा नहीं हुए। स्टीफ़न्सन् के मन मे 'स्टीम अंजन' का रहस्य अपने आप ही उदय हुआ। सार्वजनिक संस्थाओं को, यथाशक्ति समाज की आवश्यकताओं का विचार कर के, इन को यथासंभव पूरी करने का यत्न करना चाहिये। यदि अनुवादोपयोगी उत्तर ग्रन्थ मिलें, तो अवश्य अनुवाद से हिन्दी साहित्यभाण्डार इस समय भरना चाहिये। पर अनुवाद शब्दानुवाद नहीं, आशयानुवाद, भावानुवाद, होना चाहिये। अनुवाद की भाषा ऐसी होनी चाहिये मानो स्वतंत्र लेख है, ऐसी नहीं कि पढ़ने वाले को जान पड़े कि भाषान्तर से अनुवाद है। और उस के आशय और भाव का संशोधन भी यथोचित कर लेना चाहिये। ऐसे अनुवादों के द्वारा विविध ज्ञान को पी कर के, और अपने मनोमय और विज्ञानमय कोष मे उस का जरण पाचन कर के, उस के बल से, पीछे, नये ज्ञान और अपूर्व ग्रंथों का आविष्कार आप ही किया जायगा। यूरोप की नई

सभ्यता के अभिमानी, ब्रिटिश, फ्रेंच, जर्मन आदि प्रभावशाली जातियों के विशाल साहित्यों मे, प्राचीन, ग्रीक, लेटिन, अरबी, संस्कृत, ग्रन्थों के अनुवाद, तथा एक दूसरे के उत्तमोत्तम विविध विषयक ग्रन्थों के अनुवाद, भरे पड़े हैं। चीनी और तिब्बती भाषाओं मे, बौद्ध भिक्षुओं के किये हुए, संस्कृत और पाली ग्रन्थों के अनुवाद बहुतेरे हैं। भारत मे विभिन्न-विभिन्न समयों मे आये हुए, अरबी, फ़ारसी, ग्रीक, पोर्चुगीज़, इटालियन, चीनी, फ़्रेंच, इंग्लिश, आदि यात्रियों के लिखे ग्रन्थों के अनुवाद किये बिना, भारतवर्ष के इतिहास का ज्ञान ही असम्भव है।

राजनीति

इस ज़माने मे राजनीति के विषय मे जो आन्दोलन हो रहा है, उस को सीधे रास्ते पर ले चलने के लिये परमावश्यक है कि प्राचीन राजधर्म के सिद्धान्तों और तत्त्वों का सच्चा ज्ञान देश मे फैलाया जाय। नहीं तो भारी हानि उठानी होगी। आजकाल, (अद्य काले,) छापाखानो से काग़ज़ों की और पुस्तकों की बारहो महीना जो अनवरत वर्षा होती रहती है, उस का फल, एक ओर अच्छा है, तो दूसरी ओर यह भी हो रहा है कि,

भूमि हरित तृण संकुल, सूझि परत नहि पंथ,
जिमि पाखंड विवाद तें लुप्त भये सद् ग्रन्थ।

इतिहास के ग्रन्थों के साथ-साथ इस राजधर्म के विषय के उत्तम ग्रन्थों का तैयार होना अति आवश्यक है, बल्कि उन से पहिले। मेरी समझ मे तो महाभारत के राजधर्म पर्व का यदि ठीक-ठीक अनुवाद किया जाय, और पाश्चात्य ग्रन्थों के ज्ञान की सहायता से उस पर टीका लिख दी जाय, और स्थान स्थान पर मनुस्मृति, शुक्रनीति, कौटलीय अर्थशास्त्र आदि से उस का उपबृंहण कर दिया जाय, तो हमारे सब काम के लायक़ ग्रन्थ तैयार हो जायँ। सच पूछिये तो आज पर्यन्त के सारे 'पोलिटिकल सायन्स' का सत्त और सार उस पर्व के एक अध्याय, यानी ६६ वें अध्याय, मे रख दिया है, और ऐसी रोचक कहानी के रूप मे कि बालक का भी मन उस मे लग जाय।

राजा और राज्य की उत्पत्ति।

युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा कि राजा क्या चीज है, कैसे इस की उत्पत्ति हुई, क्यों इस की इतनी 'जानता मानता' होती है। जैसे आँख

नाक कान हाथ पैर औरों के वैसे इस के, फिर इस की इतनी बड़ाई क्यों ? भीष्म ने कहा कि बहुत प्राचीन काल मे सब मनुष्य शुद्ध बुद्धि से रहते थे, सत्ययुग मे सब धर्मात्मा होते थे, उस समय मे "वर्णाश्रम-व्यवस्थाश्च न तदा आसन्न संकरः," (वायुपुराण), वर्ण और आश्रम के भेद नहीं थे, राजा प्रजा का भी भेद नहीं था। क्रमशः मनुष्यों मे काम, क्रोध, लोभ, बढ़े, अहंता ममता बढ़ी, 'यह मेरा, यह तेरा,' के भाव पैदा हुए, और पराया माल अपना करने की इच्छा होने लगी। तव बलवानो ने दुर्बलों को सताना शुरू किया। फिर क्या पूछना, बिचवई की जरूरत पड़ी।

अपनी आँख के सामने देखिये। घर मे बच्चे सुख से आपस मे खेलते हैं। एक खिलौने पर कलह होने लगता है, मार पीट रोना गाना शुरू हो जाता है। तब उन की दादी को बीच मे पड़ना पड़ता है। यही दशा प्राचीन काल मे बड़े परिमाण से, मनुष्य समाज को प्राप्त हुई। सब ने मिल कर आपस मे 'समय' अर्थात् 'शर्त' किया, क़ौल क़रार किया, कि जो कोई ऐसा ऐसा दुराचार करेगा, उस को हम सब मिल कर अपने समाज से निकाल देंगे। पर जो बलवान् थे वे उस क़ौल क़रार पर क़ायम नहीं रहे। "समये न अवतस्थिरे"। तब सब दुर्बल लोग 'ब्रह्मा' के पास गये, और उन से कहा कि "भगवन् ईश्वरं दिश," हम लोगों को आप ऐसा आदमी बताइये जो, 'ईशते इति ईश्वरः', दुष्ट बलवानों का निग्रह करे, दुर्बल सज्जनो का अनुग्रह करे, और वह समय, अर्थात् क़ौल क़रार क़ानून, जो सब ने आपस मे मिल कर तै किया और बनाया है, सब से मनवावे। 'ब्रह्मा' ने इशारा किया कि इस 'मनु' को अपना मुखिया बनाओ। सभों ने मनु को घेरा। मनु ने कहा कि मैं इस झंझट मे नहीं पड़ना चाहता, तुम लोग रोज आपस मे लड़ोगे, मैं कहाँ तक निपटारा क़ज़ियाव करूँगा। किसी तरह फुसला कर मनु को राजी किया। 'बड़ी सुन्दर कन्या से तुम्हारा व्याह कर देंगे, और तुम्हारे खाने पीने को हम लोग अपनी खेती मे से अन्न दे देंगे, तुम को अलग खेती मे समय और श्रम न लगाना होगा, और तुम को खूब अच्छे बलवान् शूर वीर शस्त्रधारी योद्धा भी देंगें, जो तुम्हारे साथ रह कर दुष्टों का दमन करेंगे'; इत्यादि। बस, तब से राजा और राज्य वा राष्ट्र की उत्पत्ति, 'ओरिजन आफ़ दि स्टेट', हुई। राज्य की उत्पत्ति तो हुई, पर नई-नई बलाओं की भी उत्पत्ति हुई; दिन-दिन, अधिकाधिक,

प्रजा पराधीन होती गई, राजा साहव, मंत्री साहव, मजिस्ट्रेट साहव, पुलिस साहव, और तरह-तरह के राजभृत्य साहव के चंगुल में फँसती गई। जिस पर भरोसा करो, वही धोखा देता है। "यमेव आत्मनोऽन्यत्र वेद, स एव एनं पराऽदात्" (बृ० उप०)। एक गुण तो एक दोष, एक दोष तो एक गुण; प्रकृति की द्वन्द्वमयता का न्याय ही है। पुलिस-राज्य से बचने का कोई उपाय है ? हाँ; प्रजा मे लोभ, राग-द्वेष, परस्पर कलह की वृद्धि से यह नौबत आई; तो लोभ, राग-द्वेष, कलह को कम करो; स्वाधीनता वापस आवेगी।

राष्ट्र सिद्धान्त।

यदि आप गौर से देखेंगे तो इस छोटी सी कहानी मे, राजोत्पत्ति के बारे मे, आजकाल पश्चिम मे जितनी राय जारी हैं, उन सब का उत्तम अंश मौजूद है, और अशुद्ध अंश छोड़ दिया है। प्लेटो, अरस्तातालीस, हाब्ज़, माँ टेस्कियो, रूसो आदि, तथा मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन आदि तक, के मतों का उत्तमांश सब इस मे मौजूद है।

'ब्रह्मा' का अर्थ।

पहिले 'ब्रह्मा' शब्द का अर्थ ठीक करना चाहिये। बच्चों को समझाने के लिये तो चार मुँह का एक बहुत बूढ़ा आदमी, जो सब का परदादा पितामह—यह ठीक है। पर बड़े खेद की बात है कि बच्चों के सिवा सयानो को भी आज काल के लोग हठात् यही अर्थ समझाते हैं, और न मानने पर, 'नास्तिक' 'अधर्मी' आदि शब्दों से उनकी निन्दा करते हैं। यद्यपि स्वयं महाभारत और पुराणो ही मे इस शब्द का ठीक अर्थ स्पष्ट शब्दों से कहा है, यथा,

हिरण्यगर्भो भगवान् एष बुद्धिर् इति स्मृतः,
महान् इति च योगेषु, विरिंचिर् इति चापि अजः,
महान्-आत्मा, मतिर् , विष्णुः, जिष्णुः, शंभुश्च, वीर्यवान् ,
बुद्धिः, प्रज्ञा, उपलब्धिश्च, तथा ख्यातिर् , धृतिः, स्मृतिः,
पर्यायवाचकैः शब्दैः महानात्मा विभाव्यते।
(म० भा० शांति अ० १८०; ३०८; ३१८; ३२७; ३५७; अनुगीता अ० २६)

मनो, महान् , मतिर् , ब्रह्मा, पूर् , बुद्धिः, ख्यातिर् , ईश्वरः
प्रज्ञा, चितिः, स्मृतिः, संवित् , त्रिपुरं, च उच्यते बुधैः।
(वायु० पु० अ० ४)

ब्रह्मा, विष्णु, शंभु इत्यादि यह सब महत्-तत्त्व, बुद्धि-तत्त्व, के ही नाम है, और यह तत्त्व, जनसमुदाय मे, सूत्रात्मा अंतरात्मा के रूप से व्याप्त है, और भीतर से प्रेरणा किया करता है। हिरण्यगर्भ, विरिंचि, अज, महानात्मा, महान् , मति, प्रज्ञा, उपलब्धि, ख्याति, घृति, स्मृति, मनः, पूः, ईश्वर, चिति, संवित् , त्रिपुर, इति प्रभृति सब इसी के पर्याय-वाचक शब्द हैं।

अपनी आँख के सामने देखिये। समाज मे जब कोई नई आवश्यकता उठती है, पुराना दस्तूर बदलने की, नया उपाय सोचने की, तब आप से आप लोग उस विषय की चर्चा करने लगते हैं, फिर एकत्र होते हैं, पंचायतें होती हैं। सभापति, मन्त्री, नायक पायक, चौधरी सरदार, मुखिया सलाहकार, आदि चुने जाते हैं, और नये रास्ते के बारे मे एक राय क़ायम की जाती है। जितने आंदोलन होते हैं, राजनीतिक अथवा अन्य, जैसे इसी 'हिंदी मन्दिर' और 'हिन्दी प्रचार' आदि के, वे सब इसी प्रकार से, समुद्र मे लहर के ऐसे, आपसे आप उठते हैं। जो समाज मे वृद्ध हों, ज्ञान मे प्रधान हों, सब के परम मान्य हों, उन्हीं को, इस 'ब्रह्मतत्त्व' का, 'बृहत्त्व' का, विशेष आविर्भावस्थान, 'ब्रह्मा', अथवा 'लोकमत' का उद्भवस्थान, आप कह सकते हैं। वैदिक 'यज्ञ' मे, ('सायंस'-युक्त, युक्ति-युक्त, सार्वजनिक सर्वोपकारी कार्य मे), सब से अधिक वृद्ध और ज्ञानवान् ऋत्विक् को, जो अन्य सब ऋत्विजों की तथा सब कृत्यों की देख रेख करै, 'ब्रह्मा' ही कहते हैं।

इस प्रकार से मानव इतिहास के आदि काल मे यह आंदोलन हुआ। सर्वसाधारण की समष्टि ने ही क़ानून बनाया, राजा ने नहीं, राजा उस समय था ही नहीं। पर जब उद्धत लोग, बल के मद से, क़ानून तोड़ने लगे, तो जनता की सूत्रात्मा ने एक राजा को सिर्फ़ इस काम के लिये मुक़र्रर किया कि वह जनता के बनाये क़ानून पर लोगों से अमल करावे, न यह कि नया मनमाना क़ानून बनावे।

और भी बहुत सी बातें, थोड़े-थोड़े सारगर्भ शब्दों मे इस पर्व मे कह दी हैं, जिस से राजा और प्रजा के परस्पर कर्तव्य सब ठीक-ठीक

मालूम हो जाते हैं। इन सब बातों का प्रतिपादन अच्छे, अच्छे नये ग्रंथों मे हिन्दी मे होना चाहिये। और ऐसे ग्रन्थ वे ही लोग उचित रूप से लिख सकते हैं, जिन्हों ने लोकमान्य तिलक जी के ऐसा, पूर्व के और पश्चिम दोनों के, शास्त्रों का हृदय पहिचान लिया हो, और वर्तमान मनुष्य जगत् की अवस्था को भी ठीक-ठीक जानते हों। केवल एक पक्ष की विद्या को जानने वाले और समय को न समझने वाले लोग वर्तमान भारतवर्ष के उपयोगी ग्रन्थ नहीं लिख सकेंगे, न कोई और कल्याण कर सकेंगे।

'वैदिक', 'ज्ञानमय', 'सायंटिफ़िक्' धर्म।

इसी राजधर्म के साथ साथ, जिस धर्म को आज काल 'हिन्दू' धर्म के नाम से कहते हैं, उस के सच्चे स्वरूप को दिखाने के लिये भी अच्छे ग्रंथों की आवश्यकता है। राजा का मुख्य धर्म-वर्ण-आश्रम-व्यवस्था की रक्षा करना, जिस से 'समाज का संग्रथन', 'सोशल आर्गेनाइज़ेशन', होता है। यह वर्ण और आश्रम धर्म ही हिन्दू धर्म का सार है। पर जैसी भ्रांतियाँ इस के विषय मे आज काल फैली हुई हैं, और जैसी इस की दुर्दशा हो रही है, जिन के कारण हिंदू समाज दिन दिन अधिकाधिक क्षीण, दुर्बल, और अस्तव्यस्त होता जाता है, वह प्रत्यक्ष है। अच्छे ग्रंथों के द्वारा प्राचीन स्मृतियों की सच्ची और समयोपयोगी व्याख्या कर के, इस सब ह्रास को रोकना बहुत जरूरी है। वैदिक काल मे 'व्रात्यस्तोम' आदि विधियों से नये 'व्रात', नई जातियां, आर्यसमुदाय की वर्णव्यवस्था मे मिला ली जाती थीं। अब ऐसी दुर्बुद्धि और मिथ्या व्याख्या बढ़ी हैं, और अर्थ के स्थान मे अनर्थ फैला है, कि दूसरों को अपने संग लेना तो दूर गया, अपनो को निकाल कर हम लोग अलग फेंक रहे हैं। व्रात्यस्तोम का आज काल यह अर्थ किया जाता है कि जो लोग किसी समय वर्णव्यवस्था मे थे पर संस्कार के लोप से पतित हुए, उन का फिर से संस्कार कर के उन का उद्धार करना। खैर, यह संकुचित अर्थ भी यदि बर्ता जाय तो भी ग़नीमत है। पर यह भी नहीं होता। पुराना असल अर्थ तो बहुत उदार था—"व्रातैः व्रजंति, व्रातेन वर्त्तते, व्रतम् अर्हति शालीनतायै, इति व्रात्याः"। जो झुण्ड के झुण्ड चलते हों, जिन के घर द्वार न हों, जो रोज़ की मिहनत मज़दूरी से, अथवा शिकार वग़ैरः से, जीते हों, जिन के निज की स्थायी संपत्ति कुछ न हो, और जो व्रतादिक करा के शालीन

बनाये जा सकते हों, वे 'व्रात्य' कहलाते थे। इन के विपरीत, "शालिभिः कृष्युत्पादितैः जीवंति, शालासु वसंति, सदाचारैः शालंते, इति शालीनाः", खेती से पैदा किये शालि धान्यादि से जीवन निर्वाह करें, शालाओं, मकानो, नगर आदि मे, रहें, सदाचार शिष्टाचार बर्त्तें, वे शालीन; अंग्रेज़ी के इतिहासवेत्ता एक को 'नोमाड्', दूसरों को 'सेट्ल्ड', 'सिविलाइज़्ड', नाम से कहते हैं।

व्रात्य और शालीन।

व्रात्यों को शालीन बना लेने की विधियों को व्रात्यस्तोम कहते हैं। शक आदि बहुत सी जातियां इसी प्रकार से पूर्वकाल मे अपने अपने व्यवसाय और कर्म के अनुरूप, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्णों मे मिला कर, आर्य बना ली गयी थीं। बिना संस्कार के, बिना उचित आचार की प्रतिज्ञा किये, जिस का जैसा जो चाहे वैसा अपना वर्ण बताने लगे, तो उस से अवश्य समाज संग्रंथन मे हानि पहुँचेगी, और कर्म-विभाग, वृत्ति-विभाग, और शुल्क-विभाग, अर्थात् 'डिवीज़न आफ़ लेबर', आदि मे संकर पैदा होगा, इस वास्ते जांच रखना ज़रूरी है। पर बिना जांच किये, और बिना विधिपूर्वक संस्कार किये, वर्ण मे शामिल न करना, यह एक बात है; और झूठे थोथे बहाने निकाल कर, अपनी पवित्रम्मन्यता के अहंकार के कारण, या लोभ के वश से, जाति से निकाल देना, या जाति के भीतर किसी विधि से भी न आने देना, या फिर से न आने देना, यह दूसरी बात है।

इस मिथ्या और महाहानिकारक भाव को भी, नये ग्रन्थों के बल से शुद्ध ज्ञान के पुनः प्रचार से, दूर करना आवश्यक है, क्योंकि बिना ऐसा किये, हमारा समाज ही क्षीण होता जाता है, और क्षयरोग से मर जायगा।

विज्ञान।

ऐसे ग्रन्थों के बाद 'सायंस' का विषय विचारणीय है। इस सायंस, विज्ञान, अथवा अधिभूतशास्त्र का विषय तो हिन्दी मे अभी तक प्रायः छूवा ही नहीं गया। अर्थशास्त्र, उद्योगशास्त्र, संपत्तिशास्त्र, तथा राष्ट्रशास्त्र, शासनपद्धति, राजनीतिशास्त्र आदि के नाम से 'ईकानोमिक्स'

और 'पॉलिटिक्स', के ग्रन्थ तो कुछ लिख गये हैं। अधिभूतशास्त्र पर 'फ़िज़िक्स', 'कमिस्ट्री', 'फ़िसियालोजी', 'बॉटनी', आदि पर, ग्रन्थ अभी नहीं देख पड़ते। एक ग्रन्थ 'फ़िसियालोजी' पर हिन्दी मे छपा है। स्वयं तो मै नहीं पढ़ पाया, पर दूसरों से सुना कि अच्छा है। इन सब विषयों पर ग्रन्थों की बहुत आवश्यकता है। यों भी आवश्यकता थी, और अब विशेष कर के राष्ट्रीय विद्यापीठों के विद्यार्थियों के लिये हो रही है।*

राष्ट्रीय शिक्षा-समिति

काशी मे, २३ फरवरी से ६ मार्च, १९२३ ई०, तक, अट्ठाईस अध्यापक, भारतवर्ष के विविध प्रांतों के, श्री शिवप्रसाद गुप्त जी के घर पर, उन के स्थापित काशी-विद्यापीठ के कार्यकर्त्ताओं के प्रबन्ध से, एकत्र होकर, स्वदेशी शिक्षा, 'नैशनल एड्युकेशन', के सब अङ्गों पर विचार करते रहे। बहुत विचार कर के, प्रायः सर्वसम्मति से, कई गुर्वर्थ बातों पर निश्चय किया गया। उन लोगों ने एक 'टेक्स्ट-बुक कमेटी' भी बनाई है। उस का यह कर्तव्य रक्खा गया कि जो जो पुस्तकें इस समय भारतवर्ष की विविध भाषाओं मे ऐसी मिलती हैं जो विद्यालयों की पढ़ाई की उपयोगी हैं, उन की फ़िहरिस्त तैयार करे, तथा नई पुस्तकों के लिखवाने का प्रबन्ध करे। कैसे प्रबन्ध करे इस के कुछ प्रकारों की सूचना कर दी है।

मुझे आशा है कि कमेटी इस राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर, तथा देश की ऐसी अन्य संस्थाओं, से लिखा पढ़ी करेगी। और यह तै कर सकेगी कि किस विषय की पुस्तक कहाँ तैयार कराई जाय, और किस भाषा से भारतवर्ष की अन्य भाषाओं मे सहज मे अनुवाद हो जायगा।‡

यह सुन कर आप लोग प्रसन्न होंगे कि इन सब प्रतिनिधियों ने—

* इधर बीस पचीस वर्षों मे, भारत के विश्वविद्यालयों ने इस ओर अधिक ध्यान दिया है, और कई ने, विशेष कर उस्मानिया युनिवर्सिटी ने, तथा स्वतंत्र संस्थाओं और विद्वान् व्यक्तियों ने, पाश्चात्य विज्ञान के विविध विषयों पर कई अच्छे ग्रन्थ हिन्दी उर्दू में निकाले हैं। (१९४४)

‡ इसके बाद, सारे देश पर, अतः काशीविद्यापीठ और उसके कार्यकर्त्ताओं पर, एक के पीछे एक, राजनीतिक आंदोलन के सम्बन्ध मे ऐसी आँधियां आती रहीं कि यह सब आशाएँ हृदय मे ही रह गईं। (१९४४)

जो महाराष्ट्र, गुजरात, सिंध, पंजाब, संयुक्तप्रान्त, बिहार, उड़ीसा, बंगाल, आसाम, और आंध्र देशों से आये थे—सब ने एक मत से यह स्थिर कर लिया, कि सब प्रान्तों मे, जहां की मातृ-भाषा हिंदी अथवा हिन्दुस्थानी नहीं है, वहां द्वितीय भाषा, 'सेकण्ड लाँगवेज', की हैसियत से, विद्यार्थियों को हिन्दी अवश्य पढ़ाई जाय, जिस मे सर्वभारतीय भाषा, 'लिंग्वा इण्डिका', का वह काम दे। यह सब लक्षण अच्छे हैं। चारो ओर देश मे भिन्न भिन्न रूप से भिन्न भिन्न कार्य हो रहे हैं। पर अंतरात्मा 'ब्रह्मा' की प्रेरणा से सब का लक्ष्य एक ही हैं, सब एक ही ओर चल रहे हैं।

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

स्वदेशोद्धार, और भारतवासियों के जीवन के सब विभागों मे सच्ची आत्मवशता, सच्चे स्वराज्य, का पुनः स्थापन हो, यही एक लक्ष्य सब का है। भगवान् मनु ने आदि काल मे ही कह दिया हैं,

सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम्।

पर यह सदा याद रखने की बात है कि सची आत्मवशता, सच्चा स्वराज्य, बिना 'आत्मा' को ठीक पहिचाने और 'स्व' का अर्थ ठीक जाने नही हो सकता है। प्रत्युत, आपस मे घोर ईर्ष्या मत्सर विवाद और कलह के खड़े हो जाने का महाभय है।

आधिभौतिक शास्त्रों, 'फिज़िकल' या 'नेचुरल सायंसों', के विषय मे हमारा पहिला उपाय, पच्छिम के ग्रन्थों के आशयानुवाद के सिवा दूसरा नहीं है। पर यह अनुवाद बुद्धिमत्ता से करना होगा। 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' न्याय से नहीं। जैसे 'बॉटनी' के ग्रन्थ मे हम को उन पेड़ पौधों के उदाहरण देने होंगे जो इस देश में मिलते हों, विलायत के नहीं कि जो यहां देखने मे नहीं आते। लोग पूछ बैठा करते हैं कि 'शिक्षा स्वदेशी' कैसी, ज्ञान मे देश और राष्ट्र और जाति का भेद कैसा? इसी उदाहरण से उन का उत्तर हो जाता है। तथा भूगोल पढ़ने मे हम हिमालय के उच्चतम शिखर का नाम गौरीशंकर सिखावेंगे, 'माउन्ट एवरस्ट' नहीं, अपनी पवित्रतम नदी का नाम, 'गंगा' सिखावेंगे, 'गेंजीज़', नहीं!

मोक्षशास्त्र।

मोक्षशास्त्र, अध्यात्म-विद्या, के विषय मे संस्कृत ग्रन्थ पर्याप्त हैं, और हिन्दी मे अनुवाद बहुत हैं, और कुछ ग्रन्थ बहुत अच्छे भी है; तथापि

पाश्चात्य शास्त्रों से नये उदाहरण, नये भाव, नये तर्क प्रतितर्क, नये दृष्टि-कोण, नये प्रस्थान-भेद, ले कर, उन्हीं प्राचीन तत्त्वों को अधिक विशद और नये प्रकारों से समर्थन करने वाले नये ग्रन्थों की भी आवश्यकता है।

इन सब कार्यों को यदि यहां का हिन्दी मन्दिर, तथा अन्य पुस्तक-प्रकाशक संस्थाएँ, एक दूसरे के साथ लिखा पढ़ी कर के, आपस मे बाँट लें, तो काम बहुत सरल और शीघ्र ही संपन्न हो जाय। "संघे शक्तिः कलौ युगे"।

इस समय का जो मेरा वक्तव्य था वह तो मै समाप्त कर चुका; काव्य-साहित्य के नौ रसों के विषय मे कुछ कहने को मेरे मन मे था, यदि बन पड़ा तो कल कहूंगा।

[द्वितीय दिवस, ता० ९ अप्रैल, १९२३ का व्याख्यान]

सज्जनो ! आप लोगों ने प्रवीण वक्ताओं के अच्छे अच्छे व्याख्यान सुने, उत्सव का कार्य समाप्तप्राय है, कोई विशेष बात 'मेरे ध्यान मे नहीं आती जिस को सुना कर आप को अधिक प्रसन्न कर सकूँ। पर कल मै ने कहा था कि यदि हो सका तो "साहित्य" शब्द का जो विशेष अर्थ आज काल हो रहा है, रसात्मक काव्यादि, उस के विषय मे कुछ कहूँगा।

इस प्रसंग मे भारतभारती का शिरोमणि-भूत नवरसमय तथा सर्व-आध्यात्मिक-ज्ञानमय, जो एक ग्रन्थ है, उस की चर्चा करना चाहता हूँ, अर्थात् 'भागवत'-पुराण की।

कल मै ने आप के सामने सूचनारूप से कहा कि किन किन विषयों पर हिन्दी मे ग्रन्थ लिखने की तत्काल विशेष आवश्यकता है। आज एक वक्ता ने आप से कहा है कि केवल अभावों की गिनती गिनना ठीक नहीं, प्रायः साहित्य सम्मेलनो मे आज तेरह वर्ष से ऐसी गिनती ही गिनी जाती है, संस्थाओं को चाहिये जैसे हो तैसे लेखकों को मजबूर करें कि वे इन अभावों को पहिले पूरा कर के, तब दूसरे लेख लिखें ! तौ भी मै आज पुनर्वार एक और अभाव की चर्चा करूँगा। सम्मेलनो मे ऐसे अभावों की चर्चा से बहुत काम हो रहा है। इन तेरह वर्षों मे सैकड़ों ग्रन्थ लिखे और छापे गये हैं, जो अंशतः उन अभावों की पूर्ति का यत्न करते ही हैं। मानस, तब वाचिक, तब कायिक, यही कार्य का क्रम है। चर्चा होना अत्यावश्यक है। बीच बीच मे, ऐसे सम्मेलनो मे, साहित्य के विषय मे, देश

की अवस्था की जांच परताल हो जाने से ही, संस्थाएँ, अथवा व्यक्ति रूप से लेखक, तदनुसार यत्न करेंगे। और आप ने कार्य-विवरण मे ही सुना है कि किस किस विषय के कितने ग्रन्थ इस संस्था ने लिखवा कर प्रकाश किये हैं। राष्ट्रीय शिक्षा-समिति की पुस्तक-निर्माणोपसमिति के द्वारा विशेष प्रयत्न होने वाला है, उस की भी चर्चा मैं ने कल की है। इस लिये मैं आज फिर भी एक भारी अभाव की चर्चा करूँगा। कल मैं ने यह भी कहा था कि 'साहित्य' शब्द का अर्थ अब तक प्रायः काव्य-साहित्य समझा जाता है। ऐसा होते भी, बड़े आश्चर्य और खेद की बात है कि ऐसे अत्युत्तम काव्य 'भागवत' के अनुरूप अनुवाद का यत्न अब तक नहीं हुआ, जिस मे नवरस, अथवा जो लोग भक्ति और वात्सल्य को अलग मानते हैं उन के लिए एकादश रस भरे हैं, और इस के सिवा विविध प्रकार के ज्ञान और उपदेश भी भरे हैं।

हाँ, सूरदास जी ने ज़ोर लगाया, और सूरसागर लिखा; डिंडिम भी बड़ा है कि सवा लाख पद्य कहे। पर इन मे से सवा हजार पद भी बर्त्ताव मे नहीं हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के फुफेरे भाई श्री राधाकृष्ण दास जी ने बहुत परिश्रम और कठिनता से कोई पांच हज़ार पद एकत्र कर के छपवाया है। जो मिले हैं वे अवश्य रत्नभूत हैं, पर उन मे भी दस मे से नौ हिस्सा मूल ग्रन्थ के दशम स्कन्ध के ही विषय पर हैं, और तत्रादि रासपंचाध्यायी के, और तत्रापि मधुकर-गीत के।

पर भागवत तो मधुकर-गीत मात्र नहीं है, न रासपंचाध्यायी मात्र, न दशम स्कन्ध मात्र। भागवत तो बारह स्कन्धों का बड़ा ग्रन्थ है। और उस मे जीवात्मा के परमात्मा से बंधन, और संसार से मोक्षण, का एक ही प्रकार, अर्थात् गोपियों का प्रकार ही, नहीं, किन्तु और दूसरे प्रकार भी, जिन मे से कोई कोई इस प्रकार से अच्छे हैं, बताये हैं। नारद ने युधिष्ठिर से कहा है,

> गोप्यः कामाद्, भयात् कंसः, क्रोधात् चैद्यादयो नृपाः,
> संबधाद् वृष्णयो, यूयं सख्याद्, भक्त्या वयं, विभो!

जीव के बंधन की रस्सियां काम क्रोधादि ही हैं, दूसरी नहीं। इन के द्वारा जीव को सांसारिक पदार्थ से जब बांधै तब तो बंध होता है। जब परमात्मा से बांधै तब बंधन के स्थान मे मोक्षण होता है। गोपीजन ने काम के बंधन से, कंस ने भय के, शिशुपाल आदि ने क्रोध के, वृष्णियों ने

बंधुता के, पांडवों ने सख्य के, नारदादि ने भक्ति के, वंधन से, अपने जीव को कृष्ण द्वारा परमात्मा से वांधा।

हमारे देश और हमारी जाति को भारी आवश्यकता हो रही है, कि वीर भावों से, सख्य भावों से, भक्ति भावों से, परमात्मा के साथ अपने जीव को वांधै, केवल काम और विरह के भावों से नहीं। "अति सर्वत्र वर्जयेत्"। यद्यपि ये भाव बड़े सुन्दर हैं, पर अमृत से भी अति तृप्ति हो कर रोग पैदा हो सकता है। श्री हर्ष ने नैषध काव्य मे ठीक कहा है, 'अमृत पीनेवाले देवताओं के पति महादेव ने, जब अमृत पीते पीते ऊब गये, तो मनफेर के वास्ते, हालाहल विष पी लिया'।

सततं अमृताद् एवाऽहाराद् यद्आपद् अरोचकं,
तद्अमृतभुजां भर्ता शंभुर्विषं बुभुजे विभुः।

पच्छिम के भी और पूर्व के भी वैद्यक शास्त्र मे सिद्ध है कि बहुत सुस्वाद ही सुस्वाद, बहुत मधुर ही मधुर, बहुत सुगन्ध ही सुगन्ध, वस्तुओं का सेवन करने से 'नर्वस सिस्टम्', अर्थात् मस्तिष्क, मेरुदंड, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि क्रियावाहिनी, ज्ञानवाहिनी, और इच्छाधारिणी नाड़ियों का व्यूह, जिस को फ़ारसी 'तिब्ब' मे दिमाग़ कहते हैं, कमजोर हो जाता है। त्रिकटु और त्रिकषाय का भी सेवन साथ साथ करते रहना स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है। भोजन चतुर्विध और षड्रस उचित कहा है, एक-विध और एकरस हो नहीं। पर व्यायाम का क्लेश और तरह तरह का परिश्रम भी सहते और करते रहना चाहिये। क्षयरोगी के मुख पर भी एक अवस्था मे सुन्दरता आ जाती है; और सौंदर्य के अति सेवन से क्षयरोग उत्पन्न होता है, यह भी प्रसिद्ध है। कालिदास ने रघुवंश के अन्तिम सर्ग मे इस को दिखाया है।

अग्निवर्ण राजा की दशा, क्षयरोग मे, कामियों के अभिसार की सी दशा थी। मुख श्वेत अथवा पीला, भूषण हलके, दूसरों के सहारे से चलना, बोली धीमी, इत्यादि।

तस्य पांडुवदनाऽल्पभूषणा सावलंबगमना मृदुस्वना,
राजयक्ष्मपरिहानिर्आययौ कामयानसमवस्थया तुलाम्।

ऐसे हेतुओं से, मेरी बहुत वर्षों से उत्कट इच्छा है कि भागवत का आद्योपांत सरस पद्यमय हिन्दी मे अनुवाद होता, जैसा तुलसीदास जी ने

रामायण का कर दिया है। रामायण से, मर्यादापुरुष का सर्वांगीण चित्र, हम लोगों की आंखों के सामने आ जाता है। उत्तम पुत्र, उत्तम पति, उत्तम भ्राता, उत्तम प्रजापालक, उत्तम मित्र, उत्तम शत्रु, उत्तम वीर, उत्तम स्वामी, उत्तम पिता, इन सब भावों का एकत्रीभूत चित्र, वाल्मीकि जी ने रामायण मे खींचा है। *मधुकर-गीत से, अतिमानुष परम पुरुष का एक ही रूप देख पड़ता है, गोपीजन के आत्यन्तिक प्रेम और विरह के भावों का भाजन। इतने से हमारा काम नहीं चलता, प्रत्युत हानि हो रही है। हम को तो उन के सभी रूप चाहिये। यह ठीक है कि कृष्णावतार, मर्यादावतार नहीं माना जाता है; क्यों कि इस के चरित्र अतिमानुष हैं; साधारण जन के अनुकरणीय और निदर्शनरूप नहीं हैं। इसी लिये स्वयं भागवत मे कहा है, 'ईश्वराणां वचः सत्यं, तथैवाऽचरितं क्वचित्', ईश्वरों के उपदेश सब सच्चे और मानने योग्य होते हैं, पर उन के आचरण कोई ही अनुकरणीय होते हैं, सब ही नहीं। पर द्वापर और कलि मे धर्म कर्म के संकर, और द्वापर अर्थात् संशय, और जीवों मे परस्पर कलि अर्थात् कलह, होते हैं; उन के समझने के लिये, और उन की ग्रन्थियां सुलझाने के लिये, आवश्यक है कि इस अवतार का संपूर्ण चरित, जो द्वापर और कलि की संधि मे हुआ, अच्छी तरह से जाना और समझा जाय। तभी 'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि (ष्यति) मा शुचः' का अर्थ ठीक मन मे बैठेगा। अर्थात् 'अहम् अहम्', 'मै मै', इस चेतन रूप से जो परमात्मा सब प्राणियों मे व्याप्त है, वह अवश्य मोक्ष दे सकता है, क्योंकि

---

* तुलसीदास जी ने, वाल्मीकि के आशय को, बहुत मधुर हिन्दी पद्यों मे रखने का यत्न किया है; पर इन के नवीन चित्रण मे, उत्तम मनुष्यत्व का अनुकरणीय अंश कम, और अत्युत्तम 'उत्तमातीत परमेश्वरत्व का अननुकरणीय अंश बहुत अधिक हो गया है। ऐतिहासिक और आध्यात्मिक कारण यह कि, शासक शक्ति और दौर्जन्य शक्ति द्वारा अतिपीड़ित प्रजा को, सिवा परमेश्वर से पुकार करने के, और कोई उपाय सूझ नहीं पड़ता था; उसी पुकार को संत कवियों ने भजनों का, और तुलसी रामायण का, रूप दे दिया; 'मैं पतित, तुम पावन', मैं दलित तुम उद्धारक'। शिवा जी के समय से, प्रजा का भी भाव और दशा, तथा कविता का भी रूप, कुछ बदला; किन्तु, अनन्त परस्पर कलह और धर्माभासों के मूढ़ग्राहों के अनन्त प्रसार से, पुनः पुनः बिगड़ता ही रहा।

इस 'अहम्' की व्यापकता को पहिचानना, उस की परमात्मता को जानना, ही तो जन्म मरण के भय और शोक मोह आदि सब 'पापों' से मोक्ष पाना, और अजर अमर हो जाना, है।

सम्पूर्ण भागवत का अनुवाद

ऐसे हेतुओं से, मुझे बड़ा आश्चर्य और खेद है कि भारतवर्ष के हिन्दी कवियों ने भागवत के सर्वजनीन अनुवाद की ओर ध्यान नहीं दिया। अच्छे अच्छे, कवित्व शक्ति से सम्पन्न, कवि, हिन्दी भाषा के हो गये हैं, और हो रहे हैं। और देखते भी हैं कि तुलसीदास जी की रामायण क्या काम कर रही है, और तीन सौ वर्ष से कैसा भक्ति और ज्ञान का दीपक, भारतवर्ष के गांव गांव मे, पराधीनता के अंधकार मे, बाले हुए है। यह भी देखते हैं कि सूरदास जी के सूरसागर की कैसी छिन्नभिन्न अवस्था हो रही है। पर किसी ने इस ओर जतन नहीं किया कि हिन्दी मे रामायण के ऐसी 'भागवत' भी तयार हो जाय, और उस अँधियारे को दूर करने मे सहायता दे। रीवा के एक भूतपूर्व महाराज ने हिन्दी मे पद्यमय अनुवाद छपवाया, पर वह किसी कमी के कारण जनता का हृदयग्राही और प्रचलित नहीं हुआ।

मै ने कई जान पहिचानो से, जो कवित्वशक्ति रखते हैं और कविता करते हैं, प्रार्थना की, कि आप लोग छोटे छोटे दो दो चार-चार पद, अथवा छोटे काव्य नाटक ही, रचने मे अपनी शक्ति का व्यय न कर के, यह बड़ा काम उठाइये। और यदि एक को बहुत भार जान पड़े तो यहां भी 'संघे शक्तिः कलौ युगे' के न्याय से काम लीजिये, और एक एक स्कंध अथवा दस दस पांच पांच अध्याय, अपनी अपनी रुचि के अनुसार, बांट कर, और भक्ति के द्वारा भगवद्भाव का अपने मन मे आवाहन कर के, यह काम कर डालिये।

पर किसी ने इस ओर अब तक रुचि नहीं की।

भागवत का जो संपूर्ण रूप है उसी से उस की भी महिमा और कृष्णावतार की भी महिमा जानी जा सकती है। एक ही अंश से नहीं। व्यास जी ने एक वेद के चार विभाग कर के, उन का पुनः संस्करण कर के, चार वेद बनाये, महाभारत लिखा, पुराण बनाये, ब्रह्मसूत्र लिखें। तो

भी उन को संतोष नहीं हुआ। नारद जी ने उन को उपदेश दिया, 'आप ने ज्ञान और कर्म का ही अधिकतर वर्णन किया है, भक्ति के साथ मिला कर कहिये, तब संतोष होगा'।

यथा धर्मादयश्चार्थाः, मुनिवर्य !, अनुकीर्त्तिताः,
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः।
न, यद् वचश्चित्रपदं, हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्,
तद्वायसं तीर्थं उशंति, मानसाः न यत्र हंसाः निरमंति उशिक्क्षयाः।
तद्वाग्विसर्गो जनताऽघविप्लवो, यस्मिन्प्रतिश्लोकं अबद्धवत्यपि,
नामानि अनंतस्य यशोंऽकितानि, यच्छृण्वंति गायंति गृणंति साधवः।
नैष्कर्म्यं अप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानं अलं निरंजनं,
कुतः पुनः, शश्वद् अभद्रं, ईश्वरे न चार्पितं कर्म, यदप्यकारणं।
अथो, महाभाग !, भवान् अमोघदृक्, शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः,
उरुक्रमस्य, अखिलबंधमुक्तये, समाधिनाऽनुस्मर तद्विचेष्टितं।
ज्ञानरूप जस आपु कह्यो है, भक्तिरूप तस नाहिं कह्यो;
याहीं तें भगवान आतमा, मन मे नहिं संतोष गह्यो;
इच्छा-ज्ञान-क्रिया तीनो ही, चित मे बसैं सदाहीं;
इन तीनो की शरण लिये बिनु, चित प्रसाद नहि पाहीं;
भक्ति भाव भरि, ज्ञान-कर्म कौ मारग एक बनावौ,
करि उपासना, परमातम के महिमा कौ यश गावौ;
वर्णाश्रम धर्मादिक विषयन, जेहि विधि तुम दिखरायौ,
वासुदेव की महिमा, तेहि विधि तुम अजहूँ नहिं गायौ,
याही सों अकुलावन तें चित तुम्हरो शान्ति न पायौ।
अति विचित्र पद की हू कविता, हरि यश जौ न सुनावै,
जासौं जग पवित्र होवै, तौ कागन ही को भावै,
विविध प्रकार हु अन्न जहाँ है फेंक्यो, जूठन, बासी,
मानस हंस तहां नहिं रमते निर्मल नीर निवासी।
बिनु सुघराई के हू वे ही वचन सुनन कौ प्यारे,
जिन के आगे पाप जगत के सब ही भाजत हारे;
परमातम अनंत के नाम रु यश तें पद पद आँके,
सुनत कहत अरु गावत संतत संत गुणन कौ जाके।
राग गये पर, ज्ञान भये पर, 'काम्य' कर्म गिरि जाते,

अरु 'निष्काम' कर्म, 'निष्कर्मक', क्रम-क्रम तें अधिकाते;
अस 'नैष्कर्म्य' ज्ञान निर्मल अति, जामे नेकु न लेशा
'अंजन' कौ, (जेहि देह-अहंकृति-मल-'अंजन' उपदेशा),
सोऊ बिनु अच्युत-परमातम-रस के नाही सोहै;
बात कहा उन कर्मन की कहिये जिन कामी जोहै।
हे बड़भागी! बुद्धि तुम्हारी, सब रहसन कौं देखि सकै;
यश पवित्र, जिह्वा साँची, तन मन व्रत धारत नाहिं थकै;
सो तुम सब के, सब बंधन के, मोचन हेतु, विचारौ,
करि समाधि, गोविन्द चरित्रन, अति विचित्र उर धारौ,
अरु तिन की चर्चा सब देशन मे, पावनी, प्रसारौ।

तब व्यास जी ने भागवत रचा और पुत्र शुक को सिखाया।

स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनां
अवेक्षते, महाभागः, तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमं।

शुक की कथा कहा कहियै!
अचरज़ प्रीति हरष परमादर सानि मनहि मन रहियै!
वह पुरान बालक घरवारन के घर उतनिहि बेरि सहै,
जब लौं गौ को दूध दुहानो अँगुरिन नाहिं गहै,
उन गेहन कौ भाग्य बढ़ावत, तीर्थ बनावत, फिरत रहै।

शुक ने परीक्षित को सुनाया, जिस के रस से उन को अनशन व्रत का भी दुःख जान ही न पड़ा।

नैषाऽतिदुःसहा क्षुन् मां त्यक्तोदमपि बाधते,
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजाच् च्युतं हरिकथाऽमृतं।

शुक सों कहत परीक्षित राजा, अनशन बरत धरे—
तन झुरात दुःस्सह पियास मोहिं जानिहु नाहिं परै,
जब लौं बदन कमल तें तुम्हरे हरि गुन रस निसरै,
तौन अमृत कौ मन मेरो अति लोलुप पान करै,
स्थूल देह की सुधि बिसारि सब, सूक्ष्म प्रान भरै।

इस कथा के ही कारण, राजा परीक्षित ने ऋषिपुत्र के शाप को ईश्वर का बड़ा अनुग्रह माना। नारद ने भी व्यास से अपने पूर्वजन्म की कथा कहते हुए यही कहा था, कि हानि को लाभ समझना चाहिये। बाल्यावस्था मे उन की माता का देहान्त हो गया।

एकदा निर्गतां गेहाद्, दुहन्तीं निशि गां, पथि,
सर्पोऽदशत् पदा स्पृष्टः, कृपणां, कालचोदितः ।

तदा तद् अहं ईशस्य, भक्तानां शम्अभीप्सतः,
अनुग्रहं मन्यमानः, प्रातिष्ठं दिशमुत्तरां ।
आर्त्तो, जिज्ञासुर्, अर्थार्थी, ज्ञानी च, भरतर्षभ !
चतुर्विधाः भजन्ते मां जनाः सुकृतिनो, ऽर्जुन !
यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य सर्वं हराम्यहम् ।

इक दिन माता गायन दूहन घर तें बाहर जो निकसी,
अँधियारे पथ चलत छुवानी साँपिन वाके पायँ डँसी,
माता कृपन ईश काल वश परलोकन मे जाइ बसी ।
ईश आतमा अन्तर्यामी कहत पुकारि पुकारी,
जा को चहौं अनुग्रह वा की छीनौ संपद सारी,
संपद खोइ, होइ आरत अति, परम अर्थ अर्थावै,
जिज्ञासा करि, ज्ञान पाइ, तव सब जग मे मोहि भावै,
माटी कांचन खोइ, रोइ, मोहि धन अनंत कौ पावै ।
सो मै सीस नवाइ सह्यौ अति बिपता मातु वियोगा,
भक्तन पर यह ईश अनुग्रह, अस समुझ्यौं दुखभोगा ।

ऐसा समझ कर, पूर्वजन्म मे, बालक नारद घर छोड़ जंगलों की ओर चल पड़े ।

स्फीतान् जनपदांस्तत्र, पुरग्रामव्रजऽाकरान्,
खेटखर्वटवाटीश्च, वनानि उपवनानि च,
चित्रधातुविचित्राद्रीन्, इभभग्नभुजद्रुमान्,
जलाशयान् शिवजलान्, नलिनीः सुरसेविताः,
चित्रस्वनैः पत्ररथैः विभ्रमद्भ्रमरश्रियः,
नलवेणुशरस्तम्बकुशकीचकगह्वरम्,
एक एव अतियातोऽहं अद्राक्षं विपिनं महत्,
घोरं प्रतिभयऽाकारं व्यालोलूकशिवाऽजिरम् ।
परिश्रान्तेन्द्रियऽात्माऽहं तृट्परीतो बुभुक्षितः,
स्नात्वा पीत्वा ह्रदे नद्याः, उपस्पृष्टो गतक्लमः,
आत्मानमात्मनाऽात्मस्थं यथाश्रुतमचिन्तयम् ।

फिरि मै चल्यौ दिशा उत्तर कौं, देखत विस्तृत देशन,
पुर अरु ग्राम रु ब्रज अहिराने, वाटी वन अरु उपवन,
अरु धातुन की खान विविध विध, झरना भरी तराई,
विविध धातु रँग रँगे पहारन, अरु जंगल हरियाई,
पेड़ गिरावत बड़े दँतारे गज, अरु निर्मल नीरा,
ताल, जहां विकसी नलिनी, जिन सेवत देवशरीरा,
अति मीठे स्वन बहुविध पच्छी कूजत, गूँजत भौंरा,
नरकट सरई बांस कांस अरु बांसिन के जहँ झौंरा,
व्याघ्र सर्प फुफकार गरज जहँ हृदय कँपावत घोरा,
इत श्रृगाल अरु घूकहु रोवत, उत नाचत बहु मोरा,
अरु झिल्ली झंकार चहूँ दिसि सतत मचावत सोरा।
यह सब देखत सुनत चलत जब इन्द्रिय तन मन थाके,
फल कछु खाइ, पाइ सलिलहु कछु, ध्यान कियौ मै वाके,
मुनि जन ते मै सुन्यो रह्यो बहु अनँत नाम गुन जा के।

ऐसे प्रदेशों को देखते, बालक, भगवान् की कृपा से ही भगवान् को खोजता हुआ, उत्तरा खंड मे जा पहुंचा, और वहां समाधि मे उस ने अपने अभीष्ट का दर्शन पाया, जिस से बढ़ के और कोई लाभ नहीं है।

यह भागवत धर्म की महिमा भागवत ग्रन्थ मे कही है। और दूसरे देश मे भी उत्तम जीवों ने इस सिद्धान्त को पहिचाना है। शेख सादी ने भी कहा है।

न गुम् शुद् कि रूयश् ज़ि दुनिया बिताफ़त,
कि गुम् गश्तए ख़्वेश रा बाज़ याफ़्त,

जिस ने दुनिया को खोया, उस ने अपने को पाया।

भागवत को प्रायः लोग कृष्ण की भक्ति ही के मार्ग का ग्रन्थ समझते हैं, पर उस की स्वयं प्रतिज्ञा अद्वैतवाद की है। हाँ, अति सुन्दर भक्ति के भावों और शब्दों मे उस ने ज्ञान को सान दिया है। इसी कारण से तो 'अद्वितीय' ग्रन्थ हो रहा है, और इसी कारण से उस के अच्छे अनुवाद की आवश्यकता है।

वदन्ति तत्तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्,
ब्रह्मेति, परमात्मेति, भगवानिति, शब्द्यते।
स वेद धातुः पदवीं, परस्य, दुरंतवीर्यस्य, रथाङ्गपाणेः,
योऽमायया संततयाऽनुवृत्त्या, भजेत तत्पादसरोजगन्धम्।

अथेह धन्याः भगवन्तः, इत्थं यद्वासुदेवेऽखिललोकनाथे,
कुर्वन्ति सर्वात्मकम्आत्मभावं, न यत्र भूयः परिवर्त्तः उग्रः ।
सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावम्आत्मनः
भूतानि भगवतिआत्मनिअसौ भागवतोत्तमः ।
इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसंमितं,
उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवान् ऋषिः;
सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतं,
निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत् ।
कृष्णे स्वधामोपगते, धर्मज्ञानादिभिः सह,
कलौ नष्टदृशां एष पुराणाऽर्कोऽधुनोदितः ।

वा ही कौ पुनि तत्त्व कहतु हैं सत कौ है जिन जाना,
सब दुजागरी रहित, शून्य दुविधा सों, अद्वय ज्ञाना;
यही ब्रह्म, या ही परमातम, या ही है भगवाना ।
सब जीवन कौ जीव एक ही, सब तन अँग इक तन के,
इक साँचे के झूठ विविध विध, सपना सब इक मन के ।
पुण्य तीर्थ की सेवा होवै, अरु गुरुजन-चरनन की,
तब श्रद्धा शुश्रूषा उपजै हरि-गुन-गान सुनन की ।
परम विधाता, वीर्य अनंता, कालचक्र जा के हाथ नचै,
वा की गति कछु वेइ जन जानै जिन के मन मे भक्ति मचै—

आतम भक्ति, शुद्ध, बिनु माया, निश्छल, नाम रु रूप बिना,
जिन मे छिपि नित वसै अविद्या, भरमावै जन रैनदिना;
जे परमातम चरन कमल की गंध लेत हैं मगन सदा,
प्रवृत्ति निवृत्ति की अनुवृत्ति करते, मायाजाल न परैं कदा ।
वासुदेव, परमातम, जो सब जग मे, अरु जग जेहि मे,
'मैं', चेतन, सब कौ अधार जो, 'मैं' ही सब मे वासी—
अस भावैं ते आपु भये भगवान, धन्य अविनासी,
परमधाम को पहुँचे, जहँ नहिं आवागम की फाँसी ।
यह पुरान भागवत नाम को, वेद तुल्य अरु ब्रह्म भर्यो,
उत्तम कीर्ति, पुण्य नाम अति, कृष्णचरित के व्याज कर्यो,
ऋषि भगवान व्यास, जो होवै सब लोकन को परम भलो,
जा को मुनि निःश्रेयस बोलत, यही अर्थ मुनि जतन चलो ।

अरु नाहीं केवल निःश्रेयस, लोक सुख हु यह स्यावै;
आतमज्ञान विना न धर्म है; वा बिनु अर्थ न पावै;
अर्थ विना न काम उत्तम हैं, वरु ज्यों पशुहिं नचावै।
जे नहि जानत जीव कहा है, जन्म कहा अरु मरन कहा,
हम हैं कौन, कहाँ हैं आये, कहँ ते आये, करन कहा,
दुःख कहा, सुख कहा, शांति संतोष कहा, इह लोक कहा,
परलोक कहा, अरु जीवन कौ पुरुषार्थ, हर्ष अरु शोक कहा,
पुण्य-पाप जे सुख-दुख-कारण तिन को होवै सार कहा—
जे नहि जानत इन तत्त्वन कौं, वे नर सद्व्यवहार कहा,
साधैं, औ लै जावैं संगिन साथिन को भव पार कहा।
विना ज्ञान विनु धर्म सधे नर, अर्थ काम के लोभा,
विप्र, राज, अरु धनी पुरुष, सब लूट मचाइ अशोभा,
अंधन को ज्यों अंध चलावत; जग नाशत करि छोभा।
जे जानत अध्यात्म तत्त्व कौं, वे ही हैं यह लायक,
सौंप्यौ जाय काज उन को सब, बनिज, राज, अध्यापक;
स्वार्थ रोकि वे ही परार्थ को भली भाँति सब साधि सकैं,
पिता मातु ज्यों बालकसेवा सदा करैं अरु नाहिं थकैं।
अन्तर्यामी-रूप सब हि मे बसत 'मोहिं' जे भावैं,
अरु 'मो' में सब ही कौ, वे ही सत भागवत कहावैं।
सो सब ज्ञान धर्म भरि या मे, यह पुराण मुनि धन्य रच्यो,
स्वस्ति रूप, कल्याण भरो, जत दूहूं लोक-परलोक बच्यो।
अति दयालु, सब के हित कारण, मुनि विरच्यौ यह ग्रन्थ महा,
सब वेदन इतिहासन हू कौ जामे सारहि सार कहा।
कृष्ण जबहिं निज धाम सिधारे, धर्म ज्ञान तिन सङ्ग गये;
उन कौं फेरि बुलावन जग मे, कृष्ण नाम कौ व्याज लये,
यह पुराण, कलि-अंध लोक-हित, सूर्य देव इव उदय भये।
जेइ दास भगवान कहैं यह, जेइ दास भगवान सुनै,
तेइ चीन्हि भगवान गुनन कौं, निर्गुन सगुन अभेद गुनै।

यदि हमारे वर्त्तमान कवियों मे, ऐसी, मानस और पार्थिव, आभ्यंतर और बाह्य, तीर्थों की, और गुरुजन के चरणों की, पवित्र सेवा का पुण्य उदय होगा, तथा हिन्दी-भाषा भारतवासियों मे भी, तब वे इन को यह

समग्र कथा सुनाने का यत्न करेंगे, और ये सुनेंगे। मेरा ऐसा भाग्य नहीं, ऐसा पुण्य नहीं, मेरे पास ऐसी कविता शक्ति नहीं, जो इस उच्च कोटि की भगवत्सेवा कर सकूँ। मेरे लिये, मेरी क्षुद्रता के अनुरूप, दूसरी बहुत नीची कोटि की चाकरी की आज्ञा दी गई है; सो भी नहीं निवहती। इस लिये इस महाकार्य के लिये दूसरों से प्रार्थना करता रहता हूँ।

रसों की संख्या।

मैं ने भागवत को नव-रस मय अथवा एकादश-रस-मय कहा। रसों के सम्बन्ध मे मुझ को यह प्रश्न उठा करता था, कि क्यों नौ ही, अथवा दस या ग्यारह ही। इस से कम वेश क्यों नहीं। और ये ही नौ या दस या ग्यारह क्यों। अक्सर कवियों और संस्कृत साहित्यशास्त्र के जानकारों से चर्चा हुई। पर सब ने प्रायः यही कहा कि यह वस्तुस्थिति हो है, इस मे हेतु के अन्वेषण का स्थान नहीं; जैसे महाभूत, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, पांच ही पांच क्यों, इस का पता नहीं। पर इतने से मेरा संतोष नहीं हुआ। 'वस्तुस्थिति' शब्द से काम चल जाय तो संसार मे जो कुछ है और हो रहा है, सभी 'वस्तुस्थिति' है, कहीं भी 'क्यों' का अवसर नहीं। सच्चे दार्शनिक और वैज्ञानिक, यह खोज करते ही रहते हैं कि कितने तत्त्व और क्यों इतने ही; क्यों पांच इन्द्रिय, पांच अंगुली, दो आंख, कान, नथने, हाथ, पैर आदि; इसी 'क्यों' का फल सब विद्या, सब शास्त्र हैं। मैं हेतु ढूँढता रहा, और एक प्रकार से अपने मन का सम्बोधन कर पाया। उस प्रकार को आप के सामने, सूचना के रूप से, रख देना चाहता हूँ।

"सुख-ऽनुशयी रागः। दुःख-ऽनुशयी द्वेषः" (योगसूत्र), जिस वस्तु से सुख मिलै उस की ओर राग, जिस से दुःख मिलै उस की ओर द्वेष, उत्पन्न होता है। यह प्रायः सर्वतंत्रसिद्धान्त है। इच्छा के मूल रूप ये ही दो हैं, राग और द्वेष। काम और क्रोध इन्हीं के पर्याय हैं। अपने से बड़े अथवा अधिक बलवान् की ओर, अपने बराबर की ओर, अपने से छोटे अथवा हीन और दुर्बल की ओर, होने से, इन दोनो मे से प्रत्येक के तीन तीन भेद हो जाते हैं। राग के भेदों के प्रकार और श्रेणियाँ ये हैं, (१) आदर, सम्मान, बहुमान, पूजा आदि, (२) प्रणय, स्नेह, प्रीति, सख्य आदि, (३) दया, करुणा, अनुकम्पा आदि; तथा द्वेष के, (१)

शंका, साध्वस, भय आदि, (२) क्रोध, कोप, रोष आदि, (३) अपमान, तिरस्कार, घृणा, जुगुप्सा, बीभत्सा, आदि।

महतां बहुमानेन, दीनानां अनुकम्पया,
मैत्र्या चैवऽात्मतुल्येषु, न तापैर्, अभिभूयते।

इत्यादि भागवत के श्लोकों मे इस राशीकरण की सूचना मिलती है।

काम वा राग के, प्रणय, प्रीति, सख्य आदि जो रूप हैं, उन का 'शृङ्गार' से सम्बन्ध है। बहुमान, पूजा, का 'अद्भुत' से। ईश्वर की प्रकृति की अद्भुत आश्चर्यमय विभूतियों को देखते विचारते, पूजा का भाव, हृदय मे, उत्पन्न होता है। दया, अनुकम्पा, आदि का स्पष्ट ही 'करुण' रस से सम्बन्ध है। एवं भय का सम्बन्ध 'भयानक' से। क्रोध का 'रौद्र' से। और तिरस्कार, जुगुप्सा, बीभत्सा, का 'बीभत्स' से।

'हास्य' और 'वीर' ये मिश्रित रस हैं। 'हास्य' मे कुछ स्नेह, प्रीति का अंश है, कुछ तिरस्कार का। बिना दूसरे को वेवक़ूफ़ बनाये, अथवा किसी अन्य प्रकार से दूसरे को छोटा और अपने को बड़ा सिद्ध किये, हास पैदा नहीं होता। जहां तिरस्कार का अंश बढ़ा और प्रीति का अंश घटा, वहां हँसी के बदले रोना शुरू हुआ। इसी लिये कहावत प्रसिद्ध हो गई है, "रोग का घर खाँसी, झगड़े का घर हाँसी"। स्नेह का अंश अधिक बनाये रखना, यही नर्मालाप की सात्त्विकता और बुद्धिमत्ता है। साहित्य-शास्त्रियों ने छः प्रकार की हँसियाँ गिनाई हैं। उन मे राजस तामस, गवाँरों की, हँसियाँ अपहसितं, अतिहसितं, आदि नामो से कही हैं।

एवं वीर रस भी मिश्र है। युद्धवीर मे शत्रु के लिये रौद्रता और भयंकरता होना ही चाहिये। उसका तिरस्कार भी होना चाहिये। पर एतावता पर्याप्ति नहीं। व्याघ्र और वृक आदि पशु भी इन गुणों को दिखाते हैं, जब मांसपिंड के लिये आपस मे लड़ते हैं। पर उन को कोई शूर नहीं कहता, क्रूर ही कहता है, अथवा यदि शूर कहता है, (–देशी कहावत मे, "चींटा, सांप, जंगली सूअर, और बाघ आधा—ये साढ़े तीन शूर", प्रसिद्ध हैं –), तो उन पर आक्रमणकारी (अतः दुष्ट) के दमन के धर्म का काल्पनिक अध्यारोप कर के। वीर रस की संपत्ति के लिये दया का अंश आवश्यक है। किसी दुर्बल की रक्षा के लिये, किसी की अनुकम्पा से, जब सबल का वारण किया जाय, और अपने को जोखिम मे डाला जाय, तभी वीररस सम्पन्न होता है। राजा का एकमात्र धर्म है,

दुष्टानां निग्रहश्चापि, शिष्टानां चाप्यनुग्रहः
मरजाद छाँड़ि सागर चलै, कहि हमीर परलय करन,
अलादीन पावै न तो, मै मगोल राख्यो सरन।

बिना अपने ऊपर जोखिम उठाये, वीर रस की संपत्ति नहीं।
तिमिरकरिमृगेंद्रं, बोधकं पद्मिनीनां

मे शत्रु-दमन और दुर्बल-पोषण दोनो हैं, पर सूर्यदेव को कोई जोखिम नहीं उठानी पड़ती, इस लिये इस भाव मे वीरता का उद्बोधन नहीं होता, अथवा यदि है तो कृत्रिम आलंकारिक उत्प्रेक्षा मात्र ही है।

इन बातों को विचारते हुए, ऐसा मन मे आता है कि साहित्यशास्त्रियों ने जो निर्णय किया है, कि 'रसेषु करुणो रसः', ठीक नहीं किया। 'वीर एव रसः स्मृतः' ऐसा कहना चाहिये था। अथवा यों समाधान किया जा सकता है, कि वीर रस मे भी उत्तम सात्त्विक अंश, दुर्बल के लिये करुणा और उस की रक्षा की कांक्षा ही है, और उस के रौद्र, भयानक, आदि सहचरी अंशों की प्रेरक है।

खेद का स्थान है कि हिन्दी कविता मे वीर रस के ग्रंथ नहीं के बराबर हैं, कामाग्नि, और 'प्रेमिक-प्रेमिका' के विरह, और शृङ्गार के सम्बन्धी भावों और शब्दों की नटबाजी, यही अधिकतर भरी है।*

बिहारी की सतसई पर, टीका बनती चली जा रही हैं, उस की नक़ल की जा रही है; 'हम्मीरहठ' की चर्चा सुनने मे नहीं आती; 'शिवा-बावनी' का प्रचार भी नहीं के बराबर है। हाँ, कहीं कहीं, गाँवों मे, जहां बाहरी ओर भीतरी हवा अधिक विकृत नहीं है, प्रकृत्यनुसारिणी है, और जनता हृष्टपुष्ट है, शहरों की बलनाशक नज़ाकत और बदबू से दूर है, वहां 'आल्हा' की गीत अलबत्ता यदा क़दा सुनने मे आ जाती है, और, गाते गाते, और सुनते सुनते, लोग कभी कभी ऐसे जोश से भर जाते हैं कि

* हर्ष का स्थान है कि अब, कुछ वर्षों से, वीररस के प्रतिपादक भी ऐतिहासिक उपाख्यान (उपन्यास, कथानक, कहानी) ग्रन्थरूप से, तथा साप्ताहिक मासिक पत्रपत्रिकाओं मे, निकलने लगे हैं; तथा भद्र हास्य रस के लेख और चुटकुले भी; तथा 'हम पतित तुम पतित पावन' की आत्मावसाद और पराधीनता दीनताकी कविताके स्थान मे, 'आत्मोद्धारक', 'स्वाधीनता-भाव-वर्धक', वीररस की कविताएँ भी। (१९४४)

सचमुच का युद्ध कर के 'रण-रस' का स्वाद लेने लगते हैं। ऋषियों के बनाये काव्यों मे 'वीर' और 'करुणा' अर्थात् 'भूतदया', के ही भाव और रस प्रधान हैं। 'परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृतां', अवतार होते हैं, और उन के चरितों के वर्णन मे इतिहास पुराण, दुष्टों के पापों से पीडित शिष्टों की करुण-दशा, और उन दुष्टों के संहार मे, उन महापुरुषों की वीरता का चित्रण करते हैं। शृङ्गार की अति, भारत के अधःपात की कारण भी है और कार्य भी। शृङ्गार का दुरुपयोग, एक अन्य रीति से भी बहुत हानिकारक हुआ है, कि वह भक्ति के साथ बांध दिया गया है। तत्रापि, रुक्मिणी-कृष्ण की चर्चा तो सुन नहीं पड़ती, राधा कृष्ण पर न जाने कितनी कविताशक्ति ख़र्च कर डाली गयी है, और नये पंथ भी निकल आये हैं जिन मे अनाचार व्यभिचार को ही धर्म बना डाला है। 'राधा' का अस्ल अर्थ तो दूसरा ही है।

मूलप्रकृतिरूपिण्याः संविदो, जगदुद्भवे,
प्रादुर्भूतं शक्तियुग्मं, प्राण-बुद्धि-अधिदैवतम्,
राधा-दुर्गा-इति यत्प्रोक्तं; रहस्यं परमं हि तत्;
जीवानां चैव सर्वेषां नियंतृ प्रेरकं सदा।
राध्नोति सकलान्कामांस्तस्माद्राधेति कीर्त्तिता,
सर्वबुद्धयधिदेवीयम्, अन्तर्यामिस्वरूपिणी,
दुर्गसंकटहंत्रीति, दुर्गेति प्रथिता भुवि।

(देवी भागवत, स्कं० ९, अ० ५०)

परमात्मा की मूल-प्रकृति-रूपिणी संवित् चेतना से, जगत् की उत्पत्ति के समय, दो शक्तियां प्रादुर्भूत हुई; बुद्धि-शक्ति, जिस से ज्ञानेन्द्रियाँ निकलीं, और जिस का सांकेतिक नाम 'दुर्गा' रखा गया; 'दुःखानि गमयति, द्रावयति, वा दुःखेभ्यो गमयति, तारयति, इति दुर्गा', तथा प्राण-शक्ति जिस से कर्मेन्द्रियां निकलीं, और जिस का नाम 'राधा' हुआ, 'राध्नोति कामान्'।*

---

* राधा, अविद्या, वासना, तृष्णा, इच्छा—प्रेरयित्री;
दुर्गा, विद्या, दुःखेन गम्यते, प्राप्यते—नियंत्री;
"दुर्गे ! स्मृता हरसि भीतिं अशेषजंतोः,
स्वस्थैः स्मृता मतिं अतीव शुभां ददासि"।

कुछ 'पंथों' मे शिक्षा दीक्षा दी जाती है कि 'राधा' को उलटने का

करुणा का भी दुरुपयोग ऐसा ही भक्ति के साथ बाँध कर किया गया है। जैसे, भारत के अग्रणी, गीता के उपदेशक, जगत् के शिक्षक शासक, दुष्टों के दमयिता, अद्वितीय प्रवीर, कृष्ण भगवान् के स्थान पर 'सांवलिया जी, रणछोड़ जी, राधिकावल्लभ जी', और 'त्रिविक्रम' के स्थान पर 'त्रिभंग जी, मुरली वाले जी, रासलीला और माखनचोरलीला और चीरहरणलीला वाले जी' ही रह गये हैं; वैसे ही 'मो सम नहीं पतित दूजो, तो सम नहीं पावन', 'पतितता मे मैं ही यकता हूँ, अपनी सब करुणा मेरे ही ऊपर खर्च कर दीजिये', दीनता की हद कर देने का अभिमान, नम्रता का अहंकार, हो गया है; अपने ही ऊपर करुणा का रस चख कर लोग कृत-कृत्य होने लगे। अस्तु। संतोष का स्थान है, कि इधर जब से महात्मा गांधी ने कांग्रेस के वहित्र का कर्ण, पतवार, अपने हाथ मे लिया है, और नये रूप से देश मे राष्ट्रीयता और आत्मसम्मान के भाव जागे हैं, तब से कुछ वीरकविता की, तथा अन्य रसों की गद्यपद्यमयी कविता की, ओर भी जतन हो रहा है।*

अभ्यास करो, और इस पर बहुत रहस्याटोप बांधा जाता है। तत्त्व इस मे प्राचीन, योग-वेदान्त-उक्त, इतना ही हो सकता है कि तृष्णा वासना 'राधा' की अधोगामिनी 'धा-रा', को उलटी ऊर्ध्वगामिनी बनाओ; ब्रह्मचर्य से प्राण शक्ति का विकास और संचय, शिश्नोदर से हटा कर, मस्तिष्क की क्रियाओं मे, और सूक्ष्म चक्रों और इन्द्रियों के उद्बोधन मे लगा दो। 'कृष्ण' का भी आध्यात्मिक अर्थ है, 'कर्षति सर्वजीवानां मनांसि', सब जीवों के चित्त को अपनी ओर खींचता है, परमात्मा; ऐसे ही 'राम' का, 'रमन्ते अस्मिन् सर्वे जीवाः', जिस मे सब जीव रमैं, आत्मा, परमात्मा।

* यह व्याख्यान सन् १९२३ ई० मे हुआ था। तब से २० वर्ष हो गये। प्रति वर्ष विविध विषयों के सैंकड़ों ही ग्रन्थ हिंदी मे निकलते रहे हैं। हिंदी साहित्य का रूप बहुत बदलता जा रहा है। मुझे कहने का अधिकार तो नहीं है, क्योंकि इस साहित्य से परिचित नहीं के समान हूं, तो भी मुझे ऐसा भान होता है कि सर्वसाधारण की, आम जनता की, उपयोगी और योग्य पुस्तकें कम बनी हैं, 'नागरिकों' के ही शौक़ समझ की ज़्यादा हैं, और जो हैं उन मे 'चतुः-पुरुषार्थ-साधकता' के सूत्र से व्यूहन संग्रन्थन नहीं है, जैसे मोती के दानो का रेशम से

नवाँ रस शांत कहा जाता है।

श्रृंगार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः,
बीभत्सोऽद्भुतः इत्यष्टौ, शांतस्तु नवमो रसः।

सच पूछिये तो शुद्ध शांत भाव मे रस पहिचानना कठिन है। "न सुखं न च वा दुःखमित्येषा परमार्थता"। शांति की जो परा काष्ठा, जो परम अर्थ है, विदेह कैवल्य, उस मे न सुख ही है न दुःख ही। इस लिये उस मे रसत्व नहीं हो सकता। रस से तो आनन्द होता है। पर यह भी अनुभव से सिद्ध है कि वैराग्य की, तथा निराकार परमात्मा की शुद्ध भक्ति की, कविता से, एक विलक्षण रस का आस्वाद होता है, जो रस अपर आठों से कुछ अलग है। तो यह मानना पड़ता है कि परा काष्ठा की नहीं, उस से कुछ नीचे के दर्जे की, शांति से, जीवन्मुक्तावस्था से, सदेह कैवल्य से, इस शांत रस का सम्बन्ध है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखिये तो अनुभव होगा कि वैराग्य भी क्रोध ही का रूपांतर है, और शुद्ध भक्ति तो स्पष्ट ही राग का, 'विकार' नहीं, उत्कृष्ट 'परिष्कार' है।

भक्तिः, परेशानुभवो, विरक्तिर् अन्यत्र, चैव त्रिक एककालः (भागवत)।

सर्वजगद्व्यापी परमेश का ज्ञान, उन पर भक्ति, सक्ति, रक्ति, उन सनातन से 'अन्यत्र', नश्वर सांसारिक स्वार्थों पदार्थों की ओर, विरक्ति; वैराग्य—यह तीन एक साथ ही उदय होते हैं। तुलसीदास जी ने साकार ईश्वर की सात्त्विक भक्ति से, आश्रित की आश्रयदाता पर भक्ति से, आप्लावित, मानव जीवन के व्यवहार का परिष्कार करने वाला, ज्ञान बताया है। सूरदास जी ने, साकार ईश्वर की बाललीला के, कुमारलीला के, नंद, यशोदा, गोपी, उद्धव आदि के भावों के, अति ललित वर्णन से; वात्सल्यमयी, प्रेममयी, उत्तम भक्ति का रूप दिखाया है। कबीरदास जी ने, वैराग्य से निषिक्त, निष्णात, शराबोर, भीतर बाहर भीगा, निराकार, स्वाश्रयी, ज्ञान और योग सिखाया है। भागवत मे तीनो हैं।

होता है। हिंदी वाङ्मय की प्रगति, इधर दस वर्षों मे, और अच्छी हुई है; यद्यपि, साथ साथ, काग़ज़ और रौशनाई का अपव्यय भी बहुत हुआ है; क्या किया जाय; द्वंद्व न्याय अनिवार्य है। (१९४४ ई०)

वैराग्य के भी, अन्य भावों के ऐसे, तीन भेद होते हैं, सात्त्विक, राजस, और तामस।

अपकारिणि चेत् क्रोधः, क्रोधे क्रोधः कथं न ते ?
धर्मार्थकाममोक्षाणां सर्वेषां परिपंथिनि ?

ऐसा श्लोक महाभारत शांति पर्व मे मिलता है। जिस वस्तु से, जिस प्राणी से, हमारा अपकार होता है, उस पर हमारे मन मे क्रोध जागता है; तो चारो पुरुषार्थ की सिद्धि मे जो बाधक है, उस क्रोध पर क्रोध होना तो अत्यन्त उचित है। दूसरे प्रकार के क्रोध कुछ तामस हों, कुछ राजस हों; पर यह क्रोध पर क्रोध, तथा ऐसे ही अन्य सांसारिक लोभ लालचों, स्वार्थी भावों और अनित्य और क्षणभंगुर पदार्थों, पर अनास्था, उन का अनादर, तिरस्कार—यह सब 'सात्त्विक क्रोध' अर्थात् 'वैराग्य' है।

ऐसे ही, भक्ति-सूत्रों मे, भक्ति के पर्याय शब्दों मे, ईश्वर पर परम प्रेम, अथवा अनुराग, ऐसे शब्द कहे हैं, जिस से निर्विवाद सिद्ध है कि, राग का ही पवित्र सात्त्विक रूपान्तर, भक्ति है। तो अब, जब साधारण शांत भाव मे द्वेष और राग के ये सूक्ष्म रूप वर्त्तमान ही हैं, तब उस मे रस का उद्बोधन होना उचित ही है।

अन्य 'प्रस्थान' से ('स्टैंड-पॉइंट', 'दृष्टिकोण', 'ऐंग्ल-आफ़-विझ्न', 'नुक्तइ-निगाह', 'पॉइंट-आफ़-व्यू' से) देखने से यह ज्ञान होता है कि, संसार-वर्जक शांतरस के अंगभूत वि-राग वि-द्वेष के द्वारा सांसारिक आठो रसों का, और उन के विषयों का, आवाहन कर के, तिरस्कार होता है। परमात्मा की लीला का, 'प्रवृत्ति-निवृत्ति' का, रूप ही यही है। 'इष्ट-देव' (परमात्मा) आनंद-'शृङ्गार'-मय है; क्षुद्र नश्वर मांस-पिंडों के प्रेम और शृङ्गार से हटा कर, उस दिव्य अनश्वर 'स्व'-रूप मे चित्त का संक्रमण होता है। संसार की 'रौद्रता', 'भयानकता', 'बीभत्सता' को देख कर, उस समग्र कु-रस का अप-'हास', तिरस्कार, भी चित्त मे उदय होता है। दुःखितों पर, संसार मे भ्रमते हुए अज्ञानी जीवों पर, 'करुणा' 'दया' भी उमड़ती है। यह सब दुःख अपना (आत्मनः, आत्तणो, आपणो) ही किया हुआ है, 'आप' ने अपने ऊपर बुलाया है, लीला के लिये, खेल के लिये—जैसे, खेल मे, बच्चे, बनावटी रोना रोते हैं—यह विचार कर के पुनः सात्त्विक 'हास्य' अपने ही ऊपर उठता है। अपने चित्त से, तथा

भ्रम मे पड़े और भूले-भटके दुःखियों के चित्त से, इस भ्रांतिकारक अज्ञान-अस्मिता-काम-क्रोध-अभिनिवेश को जड़ से उखाड़ फेंकने का उत्साह-मय 'वीर'-रस जागता है, और परमात्मा की संसार-रूप 'लीला' की अनंत प्रतिपद 'अद्भुतता' का आश्चर्य तो सदा सब भावों मे अनुस्यूत रहता ही है।

भक्ति को कोई दसवां रस मानते हैं। तथा वात्सल्य को भी कोई अलग ग्यारहवां रस मानते है। पर जो बातें पहिले कही गईं, उन से प्रायः आप लोगों के मन मे भी आ गया होगा, कि एक मूल प्रकृति, मूल इच्छा, अनादि वासना, की दो मूल विकृति, और उन की छः मुख्य विकृति; और तदनंतर, उन के संमिश्रण और संकर से अनन्त विकृतियां पैदा होती हैं। ऐसी विकृतियों को भाव, क्षोभ, संरंभ, संवेग, आवेग, आवेश, मनोविकार, आदि नामो से कहते हैं। सब ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का भी कम बेश ऐसा वर्गीकरण हो सकता है। 'कम बेश' इस लिये, कि इस विषय के शास्त्रों मे ऐकमत्य अभी तक नहीं हुआ है। पर, प्रिय और अप्रिय के भेद के अनुसार, प्रत्येक इंद्रिय के विषय मे दो मुख्य भेद, और तदनंतर कई विकार, देखे जाते हैं। जैसे स्वरित शब्द मे उदात्त और अनुदात्त, अथवा तार और मंद्र, और तत्पश्चात् सप्त स्वर, षड्ज, ऋषभ, आदि। रूप अर्थात् वर्ण या रंग मे, शुक्ल, कृष्ण, फिर सात वर्ण, हरित, पीत, रक्त, आदि, सूर्य की किरण के, जिन्हीं से सूर्य का नाम सप्तसप्ति अथवा सप्ताश्व पड़ा है। स्पर्श मे कोमल और कर्कश, फिर रूक्ष, स्निग्ध, चिक्कण, आदि। गंध में सुगंध और दुर्गंध, फिर बिस्र, खर, आदि असंख्य प्रकार। एवं रस मे, इष्ट-द्विष्ट, रोचक-शोचक, स्वादु-दुःस्वादु, सुरस-कुरस, फिर छः प्रसिद्ध मुख्य भेद, मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय। इत्यादि।

पहिले कह आया हूं कि किन्हीं का मत है, "रसेषु करुणो रसः"। कोई वीर को प्रधान मानते हैं। अर्वाचीन संस्कृत तथा हिन्दी कवियों की कृतियों से यही अनुमान निकलता है कि उन्हों ने श्रृंगार ही को प्रधान मान रक्खा है। यदि इन लोगों ने अश्लीलांश पर इतना परिश्रम न किया होता, और नख-सिख वर्णन और सुरत-केलि वर्णन को ही कविता की परा काष्ठा कर के न दिखाया होता, तो इन का ऐसा मानना स्यात् सद्-शास्त्र के विरुद्ध न होता; क्योंकि मानव-वंश के संतानन का आश्रय इसी पर है। पश्चिम देश मे इस प्रकार के अनावृत वर्णन की चाल कवियों मे

नहीं है।* अपने यहां भी आर्ष ग्रन्थों मे नहीं है; जहां कहीं है, जैसे वाल्मीकि रामायण मे, राम जी के अद्भुत शरीर के वर्णन मे, वहां शृंगार रस के और काम के उद्बोधन के लिये नहीं, किंतु आदर्श पुरुष का, पुरुष-सार का, सर्वांग-सुन्दर, सर्वांग-बलिष्ठ, शरीर कैसा होना चाहिये—यह शिक्षा सब को देने के लिये। इस प्रसंग मे यह बात याद आती है, कि आर्ष काव्यों मे उत्तम पुरुष-शरीरों का जितना वर्णन मिलता है उतना स्त्री-शरीरों का नहीं; अर्वाचीन संस्कृत हिन्दी कविता मे, इस के विपरीत, स्त्री-शरीरों का ही वर्णन मिलता है, पुरुष-शरीरों का तो प्रायः है ही नहीं। महाभारत मे, नागरिकों की बोलचाल और व्यवहार का वर्णन करते हुए, एक स्थान मे कहा है, "नैवासीद् वाग् अनावृता," बात, लपेट कर, नज़ाकत नफ़ासत के साथ, कही जाती थी, भदेस भोंडे प्रकार से नहीं। स्त्री पुरुष के नग्न अंगों की नग्न वार्त्ता, नख-सिखादि का बहुत वर्णन, सब के समक्ष करना, यह 'प्राकृत' जन के अनुरूप है। तुलसीदास जी ने नहीं किया है। सूरदास जी ने भी प्रायः नहीं ही किया है। हृदय के ही उत्तम सात्त्विक भावों का प्रायः वर्णन किया है। और उस मे भी, ऐसे प्रामाणिक सर्वादृत सार्वदेशिक कवियों ने अलंकार-चातुरी पर अधिक ज़ोर नहीं दिया है, रस पर और चित्त के बारीक कोमल नाज़ुक भावों और वृत्तियों पर ही अधिक ध्यान दिया है। भारतवर्ष मे इधर कितने ही दिनों से संस्कृत मे भी, तथा हिन्दी मे भी, शब्दालंकार पर बहुत अधिक ध्यान हो रहा है, रस पर कम। अलंकार का तो अर्थ यही है कि जो रस को 'अलम्'

---

* यहां यह कहना उचित है कि यह बात, शब्दतः, पहिले अधिक सत्य थी, और अब भी प्रायः सत्य है, कि लिखी हुई अंगरेज़ी कविता मे नख-सिख-वर्णन प्रायः नहीं पाया जाता है; स्त्रियों के प्रायः मुख का, और स्त्री-पुरुष दोनों के समग्र शरीर का साधारण, गोल, निर्विशेष शब्दों मे, वर्णन मिलता है; पर अब १९१४-१८ ई० के महायुद्ध के बाद से, पश्चिम के 'दृश्य काव्य' मे, नाटक, 'सैनेमा', आदि मे, तथा चित्रों मे, नग्नता की हद कर दी जाने लगी है। तथा हिन्दी कविता और कहानियों मे, शरीर का वर्णन कम, विरह, दैन्य, करुणा के भावों का अधिक प्रदर्शन होने लगा है। वीररस की ऐतिहासिक घटनाओं के भी अच्छे आख्यान देख पड़ जाते हैं। तथा अश्लीलतारहित हास्यरस के भी चुटकुले, और उपाख्यान भी। यह सब लक्षण शुभ हैं।

अर्थात् पूरा करै। जहां रस ही नहीं, वहां शब्दों की नटबाज़ी तो मानो मुर्दे को गहना पहिनाना है। खाद्य, पेय, लेह्य, चोष्य, चतुर्विध षड्रसमय भोज्य पदार्थ नहीं, बर्त्तन के रंग रूप पर बहुत मिहनत। हां, बर्त्तन का स्वच्छ होना तो आवश्यक ही है, और सुन्दर भी हो तो सोना मे सुगन्ध; पर रस होना परम आवश्यक है, फिर प्रसाद-गुणयुक्त सरल शब्द, अलंकार हो या न हो; शरीर सुन्दर पहिले, फिर स्वच्छ कपड़े, फिर तीसरे दर्जे मे गहने।

यह सब बात, शृंगार रस के, रसों में प्रधान होने के सम्बन्ध मे, उठी है। मैं ने पश्चिम देश के एक कवि का उल्लेख किया। वहां भी, मनुष्य के स्वभाव के अनुसार, स्त्री पुरुष के प्रेम को, पद्य काव्य, नाटक, गद्य आख्यायिका, आदि का प्रधान विषय मानते हुए, उस के सम्बंध मे अनेक अन्य भावों और घटनाओं का दिखाने वाला, कवितामय लेख बहुत है। कालरिज नाम के प्रसिद्ध कवि ने यहां तक कहा है—

'ऑल् थाट्स्, ऑल् पैशंस्, ऑल् डिलाइट्स्,
ह्वाटेवर् स्टर्स् दिस् मार्टल् फ्रेम,
ऑल् आर् बट् मिनिस्टर्स् आफ़् लव्,
एंड् फ़ीड् हिज़् सेक्रेड् फ्लेम्।*

सब विचार, सब भाव, हर्ष सब, स्पंद देह के जेते,
'कामदेव' के अग्निहोत्र के, होम द्रव्य हैं तेते।

इस सब का हास्यमय प्रतिवाद करने के लिये एक दूसरे कवि ने 'बुभुक्षा देवी' की महिमा की स्तुति एक कविता मे की। 'बुभुक्षा देवी' प्रत्यक्ष ही 'मुमुक्षा देवी' की जेठी बहिन हैं। बिना भूख और भोग के बंधों का अनुभव किये, मोक्ष का अनुभव हो नहीं सकता। जिन के हृदय मे कहिये, उदर मे कहिये, बुभुक्षा विराजमान हैं, उन के हृदय मे काम और शृङ्गार के लिये जगह कहां? हाँ, क्रोध और रौद्र रस का, भले ही, बुभुक्षा देवी, अशनाया-पिपासा देवी, का साथ हो; और पौराणिक रूपक

---

* All thoughts, all passions, all delights,
Whatever stirs this mortal frame,
All are but ministers of Love,
And feed his sacred flame. (Coleridge)

मे, काली देवी का रूप, रुधिर की पिपासा से, भयंकर रौद्र कहा ही है। जब क्षुधा-तृषा देवी का संतोष हो जाता है, तब उस के पीछे शृङ्गारादि की उपासना हो, तो हो सकती है, अन्यथा नहीं। तो शृंगार रस को प्रधान न मान के, बुभुक्षा रस को, जिसी मूल 'रस' के, यह सब साहित्यिक 'रस' कृत्रिम वा छाया रूप हैं, जिसी से उन्हों ने अपना नाम तक मंगनी लिया है, उसी को प्रधान क्यों न माना जाय !

हे महादेवि भूख ! तेरा गान करूं,
तेरी पूजा के द्रव्यों का ध्यान धरूं;
नहीं वह जो तेरी न सेवा करै,
और तेरा ही दम मरते दम तक भरै !

यह पच्छिम के कवि की बुद्धि की स्फूर्त्ति और तबीयतदारी ही नहीं है। स्वयं भीष्म ने शांतिपर्व मे सिद्धान्तरूपेण कहा है,

धर्ममूलोऽर्थः इत्युक्तः, कामोऽर्थफलमुच्यते,
संकल्पमूलास्ते सर्वे, संकल्पो विषयात्मकः,
विषयाश्चैव कात्स्न्र्येन सर्वे आहारसिद्धये;
मूलमेतत् त्रिवर्गस्य; निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते। (अ० १२३),

अर्थ का, धन का, मूल, धर्म है; और फल, काम है। काम का मूल, संकल्प; उस का मूल, विषय; विषय, जो भी, जितने भी, हैं, सब अंततो गत्वा आहार की सिद्धि के लिये हैं। यह त्रिवर्ग का, धर्म-अर्थ-काम का, मूल है। इन सब से हट जाना, निवृत्ति, यही मोक्ष है।

सर्वज्ञानमय मनु ने कहा है,

कामात्मता न प्रशस्ता, न चैव इह अस्ति कामता,
काम्यो हि वेदाधिगमः, कर्मयोगश्च वैदिकः।

स्वयं वेदवाक्य भी है,

काममय एवायं पुरुषः।

इस सब का निष्कर्ष यही है कि बुभुक्षा मे दोनो (क्षुधा भी और काम भी) शामिल हैं।

या देवी सर्वभूतेषु क्षुधारूपेण संस्थिता।

इच्छा देवी का जो मूल स्वरूप है, आहार का काम, भोज्य पदार्थ की कामना, जिसी से शरीर का धारण होता है, "शरीरमाद्यं खलु सर्व-

साधनं", उस मे सब कुछ अंतर्गत है। पर, जो काव्य-साहित्य का प्रयोजन है, उस की, केवल शारीर बुभुक्षा के रस से, सर्वाङ्गीण संपत्ति नहीं होती, किन्तु स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी, का जो परस्पर प्रेम कहिये, चाह कहिये, भूख कहिये, उस के रस से ही होती है।

स्त्री-पुरुष का मूल रूप प्रकृति-पुरुष का जोड़ा है। इन्हीं के अनंत रूपों की अनंत क्रीड़ा, द्वंद्वमय संसार है। उन के बीच मे जो उभयरूपिणी, प्रवृत्ति-निवृत्ति, बंध-मोक्ष, अविद्या-विद्या, राग-द्वेष का रूप रखनेवाली, इच्छा है, उसी के रूप-रूपांतर सब ही मनोविकार हैं। इस अनादि आदि-सम्बन्ध मे, पति-पत्नी का (तामस-राजस) परस्पर काम-भाव भी अंतर्भूत है, तथा माता-पुत्र, पिता-दुहिता, भ्राता-स्वसा, के शुद्ध सात्त्विक (अंशतः राजस भी) भाव भी सब अंतर्भूत हैं। इसी से, सच्चे पति-पत्नी एक दूसरे को कह सकते हैं, जैसा किसी अवसर पर राम और सीता ने एक दूसरे को कहा है—

त्वमेव माता च, पिता त्वमेव, त्वमेव बंधुश्च, सखा त्वमेव,
त्वमेव विद्या, द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं, मम देवि ! देव, !

वाल्मीकि रामायण मे, शोकाकुल दशरथ ने, शरीर छोड़ते समय, कौसल्या के लिये कहा है—

भार्यावद् , भगिनीवच् च, मातृवच् , च उपतिष्ठते।

ऐसे विचारों से भी सिद्ध होता है कि, यदि शृङ्गार रस का ऐसा विस्तृत अर्थ किया जाय, तो अवश्य ही इस मे सब रस अन्तर्गत हैं, अथवा इस से और सब उत्पन्न होते हैं, जैसे पति-पत्नी, पुरुष-प्रकृति, के राग-द्वेष-मय मूल सम्बन्ध से अन्य सब प्रकार के सम्बन्ध, रिश्ते, उत्पन्न होते हैं।

इस सब विषय का सविस्तार प्रतिपादन इस स्थान और समय पर नहीं हो सकता। मै ने इस का विचार अलग ग्रन्थों मे किया है। पर वे ग्रन्थ अंग्रेज़ी भाषा मे लिखे गये हैं। कई मित्रों ने इस कारण से मेरा स्नेह-पूर्वक उपालम्भ भी किया है, कि क्यों तू ने हिन्दी मे नहीं लिखा। उन से मेरी विनीत प्रार्थना यही है, कि यदि आप उन विचारों को अच्छा समझते हैं, तो अब आप स्वयं उन को हिन्दी का लिबास पहिना कर इस देश मे सैर सफ़र कराइये। अंग्रेज़ी मे होने के कारण इतना तो लाभ हुआ कि, उन पुस्तकों का, भारत के भी उन प्रांतों मे स्वागत हुआ जहां हिन्दी

की पहुंच अब भी पर्याप्त नहीं है, और ४५, ४०, ३०, २५ वर्ष पहिले जब वे ग्रन्थ लिखे गये, नहीं के तुल्य थी; तथा अन्य देशों मे, यूरोप, अमेरिका मे भी, उन का स्वागत हुआ, यहां तक कि एक पुस्तक का चार पांच अन्य विलायती भाषाओं मे अनुवाद हो कर, वे विचार, जो भारतवर्ष के अतिप्राचीन अध्यात्मशास्त्र के सिद्धांतों के सर्वथा अनुयायी और प्रदर्शक मात्र हैं, पृथिवी के कई अन्य देशों मे भ्रमण कर आये। और भी आप सोचें। अपना घर कितना भी अच्छा हो, पर यदि सदा उसी मे रहना पड़े तो कोई भी आदमी घबरा जायगा। जी चाहेगा कि अन्यत्र भी चंक्रमण करें। बाहर घूम आने से, दूसरों के घर देख आने से, फिर अपना घर प्रिय मालूम होने लगता है; और दूसरे देशों मे जो उत्तम वस्तु मिली हों, उन को ला कर, उन से भी सजाया भी जा सकता है। इस न्याय से भी भारतवासियों के लिये, कुछ दिनो, पाश्चात्य विचारों और भावों का, ईश्वर की मर्जी से, अनुभव करना उचित ही हुआ। और यह भी बात है कि सब चीज़ और सब प्रकार अपने घर के, इस समय मे, अच्छे भी तो नहीं हैं। बहुत से दुःखदायी विकार भी आ गये हैं। बाहर के ज्ञान के बल से उन मे परिमार्जन परिशोधन की बड़ी आवश्यकता है। 'द्विज देवता घरहि के बाढ़े' की कूपमंडूकता भी छोड़ना जरूरी है। इसी लिये स्यात् ईश्वर की इच्छा यह हुई कि भारतवर्ष का दूसरे देशों से सम्बन्ध हो। यहां पवित्रम्मन्यता का अहङ्कार बहुत बढ़ गया था। साहित्य मे अश्लीलता, दूषित भाव, शब्दाडम्बर, और सच्चे और उत्तम रस की न्यूनता, बहुत बढ़ गयी थी। 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनां', यह भूला जा रहा था। ईश्वर के अनुग्रह का एक उत्तम स्वरूप ताड़न है, यह नारद जी की कथा मे पहिले कह चुका हूँ।

ऐसे भावों से भावित हो कर, और यह देख कर कि कथा बहुत लंबी हुई जा रही है, आप लोग थक गये होंगे, एक अद्भुत कविता के नमूने को आप के सामने रख कर कथा समाप्त करता हूं। कविता की अद्भुतता यह है, कि पूर्वीय देश चीन के एक योद्धा कवि की मूल कृति है। पश्चिम के एक अंग्रेज के किये हुए अंग्रेज़ी आशयानुवाद को मै ने पूर्वीय जापान देश की एक मासिक पत्रिका मे देखा। मुझे ऐसा जान पड़ा कि उस आशय मे, सब के सब, नौ अथवा ग्यारह रस, सूक्ष्म और ललित रूप से, देख पड़ते हैं, तथा वह समग्र आशय इस समय के भारत

देश की अवस्था के बहुत ही अनुरूप, और भारतवासियों के लिये शिक्षाप्रद और उत्साह-वर्धक है। इस लिये उस का हिन्दी मे आशयानुवाद कर लिया है।

उचित तो यह था कि किसी प्राचीन भारतवर्ष के ही प्रतिष्ठित कवि की नव-रस-मय कविता से कार्य समाप्त होता। "मधुरेण समापयेत्"। पर एक तो मुझे अपने देश के हिंदी कवियों का इतना ज्ञान ही नहीं, दूसरे मुझ को यह भी अभीष्ट है कि बेगानो की प्रशंसा कर के अपनो को चुनौती दूँ। इस वास्ते इस 'द्रविड़ प्राणायाम' रूप कविता को, जो चीन से इंग्लिस्तान, और वहां से फिर जापान, और वहां से हिन्दुस्तान आई, आप के सामने रखता हूँ। और फिर याद दिलाता हूँ, कि भोजन की वस्तु के स्वाद और रस का खयाल कीजियेगा, वाक्यों के अनगढ़पन और शब्दों की अपरिष्कृति का खयाल न कीजियेगा। जैसा मौलाना रूम ने कहा है,

लफ्ज़ बिगुज़ारी, सुये मानी रवी।

कविता का देश-काल-निमित्त यह है; किसी प्राचीन समय मे, चीन देश की सरहद पर, शत्रुओं और डाकुओं ने बहुत उपद्रव मचा रक्खा था; एक सेनापति को आज्ञा हुई कि जा कर उन का दमन करो; उन्हों ने प्रस्थान के सवेरे, अपनी पत्नी को यह कविता पढ़ के जगाया, और उस से विदा हो कर प्रस्थान किया।

"जागु पिया"

(करुणा) जागु पिया, सुख निसा सिरानी, तारा अस्त भये;
(वीर) धरु धीरज, करु हृदय कठिन, सहने हैं दुःख नये।
(वीर-करुणा) जानौ मोहि अति दूर, मरुन पर, अरु पर्वत घाटन मे,
(भयानक) जेहि सुमिरत मन थकत, चलत नहि, नद, बर्फान रु बन मे,
(अद्‌भुत) अरु अचरज-भय-मय समुद्र की घोर उठत लहरन मे।
(वीर) ता पर, ठाँव पहुँचि, दारुन रन करनौ है रिपु गन तें,
(बीभत्स) रक्त मांस कौ कीच बनत जह छिन मे नरदेहन तें,
(वीर) अरु तिन तें तिलमात्र भूमि नहिं हटनौ है मन तन तें,
(रौद्र-करुणा) सरल प्रजा कौ होत बहुत दुख नित नित जिन दुष्टन तें।
(करुणा-वीर) जागु पिया, अरु देखु मोहि, भरि वीरधर्म नयनन मे,

(भक्ति)	इष्टदेव ते जय मनाउ मोहि, दुःख ल्याउ नहिं मन मे ।
(हास्य-शृंगार)	जीति, लौटि, अँकवार भेंटि तोहिं, हँसौं फेरि उपवन मे।
(करुणा-वीर)	तजौं देह जौ, सदा होय तौ, संग जनम जनमन मे ।
(शांत)	जिन के मन परमात्मभाव, नहिं शोक मोह उन जन मे।
(उत्साह)	जागु पिया, तम निसा सिरानी, दिनमनि उदय भये ।
(वीर-शांत)	चित प्रसाद धरु, हृदय शांत करु, करने काज नये ।

अंग्रेजी मूल

Awake, Beloved !, for the stars have set ;
The grief of parting must be bravely met.
And yet the dreary marches weight my mind,
As through defiles and desert plains they wind ;
And then at last the awful battle-field,
Where I must fight and naught to foemen yield.
But, O ! the bitter paralysing pain,
To think that we may never meet again.
Yet courage ! we will think of love's young day.
And all the pleasures which therein did stay ;
And this shall cheer me on the toilsome road,
And help thee here to bear thy weary load.
Then with what joy we shall renew our life,
When I return safe from the dreadful strife.
But if, perchance, the Fates should death decree ;
My spirit shall for ever dwell with thee !*

---

* राष्ट्रीय हिंदी मंदिर, जबलपुर, के तृतीय वार्षिकोत्सव के अवसर पर (८–९ अप्रैल १९२३ को) अध्यक्ष रूप से दिया गया भाषण ।

: ३ :

रस-मीमांसा

ॐ

"रसो वै सः"

साहित्य और सौहित्य

'साहित्य' शब्द हिंदी मे प्रसिद्ध है। संस्कृत मे एक और शब्द भी इसी आकार का है, जो हिन्दी मे इतना प्रसिद्ध नहीं है, न संस्कृत मे ही—'सौहित्य'। दोनो का प्रधान लक्ष्य 'रस' है। 'दधाति इति हितम्'। 'धाता' 'विधाता' 'विधि' मे जो धातु है वही 'हित' मे है। जगद्धाता-जगद्धात्री जगत् का 'आ-धान' करने वाले देव-देवी। जो विशेष प्रकार से, वि-धियों, वि-धानो, नियमो, को, तथा उन नियमो के अनुसार संसार को, बनावे, वह 'वि-धाता'। जो बनाए रहे वह 'हित'। 'हितेन सह सहितम्, तस्य भावः साहित्यम्'। 'सु-शोभनं हितं सुहितम्, तस्य भावः सौहित्यम्'। तथा 'सह एव सहितम्, तस्य भावः साहित्यम्'। 'साहित्य' शब्द का अब रूढ़ अर्थ है—ऐसा वाक्यसमूह, ऐसा ग्रन्थ, जिस को मनुष्य, दूसरों के सहित गोष्ठी मे, अथवा अकेला ही, सुने, पढ़े, तो उस को 'रस' आवे, स्वाद मिले, आनन्द हो, और उस के चित्त की तृप्ति तथा आप्यायन भी हो।

'साहित्य' का अर्थ प्रायः काव्यात्मक साहित्य समझा जाता है, पर अब धीरे-धीरे इस अर्थ मे पुनः विस्तार हो रहा है। सब प्रकार के ग्रन्थ-समूह को साहित्य कहना चाहिये, और कहने लगे हैं।* यथा—संस्कृत-साहित्य, अरबी-साहित्य, फ़ारसी-साहित्य, अंगरेज़ी-साहित्य, जर्मन वा चीनी वा जापानी-साहित्य, आयुर्वेद-विषयक साहित्य, वैज्ञानिक-साहित्य, ऐतिहासिक साहित्य, गणित-साहित्य, वैदिक साहित्य, लौकिक साहित्य, आदि।

---

* पहिले अध्याय, 'साहित्य का पूर्ण रूप', मे इस विषय पर विस्तार किया गया है। 'वाङ्-मय' शब्द भी अब 'लिटरेचर' के संग्राहक अर्थ मे कहने लगे हैं, और यह उचित ही है।

अंगरेज़ी भाषा मे 'लिटरेचर' शब्द का प्रयोग भी इसी प्रकार से होने लगा है, यद्यपि पहिले प्रायः काव्यात्मक साहित्य के अर्थ मे ही उस का भी प्रयोग होता था। बिना विशेषण के, साहित्य शब्द जब कहा जाता है, तब प्रायः इस का अर्थ काव्य-साहित्य ही समझा जाता है और यह निर्विवाद है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'; रसीले वाक्य को ही काव्य कहते हैं; काव्य का आत्मा 'रस' है।

'सौहित्य' शब्द का अर्थ है, उत्तम हितकर रसमय भोजन, और तज्जनित तृप्ति। मनु जी का आदेश है, 'न अतिसौहित्यम् आचरेत्', उत्तम भोजन भी अति मात्रा मे न करे; अति तृप्त न हो जाय; भोजन परिमित ही अच्छा। स्यात् यह भी आदेश मनु जी ने किया होता कि 'नातिसाहित्यमाचरेत्', रस भरी कविता का भी अति सेवन न करे, तो अनुचित न होता!

जैसे अति सौहित्य से, विशेष कर तीव्र रस वाले चटनी-अचार और खटाई-मिठाई के व्यंजनो के अति भोजन से, शरीर मे व्याधि उत्पन्न होती है, वैसे ही अति साहित्य से, अति मात्र रसों और अलंकारों की ही चर्चा से, चित्त मे आधि, विकार, शैथिल्य, दौर्बल्य, पैदा होते हैं। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। प्रत्येक इंद्रिय का जो उचित विषय है, वही उस का आप्यायक, तर्पक, 'भोज्य' है। केवल जिह्वा का ही भोज्य, 'रस'-मय पदार्थ, नहीं है। कान का भोज्य सुखदायक शब्द है; आँख का, आनंदकारी रूप-रंग; त्वचा का, प्रमोदवर्धक, स्निग्ध, मसृण, कोमल स्पर्श; घ्राण का, आह्लादक सुगंध। किसी भी इन्द्रिय को अपने 'भोज्य' के, 'विषय' के, 'अर्थ' के, साथ, मिथ्या-योग, अथवा चिरकाल तक अ-योग, अथवा अति-योग हो, तो व्याधि उत्पन्न होगी। जैसे समग्र शरीर मे, विषमाशन, अनशन, और अत्यशन से। यह वैद्यक का सिद्धान्त है। मधुर गीत वाद्य, मंजुल वर्ण आकृति, मृदु स्पर्श, उत्कृष्ट स्वाद, उत्तम सौरभ—किसी के भी अतिमात्र सेवन से, तत् तत् इन्द्रिय पहिले कुंठ हो जाती है, फिर व्याधित। जैसे पैर का तलवा, जो जन्म के समय, शरीर के दूसरे भागों के चमड़े से अधिक कोमल होता है, वह पीछे, सयानी अवस्था मे, बहुत चलते चलते, मोटा और कर्कश हो जाता है, और अति चलाई पर बेवाई, गोखरू, आदि से रुग्ण हो जाता है। इस लिये, जो मनुष्य, इन्द्रियों की और चित्त की स्वस्थता और मृदु-वेदिता ('सेन्सिटिव्नेस्') बनाये रखना चाहते हैं,

उन को किसी भी 'विषय' के मिथ्या-योग, सर्वथा अ-योग, तथा अति-योग, तीनो से बचना चाहिये ।

अस्तु । प्रकृत अभिप्राय यह है कि जैसे जिह्वा का रस 'सौहित्य' मे प्रधान है, वैसे ही मन का रस 'साहित्य' मे ।

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं, शुकमुखाद् अमृतद्रवसंयुतम् ,
पिबत भागवतं रसं आलयं मुहुरहो रसिकाः भुवि भावुकाः
वयं तु न वितृप्यामः उत्तमश्लोकविक्रमे,
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे । (भागवत)
वेदकल्पतरु पै उपज्यौ फल, शुकमुख छूइ गिरायौ,
बह्यौ सुधा-'रस', पियौ 'रसिक' सब, जब लगि लय नहि आयौ ।
चरित पुनीत सुनत हरि के नित नित चित तृप्ति न जोहै,
पद पद से जा के निसरत 'रस' 'रसिकन' के मन मोहै ।

कोई-कोई, गिने-चुने, ग्रन्थ ऐसे महाभाग हैं, श्रीमद्भागवत, महाभारत, वाल्मीकीय रामायण, तुलसी रामायण, जिन मे 'रस' भी भरा हैं, और स्वास्थ्य-वर्द्धक आधि-शोधक तोषक-पोषक सदाचार-शिक्षक ज्ञान भी ।

नैषाऽतिदुःसहा क्षुन् मां त्यक्तोदम् अपि बाधते,
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजाच्च्युतं हरिकथाऽमृतम् । (भागवत)*

'रस' क्या है ?

उस के कै भेद हैं ? उन मे परा-अपरा-जाति का परस्पर सम्बन्ध है या नहीं ?

'रस' क्या है ? 'अस्मिता' का अनुभव, आस्वादन, रसन, ही 'रस' है; इस का प्रतिपादन आगे किया जायगा । इस स्थान पर इतना कहना पर्याप्त होगा, कि पांच इन्द्रियों के पांच विषयों मे, जिह्वा के ही विषय को 'रस' कहते हैं, और जिह्वा का पर्याय 'रसना' है । जल का गुण 'रस' है । सूखा रूखा पदार्थ, सूखो जिह्वा पर रख दिया जाय, तो कुछ स्वाद न निकलैगा । जिह्वा भी आर्द्र हो, पदार्थ भी आर्द्र हो, तभी स्वाद आवैगा । संस्कृत मे, 'जल' के पर्याय शब्द 'रस' भी और 'जीवन' भी हैं । जैसी 'तृप्ति' स्थूल शरीर की जल से होती है, वैसी अन्न से, अथवा

* अनुवाद, पृ० ८६ पर देखिये ।

वायु से भी, नहीं होती, यद्यपि प्राण के धारण के लिये वायु अधिक आवश्यक है। इस लिये मानस स्वाद का, आस्वादन का, बुद्धिपूर्वक विशेष प्रकार के अनुभवन का, भी संकेतन, 'रस' शब्द ही से किया गया है। और जैसे भोज्य पदार्थ तीन राशियों मे बाँटे जा सकते हैं सुरस, कुरस, और नीरस, वैसे ही वाक्य और वाक्यसमूहरूप काव्य भी।

'साहित्य' शब्द का साधारण अर्थ ऊपर कहा। तदनुसार साहित्य-शास्त्र का अर्थ है। जैसे सब प्रकार की गिनतियों का, 'गणना' का, शास्त्र 'गणित', ग्रह-नक्षत्रादि आकाश (की ज्योतियों) की गतियों का 'ज्योतिष', रोगों की चिकित्सा के और आयु को बढ़ाने के उपायों का 'आयुर्वेद', वैसे ही सब प्रकार की कविताओं का शास्त्र 'साहित्य-शास्त्र' है। पदार्थों का राशियों मे, जातियों मे, संग्रह और सन्निवेश कर के, उन् के कार्य-कारण-संबंध को अनुगमो और नियमो के रूप मे जो बतावे, सिखावे, 'शासन' शंसन करे, और जिस के ज्ञान से मनुष्य के ऐहिक अथवा पारलौकिक अथवा उभय प्रकार के व्यवहार मे सहायता मिले, भविष्य का प्रबन्ध किया जा सकै, "ऐसा करने से यह फल मिलैगा, इस लिये ऐसा करना चाहिये, ऐसा नहीं", वह 'शास्त्र'। जिस शास्त्र से काव्य का तत्त्व, रहस्य, मर्म, मूल रूप, तथा उस के अवांतर अंग, सब परस्पर व्यूढ, परस्पर सम्बद्ध, रूप से जान पड़ें, और जिस से कविता के गुण-दोष के विवेक की शक्ति जागे, तथा अच्छी कविता करने मे सहायता मिले, वह 'साहित्य-शास्त्र'।

> शास्ति यत् साधनोपायं पुरुषार्थस्य, निर्मलम्,
> तथैव बाधन-पायं, तत् शास्त्रम् अभिधीयते।

चतुर्विध पुरुषार्थ मे से किसी पुरुषार्थ के साधन का उपाय, और बाधन का अपाय अर्थात् विघ्नों को दूर करने की युक्ति, जो बतावै वह 'शास्त्र'। पुरुषार्थों के अधीन, संसार के सभी विषय हैं, सभी उचित उपयोग से साधक, अनुचित प्रयोग से बाधक, हो सकते हैं।

संस्कृत मे भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' इस विषय का आकर-ग्रंथ और आदि-ग्रंथ भी माना जाता है*। बहुत अन्य ग्रन्थ छोटे-मोटे लिखे

---

* 'साहित्य-दर्पण' की एक उत्तम टीका, हिन्दी में, श्री शालग्राम शास्त्री साहित्याचार्य ने लिखी है, जो सं० १९७८ में लखनऊ में छपी है।

गये हैं। आज काल, पढ़ने-पढ़ाने मे, दंडी के 'काव्यादर्श', आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक', मम्मट के 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण', का अधिक उपयोग देख पड़ता है। इनके आधार पर हिन्दी मे भी अच्छे-अच्छे ग्रन्थ वने हैं और वनते जाते हैं।*

कविता का प्राण 'रस' है, यह सब ने माना है। शब्द और अर्थ उस के शरीर हैं। शब्दालंकार, अर्थालंकार, उस के विशेष अलंकरण हैं। 'रसं वा सौन्दर्यं वा अलं पूर्णं कुर्वन्ति इति अलङ्काराः'—जो रस को, सौंदर्य को, बढ़ावें, पूरा करें, वे अलंकार। पर यह याद रखना चाहिए कि,

अस्ति चेद् रस-सम्पत्तिः, अलंकाराः वृथा इव,
नास्ति चेद् रससम्पत्तिः, अलंकाराः वृथैव हि।

यदि रस की सम्पत्ति पूरी है तो अलङ्कार चाहे हों या न हों; प्रायः वृथा से हैं। यदि रस की सम्पत्ति नहीं तब तो अलङ्कार निश्चयेन वृथा ही हैं। परम सुन्दर शरीर की शोभा को गहना क्या बढ़ावैगा, बल्कि छिपावेगा; गहने की ही शोभा को सुन्दर शरीर बढ़ावैगा। तथा, यदि शरीर कुरूप है, तब तो आभूषण उस की कुरूपता को ही अधिक दर्सावैगा।

'सौहित्य' मे जिह्वा के रस छः मुख्य माने जाते हैं—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय। इन के अवान्तर भेद बहुत हैं। यथा, पचासों फल ऐसे हैं, जो मधुर कहे जाते हैं, पर प्रत्येक की मिठास अलग है। त्रिकटु, तीन कटु—सोंठ, मिर्च, पिप्पली, (जिसे हिन्दी मे 'तीता' कहते हैं, संस्कृत मे वह 'कटु' है; और हिन्दी का 'कड़ुवा' संस्कृत मे 'तिक्त'

*न तज् ज्ञानं, न तच्छिल्पं, न सा विद्या, न सा कला,
नासौ नयो, न तत्कर्म, नाटके यन्न दृश्यते।

कोई ज्ञान, कोई विद्या, शिल्प कला, नीति, कर्म, नहीं, जो नाटक मे न देख पड़े। ईश्वर-कृत जगन्नाटक की नक़ल ही तो मनुष्य-कृत नाटक है; क्यों न इस मे सब भावों का संनिवेश हो सके? सच्चे इतिहास का ग्रन्थ भी, यदि सजीव शब्दों में लिखा हो, तो उत्तमोत्तम और सच्चा नाटक हो है। प्रायः इसी हेतु से, भरत मुनि ने, अपने बहु-संग्राहक ग्रन्थ का नाम 'नाट्य-शास्त्र' रक्खा।

है; कैसे उलट गया, यह कुतूहली के खोजने की बात है !), तथा त्रि-कषाय, कसैला—हड, बहेरा, आँवला। अन्य पचासों पदार्थ कटु और पचासों कषाय आदि हैं, और सब, एक से एक, कुछ न कुछ, स्वाद मे भिन्न हैं। 'सामान्य', समानता—यह आत्मा की एकता की झलक है। 'विशेष', पृथक्त्व, भिन्नत्व—यह आत्मा की प्रकृति का, अनात्मा की अनेकता, नानात्व, का फल है।

ऐसे ही 'साहित्य' मे नौ रस माने हैं—

शृङ्गार - हास्य - करुण - वीर - रौद्र - भयानकाः,
बीभत्सो-ऽद्भुतः इत्यष्टौ रसाः, शान्तस्तथा मतः।

(साहित्य-दर्पण)

इन के भी सूक्ष्म अवांतर भेद बहुत होने चाहियें। ग्रन्थकारों ने भाव, आभास भाव, अनुभाव, संचारी भाव, व्यभिचारी भाव, स्थायी भाव, आदि की सेना इन के साथ लगा दी है। प्रत्येक के भेद हैं। यथा— 'हास्य' रस का स्थायी भाव 'हास' कह कर उस के छः भेद बताए हैं— स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित, अतिहसित। 'एको रसः करुण एव, निमित्तभेदात्' कई प्रकार का हो जाता है। इत्यादि। जैसे प्रत्येक स्थायी भाव के साथ एक स्थायी रस, वैसे प्रत्येक संचारी या व्यभिचारी भाव के साथ एक संचारी या व्यभिचारी रस होता है। अब प्रश्न यह है कि रसों मे 'सामान्य'-'विशेष', 'परा'-'अपरा' जाति, है या नहीं ?*

जहाँ तक, देखने-सुनने मे आया, और विद्वानो से पूछने पर जान पडा, इस विषय पर किसी ग्रन्थकार ने विचार नहीं किया, कि यह सब रस सर्वथा परस्पर भिन्न और स्वतन्त्र हैं, अथवा इन का राशीकरण हो सकता है, 'परा' 'अपरा' जाति के सम्बन्ध के अनुसार। किसी-किसी ने रसों की संख्या घटाने-बढ़ाने का यत्न तो किया है। यथा, 'वात्सल्य' रस दसवाँ है, ऐसा कोई मानते हैं। परमेश्वर की, अथवा किसी भी इष्ट-देव की, नवधा 'भक्ति' के रस को भी अलग मानते हैं। कोई कहते हैं कि सब रस चमत्कारात्मक 'अद्भुत' के ही भेद हैं। पर विद्वल्लोकमत ने नौ

---

*इस विषय की चर्चा दूसरे अध्याय, "हिन्दी-साहित्य", मे, थोड़े में की गयी है। उसी का कुछ विस्तार इस लेख मे किया जाता है।

को ही मान रक्खा है, और जो नये बताये जाते हैं, उन का वह इन्हीं मे इधर-उधर समावेश कर लेता है। पर इन नौ का जन्म कैसे; एक से दो, दो से चार, इत्यादि क्रम से, पर वा अपर 'सामान्यों' की, ये नौ 'अपर' जाति या 'विशेष' सन्तान हैं, या नहीं ? इन प्रश्नो पर विचार नहीं मिलता। और बिना 'विशेषों' और 'अपरा जातियों' को 'सामान्य' की अँकवार मे संग्रह किये, चित्त को सन्तोष नहीं, शास्त्र मे शास्त्रता नहीं।

यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति,
तत एव च विस्तारं, ब्रह्म सम्पद्यते तदा। (गीता)

पृथक्ता को एकता मे स्थित, एकता को पृथक्ता मे विस्तृत, जब पुरुष जान लेता है, तब उस का ब्रह्म, अर्थात् वेद, अर्थात् ज्ञान, संपन्न, संपूर्ण, होता है, तथा तब पुरुष, अर्थात् जीव, ब्रह्ममय, ब्रह्मरूप, निष्पन्न हो जाता है। इस लिए इस प्रश्न पर विचार करना उचित है।

'रस' पदार्थ सब नौ रसों का 'सामान्य' स्पष्ट ही है। 'रस' के स्वरूप की भी मीमांसा करने से स्यात् पता चले, कि इस एक से सद्यः नौ की पृथक्-पृथक् उत्पत्ति हुई, अथवा एक से दो या तीन, और दो या तीन से चार या छः या नौ, इस क्रम से 'परा अपरा जाति' और 'विशेष' के रूप से जन्म हुआ।

'रस' का मुख्य अर्थ 'जल' 'द्रव' है।

सहस्रगुणम् उत्स्रष्टुम् आदत्ते हि रसं रविः। (रघुवंश)

जैसे सूर्य, जो 'रस', जल, पृथ्वी पर से सोखता है, उसका सहस्र गुना वर्षा काल मे लौटा देता है, वैसे सच्चा सदाचारी राजा, जो बलि, कर, प्रजा से लेता है, उस सब को उसी प्रजा की भलाई के लिए प्रजा पर ही व्यय करता है, अपनी आरामतलबी और ऐयाशी बदमाशी मे नहीं। अमरकोष मे जल के पर्यायों मे 'घन-रस' है। आम का रस; ईख का रस; पान का रस; अनार, अंगूर, नारंगी आदि का रस—यह सब उस के 'विशेष' हैं।

रस के 'आस्वादन', चषण, (फारसी मे 'चशीदन'), धीरे धीरे 'चखने' से, जो 'अनुभव' हो, उस को भी 'रस' कहते हैं।

यदि भूखा बच्चा जल्दी-जल्दी आम खा जाय, तो उस को 'स्वाद' तो अवश्य आवेगा ही, पर, भूख की मात्रा अधिक और स्वाद की मात्रा कम होने से 'रस' नहीं आवेगा। खा चुकने पर, जब उसके मुंह पर

मुस्कुराहट और आँखों मे चमक देख पड़े, और वह कहे कि 'बड़ा मीठा था', तब जानना चाहिए कि उसको 'रस' आया। खाते वक्त भी, कवलों को जल्दी-जल्दी निगल न जाय, एक-एक लुक़मे को ज़बान पर देर तक रख कर, चुभला कर, चबा कर, चर्वण कर, उस का ज़ायक़ा ले और पहिचाने, और कहे कि इस का ऐसा और उमदा (या खराब) ज़ायक़ा है, तौ भी उस को 'रस' (या 'कु-रस') आ रहा है।

ऐसे ही, दो मनुष्य, क्रोध मे भरे, एक दूसरे पर खड्गों से प्रहार कर रहे हों, तो दोनो का 'भाव' रौद्र अवश्य है, पर उन को रौद्र का 'रस' नहीं आ रहा है; किन्तु यदि एक मनुष्य, दूसरे को गहिरा (गभीर) घाव पहुंचा कर और बेकाम कर के, ठहर जाय और कहे—'क्यों, और लड़ोगे, फिर ऐसा करोगे, अब तो समझ गए न ?', तो उस को रौद्र 'रस' आया, ऐसा जानना चाहिये। दो लड़के कुश्ती लड़ते हैं; शोर करते हुए, हाँफते हुए, दाँत पीस कर, एक दूसरे को गिरा देने, हरा देने, के जतन मे तन मन से लगे हैं; उन को 'वीर-रस' नहीं, 'वीर-भाव' है। पर एक लड़का दूसरे को पटक कर अलग खड़ा हो जाता है, और कहता है, 'क्यों, कैसा पटका'!; अब इस को 'वीर-रस' आया; दूसरे को लज्जा या क्रोध का 'भाव' हुआ; लड़ते समय दोनो को 'वीर-भाव' था; लेकिन अगर, लड़ते वक्त भी, बीच-बीच मे, मुस्कुराते हुए, एक दूसरे से कहैं कि, 'देखो, अब तुमको पटकता हूँ', तो उस समय उन को 'वीर-रस' भी आ रहा है।

किसी दुःखी दरिद्र को देख कर किसी के मन मे करुणा उपजे और उस को धन दे, वा अन्य प्रकार से उस की सहायता करे, तो दाता को करुणा का, दया का, दुःखी के शोक मे अनु-कंपा, अनु-क्रोश, अनु-शोक, (हम्-दर्दी, अंग्रेजी 'सिम्-पैथी') का 'भाव' हुआ, पर 'रस' नहीं आया; यदि सहायता कर चुकने के बाद उस के मन मे यह वृत्ति उठै—'कैसा दुःखी था, कैसा दरिद्र था, कैसा कृपापात्र था', तो जानना कि उस को करुण रस आया। महापुरुष की कथा को सावधान सुनना, और उस के प्रति भक्ति का 'भाव' उपजना भी, 'रस' नहीं; पर मन मे यह वृत्ति उदित होना कि 'वाह, कैसे अलौकिक उदार महानुभाव चरित हैं, इनके सुनने से हृदय मे तत्काल कैसी उत्कृष्ट भक्ति का संचार होता है, कैसे सात्विक भाव चित्त मे उदित होते हैं'—यह, बहुमान और भक्ति से संबद्ध 'अद्भुत-रस' का आना है। किसी को किसी दूसरे से किसी विषय मे

तीव्र ईर्ष्या, मत्सर, का 'भाव' उत्पन्न हो, पर उस के वश हो कर वह कोई अनुचित कार्य न कर बैठे, और उस भाव की वर्त्तमानता मे ही, अथवा उस के हट जाने या मंद हो जाने पर, अपने से या मित्रों से कहे—'कैसा दुर्भाव था, क्या-क्या पाप करा सकता था', तो जानना कि उस को, ईर्ष्या से सम्बद्ध, मनुष्य के चित्त की विचित्रता, 'अद्‌भुतता' का 'रस' आया ; अथवा, यदि चित्त की क्षुद्रता पर अधिक ध्यान गया, और 'ग्लानि' का, 'निर्वेद' का, भाव वढ़ा, तो वैराग्य और 'शांत' रस आवैगा। पहलवान अपनी भुजा को देखता, ठोंकता, और प्रसन्न होता है, अपने बल का 'रस' लेता है। सुंदर स्त्री-पुरुष अपने रूप को 'दर्पण' मे ('दर्पयति इति दर्पणः) देख कर आनन्दित होते हैं, 'मैं ऐसा रूपवान्, ऐसी रूपवती, हूँ', अपने रूप का 'रस' लेते हैं। ऐसे दर्प के भाव से सम्बद्ध तीन 'रस' कहे जा सकते हैं; 'शृंगार' ('मदन' का एक नाम 'कं-दर्प' भी है), 'हास्य' (अपनी श्रेष्ठता पर प्रसन्न होने से), और 'वीर' भी ('इस विषय मे मैं ने दूसरों को दबा दिया है, मेरे मुक़ाबिले का कोई नहीं है'; "भुवन-त्रयसुभ्रुवां, असौ, दमयन्ती कमनीयता-मदं, उदियाय यतस् तनुश्रिया, दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ" (नैषध), विदर्भ के राजा भीम की बेटी का (जिस का विवाह निषध के राजा नल से हुआ) नाम 'दमयन्ती' हुआ। क्यों ? इस लिये कि जन्म लेते ही उस ने अपने सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य से तीनो लोकों की सुन्दर से सुन्दर स्त्रियों के, कमनीयता सुन्दरता के, मद का, अभिमान का, दमन कर दिया। 'मद', 'गर्व', 'दर्प' ही, 'वीर-रस' का 'भाव' है; और वह कई प्रकार का होता है, ऐश्वर्य-मद, बल-मद, रूप-मद, धन-मद, विद्या-मद, आभिजात्य-मद (ऊंचे कुल मे जन्म का), इत्यादि।

जैसे बच्चे तीती वस्तु को चीख कर 'सी-सी' करते हैं और फिर भी चीखना चाहते हैं, अर्थात् यदि अति मात्रा मे तीतापन नहीं है तो उस मे दुःख मानते हुए भी सुख मानते हैं, सो दशा साहित्य के उन रसों की है जिन के 'भाव'—यथा भय, बीभत्स, आदि—'दुःख'-द भी हैं, पर उन के 'स्मरण' मे ('सुख'-मय नहीं तो 'आनंद'-मय), 'रस' उठता है। 'आनन्द' और 'सुख' में सूक्ष्म भेद है।

क्यों सुख मे भी जीवात्मा को 'आनन्द' मिलता है, और दुःख मे भी (सुख नहीं) 'आनन्द' मिलता है, तथा भयानक और बीभत्स आदि

कथाओं मे क्यों 'रस' मिलता है—इसका विस्तार से विचार करने का यत्न 'दि सायंस आफ़ दि इमोशन्स' नाम की अंग्रेज़ी मे लिखी पुस्तक मे, मै ने किया है। थोड़े मे, 'मै हूँ', आत्मा को अपने अस्तित्व का अनुभव करना ही, 'आनंद' है। परमात्मा, सब सान्त भावों का, 'विद्या' द्वारा निषेध कर के, 'मै मै ही हूँ, मै से अन्य कुछ भी नहीं हूँ', इस अनन्त 'आनन्द' का सदा एकरस अखंड स्वाद लेता है। जीवात्मा, 'अविद्या'—द्वारा सान्त भावों को ओढ़ कर, 'मै यह शरीर हूँ', शरीर की सभी अवस्थाओं और क्रियाओं से अपने अस्तित्व का अनुभव करता है, चाहे वह अवस्था या क्रिया सुखमय हों या दुःखमय हों; बल्कि, दुःख मे अपने अस्तित्व का अनुभव अधिक तीव्र हो जाता है; प्रसिद्ध है कि सुख का वर्ष दिन बराबर, दुःख का दिन वर्ष बराबर। तत्रापि, काम-क्रोध आदि क्षोभात्मक भावों मे अपने अस्तित्व का अनुभव अधिक तीक्ष्ण होता है। 'काममयः एवाय पुरुषः', 'चित्तं वै वासनात्मकम्', 'काममयः', 'इच्छामयः', इच्छान्तर्गत—सर्वप्रकारक-काम-क्रोध-लोभादि-प्रेम-मैत्री-त्यागादि-मयः जीवात्मा'। अत एव, इच्छा, वासना, तृष्णा, के क्षय से मोक्ष अर्थात् परमात्म-भाव सिद्ध होता है। सुख दुःख दोनो से (विशेष अर्थ मे) 'आनन्द' होता है; ("जो मज़ा इन्तिज़ार मे देखा, वो नहीं वस्लि यार मे देखा"; ("विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र, जगद्गुरो!, भवतो दर्शनं यत् स्याद् अपुनर्भवदर्शनं") कुन्ती ने कृष्ण से कहा, हे जगद्-गुरो, हमारे ऊपर विपत्ति पर विपत्ति पड़े; यही अच्छा है, क्योंकि, तब हम आप को सच्चे हृदय से याद करेंगे, और आप का दर्शन पावेंगे, जिस के पीछे, फिर से, भव का, जनन-मरण का दर्शन न होगा। काव्य मे 'भयानक' 'बीभत्स' आदि के वर्णन से आनन्दात्मक स्पृहणीय 'रस', दो प्रकार की विरुद्ध प्रकृतियों के, तबीयतों के, लोगों को उठता है, और वे उस को शौक़ से, ज़ौक़, ज़ायक़े, रस, से, रुचिपूर्वक, सुनते पढ़ते हैं। एक क़िस्म वह जो अपने मे भयकारक बीभत्सोत्पादक बलवान् की सत्ता का 'स्मरण', आवाहन, कल्पन, कर के, वह रस चखते हैं जो खल को अपने बल का प्रयोग, दुर्बलों को पीड़ा देने के लिए करने से, होता है,

> विद्या विवादाय, धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीड़नाय,
> खलस्य; साधोर् विपरीतम् एतत्, ज्ञानाय, दानाय, च रक्षणाय।

दूसरी प्रकृति के लोग, पीड़ित, भयभीत, बीभत्सित के भाव का,

अपने मे उद्भावन चिंतन कर के, उस के साथ अनुकम्पा के करुण रस का, और दुष्ट के ऊपर क्रोध घृणा आदि के रस का, आस्वादन करते हैं, और सचमुच दुःखी इस लिए नहीं होते, कि निश्चय से जान रहे हैं, कि यह सब मिथ्या कल्पना है, कहानी है, वास्तव मे यह कष्ट हम को नहीं है। साधु सज्जन की विद्या, धन, बल, तो ज्ञान, दान, दुर्बल रक्षा के लिए है।

निष्कर्ष यह कि अबुद्धिपूर्वक, अनिच्छापूर्वक, 'स्वाद' नहीं, किन्तु बुद्धिपूर्वक, इच्छापूर्वक, 'आस्वादन' की अनुशयिनी चित्तवृत्ति का नाम 'रस' है। 'भाव' (क्षोभ, संरंभ, संवेग, उद्वेग, आवेग, आवेश, जोश, जज़्बा, अँगरेज़ी 'ईमोशन' 'पैशन') का अनुभव 'रस' नहीं है; किन्तु उस अनुभव का 'स्मरण', 'रसन', रस है। 'भाव-स्मरणं रसः'। और आस्वादन का रूप यह है—'मै क्रोधवान् हूँ' ('अहं क्रोधवान् अस्मि'), 'मै (अहं) करुणावान् हूँ', 'मै शोकवान् हूँ', 'मै भक्तिमान् हूँ', 'मै ईर्ष्यावान् हूँ', 'मै बलवान् हूँ', 'मै सुरूप हूँ'। अर्थात् 'मै हूँ'—यही रस का सारतत्त्व है, 'रस-सामान्य' है।

ऐतरेय ब्राह्मण मे कहा है, "...पुरुषे तु एव आविस्तरां आत्मा, स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमः, विज्ञातं वदति, विज्ञातं पश्यति... (पशवः) न विज्ञातं वदन्ति, न विज्ञातं पश्यन्ति,..."। पशु जानते हैं, देखते हैं, पर यह नहीं जानते कि हम जान, देख, बोल रहे हैं। मनुष्य जानता, देखता, बोलता है, और साथ ही, यह भी जानता है कि हम जान, देख, बोल रहे हैं। इस लिये पुरुष मे आत्मा का आविर्भाव सब प्राणियों से अधिक है, उस मे ज्ञान भी है और प्रज्ञान भी है। आत्मज्ञान का आरम्भ, मनुष्ययोनि मे पहुँच कर, जीव को होता है। इसी लिए "मोक्षस्तु मानवे देहे"। ऐसा ऐतरेय ब्राह्मण मे कहा तो सही है, कि पशु "न विज्ञातं वदन्ति", पर इस को भी "वैशेष्यात् तु तद्वादः", सापेक्ष उक्ति जानना चाहिए। पशु सर्वथा इस प्रकार के 'प्रज्ञान' से रहित ही हैं, ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि वे 'खेलते' हैं, और 'खेलना', 'क्रीड़ा', 'लीला', का मर्म 'आत्मानुभव रस' ही है। मुँह से, व्यक्त वाणी से, वे यह नहीं कह सकते हैं कि हम को यह-यह अनुभव हो रहा है; पर ऐसा कह सकने का बीज उन मे है अवश्य; बल्कि, व्यक्त नहीं तो अव्यक्त अस्पष्ट विविध प्रकार की ध्वनियों से, आवाज़ों से, कहते भी हैं; कुत्ते के

खेलने के मिथ्या भूँकने और गुर्राने, और सचमुच गुस्से के भूँकने और गुर्राने में, बहुत भेद होता है। ऐसे प्रज्ञान के, और कह सकने के, बीज का पशुओं में भी होना उचित ही है, क्योंकि वे भी तो परमात्मा, चैतन्य की ही कला हैं। और यह सब अनन्त जगत् ('पुनः पुनः गच्छति, जंगम्यते, सदा गच्छत्येव, इति जगत्'), अनन्त संसार ('संसरति इति', चलता ही रहता है), परमात्मा की लीला, क्रीड़ा, रसऽस्वादन, आत्मानुभव ही है।

लोकवत् तु लीलाकैवल्यं (ब्रह्मसूत्र)

क्रीड़न्निव एतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः। (मनु)

स्वाभाविक वासना ('इन्स्टिंक्ट') से, मनुष्य, 'नाटक' के लिये 'खेलना' शब्द का प्रयोग करते हैं; नाटक 'खेला' जाता है; आज यह 'खेल' दिखाया जायगा; इत्यादि। अंग्रेजी मे भी 'ड्रामा' को 'प्ले' कहते हैं। 'नटना' का अर्थ 'बनना'। 'खेलना' का अर्थ जान बूझ कर कोई बनावटी काम, मन बहलाव के लिये, करना, 'सचमुच नहीं, मानो ऐसा'; जब कोई पुरुष या स्त्री, अपनी असली प्रकृति के रूप को छिपा कर, दूसरा रूप दिखाता है, तो लोग कहते हैं, 'वह बनता है' 'वह इतराती है', (संस्कृत 'इतर', अंग्रेजी 'अदर', ग्रीक 'हेटेरोन' का अर्थ है 'दूसरा')। ठीक यही अर्थ 'मा-या' का है। 'ऐज़् इफ़' 'या मा', जो है नहीं पर मालूम होती है कि है। जगन्नाटक, परमात्मा की बाललीला ही है। वह इस का सदा रस लेता रहता है।

जानना, इच्छा करना, क्रिया करना, और इस को अनुभव करना, पहिचानना, प्रत्यभिज्ञान' करना, कि हम मे ज्ञान, इच्छा, क्रिया हो रही है—इस बुद्धि-वृत्ति को विविध दर्शनों मे विविध नामो से कहा है। यथा—अनव्यवसाय, प्रतिसंवेदन, प्रत्यभिज्ञान, प्रत्ययानुपश्यता, निजबोध, प्रत्यक्-चेतना, आलय विज्ञान प्रभृति। इन मे 'प्रस्थानभेद से दर्शनभेद' के न्याय के अनुसार सूक्ष्म-सूक्ष्म भेद हो सकता है, पर मुख्य आशय एक ही है, अर्थात् बहिर्मुखीन विशेष वृत्तियों के साथ-साथ उन मे अनुस्यूत 'अहं अस्मि', 'मैं हूँ' इत्याकारक अखण्ड एक-रस निर्विशेष अन्तर्मुखीन वृत्ति।

बाह्य पदार्थों के अनुभव के साथ-साथ यह आत्मानुभवरूपिणी वृत्ति सत्-विद्यमान है, चित्-चेतन है, आनन्द-सुखमय है। इस 'मैं हूँ' मे जो 'आनन्द' का अंश (अंग, अवयव, कला, मात्रा, रूप, भाव, पहलू,

'आस्पेक्ट') है, वही 'रस' है । इसी लिये उपनिषदों मे आत्मा के विषय मे कहा है, 'रसो वैः सः", "स एष रसानां रसतमः", "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति", "कृत्स्नो रसघन एव", "सद्घनोऽयं, चिद्घनः, आनन्दघनः", "आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रियं भवति", "सोऽयमात्मा श्रेष्ठश्च प्रेष्ठश्च", "अङ्गिरसो, अङ्गानां हि रसः", "प्राणो हि वा अङ्गानां रसः", "आपयिता ह वै कामानां भवति, य एतद् एवं विद्वान्अक्षरम्-उपास्ते", "को ह्येवा अन्यात् कः प्राण्याद्, यदेष आनन्दो न स्यात्", "सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति" । 'अहम् अस्मि'—यही सन्मय, चिन्मय, आनन्द-रसमय है । आत्मा का किसी 'अनात्मा' के बहाने से, ('विद्या' मे अनात्मा के नि-षेध प्रति-षेध से, 'अविद्या' मे अनात्मा के आ-सेध उप-सेध से) अपनी सत्ता का आस्वादन—यही रस, लीला, क्रीड़ा, नटन है । कविता मे श्रेष्ठ, नाटक, इसी कारण से है, "काव्येषु नाटकं श्रेष्ठम्", कि नाटक मे प्रत्यक्ष ही पात्र 'बनते' हैं, अपने को अपने से अन्य 'बनाते' हैं; बुद्धि-पूर्वक, लीला से, माया से ('या-मा'), जो नही है वह 'बन' जाते हैं, और उस मे अधिक रस मानते हैं, अधिक आनन्द पाते हैं । ऐसा क्यों होता है, परमात्मा को, ब्रह्म को, ब्रह्म मे, ब्रह्म से, मा-या क्यों भासती है—यह वेदान्त का गूढ़तम प्रश्न है । इसका पुराना उत्तर, नये शब्दों मे, 'समन्वय' नामक ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय मे, तथा 'दि सायंस् आफ़् पीस्' नामक अंग्रेज़ी ग्रन्थ मे, देने का यत्न किया गया है ।

'चैतन्य' का परोक्ष नाम 'आत्मा' है, 'अपरोक्ष' नाम 'अहम्' है । ॐ भी उस का नाम है, पर थोड़ा 'अव्यक्त' सा है* । 'अहम्'—यह दिन-दिन के व्यवहार मे कुछ अधिक व्यक्त जान पड़ता है । संस्कृत वर्णमाला का आदिम अक्षर 'अ' और अन्तिम 'ह' है । इन दोनो के बीच

---

* इस विषय पर मै ने अपने 'समन्वय' नामक ग्रन्थ के अन्तिमाध्यायों मे—'प्रणव की कहानी' और 'महासमन्वय' मे—कुछ विचार किया है । तथा 'प्रणव-वाद' और 'दि सायंस् आफ़् पीस्' नामक अंग्रेज़ी ग्रन्थों में प्रणव के अर्थों पर विस्तार से विचार किया है । 'दि सायंस् आफ़् दि सेल्फ़' (१९३८) मे भी, इन सब विषयों का, संक्षेप से, नये प्रकारों से प्रतिपादन किया है ।

मे अन्य सब अक्षर हैं। अक्षरों के संयोग मे सब वाक्य हैं, जो अनन्त प्रकार के ज्ञान, इच्छा, क्रिया के वाचक बोधक हैं। तंत्रशास्त्र मे एक-एक अक्षर से एक-एक तत्व की, एक-एक पदार्थ की, जिन का वर्णन सांख्य आदि दर्शनों मे किया है, सूचना होती है। यह भी देखने की बात है कि यदि मुह खोल कर सांस ली जाय, तो भीतर खींचते समय प्रायः 'अ' की सी ध्वनि होती है और बाहर छोड़ते समय 'ह' की सी आवाज़ होती है; तथा बोलने की क्रिया सब श्वास ही की क्रिया है; हाँफता हुआ आदमी बोल नहीं सकता; साँस को रोके हुए, अन्तःकुम्भक या वहिःकुम्भक किये हुए भी बोल नहीं सकता; श्वास को धीरे-धीरे छोड़ते हुए ही वर्णों का उच्चारण कर सकते हैं; इस हेतु से भी जीव का 'अ-ह-म्' नाम उचित है; 'स्वरं श्वासं अनु', सब स्वर के साथ, अव्यक्त या व्यक्तरूप से, 'म्' 'अनुस्वार', भी नासिका से आती-जाती साँस के साथ, लगा ही रहता है*। 'अहम्' इस आद्य अन्त्य (और सर्वव्यापी मध्य'म्' की गूँज) अक्षरों के संयोग से आत्मा की निगूढ़ सर्वज्ञता सूचित होती है, तथा यह भी कि "अहम् एव सर्वः", "मयि स्थितमिदं जगत् सकलमेव", सब पंचविंशति, षड्विंशति, षट्त्रिंशत् प्रभृति तत्त्व एक 'अहम्' के, 'मैं' के, भीतर हैं, 'मैं' किसी के भीतर समाप्त नहीं है। इस विश्वम्भरता विश्वोदरता की 'भूमा' के, बड़ाई के, परम महत्त्व के, आस्वादन से बढ़ कर कौन आनन्द-रस-आस्वादन हो सकता है? जो भी कोई, कुछ भी रस-आनन्द है, वह सब इसी की छाया है।

इति नाना प्रसंख्यानं तत्वानां कविभिः कृतम्;
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद्; विदुषां किमसाम्प्रतम्। (भागवत)

कवियों ने तत्वों की संख्या नाना प्रकार से की है; सभी युक्ति-

---

* स्वं आत्मानं राति, ददाति, सूचयति, ज्ञापयति, इति 'स्वरः' 'स्वेन, स्वयं, विना सहायं, राजते, इति च'; स्वरं व्यञ्जन्ति, व्यक्तीकुर्वंति, इति 'व्यञ्जनानि'; ऐसा भी निर्वचन किया जाता है। हिन्दी मे प्रायः, विशेषतः ग्रामों मे, 'मैं' के स्थान से 'हम' कहते हैं; उर्दू-दाँ इस को ग़लत समझते हैं; पर अस्ल मे 'एकवचन' 'अहं' का स्थानीय ही 'एकवचन' 'हम' है; उर्दू मे 'हम' बहुवचन है; गाँव मे उस का स्थानीय, 'हमहन' 'हम लोग' है।

युक्त हैं; समझदार, 'सम्बुद्धि'-मान्, पुरुष सब का समन्वय कर ले सकते हैं।

इस 'अहम्' मे, 'अस्मि' मे, आनन्द का अंश 'रस' है, ऐसा कहा। यहां एक धोखा होने का भय है। ऊपर कहे 'विद्या' और 'अविद्या' के भेद से उस का निवारण हो जाना चाहिए। तौ भी दूसरे शब्दों मे दुहरा देना स्यात् अच्छा होगा। 'अहम्' नाम परमात्मा (वा प्रत्यगात्मा) का भी है, और जीवात्मा का भी। दोनो मे एकता होते हुए भी जो भेद है वह प्रायः प्रसिद्ध है। देश-काल-द्रव्य आदि मे परिच्छिन्न, अवच्छिन्न, परिमित, विशेषित, आधिभौतिक शरीर की उपाधि से उपहित, चैतन्य को जीवात्मा कहते हैं। इन सब से अतीत चैतन्य को परमात्मा कहते हैं। ऐसे ही, एक 'अस्मिता', परमात्मा की, और एक, 'जीवात्मा' की, होती है। पुराणो मे, दर्शनसूत्रों मे, बताया है कि परमात्मा मे विद्या-अविद्या दोनो भासती हैं। अनन्त आत्मा, अपने को सान्त, हाड़-मांस का बना शरीर, मान ले, तो इसे 'अविद्या' अर्थात् सीधी बोली मे, मूर्खता, कहना चाहिए। पर अपनी ही 'माया' से परमात्मा इस 'मूर्खता' मे, जान 'बूझ' कर, 'बुद्धि'-पूर्वक, 'तजाहुल-इ-आरिफ़ाना' से, पड़ा हुआ 'भासता' है, सचमुच पड़ा नहीं है, इस से 'अविद्या' बनावटी है, लीला क्रीड़ा है। जैसे दूब मे से 'पोर' निकलती है वैसे अविद्या मे से भी 'पर्व' निकलते हैं। पहिली पोर स्वयं 'अविद्या', दूसरी 'अस्मिता', तीसरी 'राग', चौथी 'द्वेष' पांचवीं 'अभिनिवेश' (हठ से, आग्रह से, शरीर मे निविष्ट हो जाना, घुस जाना, धँस जाना, 'मै यह हाड़-मांस ही हूँ', यह बात यों ही है, 'जो बात मै मानता कहता हूँ वही ठीक है')। इस लिए 'पंच-पर्वा' अविद्या। 'विद्या' के साथ रहने वाली 'अस्मिता', पारमात्मिक पारमार्थिक, अस्मिता। 'अविद्या' के साथ वाली 'अस्मिता', सांसारिक, व्यावहारिक, जैवात्मिक। 'मै सान्त पदार्थ नहीं हूँ' मै मै ही हूँ, मै से अन्य कुछ नहीं हूँ, और नहीं है'—यही भाव सब से बड़ा बड़प्पन, भूयिष्ठता, भूमा, है।

"अहमेव, न मत्तोऽन्यत्" (भागवत), "मत्तः परतरं नाऽन्यत्" (गीता), "यत्र नाऽन्यत् पश्यति स भूमा" (बृ० आ० उपनिषत्) —यह 'विद्या'। 'मै यह शरीर हूँ'—यह 'अविद्या'।

जैसे पारमात्मिक-अस्मिताऽनुभवरूपी 'रस' पारमार्थिक 'आनन्द',

ब्रह्माऽनंद का पर्याय है, वैसे जैवात्मिक व्यावहारिक अस्मिताऽनुभवरूपी 'रस' लौकिक काव्यसाहित्य से संबंध रखने वाले 'आनन्द', विषयऽानन्द, का पर्याय है। यह आनन्द उस आनन्द की, यह रस उस रस की, छाया है, नक़ल है।

सत्त्वोद्रेकाद् अखण्ड-स्व-प्रकाशऽानन्द, चिन्मयः
वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्यो, ब्रह्मऽास्वाद-सहोदरः।
लोकोत्तर-चमत्कार-प्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः
स्वऽाकारवद् अभिन्नत्वेन अयम्‌आस्वाद्यते रसः।

(साहित्य-दर्पण)

सत्त्वगुण का चित्त मे उद्रेक होने पर, जो अनुभव, अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्दमय, चिन्मय, ब्रह्माऽस्वाद का सगा भाई, अनुभूत होता है, जिस मे कोई दूसरा वेदनीय पदार्थ छू नहीं गया है, अलौकिक लोकोत्तर चमत्कार ही जिस का प्राण है, जिस को कोई-कोई विशिष्ट बुद्धि वाले प्रमाता ही अनुभव कर सकते हैं, जो अनुभव करने वाले से अभिन्न जान पड़ता है, जैसे अपना आकार अपने से अभिन्न जान पड़ता है—वह अनुभव 'रस' है। ऐसा 'साहित्य-दर्पण' के लिखने वाले विश्वनाथ जी का मत है।

स्यात् दर्शन शास्त्र के अधिक अनुकूल होता, यदि इन श्लोकों को यों पढ़ते,

सत्त्वोद्रेकाद्-अखण्डस्वप्रकाशऽानन्द-रूपकः,
वेद्यांतर-स्पर्श-युतो, ब्रह्मऽास्वाद-विवर्त्तकः,
अ-सामान्य-चमत्कार-प्राणः, सहृदयैर् इह,
स्वाकारवद् अभिन्नत्वेन अयम्‌आस्वाद्यते रसः।

ब्रह्माऽस्वाद का सहोदर काव्यऽास्वाद नहीं, ब्रह्मानन्द का सगा भाई विषयानन्द नहीं, प्रत्युत उस का प्रतिबिम्ब, विवर्त्त, रूपक, नक़ल, छाया-मात्र है। तथा इस मे 'वेद्यांतर' तो है, अर्थात् 'विभाव', भाव का विषय, जिस भाव के बिना रस नहीं, और जिस विषय के बिना भाव नहीं। ब्रह्माऽस्वाद मे 'वेद्यांतर' का निषेध है, "नेह नानास्ति किंचन"। काव्यास्वाद मे तो बिना 'विभाव'-रूपी 'वेद्यांतर' के काम नहीं चलता। 'लोकोत्तर' भी कैसे कहा जा सकता है? लोक मे ही तो, और लौकिक विशेष-विशेष अनुभवों को ले कर ही तो, काव्यसाहित्य के 'रस' की चर्चा

है। 'कैश्चित् प्रमातृभिः' भी नहीं जँचता। हाँ, किसी को कम, किसी को अधिक, निश्चयेन; पर कुछ-न-कुछ 'रस' तो मनुष्य मात्र के अनुभव मे आता है। ऊपर कहा कि पशु तक खेलते हैं। और खेलना, तथा हँसना, और सिसक कर आँसू बहा कर रोना, (जो चोट की पीड़ा के कराहने-चिल्लाने से भिन्न है), बिना रस के नहीं हो सकता। हँसना, रोना, ये दोनों 'अनुभाव' पशुओं मे प्रायः नहीं देख पड़ते; पर मानवबालकों मे बहुतायत से देख पड़ते हैं। थोड़े ध्यान से, और रसिकता, साहित्यज्ञता, प्रमातृता, का अभिमान छोड़ कर, यदि 'साहित्यदर्पण'-कार विद्वान् देखते, तो उन को स्पष्ट विदित होता कि नटखट (? 'नट' के ऐसा जान बूझ कर 'खटपट' करने वाले) बच्चे, हास्य, रौद्र, भयानक, वीर, अद्भुत, करुणा, और बीभत्स रसों के, उन (साहित्य-दर्पण-लेखक विश्वनाथ जी) से, ओर, नट वृत्ति से जीविका करने वालों को छोड़ कर,प्रायः सभी सयानो से, अधिक प्रज्ञाता और नटयिता होते हैं। बूढ़ों की नक़ल करना, उन को चिढ़ा कर भागना, एक दूसरे को डराना, शूरवीर का अभिनय करना, हाथों से मुह ढाँक कर मिथ्या रोना, ये सब बाल्यावस्था मे स्वाभाविक हैं, और रसप्रमातृत्व के प्रमाण हैं*। पर, इस मे सन्देह नहीं कि ऊपर के उद्धृत श्लोकों का अभिप्राय ठीक है, अर्थात् 'अस्मिता' का आस्वादन, ब्रह्मानन्द और काव्य रसानन्द मे समान है, चाहे बहुत सूक्ष्मेक्षिका से दोनो 'अस्मिताओं' के विवेचन से, अर्थ-परिष्कार और शब्द-परिष्कार किया जाय, तो कुछ परिवर्त्तन शब्दों मे करना पड़े। अस्तु।

'रस' के अति सेवन के दोष

'काव्य' के कई प्रयोजन कहे हैं,

काव्यं यशसे;ऽर्थकृते, व्यवहारविदे, शिवेतरक्षतये,
सद्यः परनिर्वृतये, कांता-सम्मिततया उपदेशयुजे। (काव्यप्रकाश)

---

* "बालैर्लीला लीला, दुग्धैः पानं पानं, अश्वैर्यानं यानं"; सवारी, तो घोड़ों की; पीना, तो दूध का; खेल, तो बच्चों का। कृष्णचरित मे 'बाल-लीला ही अधिक आनन्ददायक, उत्तम रसमय' है। जब परमात्मा व्यापक है, जब सभी जीव उस की माया, उस के प्रतिबिम्ब हैं, जब सब जगन्नाटक उस की रसमयी लीला है, तब उचित ही है कि सभी जीवों मे, आकीट-पतङ्ग, कुछ-न-कुछ रसिकता हो।

पर मुख्य प्रयोजन 'निर्वृतये', रस का आनंद ही है। व्यवहारज्ञान नितान्त उपयोगी है, पर वह काव्य के आनुषंगिक ऐतिहासिक अंग का फल है; जैसे 'निर्वृति' इतिहास-पुराण के काव्यांग का फल है। हाँ, यदि काव्य का अर्थ कोई भी लेख, संदर्भ, या निबंध समझा जाय, तो अवश्य उद्धृत श्लोक ठीक हो सकता है। उस पर भी कहना होगा कि अन्य सब प्रयोजक फल, यश, धन, आदि, गौण हैं, और निर्वृति-साधकता और व्यवहार-ज्ञापकता के समीपवर्त्ती अथवा दूरवर्त्ती अवांतर कार्य वा फल हैं। प्रस्तुत चर्चा मे, आनन्द देने वाला काव्य ही साहित्यिक काव्य है।

यह सांसारिक रस, उस पारमार्थिक रस का आभास है, प्रतिबिंब है। प्रतिबिंब, बिंब के सदृश होता हुआ भी, उस का उलटा, विवर्त्त, होता है। मुकुर के आगे मनुष्य खड़ा हो, तो प्रतिबिंब मे पुरुष का दहिना अङ्ग बायाँ, और बायाँ अङ्ग दहिना, हो जाता है। जल के किनारे खड़ा हो तो प्रतिबिंब मे सिर नीचे और पैर ऊपर हो जाता है। इसी से इस कृत्रिम, बनावटी, रस के अधिक सेवन मे बहुत दोष है। प्रत्यक्ष ही, बहुत खेलने से लड़के बिगड़ जाते हैं, थोड़ा खेलने से हृष्ट-पुष्ट होते हैं। अति मात्र रस-सेवन से मनुष्य अपने को भोगी, विलासी, केवल रसान्वेषी रसिक, और दैनंदिन के व्यवहार-कार्य के निर्वाह के लिये अकर्मण्य अशक्त, बना डालता है—जैसे बहुतेरे धनी और राजा-महाराजा, नव्वाब-बादशाह लोग—और अपने कर्त्तव्यों को, धर्म-कर्म को, भूल जाता है।

इंद्रियार्थपरिशून्यं अक्षमः सोढुम् एकमपि सः क्षणान्तरम्,
अन्तरेव विहरन् दिवानिशं, न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः।
कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदंग-नादिषु,
ऋद्धिमंतम् अधिकर्द्धिर् उत्तरः पूर्वम् उत्सवम् अपोहद् उत्तरः।
दृष्टदोषमपि तन्न सोऽत्यजद् भोगवस्तु, भिषजाम्अनाश्रवः,
आमयस्तु रतिरागसम्भवः, दक्षशाप इव चन्द्रम् अक्षिणोत्।
तस्य पांडुवदना,ऽल्पभूषणा, सावलम्बगमना, मृदुस्वना,
राजयक्ष्मपरिहानिर्, आययौ कामयान-समवस्थया तुलाम्।
(रघु०)

अग्निवर्ण राजा, किसी-न-किसी इन्द्रिय के किसी-न-किसी विषय से सर्वथा परिशून्य एक क्षण भी नहीं रह सकते थे। रात दिन महल के

भीतर ही ऐश करते थे। वेचारी प्रजा की फ़िक्र करना बिल्कुल भूल गए। वैद्यों के बहुत मना करने पर भी भोग की वस्तुओं को नहीं छोड़ा; उत्सव पर उत्सव, बज़्म पर बज़्म, महफ़िल पर महफ़िल, जशन पर जशन, होते ही रहे। थोड़े ही दिनो मे क्षय रोग के शिकार हुए।*

जो मनुष्य करुण रस का स्वाद ही लेता है, वह प्रायः दया करुणा के अनुसार, दोनों की सहायता, क्रिया से नहीं करता।

> करुणादौ अपि रसे जायते यत्परं सुखम्,
> सचेतसाम् अनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्;
> किं च, तेषु यदा दुःखं, न कोऽपि स्यात् तदुन्मुखः।
>
> (साहित्य-दर्पण)

करुण आदि रसों मे भी बड़ा 'सुख' मिलता है, इस का प्रमाण 'स-चेतस्', 'स-हृदय', लोगों का अनुभव ही है; यदि सुख न मिलता तो इस की ओर उन्मुख क्यों होते।

करुण रस की कहानी कभी-कभी वच्चे तक शौक़ से सुनते हैं। ग्रामगीत तो अधिकांश अत्यन्त करुणाजनक होते हैं, जैसी करुणा 'उत्तर-रामचरित' मे भी मिलना कठिन है। उन्हें ग्राम की स्त्रियाँ बड़े चाव से गाया करती है। यदि उन गीतों से दुःख ही होता तो क्यों सुने, गाए, पढ़े जाते? पर यह भी व्यक्ति-व्यक्ति की प्रकृति पर आश्रित है। कोई अति कोमल, मृदुवेदी, 'सेन्सिटिव्', 'नाजुक-तबियत', बालक, स्त्री, पुरुष, ऐसी करुण कथा को नहीं सुन सकते।

> पिकाद् वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्, दशां उदञ्चत्करुणे वियोगिनाम्,
> अनास्थया, सूनकरप्रसारिणीं, ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः।
>
> (नैषधचरित)

---

* आज काल भी देखिये; किसी के मुह मे हर वक़्त 'चेरूट' 'सिगार' 'सिगरेट' 'बीड़ी' लगी हुई है; किसी के, पान भरा है; किसी के, तम्बाकू, या इलायची ही; कोई 'लोज़ेंज' चवाते रहते है; कोई, थोड़ी-थोड़ी देर पर, एक-एक दो-दो घूंट शराब ही पीते रहते हैं; या कुछ मिठाई नमकीन खाते रहते हैं; इत्यादि। पुरानी, ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमन विनयन की, शिक्षा से, ऐसी आदतों का बीज ही नष्ट कर दिया जाता था।

कोकिल, बिछुड़े हुए प्रेमियों की करुण कथा जंगल से कह रही थी, जंगल उस को ध्यान से, पत्तों का हिलना बंद करके, कान लगा कर, सुन रहा था, और भौंरों की गूंज से हुंकारी भर रहा था। पर स्थल-पद्मिनी को इतना दुःख हुआ कि वह सुन न सकी, और फूल के हाथ फैला कर उस ने कोकिल को मना किया। कवि ने यहाँ जो उत्प्रेक्षा की है, वह एक प्रकार की मानव-प्रकृति के अनुकूल ही की है। इस के विरुद्ध, दूसरी प्रकृति के लोगों मे, कहीं-कहीं, कभी-कभी, ऐसा भी देखा गया है, जैसा 'नीरो' नामक 'रोम'-राज्य के सम्राट् के (ईसा की पहिली शताब्दी मे), तथा उस देश के अन्य सम्राटों के, विषय में इतिहास लिखने वाले लिखते हैं, कि वे बुद्धिपूर्वक, अभिसंधिपूर्वक, जान-बूझ कर, पुरुषों, स्त्रियों, और बच्चों को, सिंह-व्याघ्र आदि हिंस्र पशुओं के सामने, रंग-भूमि के घेरे के भीतर, फिंकवा देते थे, वा दूसरे प्रकारों से उन की यातना कराते थे; इस उद्देश्य से, कि उन की और हिंसकों की भय-करुण चेष्टा और रौद्र-भयंकर चेष्टा देख कर अपने चित्त मे तत्तत्संबंधी 'रस' का आस्वादन करें। अर्थात् कृत्रिम नाटकों से थक गये थे, मन भर गया था, उन से रस नहीं मिलता था—जैसे किसी नशे के व्यसनी को चिराभ्यस्त मात्रा से संतोष नहीं होता, शिथिल जीभ पर रस जान ही नहीं पड़ता, जब तक बहुत तीव्र न किया जाय—इस लिए उन के मानस-वृकोदर की रसेच्छा की पूर्ति के लिये ऐसे क्रूरकराल सच्चे नाटक की आवश्यकता होती थी, और उस को बना डालते थे। श्रीहर्ष ने नैषध काव्य मे, हंस से नल के प्रति कहलाया है,

पदे पदे संति भटाः रणोद्भटाः, न तेषु हिंसारसः एष पूर्यते !

मुझ को क्या पकड़ कर मारना चाहते हो ? यदि हिंसा का ऐसा रस तुम को है तो, पद पद पर उद्भट भट, योधा, मिल सकते हैं. उन से युद्ध कर के यह रण-रस, हिंसा-रस, क्यों नहीं पूरा करते ? बुल्बुलों, बटेरों, कबूतरों, मुर्गों, मेढ़ों, कुत्तों, साँडों, भैंसों, हाथियों, शेरों, हथियारबंद सिपाहियों, की लड़ाई बड़े शौक़ से लोग देखते हैं, और उन्हे एक दूसरे को घायल करते, बल्कि जान से मारते, (जैसा 'रोम' की रंग-भूमियों मे बहुधा होता था), देख कर 'रस' मानते हैं। इस में भी 'आध्यात्मिक', 'मानस-विकार-सम्बन्धी', हेतु वही है। कालिदास ने, शकुन्तला नाटक मे, शिकार के समय, त्रस्त और क्रुद्ध वन्य पशुओं की चेष्टा देखने के 'रस' का वर्णन किया है। महाराज दुष्यन्त का विदूषक, माढव्य, जो आराम

चाहता है, राजा को, जंगल से शहर लौट चलने की सलाह देता है; राजा के साथ शिकार के पीछे दौड़ता-दौड़ता थक गया है। सेनापति, विदूषक से दिखौवा (नुमाइशी) बनावटी हुज्जत ठान कर, शिकार की प्रसंशा करता है,

मेदश्छेदकृशोदरं, लघु भवति उत्थानयोग्यं वपुः,
सत्त्वानां अपि लक्ष्यते विकृतिमत् चित्तं भयक्रोधयोः,
उत्कर्षः स च धन्विनां यद् इषवः सिध्यंति लक्ष्ये चले;
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयां; ईदृग् विनोदः कुतः।

मृगया की दौड़ धूप से, पेट की चर्बी छँट जाती है, शरीर हल्का हो जाता है, प्रजाहित-निरीक्षण-यात्रा के, तथा विजय-यात्रा के योग्य बनता है; भय और क्रोध की चेष्टाएँ वन्य जन्तुओं की देखने मे आती हैं; भागते, उछलते, आक्रमण करते, हुए, पशुओं पर, तीर के निशाने ठीक बैठते हैं, जिस से धनुर्धर लोग अपने कौशल के उत्कर्ष का आनन्द लेते हैं; ऐसी मृगया को, आलसी लोग, नाहक़ ही दुर्व्यसन बतलाते हैं; ऐसा रसमय, आनन्दमय, मन-बहलाव, 'विनोद', दूसरा है कौन ?

रक्षक और भक्षक, देव और दैत्य, के बीच मे बहुत सूक्ष्म अंतर है। "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया"। थोड़ी भी भूल हुई और विष्णु के पार्षद, जय और विजय, हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हो गये, दैत्य-योनि मे आ गिरे; फिर रावण और कुंभकर्ण हो गये, राक्षस योनि में पड़े। इस लिये इस मार्ग पर बहुत सावधानी से चलना चाहिए। परिष्कृत 'रस' के थोड़े आस्वादन तक संतोष करना; चटनी, अचार, खटाई, मिठाई, से पेंट न भरना; उसी मात्रा मे इन का सेवन करना जितने से प्रधान भोज्य—काव्य के पुष्टिकारक अंग, इतिहास आदि—के भोजन को रुचिकर बनाने मे, और उस का पाचन करने मे, सहायता मिले। तथा इस ओर ध्यान सदा रखना, कि काव्य और नाटकों के धीर, उदात्त, ललित, शांत, दक्षिण, नायक-नायिकाओं की परिष्कृत सुरस रीति-नीति, बोल-चाल, हावभाव, का अनुकरण, यथाशक्य, यथोचित, अपने जीवन मे किया जाय; क्षुद्र, क्षोभालु, नीच, उद्धत, अभद्र, शठों का नहीं। पुरुषार्थ के साधक व्यवहार का ज्ञान इतिहास से मिलता है। उस का निचोड़ पुराणो ने यों कह रक्खा है।

रामवद् आचरितव्यम्; न रावणवत्।
अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्—
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्।
स्वयं कृतं स्वेन फलेन युज्यते। (गरुड़ पु०)
न-ाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव,
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति।
अत्युग्रपुण्यपापानां इहैव फलमश्नुते। (मनु)

मर्यादा-पुरुष, प्रमाण-पुरुष, राम के ऐसा आचरण करो; रावण के ऐसा नहीं; अठारह पुराणो मे व्यास जी ने बात दो ही कही है, 'पर-उप-कार ही पुण्य है, परपीड़न ही पाप'; सब कर्म अपना उचित फल आप ही ले आते हैं, उग्र पुण्य, उग्र पाप, का फल तत्काल मिलता है; साधारण का, कुछ देर बाद; पर कोई यह न समझो कि पाप के दंड से बच जायंगे; सब पाप का फल तत्काल नहीं मिलता, पर किसी न किसी दिन लौट कर, पाप करने वाले की जड़ को काट कर, अवश्य नाश करता ही है।

रस के भेदों की उत्पत्ति। अस्मिता।

अब इस विषय पर विचार करना चाहिये कि नौ रस जो माने गये हैं, सो क्यों? कम वेश क्यों नहीं? इन की उत्पत्ति कैसे हुई?

जीवात्मक मनुष्य की 'अस्मिता' के साथ-साथ 'राग-द्वेष' 'काम-क्रोध' लगे हुए हैं। एक 'अस्मिता' से, 'अहंकार' से, इस द्वन्द्व की, जोड़े की, उत्पत्ति होती है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
कामः एषः; क्रोधः एषः, रजोगुणसमुद्भवः।
सङ्गात्सञ्जायते कामः, कामात्क्रोधोऽभिजायते। (गीता)
इच्छा-द्वेष प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञानानि आत्मनो लिङ्गम्।
ज्ञस्य इच्छा-द्वेष-निमित्तत्वाद् आरम्भनिवृत्योः (न्यायसूत्र)
इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः। (वैशेषिक सूत्र)
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन, भारत!
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यांति, परंतप!
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। (गीता)

'मैं यह शरीर हूं', इस अन्तर्निगूढ़ 'अविद्या' ("ध्यायतो विषयान् पुंसः") के भाव के साथ ही, जो जो वस्तु 'मैं' 'अहं' 'अहं-कार' 'अस्मिता' की पोषक-वर्धक हैं, उन की ओर 'इच्छा','राग', 'काम','संग', 'आसक्ति', 'आकर्षण', ('संगस्तेषूपजायते'), तथा जो जो उस की विरोधक हानि-कारक हैं उन की ओर 'द्वेष','क्रोध', 'त्याग', और 'अपकर्षण', 'प्रक्षेपण', ("कामात् क्रोधोऽभिजायते") के भाव तत्काल अवश्य उत्पन्न होते हैं।

मुनेरपि वनस्थस्य, स्वकर्माणि अनुतिष्ठतः
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षाः, मित्रोदासीनशत्रवः। (म० भा०)

वानप्रस्थ आश्रमो के उचित अपने धर्म कर्म मे लीन, जंगल मे रहने वाले, मुनि के भी तीन पक्ष उत्पन्न हो ही जाते हैं, मित्र, शत्रु, और उदासीन।

जब तक शरीर है, और उस के पोषण की इच्छा और आवश्यकता है, तब तक, चाहे कितनी भी विरक्त मुनि-वृत्ति से रहे, मनुष्य के—मित्र, शत्रु, और उदासीन—तीन प्रकार के पास-वर्त्ती हो ही जाते हैं। राग का विषय मित्र; द्वेष का विषय शत्रु; दोनों से रहित, तटस्थ, उदासीन। जो अपने को सुख दे, वह राग का विषय; दुःख दे, वह द्वेष का। 'सुखाद् रागः', 'दुःखाद् द्वेषः', । (योग और वैशेषिक सूत्र)

इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा, सुखदुःखात्प्रवर्त्तते,
तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं पुनः उच्यते। (चरक)

सुख-दुःख से इच्छा-द्वेष-रूपिणी तृष्णा उत्पन्न होती है; और उस तृष्णा की पूर्ति से नये सुख-दुःख होते हैं: यह संसार-चक्र है।

सुख-दुःख। राग-द्वेष।

सुख-दुःख क्या हैं? 'अहम्' की वृद्धि का अनुभव सुख, और ह्रास का अनुभव दुःख। "नाल्पे वै सुखमस्ति, भूमैव सुखम्, ...यत्र नान्यद्विजानाति स भूमा"। (छांदोग्य)

सर्वं परवशं दुःखं, सर्वम् आत्मवशं सुखम्,
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः। (मनु)

'अपने' को, 'आत्मा' को, 'दूसरे' से अल्प, कम, जानना, दूसरे के अधीन जानना, यही दुःख है। "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं"। अपने को दूसरे से बड़ा जानना, भूमा बड़प्पन का अनुभव करना, यही सुख है।

अपने को अपनी ही पूर्वावस्था से अब अधिक संपन्न जानना—किसी भी बात मे, बल मे, विद्या मे, रूप मे, स्वास्थ्य मे, धन मे, आभिजात्य मे, ऐश्वर्य मे, सम्मान मे, इत्यादि—यह सुख है। इस के विरुद्ध दुःख है। 'अहं स्याम्', 'बहु स्याम्', 'बहुधा स्याम्' यह तीन (लोक, वित्त, दार-सुत की) एषणा के रूप हैं। एषणापूर्ति से 'अहम्' की वृद्धि और सुख; अन्यथा दुःख। अपने को सब से बड़ा जानना, 'भूमा', 'भूयिष्ठ', 'महतो महीयान्', 'महिष्ठ', अनादि, अनंत, अपरिमेय, अप्रमेय, अजर, अमर, नितांत आत्मवश, स्वाधीन, स्वतंत्र जानना—यह ब्रह्मानंद, ब्रह्मसुख। 'दूसरे से बड़ा' क्या, अपितु 'दूसरा कोई है ही नहीं, मैं ही मैं सब जगह, सब तरफ़ सब, है और हूँ'—यह भूमा है। पर वह सुख तो 'शांति' है, क्योंकि निरपेक्ष, अपेक्षाऽतीत, तारतम्यातीत है। जिस को हम लोग 'सुख' जानते-मानते हैं वह तो सापेक्ष है। जैसा अभी कहा, यह आपेक्षिक सुख, दूसरे से, या अपनी पूर्वावस्था से, 'अधिकता' का अनुभव है। यह सब व्यावहारिक जीवात्मा के सुख, उस त्रिकालक्रमातीत पारमार्थिक पारमात्मिक सुख के क्रमिक 'आभास' हैं। "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"। इन क्रमिक वृद्धि-रूप सुखों के अभिव्यंजन के लिये क्रमिक ह्रासरूप दुःखों का भी, माया से, देख पड़ना आवश्यक है। फ़ारसी मे कहा है—"सुबूति शै ब ज़िद्दि शै"—किसी भी वस्तु का निरूपण उस के प्रतिद्वन्द्वी से होता है। बिना उजेला के अँधेरा नहीं जान पड़ता, बिना अंधकार के प्रकाश का ज्ञान नहीं होता; बिना सुख के दुःख नहीं, बिना दुःख के सुख नहीं। सुख से देह उपचित, वर्धित, पुष्ट होता है; वर्धन, उपचय, पुष्टि से सुख होता है। एवं अपचय से दुःख, दुःख से अपचय, क्षय। द्वन्द्वमय संसार के असंख्य द्वं-द्वों, जोड़ों, के प्रत्येक द्वंद्व के दोनो अंश, किस तरह से एक दूसरे के भीतर पैवस्त, व्याप्त हैं, इस को यों विचार कीजिये—ऊपर कहा है कि अहंता-ममता की वृद्धि से सुख होता है; पर यह भी प्रत्यक्ष है कि दुःख मे, अहंता-ममता अधिक तीक्ष्ण हो जाती है; दुखिया, 'अपना' ही रोना रोता रहता है, 'अपने-पन' का ही स्वाद (चाहे दुःस्वाद ही) लेता रहता है, दूसरे की बात नहीं सुनता समझता। यह ठीक है कि सुख मे, आत्मा के उपाधि की, शरीर की, वृद्धि होती है, मुख का, नेत्रों का, विकास होता है, और दुःख मे संकोच; पर इस के साथ ही यह भी है कि यदि बाहर फैलना फूलना देख पड़ता

है; तो भीतर पतलापन आता है, और यदि बाहर सिकुड़ना सिमटना पचकना दिखाता है तो भीतर घनता, पिंडितता बढ़ती है; जैसे रबर के गोले मे। प्रत्येक सुख के साथ एक दुःख, प्रत्येक दुःख के साथ एक सुख, लगा हो है। अंग्रेजी मे कहावतें हैं, 'नो पेन्स, नो गेन्स; नो गेन्स, नो पेन्स, -एवेरी वर्चू हैज़् इट्स वाइस, एवेरी वाइस हैज़ इट्स वर्चू', अर्थात् 'एक हानि तो एक लाभ, एक लाभ तो एक हानि', 'एक गुण तो एक दोष, एक दोष तो एक गुण'; इस को 'लॉ ऑफ़् कॉम्पेन्सेशन', 'क्षति-पूर्त्ति-न्याय', 'समीकरणन्याय' कहते हैं।

राग और द्वेष के तीन तीन मुख्य भेद।

राग के तीन भेद होते हैं, तथा द्वेष के भी—

गुणाधिकान् 'मुदं' लिप्सन्, 'अनुक्रोशं' गुणाधमात्,
'मैत्रीं' समानाद् अन्विच्छन्, न तापैर् अभिभूयते।
महतां 'बहुमानेन', दीनानां 'अनुकम्पया',
'मैत्र्या' चैवऽात्मतुल्येषु, यमेन नियमेन च। (भागवत)

समः समान-उत्तम-मध्यम-ाधमः,
सुखे च दुःखे च जितेन्द्रिय-ऽाशयः।

'दयां' 'मैत्रीं' 'प्रश्रयं' च भूतेषु, अद्धा, यथोचितम् (भागवत)।
दीनेषु 'दयाम्', समेषु 'मैत्रीम्', उत्तमेषु 'प्रश्रयम्'
(श्रीधरी टीका)।

हीयते हि मतिः, तात!, हीनैः सह समागमात्,
समैश्च समताम् एति, विशिष्टैश्च विशिष्टताम् (महाभारत)

मैत्री-करुणा-मुदितो-पेक्षाणां सुख-दुःख-पुण्या-पुण्यविषयाणां भावना-तश्चित्तप्रसादनम्। (योगसूत्र)

अकृत्वा-ईर्ष्यां' विशिष्टेषु, 'हीनान्-अन् अवमान्य' च'
अकृत्वा सदृशे 'स्पर्धां', त्वं लोकोत्तरतां गतः। (महाभारत)
सतुल्या-तिशयःध्वंसं यथा मण्डलवर्त्तिनाम्। (भागवत)
तुल्ये 'स्पर्धा', अतिशये 'असूया', ध्वंसालोचने 'भयम्'।
(श्रीधरी)

तथा दोषाः। तत्त्रैराश्यम्। राग-द्वेष-मोहार्थांतर्भावात्। रागपक्षः कामो, मत्सरः, स्पृहा, तृष्णा, लोभः इति। द्वेषपक्षः क्रोधः, ईर्ष्या,

असूया, द्रोहोऽमर्षः इति । मोहपक्षः मिथ्याज्ञानं, विचिकित्सा, मानः, प्रमादः इति । आसक्तिलक्षणो रागः, अमर्षलक्षणो द्वेषः, मिथ्याप्रतिपत्तिलक्षणो मोहः (न्याय-भाष्य)

मानसास्तु आधयः क्रोध-शोक-भय-हर्ष-विषाद-ईर्ष्या-ऽभ्यसूया-दैन्य-मात्सर्य-काम-लोभप्रभृतयः इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति । (सुश्रुत)

इन सब विषयों पर मेरे लिखे अँगरेजी ग्रन्थ 'दि सायंस् आफ़् दि इमोशंस्' मे विस्तार से विचार किया गया है, तथा अपर वाक्यों का, अन्य संस्कृत ग्रन्थों से, भी संग्रह किया है। यहाँ ऊपर किये हुए उद्धरणो का निखरात्र, निष्कर्ष, निश्च्योत, निचोड़, इतना ही है कि, अपने से 'विशिष्ट' 'उत्कृष्ट' जीव की ओर, उस की उत्कृष्टता के ज्ञान से वासित, 'राग' का नाम है 'सम्मान', बहुमान', 'आदर', 'प्रश्रय' 'मुदिता', 'पूजा' आदि । 'समान' की ओर, समानता के ज्ञान से रंजित, 'मैत्री', 'प्रेम', 'अनुराग', 'स्नेह', 'प्रीति', 'सख्य' आदि । 'हीन की ओर, उस की हीनता के ज्ञान से व्याप्त, 'दया', 'करुणा', 'अनुकंपा', 'अनुक्रोश' आदि। ऐसे ही 'द्वेष' के भेद। विशिष्ट बल वाले की ओर 'भय', 'मत्सर', 'असूया', 'ईर्ष्या' आदि । 'तुल्य' की ओर 'क्रोध', 'कोप', 'रोष' आदि । 'हीन' की ओर 'दर्प', 'गर्व', 'अभिमान', अवमान', 'अपमान', 'तिरस्कार', 'घृणा', आदि ।

प्रसिद्ध 'षड्रिपु', 'अंतरारि', भी इन्हीं दो राशियों मे बँटेंगे। (१) (उत्कृष्ट से प्रार्थनीय वस्तु का) लोभ; (स्त्री-पुरुष का परस्पर समान-सुख-साधक) काम; (करुणा से जनित, तथा ऐसे 'भय' से जनित कि दयनीय करुणास्पद व्यक्ति को कहीं दुःख न पहुँचे) मोह; (२) (लोभ से जनित, तथा ऐसे 'भय' से जनित कि मेरी लुब्ध ईप्सित वस्तु को कहीं बलीयान् दूसरा न ले ले) मत्सर; (इच्छा का व्याघात करने वाले समान पर) क्रोध; (दुर्बल का तिरस्कार) मद ।

राग-द्वेष का, और भावों तथा रसों का, सम्बन्ध ।

अब देखना चाहिए कि साहित्यशास्त्र के ग्रंथों मे नौ रसों के मूल जो नौ स्थायीभाव कहे हैं, उन का इस आदिम द्वन्द्व राग-द्वेष और तदुत्थ त्रिक-द्वय से कुछ संबंध है या नहीं। क्रम से 'स्थायी भाव' और 'रस' ये हैं—

रतिः, हासश्च, शोकश्च, क्रोध-उत्साहौ, भयं तथा,
जुगुप्सा, विस्मयश्च, इत्थं अष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च।
शृङ्गार-हास्य-करुणा-रौद्र-वीर-भयानकाः,
बीभत्सो-ऽद्‌भुतः इत्यष्टौ रसाः, शान्तस्तथा मतः।
रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते।
विभावेनानुभावेन व्यक्तः, सञ्चारिणा तथा,
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्।
(साहित्य-दर्पण)।

नौ रस 'शृंगार' आदि के नौ स्थायी भाव 'रति' आदि हैं। 'स्थायी भाव' ही विशेष अवस्था मे 'रस' हो जाता है। विभाव, अनुभाव, संचारिभावों से व्यंजित, व्यक्तीकृत, 'स्थायी भाव', सचेतसों, सहृदयों, के चित्त मे 'रस' हो जाता है। तथा, यह भी कह सकते हैं कि, जब कोई 'भाव', (क्षोभ, संरम्भ, संवेग, विशेष इच्छा का उद्रेक, जोश 'जज़बा'), 'रस' की अवस्था को प्राप्त होता है, तब वह 'स्थायी', स्थिर, हो जाता है।

भाव।

यहाँ पर 'भाव' शब्द के विषय मे कुछ कहना उचित जान पड़ता है। धातु के अर्थ से, सभी 'विद्यमान' पदार्थ 'भाव' हैं; 'भवति' इति 'भावः'। पर 'साहित्य' और 'अध्यात्म' शास्त्र के प्रसंग मे, 'भाव' का अर्थ है, चित्त की विशेष अवस्था; सो भी ज्ञानात्मक और क्रियात्मक अवस्था नहीं, किन्तु इच्छा के जो दो मूल भेद हैं, राग और द्वेष, तदात्मक; अर्थात् चित्त की रागात्मक, या द्वेषात्मक, जो बहुत प्रकार की अवस्थाएँ, वृत्तियाँ, 'वर्त्तन प्रकार', हैं, वह 'भाव' हैं; इसी से 'भावुक' शब्द 'क्षोभालु', 'भावशील', 'ईमोशनल', 'मग़्लूब-उल्-जज़बात', का द्योतक है।*

* साहित्य शास्त्र की विशेष दृष्टि से, 'साहित्यदर्पण' मे 'भाव' का निर्वचन यों किया है, "नानाविषसम्बन्धान् भावयंति रसान् यतः, तस्माद् भावाः अमी प्रोक्ताः, स्थायि-संचारि-सात्त्विकाः", नाना विषयों के सम्बन्ध मे, रसों का 'भावन', उद्भावन, उत्पादन, करते हैं, इस लिये 'भाव'। दर्शन की साधारण दृष्टि से, भाव का सामान्य अर्थ, चित्त की उत्कट इच्छाऽऽत्मक अवस्था, चाहे उस से किसी को रस उत्पन्न हो या न हो।

संस्कृत साहित्य शास्त्र मे, 'स्थायी भाव', 'संचारी भाव' 'व्यभिचारी भाव', 'अनुभाव', 'विभाव'—ऐसे संकेत भी बना लिये हैं।

स्थायी, संचारी और व्यभिचारी भाव।

स्थायी-भाव, चिर काल तक वर्त्तमान चित्त के क्षोभ, (अंग्रेजी 'ई-मोशन', क्रियोन्मुख वृत्ति), ऊपर कहे गये; एक रस का एक स्थायी-भाव आधार होता है; बिना उस के वह रस रहता ही नहीं; उस रस मे वह आदि से अन्त तक रहता है; उस रस के लिये वह स्थायी है।

जो भाव कई रसों मे आता जाता रहता है, 'संचार' करता है, वह 'संचारी'; जैसे 'हास', हँसी का भाव, शृङ्गार मे और वीर मे; 'क्रोध' का भाव, रौद्र और वीर मे; जुगुप्सा का भाव, शान्त मे। हास्य रस मे हास, रौद्र मे क्रोध, बीभत्स में बीभत्सा अर्थात् जुगुप्सा, स्थायी हैं।

स्थायी भावों मे जो अवान्तर भाव उन्मग्न-निमग्न, आविर्भूत-तिरोभूत, अभिव्यक्त-प्रलीन, उद्बुद्ध-प्रसुप्त, होते रहते हैं वे 'व्यभिचारी' भाव कहलाते हैं; यथा—

निर्वेद-ऽऽवेग-दैन्य-श्रम-मद-जडताः, औग्र्य-मोहौ विबोधः,
स्वप्न-अपस्मार-गर्वाः, मरणं, अलसता-ऽमर्ष-निद्रा-ऽवहित्थाः,
औत्सुक्य-उन्माद-शंकाः, स्मृति-मति (सहिताः), व्याधि-संत्रास-लज्जा-
हर्ष-असूया-विषादाः, (स-)धृति-चपलता-ग्लानि-चिन्ता-वितर्काः।
(साहित्य-दर्पण)

निर्वेद (अपने ऊपर ग्लानि), घबराहट, दीनता, थकाव, नशा, जड़ता, उग्रता, मोह, बेहोशी से होश मे आना, सपना देखना, अपस्मार (पागल के ऐसा हाथ पैर फेंकना), गर्व, आलस्य अमर्ष (न सहना), नींद, अवहित्था (अपने अस्ली भाव को छिपाने के लिये किसी दूसरी बात को चलाना वा दूसरे काम मे लग जाना), उत्सुकता, उन्माद, शंका, स्मृति, मति (निर्णय करना), व्याधि, त्रास, लज्जा, हर्ष, असूया, विषाद, धैर्य, चपलता, वितर्क, चिंता, ग्लानि, मरण तक--यह सब, साहित्यशास्त्र मे, व्यभिचारी भाव माने गये हैं।

अनुभाव, अलंकार, सात्त्विक-भाव।

मानस क्षोभ के, उत्कट भाव के, कारण, शरीर मे, जो तत्कृत, तत्कार्यरूप, विशेष दशा उत्पन्न हो जाय, उस को 'अनुभाव' कहते हैं।

यथा मुंह लाल हो जाना (शर्म से या गुस्से से); पीला हो जाना (खौफ़ या अफ़सोस से); गुर्राना, गरजना, चीख़ना, तड़पना, झपटना, भागना, घिघियाना, घौघियाना, झनकना, पैर पटकना, हाथ मलना, गद्गद होना मगन (आनंद मे मग्न) वा 'मस्त' वा 'निहाल' होना, मुस्किराना, हंसना रोना, (हर्ष से भी, शोक से भी), आंसू बहाना ("प्रमदसलिलोत्संगित-दृशः"), ताली बजाना, बग़ल बजाना, कूदना, फुदकना, ज़मीन पर लोटना, कराहना, छटपटाना, तड़फड़ाना, संवारना, सिंगारना, ढिठाना, चकपकाना, इतराना, अठलाना, तपना, घबराना, गर्माना, ठंढाना, कड़वाना, खटाना, इत्यादि* । कुछ 'अनुभावों' को, संस्कृत-साहित्य शास्त्र

---

* इन मे, ये, और भी, बढ़ाये जा सकते हैं—कड़कना, उछलना, चौंकना, डाँटना, घोंटना, ठिठकना, गबराना, (यह घबराना से भिन्न है), भुनभुनाना, इधर उधर देखना, बग़लें झाँकना, मुंह छिपाना, छिपना, घूरना, भंवै चढ़ाना, तिरछा देखना, कनखियाना ('कानी' आँख के ऐसा देखना, एक आँख बंद कर के, केवल एक आँख से इशारा करना); आवाज़ को ऊँची, नीची, धीमी, मीठी, कड़ी करना; मूठी बाँधना; दाँत पीसना; अँगुली को दाँतों से दबाना; (गुस्से से या दुःख से) अपने को मारना, अपना सिर या छाती पीटना, अपने बाल नोचना, अपना जिस्म (दाँतों से, नोकदार या धारदार चीज़ से, या पत्थर वगैरा से) घायल करना; आँखें ऊँची, नीची, तिरछी करना, त्योरी चढ़ाना; सारे जिस्म, या पैर, घुटना, या और किसी अंग का, काँपना, थर्राना, पटकना; ओठों को बिचकाना, टेढ़ा करना, चढ़ाना, फुलाना, मुँह फुलाना वा लटकाना; चनचनाना, कन्धे हिलाना, सिर हिलाना, मुखमुद्रा, हस्तमुद्रा, आसन बदलना; हाथ से इशारे करना; पैर दबा कर चलना, झांका ताकी करना, कनफुसकी करना, छिप कर सुनना; ज़ोर से वा लम्बी वा गहरी साँस लेना, हाँफना, आह भरना, हाय करना, हाथ से अपना सिर पकड़ना, हाथ पर सिर रखना; (खुशी से) नाचना, हँसना, छछाना, हहाना, निहाल होना, उक्ताना, उदासना, हाथ मलना, सिर पटकना, या पीटना; हें हें करना, गिड़गिड़ाना, पैरों पर गिरना; खिसियाना, शर्माना; मुँह बाना, लार टपकाना; ललकारना, दुत्कारना, फटकारना, दुलराना; इत्यादि, इत्यादि ।

मे, विशेष संकेत से, इस्तिलाहन्, "स्त्रीणामलंकाराः", स्त्रियों के अलंकार, हाव, भाव, हेला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, बिब्बोक, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित इत्यादि नाम से कहते हैं* । कुछ को 'सात्त्विक भाव' कहते हैं, यथा,

स्तम्भः, स्नेहः, (अथ) रोमाञ्चः, स्वर-भङ्गः, (अथ) वेपथुः,
वैवर्ण्यं, अश्रु पूलयः, इति अष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ।

अस्ल मे यह दशा तभी 'सात्त्विक' कहलाने के योग्य हैं जब तीव्र 'प्रेमा-भक्ति' के भाव और रस से (जिस का समावेश, 'शृंगार', 'अद्भुत', और 'शांत' के मिश्रण मे किसी तरह किया जा सकता है), अथवा 'करुणा' से, उत्पन्न हों । साधारण 'काम' से जब हों, तब तो इन को 'राजस तामस' ही कहना चाहिये ।

यह कहा जाय तो अनुचित नहीं, कि जीव मात्र की जो भी मुद्रा, जो भी चेष्टा, जो भी क्रिया हैं, सब ही, किसी न किसी राग-द्वेषात्मक वासना का अनुभाव, आविर्भाव, व्यक्तीकरण, प्रकटी-करण, 'एक्स-प्रेशन', 'इज़हार' हैं; और इन सभी चेष्टाओं का राशी-करण, वर्गी-करण, 'क्लासि-फ़िकेशन', मूलतः दो, (एक राग और एक द्वेष की), और प्रत्येक के अवांतरतः तीन, राशियों मे विभाजन हो सकता है; पर चित्तवृत्तियाँ, उन के प्रतिक्षण परिणाम, संकर, और व्यंजन, असंख्य हैं; केवल मुख्य-मुख्य वृत्तियों और उन से संबद्ध सिद्धांतों का उल्लेख किया जा सकता है । इसी लिये, उपचारतः, साधारण व्यवहार के लिये, सामाजिक संकेत से, परिभाषा से, मनुष्यों की कुछ विशेष चेष्टाओं को, विशेषतः 'अनुभाव' कहते हैं, जो आंतर 'भाव' के 'अनु', पीछे या साथ उदित होते हैं; "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः", अन्यथा सभी मानव-क्रिया राग-द्वेष से प्रेरित और जनित होने के हेतु से 'अनु-भाव' हैं ।

* ऐसे अलंकार (अंग्रेज़ी मे 'ऍडोर्नमेंट्स आफ़ यूथ', 'ऍट्रॉक्शन्स', 'चार्म्स') साहित्य-दर्पण मे २८ गिनाये हैं, जिन मे से १० पुरुषों के भी होते हैं, १८ प्रायः स्त्रियों के ही; पर कोई कारण नहीं बताया है कि क्यों ये १८, पुरुषों के लिये उपयुक्त नहीं । चित्त की अवस्था के भेद से, नायिका–भेद ३८४ गिनाये हैं; पर ये ही अवस्था और भेद नायकों के भी हो सकते हैं, यह नहीं कहा है ।

ध्रुव की कथा मे अनुभावों का वर्णन

भागवत मे ध्रुव की कथा है। बहुतेरे अनुभावों का संग्रह उस मे देख पड़ता है। उत्तानपाद राजा की दो पत्नी, सुरुचि और सुनीति। सुरुचि प्यारी थी, सुनीति वैसी नहीं। सुरुचि के बालक उत्तम को राजा 'गोद मे ले कर' (वात्सल्य-दया का अनुभाव) खेला रहे थे। सुनीति के बालक ध्रुव ने भी गोद मे चढ़ने का यत्न किया (बाल्योचित ललित मत्सर से मिश्रित स्नेह का अनुभाव)। सुरुचि के भय से राजा ने अनमनी दिखाई (प्रीतिपात्र सुरुचि की ईर्ष्या के भय से जनित अनुभाव)। सुरुचि ने ध्रुव से कहा, 'तेरा पुण्य ऐसा नहीं कि मेरी कोख से जनमता; राजा की गोद मे बैठने का तुझे अधिकार नहीं', ("सेर्ष्य आह अतिगर्विता", सुरुचि के ईर्ष्या और गर्व का अनुभाव)। राजा यह सुन कर, 'सन्न-वाक्' रह गये (उभयता भय का अनुभाव)। "दुरुक्तिविद्धः', "श्वसन् रुषा", "प्ररुदन्" "स्फुरिताधरोष्ठः", सौतेली मा की अति तीखी बोली से हृदय मे छिदा, क्रोध से हाँफता, रोता, फरफराते ओंठ, ध्रुव अपनी माता के पास गया; सुनीति ने उत्संग मे, गोद मे उठा लिया; हाल सुना; "उत्सृज्य धैर्यं विललाप बाला", "सरोजश्रिया दृशा बाष्पकलाम् उवाह", "दीर्घं श्वसन्ती", धीरज छोड़ कर सिसकने लगीं, आँखों से आँसू की धार बहाई, लम्बी साँस खींच कर बोली, 'सपत्नी ने सच कहा, बच्चा, "आराधय-अधोक्षज-पाद-पद्म", भगवान् की आराधना कर' (शोक, क्रोध, दैन्य, निर्वेद के अनुभाव)। बालक घोर जंगल मे चला गया, क्या तपस्या कैसे करैं, जानता नहीं था; उस के सात्त्विक क्षोभ से दूरस्थ नारद जी क्षुब्ध हुए; आये; उपदेश दिया, "धर्म-अर्थ-काम-मोक्षाख्यं यः इच्छेच्छ्रेयः आत्मनः, एकं एव हरेः तत्र कारणं पादसेवनं"। 'हरति दुःखं इति हरिः', 'सर्वव्यापी परमात्मा; उस का, विष्णु भगवान् के रूप मे, नितान्त भक्ति से ध्यान करो; हरि की भक्ति से, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष जो चाहै सो मिल सकता है'। तीव्र उत्कृष्ट 'विसिनोति, व्याप्य बध्नाति, सर्वान्, इति विष्णुः' जो महत्तत्त्व, बुद्धितत्त्व, सब जगत् मे व्याप्त हो कर, सब पदार्थों को एक दूसरे से बाँधे, सीये, रहता है, वह 'विष्णु'; बुद्धि हो तो सब का ग्रहण और परस्पर सं-बंधन करती है। ध्रुव ने ऐसी ही तीव्र उत्कट भक्ति की। भगवान् ने दर्शन दिया। तेजोमय रूप से "आगतसाध्वसः",

ध्रुव सहम गया, "दंडवत्" प्रणाम किया, फिर प्रेम और भक्ति से भर कर "दृग्भ्यां प्रपश्यन् प्रपिबन् इवअर्भकः, चुम्बन्निवऽास्येन, भुजैर् इवऽाश्लिषन्", आँखें स्फ़ार स्फार कर आराध्य देवता के अनुपम सौन्दर्य को मानो पी जाने का जतन करता हुआ, मानो मुख से चूमता हुआ, मानो भुजाओं से आश्लेषण करता हुआ, "कृतांजलिः", "गद्गदस्वरः", बालक कुछ बोल न सका, "विवक्षन्तं अतद्विदं", बोलना चाहता था, पर क्या कहें, यह जानता न था (प्रेम-भक्ति के अनुभाव)। भगवान् ने ॐ कारध्वनिमय, सर्व-वेद मय, कम्बु से, शंख से, बालक के गाल छुए, "ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्श बालं कृपया कपोले"; ध्रुव की वाग्धारा, स्तुति रूप से, वह निकली (दया, करुणा अनुग्रह के अनुभाव)।

त्वं नित्य-मुक्त-परिशुद्ध-विबुद्धः आत्मा
कूटस्थः आदिपुरुषो भगवास् त्र्यधीशः,
तद् ब्रह्म विश्वभवम् एकम् अनंतम् आद्यम्
आनंदमात्रम् अविकारम् अहं प्रपद्ये। (भा०)

भगवान् ने, बालक के मन की इच्छा को पहिचान कर, वैसा ही वरदान दिया, और अन्तर्धान हुए। उस स्थान पर 'बिन्दुसर' नाम का सरोवर हो गया। बालक की भक्ति और तपस्या को देख कर, भगवान् के नेत्रों से आँसू के बूँद वहाँ गिरे थे (करुणा का अनुभाव), "यतो भगवतो नेत्रान्न्यपतन्नश्रुबिन्दवः"। ध्रुव, उदास मन से, धीरे धीरे, सिर झुकाये, राजधानी की ओर चले, "नाति प्रीतोऽभ्यगात्" (अपने ऊपर ग्लानि का अनुभाव); सोना फैला था, ठीकरा गाँठ मे बाँधा; सायुज्य मोक्ष मिल रहा था, क्षुद्र कल्प-स्थायी राज्य माँगा! खोए हुए बालक को लौटता सुन, हर्ष और आश्चर्य से भरे, राजा, दोनो रानियों के साथ, सुरुचि के पुत्र उत्तम को लिये, मन्त्री आदि महापरिवार से परिवृत, रथों पर दौड़ते हुए, नगर के बाहर आये। रथ से उतर कर, प्रेमविह्वलः "परिरेभे अंगजं, दीर्घोत्कंठमनाः श्वसन्, अजिघ्रन् मूर्ध्नि", प्रेम से विह्वल, बेटे को गले लगाया, चिरकाल की उत्कंठा से भरे मन को, दीर्घ श्वास छोड कर, हल्का किया, बालक का सिर सूँघा। सुनीति ने गले लगाया, माता के नेत्रों से पानी और स्तनों से दूध बहा। सुरुचि ने भी, ईर्ष्या मत्सर को दूर फेंक कर, बालक को छाती से चपकाया। उत्तम और

ध्रुव. दोनो भाई, गले गले लपटे* । सारे नगर मे, ध्रुव के पुण्य चरित से, आश्चर्य, श्रद्धा, भावी सुकाल, सुराज्य, और सुख सम्पत्ति के निश्चय से, घर घर आनन्द फैला; गीत, वाद्य, नृत्य, तोरण, पताका, फूल, माला, बढ़िया कपड़े, घरों की रँगाई चुँगाई—चारो ओर देख पड़ने लगे (प्रीति और हर्ष के अनुभाव)। यह 'अनुभावों' के उदाहरण। चित्त के 'भाव' को, दशा को, प्रकट करने वाली, भाव के अनु, पीछे लगी, शरीर की चेष्टा का, अवस्था का नाम, 'अनु-भाव'।

शृङ्गार सम्बन्धी अनुभावों के उदाहरण, विहारी आदि कवियों की कविता मे भरे पड़े हैं। यथा—

छला छबीले छैल को नवल नेह लहि नारि,
चूमति चाहति लाय उर, पहिरति धरति उतारि।
इत तैं उत, उत तैं इतै, छिन न कहूँ ठहराति,
जक न परत, चकई भई, फिर आवति, फिर जाति। इत्यादि।

विभाव।

'भाव' के विषय को 'विभाव' कहते हैं। सो दो प्रकार के, आलम्बन और उद्दीपन। काम का आलम्बन विभाव, स्त्री के लिये पुरुष, पुरुष के लिये स्त्री; उद्दीपन विभाव, वसन्त ऋतु, पुष्पवाटिका, आदि। भय का आलम्बन विभाव. सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि; उद्दीपन, अंधकार, रात्रि, जंगल आदि। क्रोध का, शत्रु, तथा उस की विशेष चेष्टा। इत्यादि।

रागद्वेषोत्थ षट्क के शब्दों मे स्थायी भाव।

थोड़ी-सी सूक्ष्मेक्षिका से देख पड़ता है कि 'काम' के स्थान मे 'रति', 'दर्प' के स्थान मे 'हास', 'दया' के स्थान मे 'शोक' रक्खे गये हैं। 'घृणा' का पर्याय ही 'जुगुप्सा' है। 'क्रोध' और 'भय' तो बिना रूपांतर शब्दांतर के ही कहे गये हैं। बचे 'उत्साह', 'विस्मय', और 'शांत'। इन की परीक्षा करनी चाहिये। पर इस के पहिले 'हास' के विषय मे कुछ आलोचना उपयुक्त होगी।

---

* उत्तानपाद, सुरुचि, सुनीति, उत्तम, ध्रुव—इन नामो मे छिपे हुए, आधिदैविक (ज्योतिष शास्त्र-सम्बंधी) तथा आध्यात्मिक अर्थ भी हो सकते हैं।

हास मे दर्प । नारायण-उर्वशी की कथा ।

बिना 'दर्प' की कुछ मात्रा के, 'हास' नहीं होता, दूसरे को 'वेवकूफ बनाना', अपने को 'होशियार दिखाना'—यह हँसी का प्रधान अंग, प्राय:, देख पड़ता है । इस अंग के तीव्र होने से हँसी कुरस हो जाती है, ललित होने से सुरस । हँसना–यह हर्ष का, सुख का, मानो उबाल है, उमड़ पड़ना है । किसी दूसरे की अपने से छोटाई देख कर, अपनी 'अहंता' की, 'अहंकार' की, सद्य: और अतिमात्र 'वृद्धि' से जो हर्ष होता है, वह हर्ष, 'अमान्तं इव अंगेषु', मानो अपने अंगों मे न अमा सकने के कारण, 'हास' हो कर बाहर निकल पड़ता है । इस का प्रतियोगी, दु:ख से अपनी छोटाई का सद्य: अतिमात्र अनुभव कर के, 'रोना' 'सिसकना' है । ये दोनो 'अनुभाव' पशुओं मे नहीं देख पड़ते; पशुओं मे, इन के स्थान पर, फुदकना, कूदना, हर्ष के सूचक विशेष शब्द करना, तथा जमीन पर लोटना, छटपटाना और दु:ख-सूचक शब्द करना । मनुष्य 'विज्ञातं विजानाति', 'अहम्' को जानता है, इस लिये 'अहंता' के सद्योवृद्धि और सद्योह्रास से दर्प, और शोकसंबंधी 'अपने ऊपर मुदिता' और 'अपने ऊपर करुणा', के उद्गार-रूपी हास और गद्गद रोदन के अनुभावों का आधार होता है । हास का मूल 'अहम्' की वृद्धि, दर्प, गर्व, है । इसी से पुराणो मे कहा है—"नारायण: पातु च माऽपहासात्" । मा = माम् । 'देवी भागवत' मे कथा है—नारायण 'ऋषि' तपस्या करते थे । विघ्न करने को, इन्द्र ने, उर्वशी की प्रधानता मे आठ सहस्र और पचास अप्सराएँ भेजीं । नारायण उन को देख कर 'हँसे', और अपने ऊरू, जाँघ, पर हाथ मारा । नई 'उरु-अशी' और आठ सहस्र पचास अप्सराएँ, निकल आई । पुरानी उर्वशी आदि खिसियाई, शरमाईं; पर हुशियारी से नई के साथ मिल गईं, और नई पुरानी दोनो नारायण के सिर हो गई—'जैसे हो तैसे हम सब से ब्याह करो' ! बड़े असमंजस मे पड़े । पछताने लगे—क्यों मैं ने 'स्मय', 'स्मित', 'हास', 'अपहास' किया, फल भोगना ही पड़ेगा । "ईश्वरैरपि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" । फिर 'ईश्वर' का कर्म ! पलक मारने मे भारी गुण-दोष उत्पन्न हों ! 'बहुत अच्छा, अब इस मेरे रूप पर तो दया करो, तपस्या पूरी कर लेने दो, कृष्णरूप से जब अवतार लूंगा तब तुम सब भी वहीं आना, सब से ब्याह कर लूंगा' । ऐसा ही हुआ । प्राग्ज्योतिष पुर (आसाम) मे नरकासुर नाम राजा ने, सोलह हजार एक सौ स्त्रियां

एकत्र की थीं (जैसे मगध की राजधानी राजगृह मे जरासंध ने, इतने ही क्षत्रिय राजन्य, बलिदान के लिये)। नरकासुर को मार कर सोलह हजार एक सौ स्त्रियों को कृष्ण जी महाराज अपने गले बाँध लाये, और उन को महागृहस्थी की भारी झंझट उठानी पड़ी, जिस का रोना वे नारद जी से रोये। (महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ८१)*

नारायण जी को स्वयं अपहास के दुष्फल का अनुभव हो चुका है, इस से वे दूसरों को उस से बचाने मे अधिक रस से दत्तचित्त होंगे। इस लिये उन्हीं से यह प्रार्थना विशेषेण की जाती है कि अपहास से बचाइये।

अपहास से कितनी लड़ाइयाँ हो जाती हैं, यह प्रसिद्ध है। 'रोग की जड़ खाँसी और लड़ाई की जड़ हाँसी'। 'हास' को एक प्रकार से 'मिश्र' रस कह सकते हैं। रागपक्ष मे भी पड़ता है, द्वेषपक्ष मे भी। थोड़ा भी दर्पांश अधिक होने से, 'अवहास' 'अपहास' हो कर, द्वेषपक्ष अधिक देख पड़ने लगता है, और लड़ाई शुरू हो जाती है; अंग्रेज़ी मे भी कहावत है, 'जेस्ट आफ़न् पासेज़् इन्टु अर्नेस्ट'; कारण यही है, कि दूसरे को मूर्ख बनाना, यह हँसी-ठट्ठा का मर्म ही है। परस्पर प्रीतिपूर्वक; कृत्रिम दर्प का प्रदर्शन ही जब तक है, तब तक 'हास' रागपक्ष मे रहता है।

भक्ति मे पूजा। वात्सल्य मे दया।

जैसे 'रति' के स्थान मे 'समान' की ओर 'काम' (शृङ्गार), और 'शोक' के स्थान मे 'हीनदीन' की ओर (करुणा) 'दया', वैसे ही 'विशिष्ट' की ओर यदि 'भक्ति' का रस माना जाय तो उस का स्थायी-भाव अमिश्र 'सम्मान' 'पूजा' होगा। 'वि-स्मय' इस के पास पहुँचता है, पर उस मे कुछ मिश्रता जान पड़ती है। यदि 'वात्सल्य' रस अलग माना जाय, तो उस का स्थायी भाव शुद्ध अमिश्र 'दया' होगी। 'करुणा' और 'वात्सल्य' मे इतना ही भेद है कि 'करुणा' मे, दयापात्र मे शोक की, और दयालु मे अनुशोक, अनुकंपा, की, मात्रा व्यक्त और अधिक है, और वत्स (बच्छा, बच्चा) तथा वत्सल मे बीजरूपेण ही है।

---

* 'समन्वय' नाम के मेरे हिन्दी ग्रन्थ के पहिले अध्याय मे इस की कथा कही है। १६१०८ संख्या के ऐतिहासिक और आध्यात्मिक आधि-दैविक अर्थ भी प्रायः होंगे।

उत्साह मे रक्षाबुद्धि । विस्मय मे आदर ।

'उत्साह', 'विस्मय', और 'शान्त' पर अब कुछ विचार करना चाहिये।

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते । (नैषध)

सरोवर के किनारे, एक पैर पर खड़े हो कर, एक पंख के भीतर अपना सिर लपेट कर, सोते हुए हंस को, राजा नल ने, पैर दबा कर, चुपके जा कर पकड़ लिया। नल से हंस कहता है—'पद पद पर, युद्ध के लिये उत्सुक उद्भट भट, योधा, तुम को मिल सकते हैं; उन पर अपनी शूरता निकालो; उन से युद्ध कर के अपना हिंसा-रस, रण-रस, पूरा करो; मुझे दुर्बल को क्या मारना चाहते हो!

केवल लड़ने की खुजली—यह वीरता नहीं है, प्रत्युत हिंसारस और हिंस्रपशुता है। सद्उद्देश्य से धर्मयुद्ध करना ही 'शूर-वीर' का लक्षण है। "तपः क्षत्रस्य रक्षणम्", "क्षतात् किल त्रायते इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ़:"; दीनदुर्बल की रक्षा के लिये, दया से प्रेरित हो कर, धर्म-पालनार्थ, दुष्टदमन के 'उत्साह' से ही युद्ध करना 'वीरता' है। तो यह जो 'उत्साह' पद से स्थायी भाव कहा गया, इस मे दुष्टों पर 'क्रोध', और उन का 'तिरस्कार', (वीरों की गर्वोक्ति प्रसिद्ध है, जो अभद्र, अशिष्ट, 'विकत्थन' से बहुत भिन्न है), तथा दीनों पर 'दया'—इन तीन भावों का मिश्रण है। धर्मवीर, दानवीर, दयावीर, युद्धवीर—सब वीर के ही भेद हैं; दूसरे के हित के लिये अपने को जोखिम मे डालना, अपने ऊपर कष्ट लेना, यह भाव सब भेदों में अनुस्यूत है।

ऐसे ही, 'विस्मय' का अर्थ है, 'स्मय' का, गर्व का, 'वि'-रुद्ध भाव—अर्थात् एक प्रकार की नम्रता। इस मे, अपनी लघुता और अल्पशक्तिता के अनुभव के साथ-साथ, 'विस्मय' के विषय की ओर, 'भय' और 'आदर' के बीच की अनिश्चितता की अवस्था मिली है। जैसे 'रत्नाकर' भी और 'महोर्मिमाली', जलमकरी-जलहस्ती-तिमि-तिमिंगल आदि बहुविध भीषण जन्तुओं, 'यादांसि', 'यादो-गणों', से भरे हुए भी समुद्र मे, 'अति-रम्य' भी और 'अनाक्रमणीय' भी हिमालय मे, भीम गुण और रुचिर गुण एकत्र हैं।

शान्त मे विराग।

'राग-द्वेष' दोनों का विरोधी जो भाव है उसी का नाम 'शम' है। "मुनयः प्रशमायनाः"।

> विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्, नित्यं अद्वेष-रागिभिः,
> हृदयेनाभ्यनुज्ञातो, यो धर्मस्तं निबोधत। (मनु)

द्वेष और राग से मुक्त, छूटे हुए, विद्वान्, सत्पुरुष, 'सन्त', साधु जन, जिस धर्म की सेवा करते हैं, और जिस को अपना हृदय भी मानता है कि यह सच्चा धर्म है—उस धर्म को जानो।

शंका हो सकती है कि राग-द्वेष के विना स्थायी भाव, क्या कोई भी भाव, संचारी, व्यभिचारी, अस्थायी भी नहीं, फिर रस कहाँ? समाधान यही है कि निवृत्ति-मार्ग भी क्रमिक है। सद्यो विदेहमुक्ति की प्रलय-निद्रा की कथा न्यारी; उस मे न शम का अवसर है, न शांत रस का। क्रमिक निवृत्ति और जीवन्मुक्ति मे 'वैराग्य' 'वैद्वेष्य' क्रम से बढ़ता जाता है। उसके साथ-साथ, सांसारिक भावों और रसों के विरोधी, भावऽभास और रसऽभास भी, पारमार्थिक पारमात्मिक 'महाभाव' का साथी, तात्त्विक परमानन्द 'रसघन' का 'रस', "सर्वभूतेषु भक्तिर्अव्यभिचारिणी" का 'रस', भी, अनुभूत होते हैं। इस महारस मे अन्य सब रस देख पड़ते हैं; यह सब का समुच्चय है। श्रेष्ठ और प्रेष्ठ अंतरात्मा परमात्मा का (अपने ऊपर) परम प्रेम, 'महाकाम, महाश्रृंगार' ("अकामः सर्वकामो वा", "मा न भूवं, हि भूयासं इति प्रेमऽात्मनि ईक्ष्यते"); संसार की विडंबनाओं का 'उपहास', संसार के महातमस् अंधकार मे भटकते हुए दीन जनों के लिये 'करुणा' ("संसारिणां करुणयाऽह पुराणगुह्यम्"); षड्रिपुओं पर 'क्रोध', ("क्रोधे क्रोधः कथं न ते"); इन को परास्त करने, इंद्रियों की वासनाओं को जीतने, ज्ञान-दान से दीन भ्रांत जनो की सहायता करने, के लिये 'उत्साह' ("युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः", "ईश्वरस्य···भूतानुग्रहः एव प्रयोजनम्", "नमो महाकारुणिकोत्तमाय"); अंतरारि षड्रिपु कहीं असावधान पाकर विवश न कर दें—इस का 'भय', ("सर्वं वस्तु भयान्वितं जगति रे, वैराग्यमेवाभयम्", "अन्धकारे प्रवेष्टव्यं, दीपो यत्नेन धार्यताम्" "भयानां भयं भीषणं भीषणानां", "भीषाऽस्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः", "नरः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च"), इन्द्रियों

के विषयों पर और हाड़-मांस के शरीर पर 'जुगुप्सा' ("···मुखं लाला-क्लिन्नं पिबति चषकं सासवमिव...अहो मोहान्धानां किमिव रमणीयं न भवति", "स्थानाद् बीजाद् उपष्टम्भान् निस्स्यन्दान् निधनादपि, कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिताः हि अशुचिं विदुः", "अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांस-शोणितलेपनम्, चर्मावनद्धं दुर्गन्धपूर्णं मूत्रपुरीषयोः, जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्, रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत्"); और क्रीडात्मक लीलास्वरूप, अगाध अनंत जगत् का निर्माण विधान करने वाली परमात्मा की (अपनी ही) माया-शक्ति पर 'महाविस्मय' ("त्वमेवैकोऽस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः, अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित् प्रभो", "पुर-मथन ! तैर्विस्मित इव स्तुवन् जिह्लेमि त्वाम्")—सभी रस तो इस नि-र्द्वंद्व अतः 'शांत' रस के रसन मे अंतर्भूत हैं।

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिद् एनं, आश्चर्यवत् कश्चिद् अन्यः शृणोति,
आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः, श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्। (गी०)*

---

* इस पैरा (वाक्य-धारा, परिच्छेद, प्रकरणक) मे उद्धृत संस्कृत वाक्यों के अर्थ, क्रमशः ये हैं—सब जीवों पर भक्ति, प्रेम; अकाम निष्काम कामरहित भी, और सर्वकाममय भी; ऐसा कभी मत हो कि मैं न होऊं, ऐसा चाहने वाला प्रेम, आत्मा को अपने लिए सदा रहता है, अर्थात् आत्मा जीवात्मा, अपना अखंड अस्तित्व सदा बना रहना चाहता है; ऋषि ने, संसार मे भ्रमते भटकते हुए दुःखी जीवों पर करुणा के हेतु से, पुराणरहस्य प्रकाशित किया। क्रोध पर क्रोध क्यों नहीं करते (जो क्रोध, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सब की प्राप्ति मे विघ्न डालता है, और, इस लिए, तुम्हारा परमशत्रु है); (ईश उपनिषत् मे प्रार्थना है) हे परमात्मन् ! हम को टेढ़ी, पाप की कुराह पर ले जाने वाले पापों से युद्ध कर के इन को मार गिरा, दूर फेंक; प्राणियों पर दया के सिवा, परमेश्वर को अन्य कोई प्रयोजन, संसार की रचना और चिंता करने के लिए नहीं है; महाकारुणिकों मे सर्वोत्तम (सूर्य-देव) को नमस्कार है; संसार मे कोई वस्तु ऐसी नहीं जिस के साथ भय न लगा हो, एक वैराग्य ही निर्भय है; (व्यास जी, शुक को उपदेश देते हैं) मृत्यु के घोर अंधकार मे प्रवेश करना है, आत्मज्ञान के दीपक को बड़े जतन से जलाये और सम्हाले रहो; उस आत्मा से डर भी डरता है, वह भीषणो का भीषण है; उसी के भय से वायु चलता है, सूर्य उदय होता है; (एक

राग-द्वेषात्मक स्थायीभाव ।

विषय का विस्तार बहुत हो सकता है, पर 'विस्तरेण अलम्' । संक्षेप मे, अभिप्राय यह है कि, नौ रसों मे दो राशि अथवा जाति, तीन तीन शुद्धप्राय रसों (और स्थायी भावों) की, और एक राशि तीन मिश्र रसों की, होती है । साहित्यशास्त्र के ग्रंथों मे संचारी और व्यभिचारी भावों की राशियां अलग कर दी गयी हैं, पर उन मे से प्रत्येक भाव, (यदि सूक्ष्मेक्षिका से देखा जाय तो जान पड़ेगा कि), राग-द्वेष के भाव (इच्छा) की, और उत्तम, मध्यम (सम), तथा अधम के ज्ञान की, वृत्तियों के संकर से उत्पन्न होता है, और प्रत्येक को स्थायी बना कर, उस से जनित एक रस माना जा सकता है । इस दृष्टि से, यदि असंकीर्ण-प्राय भावों के बोधक शब्दों मे, मूल स्थायी भावों की गणना इष्ट हो तो, स्यात् ऊपर के उद्धृत श्लोक को यों पढ़ना अनुचित न हो,

कामो, दर्पो, दया, क्रोधो, रत्ना, गर्वो, भयं तथा,
घृणाऽऽदरौ, विरक्तिश्च, स्थायिभावाः मताः इमे ।

एक इंद्रिय के विषय के लोभ में पड़ कर, एक एक जाति के जीव मारे जाते हैं) फिर मनुष्य, जो पांचों इंद्रियों के पांचों विषयों को भोगना चाहता है, क्यों न मारा जाय; लाला, थूक, से भरे मुँह का चूमना, मूत्रादि के घृणित इन्द्रियों से रमना (परम बीभत्स कार्य है); मनुष्य शरीर के बीज, गर्भस्थान, पोषण के प्रकार और द्रव्य, निस्स्यंद (पसीना, मल, मूत्र आदि) और मृत्यु तथा तत्पश्चात् दशा—सभी नितान्त अशुचि हैं, इस लिए यह काय तत्वतः अशुचि ही है; हड्डियाँ इसकी थूनी, इस के खम्भे, हैं, स्नायु इसकी छानी छप्पर बांधने की रस्सियां हैं, लोहू मांस के पलस्तर से इसका लेपन है, चमड़ा इसका बंधन है, दुर्गन्ध मूत्र पुरीष से भरा रहता है, इस भूतों के वासस्थान को छोड़ देना ही अच्छा है । हे परमात्मन् ! यह सब आप ने क्यों रचा, इस का मर्म आप ही जानते हो; हे, इस शरीर रूपी पुर के विनाश करने वाले ! मै तो ऐसे विस्मय मे, आश्चर्य में, पड़ा हूँ, कि आप की स्तुति करते भी शरमाता हूँ; इस संसार और संसार के रचयिता को कोई अचरज से देखता है, कोई अचरज से इन का हाल सुनता है, कोई अचरज से कहता है, पर सुन के, कह के, देख के भी, कोई इस आश्चर्य का पार नहीं पाता ।

सर्वव्यापिनी अस्मिता ।

'अहंकार' 'अस्मिता' की उग्रावस्था 'दर्प' है; इस की मात्रा, अध्यात्मदृष्टि से, सब वृत्तियों मे अनुस्यूत है। काम का पर्याय 'कंदर्प' है। 'कं दर्पयति, अथवा कं न दर्पयति इत्यपि'। काम किस के दर्प को रहने देता है? सब को नीचा दिखाता है; तथा किस के दर्प को एक बेर नहीं बढ़ा देता, किस को उद्धत नहीं कर देता? हास के दर्प की कथा ऊपर कही गयी। दया करुणा मे भी, 'दूसरे की रक्षा सहायता करने की शक्ति मुझ मे है'—ऐसा सात्विक दर्प छिपा है; जैसे काम मे तामस, हास मे राजस, अपहास अतिहास मे तामस-राजस, स्मित हसित विहसित मे सात्विक राजस। क्रोध मे भी शक्ति-सामर्थ्य जब है, तब दर्प उपस्थित है। उत्साह मे, दीन की रक्षा की इच्छा और शक्ति के अपने मे अनुभव से, और दुष्ट के तिरस्कार से, अवश्य दर्प की सात्विक मात्रा है। भय मे अहं का, अस्मिता का, राजस-तामस रूप है; दर्प का विवर्त्त दैन्य है; ऊपर कहा गया है कि दुःख मे 'अहंता-ममता' का वेदन अधिक तीक्ष्ण होता है; सुख मे उतना नहीं होता; यह ठीक है कि सुख मे जीवात्मा की उपाधि का विकास वा वृद्धि होती है, और दुःख मे संकोच वा ह्रास; पर द्वंद्व-न्याय से, फूलते फैलते हुए भी, सुख और उपाधि मानो पतले पड़ते हैं, जैसे हवा भरने पर रबड़ के पोले गोले; और सिकुड़ते हुए भी, दुःख और उपाधि मानो पिंडित, घनीभूत, और दृढ़ होते हैं, जैसे वे ही गेंद, हवा के निकल जाने पर। दूसरे की घृणा करने मे, अपने उत्कर्ष का अनुभव स्पष्ट है। आ-दर, वि-स्मय, शब्दों की व्युत्पत्ति से ही जान पड़ता है कि उन मे भय और पूजा के भाव मिले हुए हैं। 'ईषद् दरः, भयं, आ-दरः। विगतः स्मयो यस्मात्, अथ च विशिष्टः स्मयः, विस्मयः'।

यदि द्वंद्व, जोड़ा, करना चाहें, तो स्यात् यो बैठेंगे—शृंगार-रौद्र (काम-क्रोध/); हास्य-करुणा (हर्ष-शोक, दर्प-दैन्य, तिरस्कार-दया); वीर-भयानक (सामर्थ्य-गर्व—असामर्थ्य-भय; उत्साह-अवसाद); बीभत्स-अद्भुत (घृणा-बहुमान)। इन सब के अध्यात्म तत्वों की चर्चा विस्तार से मेरे अंगरेज़ी ग्रंथ 'दि सायंस आफ़ दि इमोशंस्' मे की गयी है।

रस-संकर ।

रसों के मिश्रण के विषय मे ग्रंथकारों ने लिखा है कि इन-इन रसों

का साथ है, यह-यह विरोधी हैं, इन-इन का संकर कविता मे न करना चाहिए, इन-इन का संकर हो सकता है और उचित है। परंतु परमेश्वर के इस जगद्रूप अनंत नाटक मे सभी रसों का प्रतिपद संकर देख पड़ता है। सौहित्य मे लवण और मधुर का संकर वर्जनीय है। अम्ल के साथ मीठा भी चलता है, (स-लवण) सलोना भी। पर नमक और शक्कर एक मे मिलाने से दुःस्वाद होता है और वमन करा देता है। तो भी, उत्सर्ग के अपवाद भी होते ही हैं। आम की 'मीठी खटाई' बनाने मे, नमक भी डाला जाता है और गुड़ भी। हाँ, अग्नि से अँचार 'सिद्ध' किया जाता है, या धूप से 'सिझा' लिया जाता है, और 'खटाई' मे गुड़ भी और नमक भी दोनों गल जाते हैं; खटाई के मध्यम से, बिचवई से, दोनों का विरोध मिटता है और दोनो एक जीव हो जाते हैं। ऐसे ही, साहित्य मे, "भयानकेन, करुणेनापि, हास्यो विरोधभाक्"। किन्तु जीवत् जगन्नाटक मे सब का संकर बहुधा देख पड़ता है।

अपने अनुभव की कथा।

बहुत वर्ष हुए, माघ मेला के दिनों मे, 'छोटी लाइन' की रेलगाड़ी सबेरे के समय बनारस से चली। गंगा का पुल पार कर के प्रयाग मे दारागंज के स्टेशन पर ठहरी। भीड़ उतरी। एक 'टिकट-कलक्टर' ने, टिकट जांचते हुए, एक डब्बे मे से एक स्त्री और तीन बच्चों को उतारा।

'एक टिकट मे चार आदमी ले जाना चाहती है?'

'सयाने कर टिकट लगत हौ, ई तीन तो बच्चा हैं, माफ है, इन कर टिकट नाहीं लागी।'

'कैसे न लगेगा? इन मे से दो तो ज़रूर तीन बरस से ज्यादा हैं, आठ और दस बरस के मालूम होते हैं, तीसरा भी चार-पाँच का नजर आता है। तुम को सब के लिये अद्धे टिकटों के दाम देने पड़ेंगे नहीं तो जुर्माना और कैद भुगतना पड़ेगा।'

टिकट-कलक्टर ने स्त्री को बहुत 'डाँटना-धमकाना' शुरू किया। बहुत नाटे क़द की थी। जाड़े का दिन, सबेरे का समय, गंगा-किनारे के मैदान की ठंढी और तेज हवा। उस के तन पर केवल एक फटी धोती थी। बच्चे भी ऐसे ही फटे-पुराने कपड़ों मे लपेटे थे। टिकट-कलक्टर अंगरेजी वर्दी पहिनते हैं, उस मे रोब अधिक होता है। गवर्मेंटी चपरासी

भी 'अफ़सरी' की शान दिखाना चाहते हैं; जिस को 'ख़ादिम' होना चाहिये वह अपने को 'हाकिम' कहता है; जो नौकर था वह मालिक बन गया है। पहिले तो स्त्री 'डरी', घबराई; फिर बच्चों को देख कर उस को 'क्रोध' और 'उत्साह' हुआ। ज़रा-सी ठिगनी स्त्री ने हैट-कोट-बूट-पतलून-धारी शानदार लंबे-चौड़े टिकट-कलक्टर को, सिंही के ऐसा उल्टा डपटना-घुड़कना शुरू किया।

'तूँ हम के जर्बाना कैट कर के का पैबा ? एक ठे इहै फटही लुगरी मोरे तन पर बाय, तोहार मन होय तो एहू के उतार ला। केहूँ भाँत से बचन के जियाईला, से जर्बाना करिहैं, कैद करिहैं ! और जो तूँ कहा ला कि तीन बरस से जास्ती होंवै, सो बरस-ओरस का कायदा नाहीं हौ। कायदा हौ कि खिरकी से ऊँचा न होय। सो नाप ला कि इन मे से कोई तौ खिरकी से ऊँचा हौ ?।'

देखने वाला, यह लेखक, 'डर' रहा था कि कहीं टिकट-कलक्टर महाशय इन सब बेचारों को स्टेशन पर रोक ही न लें। (स्त्री और बच्चों को अगले स्टेशन पर उतरना था, पर वहाँ के भी टिकट इसी स्टेशन पर ले लिये जाते थे, और देखने वाले को भी अगले स्टेशन तक, जहाँ 'लाइन' समाप्त होती है, जाना था)। कहना ही चाहता था कि मुझ से टिकटों का दाम ले लो, कि टिकट-कलक्टर की 'मनुष्यता' ने ज़ोर किया, खिरकी वाली दलील पर 'हँस' पड़ा, माता के हृदय को पहिचाना, उस के 'वात्सल्य' का क़ायल हुआ, उन सब की अति दीन 'करुण' अवस्था पर उस को 'दया' आई। कहा--'जा माई, जा, ('बहिना' कहना चाहिये था, पर इस की चाल कम है !), अपने बच्चों को ले कर डब्बे मे जा बैठ'।

स्त्री, 'मुस्कुराती' भी और 'बड़बड़ाती' भी, बच्चों को ले कर गाड़ी मे जा बैठी।

देखने वाले के चित्त मे, टिकट-कलक्टर के 'रौद्र' आरम्भ, स्त्री के 'भय', 'उत्साह' और 'वीरता', 'करुण दशा', 'मातृ-वात्सल्य', दलील पर 'हास', पृथ्वी पर अधिकांश मानवों की अन्न-वस्त्र के विषय मे भी घोर दुर्दशा पर 'ग्लानि' और 'बीभत्सा' भी, तथा ईश्वर के 'अद्भुत' नीति-दारिद्र्य अथवा दारिद्र्य-नीति पर 'विस्मय' 'आश्चर्य', और अंततः संसार की लीला का विचार कर के 'शांति'--सभी रसों का संकर हो गया !

मनमाना क़ानून ।

प्रसङ्गतः, इस दैनंदिन दृश्यमान तथ्य का भी उदाहरण एक और मिल गया कि क़ायदा क़ानून वही जो उस का मनवाने वाला गवर्मेंटी नौकर चाहै। पहिले 'अद्धा टिकट का दाम देना पड़ैगा'––यह क़ायदा क़ानून था; पीछे 'जा, माई, जा'—यही क़ायदा क़ानून हो गया ।

आध्यात्मिक कारण । संसार की अपरिहार्य द्वन्द्वता ।

जान पड़ता है कि परमात्मा, करुण रस के आस्वादन के लिये ही, रौद्र, भयानक, आदि उत्पन्न करता है ।

असौ गुणमयैर्भावैः, भूतसूक्ष्मेंद्रियात्मभिः,
स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो, भुंक्ते भूतेषु तद्गुणान् ।
भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै, लोकभावनः,
लीलावतारानुरतो देव-तिर्यङ्-नरादिषु ।

स्वशान्तरूपेषु इतरैः स्वरूपैर् अभ्यर्द्यमानेषु, अनुकम्पितात्मा, परावरेशो, महदंशयुक्तो, हि, अजोऽपि जातो भगवान्, यथाग्निः ।(भागवत)

अपुने ही शांत रूप, अपुने ही घोर रूप,
क्रूर रूप सौम्यन को अर्दन करतु हैं—
ऐसो देखि, करुणा ते कम्पित-हृदय होइ,
महत्तत्त्वअंश लेइ, हरि रूप धरतु हैं;
जंगल मे बाँसन की आपुस की रगरन, ज्यों,
तिन ही मे लीन अग्नि देव निसरतु हैं;
दुष्टन कौ दंडन करि, शिष्टन कौ सांत्वन करि,
करुणा अरु वीरहु रस दूनो ही भरतु हैं ।

आपु निर्माण करि, आपु तिन पैठि के,
आपु सब भूतन के गुन रस चाखतु हैं;
आपु सब लोकन कौ आपुने ही सत्त्व तें,
भावना ध्यान करि सब विधि भावतु हैं;
आपु अवतार लेत, लीलावश, विविध वेश,
देवन पशु पच्छिन मे, मनुजहु दर्सावतु हैं;
आपु ही बनावत, अरु आपु ही बिगारत, अरु
आपु ही सदा कौ सब संचि-संचि राखतु हैं ।

गाँवों की स्त्रियों की गीतों मे, एक-एक कड़ी मे, जितना करुण रस भरा रहता है—क्योंकि अपने अपरोक्ष घोर अनुभव से उमड़ कर संचित होता है–उतना, स्यात् आर्ष काव्यों को छोड़ कर, अर्वाचीन काव्यों मे, 'उत्तररामचरित' मे भी, कठिनाई से मिलेगा। बहुत वर्ष हुए, सहधर्मिणी के मुख से कुछ गीत सुने, जो उन्हों ने ग्राम की स्त्रियों से सुन कर याद कर लिये थे। सात बहिन (भगिनी) और एक भाई मे से छोटी बहिन दूर देश के असंपन्न परन्तु बड़े परिवार वाले कुल में ब्याही गई; बहुत वर्षों के बाद छोटा भाई उस को देखने गया। "स्वजनस्य हि दुःखम् अग्रतो विवृत-द्वारमिवोपजायते", अपने प्राणी के आगे दुःख के कपाट खुल गये; आँसू वह चले। बहिन रोती है,

सात समुन्दर डाँकि अइलैं, भैया बीरन् (वीर);
सात बहिनिया कै भाय, भैया बीरन्,
मोरी माई कै एकल पूत, भैया बीरन्,
मोरे बाबा के प्रान अधार, भैया बीरन्;
मन एक कूटौं, मन एक पीसौं,
मन एक सीझौं रसोइयां, भैया बीरन्,
पछिली लिटियवा, भैया, मोरा रे भोजनवाँ,
ओहू मे देवरवा कै कलेवा, मोरे बोरन्;
फटही लुगरिया एकै मोरा रे पहिरनवाँ,
ओहू मे देवरवा कै भगहिया, मोरे बीरन्;
एतना दुखवा, भैया, बहिनन से जिन कह्यो,
मोर सुनि ससुरे न जैहैं, मोरे बीरन्;
एतना दुखवा, भैया, बाबा से जिन कह्यो,
सभवहिं (सभा मे) बैठल पछितैहैं, भैया बीरन्;
एतना दुखवा, भैया, माई से जिन कह्यों,
मचियहिं बैठल माई रोइहैं, मोरे वीरन्।*

* इस गीत मे दो कड़ी और हैं। यद्यपि दया-दृष्टि से देखने से उन मे भी करुणरस ही, और वर्त्तमान हिंदू-समाज मे पारिवारिक कौटुम्बिक ईर्ष्या-मत्सर की शोचनीय दशा पर खेद ही, मन मे भरैगा; पर त्वरा से, और असौहार्द से, पढ़ने वाले को, हास्य अथवा बीभत्स का धोखा हो सकता है;

वर्षों से बिछुड़े हुए माता पिता की, बच्ची के मन मे, स्नेह भरी याद, वर्षों बाद मिले इकलोते भाई का स्नेह, वर्षों का घोर दारिद्र्य-दुःख, अन्न-वस्त्र का दैनंदिन महाकष्ट, सब इन शब्दों मे से उबल कर बह रहा है! जब पहिले पहिल यह गीत सुने, तब चित्त ऐसा व्याकुल हुआ, कि किसी तरह शांत ही न हो; धीरे धीरे, उस व्याकुलता ने, और उस के सान्त्वना के यत्न ने, मिल कर, मन मे नीचे लिखे श्लोकों का रूप धारण किया; उन को लिखा; तब मन कुछ स्थिर हुआ; आदि कवि महर्षि वाल्मीकि जी के रचे प्रथम श्लोक के जन्म की कथा अब ठीक समझ मे आई; मालूम हुआ कि सच्ची कविता, यथा ग्रामगीत, उत्कट भावों के तात्कालिक उद्गार से ही बनती है।

अहह, वेद्मि यतोऽसि जनार्दनो, ननु जगज्जनकोऽपि भवन्भवान्!;
स्रवति नाति पयो जननीस्तनात्, यदि न रोदिति वेदनयाऽर्भकः।
परमनाटककृत्, करुणारतिर् भृशतरं ननु रौद्रमचीकरः,
उदयतेऽति विनाऽर्दयं अर्दनं, न ननु दीनजने दयनीयता।
अपि रसेषु रसः करुणो वरो, ह्यपि भवान् रसिकोऽसि रसे वरे,
अपि ततो जगतां जनकोऽपि सन्, भवसि निर्दय एव जनार्दनः।

हे भगवन्!, अब मुझे जान पड़ा कि आप क्यों, समस्त जगत् के जनक पिता हो कर, जन (नाम दैत्य के भी, और मानव ज़नता) के (भी) अर्दन करने वाले भी हो; जब तक बालक रोता नहीं तब तक जननी के स्तन से दूध नहीं बहता। हे परम कवि! जगन्नाटककार! भृशतर करुणा का स्वाद लेने के लिये ही आप घोर रौद्र रचते हो; बिना दुर्बल को दारुण पीड़ा दिये, उन मे दयनीयता नहीं उत्पन्न होती; इसी लिये जनता के जनक होते हुए 'जनार्दन' भी हो जाते हो; रसों मे करुण रस श्रेष्ठ कहा है, और आप रसिको मे श्रेष्ठ हो।*

टूटल खटियवा मोरा एकैरे पौढ़नवां,
ओह्रू मे ननदिया कै भाय, मोरे बीरन्,
एतना दुखवा भैया, भौजी से जिन कह्यो,
मोरी माई कै मरिहैं मेहनवाँ, भैया बीरन्।

* जैसे 'आप' के साथ 'हौ' का प्रयोग अनुवाद मे किया है, 'हैं' का नहीं, वैसे ही संस्कृत श्लोक मे 'भवान्' के साथ 'असि' का प्रयोग बुद्धिपूर्वक किया है, 'अस्ति' का नहीं; कान को कुछ अधिक मीठा जान पड़ा, और पुराणो मे ऐसा प्रयोग मिलता भी है।

हाँ, ग्रामगीतों मे शब्द-अर्थ का परिष्कार-अलङ्कार न हो, पर—

अस्ति चेद् रससम्पत्तिः, अलङ्कारा वृथैव हि
नास्ति चेद् रससम्पत्तिः, अलङ्कारा वृथैव हि ।

रामावतार की सर्वरसमय कथा ।

अच्छा, यह हुई जीवज्जगन्नाटक मे रस-संकर की कथा । लिखित काव्य की कथा देखिये । 'भट्टिकाव्य' का प्रथम श्लोक है—

अभून्नृपो विबुधसखः परन्तपः
श्रुतान्वितो दशरथ इत्युदाहृतः;
गुणैर्वरं भुवनहितच्छलेन यं
सनातनः पितरमुपागमत् स्वयम् ।

सनातन पुरातन पुरुष, अतिवृद्ध ("कालेनानवच्छेदात्"), 'शांत'-रस के अधिष्ठाता, ब्रह्मांडपति, अतिविस्तृत संसार के असंख्य जीवों के निग्रह-अनुग्रह-प्रग्रह-संग्रह की, और कर्मफलदान की, अपरिमेय चिंता करते-करते थक गए, उवियाय (उद्विग्न हो) गए। यह सब चिंता दूर फेंक कर, एक बेर मन भर, कैसे खेल लें—यह उत्कट अभिलाषा उठी। "अश्वैः यानं यानं, दुग्धैः पानं पानं, बालैर्लीला लीला" । आप छोटे बच्चे हो जायँ, और दूसरे बच्चों का साथ भी हो, तब, दूसरों के माथे, बड़ों के सिर पर, भर पेट खेलते-कूदते बने । पर सब माता-पिता एक-से नहीं होते, कोई-कोई तो बच्चों की डाँट-घोंट भी किया करते हैं । और पुरुष-पुरातन के माता-पिता होने के लिये ऐसे-वैसे जीव भी नहीं चाहियें, सर्वोत्कृष्ट ही हों । तो ऐसे माँ बाप ढूँढ़ना चाहिये जो अच्छे से अच्छे हों, सारी पृथ्वी के आदरणीय पूजनीय हों, और बच्चों पर खूब रीझें भी और 'निहाल' हों । चारो ओर देखा । क़रीब-क़रीब अपने ही इतने बूढ़े, कौशल्या और दशरथ देख पड़े; महाराज दशरथ, 'श्रुतान्वित', सर्वज्ञप्राय; और ज्ञानी ही नहीं, बड़े धर्मी कर्मी; क्षत्रियधर्म राजधर्म के अनुसार 'परंतप', बड़े शूर-वीर, प्रतापी, दुष्ट शत्रुओं का दमन करने वाले । वह भी ऐसे-वैसे तलवार चलाने वाले नहीं, 'विबुधसख', इस उच्च कोटि के अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करने वाले कि इन्द्र भी उन से मित्रता खोजते थे और देवासुर-संग्रामो मे सहायता माग लिया करते थे । 'गुणैर्वर', सब श्रेष्ठ-वरिष्ठ गुणो से विभूषित । और 'नृप', पृथ्वी के प्रजापालक सम्राट्,

महासमृद्धिशाली, जिन के यहाँ मक्खन-मिसरी की कमी नहीं, जो लड़कों को बहुत प्रिय भी है और बहुत उपकारक भोज्य-सार भी है। और सर्वोपरि यह कि उन के संतान नहीं, और संतान के लिये रात-दिन तरसते हैं। बूढ़े आदमी, अपनी आजन्म की बटोरी अक़ल को फेंक कर, बेवक़ूफ़ होकर, बच्चों पर 'छछाते' हैं, और उन को मनमानी तोड़-फ़ोड फेंक-फाँक करने देते हैं। तो, बस, इन्हीं की गोद मे जन्म लेना और इन के सिर पर खूब खेलना। पुरुष कितना भी बचों पर रीझैं पर स्त्रियों के ऐसा नहीं ही 'छछा' सकते, "उशतीर् इव मातरः", और एक माता जितना प्रेम करैंगी, उस का अवश्य तिगुना प्रेम तीन माता करैंगी, इस दृष्टि से भी दशरथ ही जँचे, क्योंकि उनकी तीन पत्नियाँ थीं। फिर अकेला बच्चा कैसे खेलैगा ? साथी चाहियें; साथी बच्चे कहाँ से आवें ? अपने चार टुकड़े कर डाले। लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न के साथ राम जी दशरथ के घर आए। पुराण-पुरुष खेलने चले, लोग हँसेंगे। कोई बहाना निकालना चाहिये। तो 'भुवनहितच्छलेन', राक्षसों को दूर कर के संसार का उपकार करेंगे, आसुरी संपत् को हटा कर दैवी संपत् का पुनः भारतवर्ष मे उज्जीवन करेंगे। बहुत अच्छा, भारत-जनता के हृदय मे घर-घर अवतार ले कर, इस बहाने को जल्द सच्चा कीजिये।* अवतारों को, "परित्राणाय साधूनां,

---

* एक और दृष्टि से भी देखना चाहिये; क्यों कि 'आर्ष-काव्य' रामायण बह्वर्थ है, कई पक्ष (पहलू) रखता है। विद्या के साथ अ-विद्या भी परमात्मा की भार्या है; तभी तो, एकता और अभेद बुद्धि को छोड़ कर, अनेकता और भेद भाव के चक्र (चक्कर) मे फँसते हैं। दशरथ भी, सर्व-विद्या-सम्पन्न बहुश्रुत हो कर भी, बहु-पत्नी-विवाह की अ-विद्या (नादानी, बे-वक़ूफ़ी, ना-समझी) मे पड़े; उन की इसी अ-विद्या के कारण, संसार के सब मुख्य-मुख्य भावों, अवस्थाओं, रसों के चित्रण करने वाले, परमोपकारक, विद्याऽधायक रामायण काव्य के बनने की नौबत आई; राम जी घर से निकाले गये, दशरथ मरे, सीता हरी गईं, रावण कुम्भकर्ण मेघनाद मारे गये, लक्ष्मण, भरत, हनूमान्, विभीषण की उद्दाम भक्ति की गंगा, जगत् का सेचन तर्पण करती हुई, वह निकली; सीता देवी से राम जी ने अग्नि परीक्षा कराई, उनकी उस घोर भूल के प्रायश्चित्त के लिये, जो उन्हों ने मायामृग के सम्बन्ध मे की थी; लक्ष्मण को राम जी सहेज गये थे, कि सीता के पास से मत हटना, राक्षस

विनाशाय च दुष्कृताम्'', सब विरुद्ध प्रकारों के महाकार्य करने पड़ते हैं ? एक ओर रक्षा साधुओं की, दूसरी ओर विनाश पापियों का; इस से उन के महाचरितों मे सभी 'रस' एकत्र देख पड़ते हैं। बाल-लीला मे और माता-पिता के संबंध मे 'वात्सल्य' और 'भक्ति'; सीतापतित्व मे ललिततम 'शृङ्गार'; विविध वियोगों की 'करुणा'; परंतपता मे 'वीर', 'रौद्र', 'भयानक', और रणभूमि की, युद्धानंतर, 'बीभत्सता'; सनातन के, पिता खोजने मे, और भुवनहितच्छल मे, 'हास्य' और 'अद्भुत'; सनातनता मे 'शान्ति'—सभी एकत्र हैं।

कृष्णावतार की सर्वरसमयता।

भागवत मे कृष्णावतार का वर्णन है, उस समय का जब कंस को मारने के लिये, रंगभूमि मे उन्हों ने प्रवेश किया—

फिरते हैं; पर सीता ने पहिली भूल तो यह की, कि हठ कर के राम जी को माया मृग का चर्म लाने भेजा, मना करने पर भी; दूसरी घोरतर भूल यह की, कि जब मायामृग मारीच ने 'लक्ष्मण' का नाम पुकारा, तो सीता ने लक्ष्मण से उधर जाने को हठ किया, और जब लक्ष्मण ने बहुत समझाया, तब यहां तक कह डाला कि 'तुम मेरा अपहरण करना चाहते हो'; इस पर, सिर नीचा कर के, 'अब क्षेम नहीं है' यह कह कर, लक्ष्मण चले गए; लक्ष्मण ने, जब सीता के फेंके हुए गहने मिले, और राम जी ने पूछा कि 'पहिचानो, मेरी आँखों मे पानी भर रहा है' तब यह कहा, "नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुंडले, नूपुरे, तु अभिजानामि, नित्यं पादाभिवंदनात्'', "भुजबंद और कुंडल नहीं जानता, नूपुर ही पहिचानता हूँ, क्यों कि प्रतिदिन, भाभी के पैरों के अभिवादन के समय, देखता था''; ऐसे लक्ष्मण को सीता ने ऐसे क्रूर, मिथ्या, शब्द कह दिये; उग्र अपराध का सद्यः दुष्फल मिला; बारह महीना की क़ैद के बाद भी अग्नि परीक्षा से प्रायश्चित्त हुआ। सीता देवी, विद्याऽविद्यामयी, (संसार-) नाटक-कला-प्रवीण 'कुशी-लवौ', कुश-लव को जन्म दे कर जिस पृथ्वी से, मूल-प्रकृति से, निकली थीं, उसी की गोद मे लीन हो गईं, और लोक के दुश्चरित्र से उद्विग्न और विरक्त होकर, राम जी भी, विद्यामयी, सत्त्व-पुरुष-अन्यता-ख्याति-रूपिणी सरयू के प्रवाह मे प्रवेश कर के, परमात्मा-अवस्था को लौट गये।

मल्लानामशनिः, नृणां नरवरः, स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्,
गोपानां स्वजनो, ऽसतां क्षितिभुजां शास्ता, स्वपित्रोः शिशुः,
मृत्युर्भोजपतेः, विराड् अविदुषां, तत्त्वं परं योगिनां,
वृष्णीनां परदेवता, इति विदितो रङ्गं गतः केशवः। (भाग०)
रौद्रो, ऽद्भुतश्च, शृङ्गारो, हास्यो, वीरो, दया, तथा,
भयानकश्च, बीभत्सः, शान्तः, सप्रेमभक्तिकः। (श्रीधरी टीका)

मल्लन कौ वज्र; अरु पुरुषन कौ पुरुषसार;
स्त्री जन कौ कामदेव मूर्ति धरे दीसतु हैं;
ग्वालन कौ अपने जन; दुष्ट भूमिपालन कौ
शासक; अरु मातु-पितहिं प्यारे पुत्र लागतु हैं;
कंस कौ तौ यम ही हैं; रुधिर-दिग्ध घृणाजनक
मूढन कौ;* योगिन कौ परमतत्व भासतु हैं;
वृष्णिन कौ राध्यदेव; रंग मे पधारे हरि,
नव-नव, नव रूप-रंग नव-रस भरि धारतु हैं।

रौद्र, अद्भुत, शृङ्गार, हास्य, वीर, दया (वात्सल्य), भयानक, बीभत्स, और भक्ति और प्रेम सहित शांत—नवो रसों का संपुट कृष्ण अकेले दिखा रहे हैं।

अति विचित्र अरु अति पवित्र हरि के चरित्र कौ सुनियै,
सुनत नित्य हू पुनि सुनिबे की तृष्णा संतत धरियै।

आत्म-रस।

"सोऽयमात्मा सर्वविरुद्धधर्माणां आश्रयः" "यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति", "तस्मै समुन्नद्धविरुद्धशक्तये नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे", "यद्अविद्या च विद्या च, पुरुषस्तूभयाश्रयः" (भागवत); "आत्मरतिर् आत्मक्रीडः आत्ममिथुनः आत्मानन्दः स स्वराड् भवति" (छान्दोग्य); "स स्वराड् भवति य एवं वेद" (नृसिंहतापनी); इत्यादि। यह आत्मा सब विरुद्ध धर्मों का आश्रय है; सब विरोधी द्वं-द्वों के जोड़े, सब परस्पर

---

*'विराट्' 'विकलं राजते,' मारे हुए कुवलयापीड हाथी और चाणूर, मुष्टिक, आदि मल्लों के रुधिर से लिप्त घृणोत्पादक, बीभत्स, हैं, 'राजते' नहीं।

विरोध करने वाली शक्तियां, अविद्या भी विद्या भी, सब इसी मे है; यह पहिचान कर, जो आत्मा मे ही, अपने मे ही, सब रति, क्रीडा, मिथुनता आनन्द पाता है, वही सच्चा स्व-राट्, स्व-राज्य वाला राजा, होता है।

आत्मनोऽन्यत्र या तु स्याद् रसबुद्धिर्न सा ऋता।
आत्मनः खलु कामाय सर्वम् अन्यत् प्रियं भवेत्।
सत्यो ध्रुवो विभुर्नित्यः एकः आत्म–'रसः' स्मृतः।

आत्मा से अन्य पदार्थं मे जो रस-बुद्धि होती है वह मिथ्या है, आभास है, सच्ची और आत्यंतिक नहीं; क्योंकि आत्मा के ही लिये तो अन्य वस्तु प्रिय होती है; आत्मरस ही सच्चा रस है।

निष्कर्ष।

इस 'रसमीमांसा' का निष्कर्षं यह होता है कि जीवात्मा के आनन्द के छः मुख्य तथा अवांतर असंख्य मिश्र 'भावों' का आस्वादन—यह काव्य-साहित्य मे व्यवहृत स्वार्थं 'रस' है। संसार-नाटक का लीला-बुद्धि से प्रवर्त्तन-निवर्त्तन-अनुवर्त्तन, और परमानंद-परमात्मानंद का आस्वादन—यह परमार्थं 'रस' है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः,
अघायुरिंद्रियारामो, मोघं पार्थ !, स जीवति। (गी०)

सर्वरसमय जगन्नाटककार की वन्दना।

'कविं पुराणमनुशासितारम्,' यं वेदवाक्यानि गृणंति भूयः,
'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः', योऽर्थान् सर्वान् व्यदधात् शाश्वताय।
यो वै कलानां च तथाऽखिलानां आद्यश्च कर्त्ता च गुरुर्गरीयान्,
ननर्त कालीयशिरस्सु बाल्ये, तं सर्वभावेन हृदा प्रपद्ये।
यद्यच्छिरो न नमतेऽस्य शतैकशीर्ष्णः, तत्तन्ममर्द खरदंडधरोऽङ्घ्रिपातैः,
तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्र-पादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त।
(भागवत)

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः, तासां मूर्धानं अभिनिःसृतैका,
तयोर्ध्वमायन्, अमृतत्वमेति, विष्वङ् अन्याः निष्क्रमणे भवंति !
सृष्टिस्थितिलयाभासं सन्ततं सकलं जगत्,
लीलामयं सर्वरसं नाटकं परमं कवेः।

कला लीलाऽत्मिका व्यक्तिः लीला रसमयी क्रिया,
स्वस्वभावविभूतीनाम् आत्मना रसनं रसः।
नमो रसानां धर्माणां शक्तीनाम् अथ, सर्वदा,
अपि अत्यन्तविरुद्धानां द्वन्द्वानाम् आश्रयाय च।
रसाय, रससाराय, तथा रसघनाय च,
रसानां च निधानाय, तथा रसतमाय च,
रसानामपि सर्वेषां रसिकायैकलाय च,
प्रेष्ठाय, सर्वश्रेष्ठाय, परमानन्दरूपिणे,
जगन्नाटककाराय, सर्वपात्रमयाय च,
सर्वस्य सूत्रधाराय अपि आद्याय कवये नमः।*
॥ ॐ ॥

---

* श्री महावीर प्रसाद जी द्विवेदी की ७० वीं वर्षगांठ के अवसर पर (संवत् १९९०–सन् १९३३) काशी से नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से उन को जो अभिनंदन ग्रंथ दिया गया था उस के लिए, सभा के अधिकारियों की इच्छा से, यह लेख लिखा गया था।

भगवद्-भक्ति (नियाज़ की एक उर्दू कविता)

आशिक़े ज़ार हूं मैं, तालिबे आराम नहीं,
नंगो नामूसि दुनिया से मुझे काम नहीं ;
बेसरो-पाई का उश्शाक़ को ख़तरा क्या है ?
असरे इश्क़ है यह, गर्दिशे अय्याम नहीं ;
आलमे इश्क़ की दुनिया ही निराली देखी,
सहरो शाम वहाँ, ये सहरो शाम नहीं ;
बे निहायत, जिस का पाया है नहीं पायाँ,
जिस जगह हम पहुंचे हैं, आग़ाज़ है, अंजाम नहीं ;
फ़िक्र दुनिया की मलामत की तुझे क्या है, नियाज़ !,
आशिक़ों मे तो अकेला तू ही बदनाम नहीं !

(हिन्दी अनुवाद)

प्रेमी घोर भयो हूँ मै तौ, नहि सुख ढूँढन वारो,
जस अपजस अरुलोक लाज तें नहिं कछु काज हमारो ;
बे सिर पैर बात प्रेमिन को, तिन मे अर्थ न हेरो,
यह तो है प्रभाव प्रेम हि कौ, नाहिं दिनन कौ फेरो ;
प्रेम लोक इन सब लोकन तें देख्यो भिन्न घनेरो,
वहँ के साँझ सवेरो नाहीं, यहँ कौ साँझ सवेरो ;
अति अगाध बिनु थाह जलधि यह, अंत कतहुं नहिं पायौ,
जहँ पहुँचत तहँ आदि हि देखत, पार न कहुँ नियरायौ।
लोक करौ अपवाद, खेद क्यों मानै चित्त तिहारो !
प्रेमिन मे तो नहिं तेरो ही इकलो नाम निकारो !

सती का प्रेम (एक 'जाँते की गीत')

पृ० १५३–१५४ पर, करुण रस की एक ग्राम गीत लिखी है : उत्तम श्रृङ्गार की एक यहां लिखता हूं। पति-पत्नी के पवित्र प्रेम के ललित निकषण (कसौटी) का, और उस निकर्षण से उत्पन्न सात्त्विक क्रोध के रौद्र-रस का, और सुखान्त नाटकीय दृश्य से जनित ललित शंका-क्षोभ-मिश्रित स्मित-रूपी हास्य रस का इस गीत मे उत्तम मिश्रण और चित्रण है। बहुत वर्ष हुए, जाँते ('यंत्र') मे आटा पीसती हुई, एक

वृद्ध परिचारिका को, इसे गाते हुए सुना था; कुछ अंश भूले थे; उन्हें पत्नी से शुद्ध करा लिया है।

नदिया किनारे इक रूख, बिच राह परी;
ता तर ठाढ़ी नारि, मन मे वियोग भरी;
बाट चलत बटोहिया—"साँवर ! क्या है खड़ी ?
किय तोरा नहियर दूर, किय घर सासु लड़ी ?
नयनन भरे वियोग, काहे उदास खड़ी ?"
"भटकि चलत, बटोहिया ! तुम्हे क्या है पड़ी ?
नहिं मोरा नहियर दूर, नहीं घर सासु लड़ी ;
मोरा बलम परदेस, ता तें बियोग भरी।"
"देउँ मै डाली भर सोना, मोतियन माग भरी;
चाभौ मगहिया पान, चलौ मोरे संग लगी"।
"आगी लगाओं तोरा सोनवा, औ मोतियन माग भरी,
लौटत मोरा बनिजरवा, लुटाओं तोरी बर्धी खड़ी"।
"लेउ न धनिया सुलच्छना, तोरी बोली भली;
हमहीं तो तोरे बनिजारा, लुटाओ मोरी बर्धी भरी;
तोरे एक अलक कौ मोल नाहीं बर्धी मोती भरी"।
मचियहिं बैंठलि सास, बहू अरज करै,
"चीन्हहु, सास जु !, बेटा, मै पावों आपन हरी" ?*

---

*रूख = (संस्कृत) वृक्षः ; बटोही = (सं०) वाटः (मार्ग, सड़क) पर चलने वाला; सांवर = श्यामा; सास = श्वश्रूः; बलम = वल्लभः; सोना = सुवर्ण; मोती=मुक्ता; मगहिया = 'मगधेजातः'; आगी=अग्निः; बनिजारा = वाणिजिकः या वनेचरः (?); बर्धी, बलीवर्दः से, बैल पर लदा बोरा या थैला; धनिया=धन्या (या धन-सर्वस्व ?); सुलच्छना = सुलक्षणा।

: ४ :

कामाध्यात्म, (काम-शास्त्र के आध्यात्मिक तत्त्व), वा सात्त्विक कामशास्त्र

ॐ

[वात्स्यायन के कामसूत्र के एक हिन्दी अनुवाद के सम्बन्ध मे, एक सज्जन के निर्बंध से, एक छोटा निबन्ध, संवत् १९८९ वि० (सन् १९३२ ई०), मे लिखा गया; उसी का बहुत उपबृंहित रूप यह है ।]

सोऽयम् इत्थम् अथ भीमनन्दिनीम्
दारसारम् अधिगम्य, नैषधः,
तां तृतीय-पुरुषार्थ-वारिधेः
पारलम्भनतरीम् अरीरमत्* । (नैषधचरितम्)

मनुष्य की तीन प्रधान इच्छा—आहार, परिग्रह, और सन्तान ।

आहारेच्छा—बच्चा पैदा हुआ नहीं कि उस को भूख प्यास लगती है । उस का मुँह देखते ही, उस का रोना सुनते ही, माता का वात्सल्य, मूर्ति धारण कर के, दूध के रूप मे बह निकलता है, और बच्चे का पोषण करता है । गर्भ के भीतर भी माता ने साक्षात् अपने रुधिर से, उस की नाभि के द्वारा, उस का पोषण किया है । अब रक्त को श्वेत कर के, बाहर बहा कर, उस के मुख के द्वारा पिलाती है । 'आहार' की इच्छा, क्षुधा-तृषा, अशनाया-पिपासा—यह देहधारी जीव की सब से पहिली, सब से गहिरी, सब से अधिक चिरस्थायिनी, सब से अन्तिम इच्छा है ।

* अति सुन्दर राजा नल ने, राजा भीम की पुत्री अति सुन्दरी दमयन्ती से, स्वयम्वर की विधि से, विवाह किया, और तृतीय पुरुषार्थ 'काम' के समुद्र को इस दार-सार-रूपिणी नौका के सहारे, पार किया ।

जन्म से ही, अथवा गर्भ मे आने के समय से ही, इस का आरम्भ है; शरीर के त्याग से ही इस का अंत है।

मनुष्याणां समारंभाः सर्वे आहारसिद्धये। (म० भा०)

मनुष्य मात्र के सभी उद्यम, सभी धन्धे, अन्ततो गत्वा, आहार की सिद्धि के लिये ही किये जाते हैं। दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या के सम्बन्ध मे, आहारशास्त्र की सरल, सामान्य, सर्वोपयोगी बातों को जानना, सब को, विशेष कर 'अन्नपूर्णा' गृहिणियों को, आवश्यक है।

पूर्व योनियों की उद्धरणी।

पीठ पर पड़ा हुआ, बच्चे के शरीर मे, हाथ पैर फेंकता हुआ, जन्म के बाद कई महीनों तक माता का पिलाया केवल दूध ही पीता हुआ, मनुष्य, पूर्व जन्मों मे अभ्यास की हुई, मणि और वनस्पति रूप की स्थावर उद्भिज्ज योनियों की उद्धरणी करता है। इस अवस्था मे जीव को, अधिकतर अव्यक्त, कदाचित् किंचित् व्यक्त, 'मैं' का भीतरी अनुभव होता है।

परिग्रहेच्छा—फिर पेट के बल पड़ कर, रेंग कर, चारों हाथ पैर के बल चल कर, 'अन्नप्राशन' करता हुआ, मछली, सांप, कछुआ, छिपकिली, मगर, घड़ियाल, मेढ़क, अंशतः चिड़िया, चौपाये पशु, तथा वानर रूपों की जंगम स्वेदज-अंडज-जरायुज योनियों को दुहराता है* ; जैसे छात्र, वर्ष भर मे बड़े परिश्रम से सीखी हुई पोथी को, परीक्षा के दिन, सवेरे एक या दो घंटे मे, फुर्ती से उलट जाता है, और अपने ज्ञान को नया, ताज़ा, कर लेता है। इस अवस्था के आरंभ से, जीव को, 'परिग्रह' की, 'माल-मता' की, 'प्रापर्टी' की, वस्तुओं को अपनाने की, चीज़ों का संग्रह संचय करने की, इच्छा व्यक्त होने लगती है। उस को 'मेरा-तेरा' का अनुभव होने लगता है। 'यह फल मेरा है, तुम्हारा नहीं',

---

* 'चौरासी' मुख्य जातियों, योनियों, की ऐसी उद्धरणी, गर्भ के भीतर भी प्रथम सात महीने मे हो जाती है; तब गर्भ को मनुष्य की आकृति प्राप्त होती है; उस के पहिले पैदा हो जाने से नहीं जीता। इस उद्धरणी को अंग्रेज़ी मे "पैलिञ्जेनी" तथा "रिकैपिचुलेशन" भी कहते हैं।

'यह खिलौना मेरा है, तुम्हारा नहीं'—ऐसा मानस भाव, उपयुक्त अनुभावों से, शरीर की क्रियाओं से, मूठी से कस कर पकड़ लेने से, छीनाछोरी करने से, रोने चिल्लाने से, बच्चे, स्पष्ट बोल सकने के पहिले ही से, प्रगट करने लगते हैं।

यह 'परिग्रह' की इच्छा, जैसे जन्म से कुछ काल पीछे व्यक्त रूप से आरम्भ होती है, वैसे प्राकृतिक (शतायुर्वै पुरुषः) पूरे बुढ़ापे से मरण के कुछ काल पहिले, पुनः अव्यक्त अर्थात् लुप्त, नष्ट, अंतर्लीन, हो जाती है। 'पूरे बुढ़ापे से'—ये शब्द याद रहैं। निश्चयेन, बहुधा देख पड़ता है कि अंतिम श्वास, आखिरी दम, तक, मनुष्यों को धन दौलत का मोह, लोभ, हिर्स, तमा, बनी रहती है। प्रायः ये बहुत बूढ़े नहीं होते। प्रायः तन के साथ मन भी थकता है, शरीर की शक्ति के साथ मन की शक्ति (तृष्णा) भी घटती है। फिर, उत्सर्ग के, नियम के, क़ायदे के, अपवाद, इस्तिस्ना, भी होते ही हैं।

आहार-सामग्री और उस के साधक, तथा अन्य सुविधाओं के वर्धक, 'परिग्रह', वित्त, धन दौलत, के अनुचित वंटन, बाँटने, से, कुछ के पास अत्यधिक, बहुतों के पास कुछ नहीं के तुल्य, होने से, नामुनासिब तक़सीम (बंटवारे, विभाजन) से, संसार मे बहुत कष्ट, कलह, युद्ध, होते हैं। इस लिये अर्थ-शास्त्र के साधारण, मुख्य, मूल, सरल नियमो का ज्ञान, तथा विविध जीविकाओं के उपार्जन के सरल रूपों का ज्ञान भी, सामान्यतः, सब को, विद्यार्थी अवस्था मे करा देना चाहिये।

सन्तानेच्छा—इस के बाद, दो पैर पर खड़ा हो कर, जीव ठीक मनुष्य बनता है। पर अभी भी, पहिले मा की अंगुली का, घर के भीतर, फिर बाप या शिक्षक या बडे भाई या दूसरे सयाने (सज्ञान) आदमी के साथ का, घर से बाहर, सहारा चाहता है। पंद्रहवें सोलहवें वर्ष मे पहुँच कर, शिशु, बाल, पोगण्ड, किशोर, गौरी, रोहिणी, किशोरी, कुमार कुमारी, अवस्था से यौवन मे आने पर, पुरुष और स्त्री को, दूसरों के सहारे की आवश्यकता कम हो जाती है। स्वयं दूसरों को सहारा दे सकने की योग्यता होने लगती है। शरीर मे विशेष वृद्धि, पुष्टि, (मुख पर, कक्ष मे, गुह्यस्थान के पास) रोम आदि की उत्पत्ति, मन बुद्धि और शरीर मे विशेष शक्ति, फूर्ति, क्षोभ, चंचलता, देख पड़ती है। और 'संतान' उत्पन्न करने की इच्छा और शक्ति अनुभूत होती है। प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं

मित्रवद् आचरेत्। जब पुत्र सोलह वर्ष का हो, तब उस के साथ अपने तुल्य मित्र का सा व्यवहार करै। दो प्रकार के देह, नर-नारी, सदृश भी विसदृश भी, भिन्न-अभिन्न पुरुष-प्रकृति के अनुकारी, कैसे हुए, इस का प्रतिपादन, उपनिषदों के अनुसार, 'दि सायंस आफ़ दि इमोशन्स' मे किया है।

शुक्रधरा कला—आयुर्वेद के ग्रंथों मे कहा है कि जन्म-काल से ही 'शुक्रधरा कला' मूर्धा से नीचे बढ़ने लगती है। ज्यों-ज्यों नीचे उतरती है त्यों-त्यों अङ्गों मे पुष्टि और कांति बढ़ती है। चौदहवें सोलहवें वर्ष मे, (सामान्य अनुगम से), स्त्री पुरुष के स्तन तक आती है; तब दोनों स्तन कुछ फूलते हैं, पुरुष के भी, स्त्री के भी। कुछ काल के बाद पुरुष के स्तनों की फूलन घट जाती है, स्त्री की बढ़ती जाती है। इस समय से संतान उत्पन्न करने की शक्ति मनुष्य को होती है। पर वह शक्ति अभी सर्वथा कच्ची रहती है। स्त्री का रजःक्षय, पुरुष का वीर्यक्षय, यदि इसी समय से आरम्भ हो जाय, तो शरीर और मन कच्चा, दुर्बल, तेजोहीन, रोगी हो जायगा, और संतान भी वैसी ही होगी। छत्तीसवें वर्ष मे यह शुक्रकला पैर की अंगुलियों तक पुष्ट होती है। 'आ नखेभ्यः प्रविष्टः' (उप०)।

यदि समाज के सौभाग्य के दिन लौटें, यदि क्षुद्रता, नीचता, और पापमय भावों की हवा दूर हो, और गुरुता, आर्यता, और पुण्यात्मक भावों की हवा बँधै, यदि सज् ज्ञान और तदुचित सद् भाव, सद् इच्छा, और सद् आचरण समाज मे फैलें, यदि ब्रह्मचर्य की पूरी अवधि का पालन स्त्री पुरुषों से करते बन पड़ै, कन्या-दूषण और कुमार-दूषण का घोर पाप, जो आज-काल बहुत हो रहा है, बंद हो, तो, मनुष्यों के ठिकाने, देवों और देवियों का समाज हो जाय, सब तरफ चमकते हुए चेहरे, उज्ज्वल अङ्ग, नीरोग विशाल सुन्दर स्त्री-शरीर और पुरुष-शरीर, 'आशिष्ठो बलिष्ठो द्रढिष्ठः' (उपनिषत्), और सब शास्त्रों के मर्म को जानने वाली बुद्धियां, चारो ओर देख पड़ने लगैं।

मेधाऽसि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा। (दुर्गासप्तशती)
ज्ञानं, शौर्यं, महः, सर्वं ब्रह्मचर्ये प्रतिष्ठितम्। (म० भा०)
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रमं अविशेत्।
षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्;

तदधिकं, पादिकं वा, ग्रहणांतिकमेव वा। (मनु)
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। (वेद)

ऐसी मेधा, बुद्धि, जो सब शास्त्रों के सार को जानती है; ब्राह्मण-वृति के उचित सच्चा गम्भीर समाज-व्यवस्थापक, जन-संग्राहक, लोक-संधारक, सर्व-उपकारक, ज्ञान-विज्ञान; क्षत्रिय-वृत्ति के उचित सच्चा दुर्बल-रक्षक दुष्ट-तक्षक शौर्य; वैश्य-वृत्ति के उचित सचा श्री-विस्तारक दारिद्रय-निस्तारक सर्व-पोषक महस्—यह सब ब्रह्मचर्य पर प्रतिष्ठित है। इस लिये कर्त्तव्य यह है कि विद्यार्थी अवस्था मे, ब्रह्मचर्य आश्रम मे, वीर्य का प्लावन, शुक्र का स्खलन अवकिरण न होने दे; 'काम' का उद्दीपन करने वाली बातों और क्रियाओं से परहेज करें। माता पिता का, तथा अध्यापक गुरु का, परम कर्त्तव्य है कि इस विषय मे, पुत्र, दुहिता, शिष्य की रक्षा करें; दुष्टों की कुसङ्गति से बचावें; तथा ऐसा उपदेश, समझदारी के साथ, विवेकपूर्वक, दें, कि कन्या और कुमार अपनी रक्षा स्वयं बुद्धिपूर्वक कर सकें; ऐसे प्रकार से उपदेश न दे कि उस ओर और कुतूहल बढ़ें; न ऐसे ही डरावने प्रकार से कि इस का नाम लेते ही, भय, साध्वस (हदस), और कम्प, कोमल हृदय मे पैदा हो जाय। इस प्रकार से विद्यार्थी अवस्था मे, कुमारावस्था कन्यावस्था मे, शुक्र (पुरुष-वीर्य) शोणित (रजस्, स्त्री-वीर्य) का सञ्चय कर के, और शरीर और बुद्धि को सुपुष्ट कर के, तब गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करें, और विवाह कर के, न्यायप्राप्त शास्त्र-संमत धर्मं संगत काम-सुख का, रति का, प्रीति का, संतति का, अनुभव करें। उत्तम प्रकृति के जीवों के लिये, उपनयन से आरंभ कर के, ब्रह्मचर्याश्रम की पूरी अवधि, छत्तीस वर्ष कही है; द्वितीय श्रेणी के लिये, अठारह: तीसरी कोटि के लिये, नौ; अथवा जो विद्या सीखना चाहता हो, उस के प्राप्त हो जाने तक।*

---

* उपनयन का समय, 'ब्राह्मण'-गुणस्वभाव के, विशिष्ट बुद्धि के, ज्ञानप्रधान जीव के लिये, पांचवें से आठवें वर्ष तक; 'क्षत्रिय'-गुण-स्वभाव के, उत्साहवती बुद्धि के, क्रियाप्रधान जीव के लिये, छठवें से ग्यारहवें वर्ष तक; 'वैश्य'-गुण-स्वभाव के, स्थिर-बुद्धि के, इच्छाप्रधान जीव के लिए, आठवें से बारहवें वर्ष तक। यदि किसी विघ्न के कारण, इन समयों के भीतर न हो सके तो अनुक्रम से सोलहवें, बाईसवें, चौबीसवें, वर्ष तक

ऐसा सौभाग्य समाज का न होने से, सात्त्विक भावों के चारो ओर संकुचित, क्षीण, न्यून हो जाने से; प्रत्युत, दुर्भाग्य के उदय से राजस तामस भावों के विकास और प्रसार से; 'काम' (मैथुन्य) के सम्बन्ध मे, स्त्री-पुरुष के परस्पर व्यवहार के विषय मे, नितान्त उच्छृङ्खलता, निम-र्यादता, अश्लील भाषण, हस्त-मैथुन से आरम्भ कर के वेश्यागमन, परदारगमन, बलात्कार, कुमारदूषण, कन्यादूषण तक, छोटे और बड़े, घोर, घोरतर, घोरतम, दुराचार पापाचार के प्रचार से; फल यह उत्पन्न हुआ है कि, निर्बुद्धि, दुर्बुद्धि, विरूप, कुरूप, विविध पशुओं की प्रकृति के, विविध शरीर और मानस रोगों से ग्रस्त, परस्पर-स्नेह-रहित, सद्भावहीन, मिथ्या-वादी, दयाशून्य, कलहशील, कामी, क्रोधी, लोभी, भीरु, कायर, गर्वालु, ईर्ष्यालु, क्षोभालु, ही, बहुतेरे स्त्री और पुरुष चारो ओर देख पड़ते हैं। स्त्री और पुरुष के किन किन गुणो अथवा दोषों से कैसी कैसी गुणवती वा दोषवती सन्तति होती है, इस का वर्णन सुश्रुत मे किया है, जो आगे लिखा जायगा।

मुक्ताफलस्य छायायाः तरलत्वं इव, अन्तरा,
दृश्यते यद् युवांगेषु, तल् 'लावण्यं' इह उच्यते।

युवा युवती के अंगों पर, मोती के आब, पानी, छाया, आभा, चमक, के ऐसी तरलता, जो देख पड़ती है, उस को 'लावण्य' कहते हैं। 'आभा लवणखण्डे या तद्वत् तारल्यम् अन्तरा', ऐसा कहते तो 'लावण्य' शब्द का अर्थ अधिक स्पष्ट होता; लवण, लोन, नोन, नमक के टुकड़े की ऐसी चमक। हिन्दी मे 'स-लोनी सूरत' कहते भी हैं। सो आज काल ऐसी लावण्यमयी आकृति देखने को जल्दी मिलती नहीं, न युवा मे, न बालक बालिका मे, मध्यायु और वृद्धों की कथा दूर; आँखें खोजती ही रह जाती हैं। शुक्रकला की रक्षा से ही यह चमक शरीर पर उत्पन्न होती है; सो रक्षा

भी। उस के ऊर्ध्व, ऊपर, बाद, तीनो, अनुक्रम से पतित, गिरे हुए, 'व्रात्य' हो जाते हैं। किसी भी उत्तम उपकरण से, बहुत दिनों तक काम न लिया जाय, तो उस पर गर्द जम जाती है, मुर्चा लग जाता है। 'व्रात्य-स्तोम' आदि विधियों से, विविध 'व्रत' करा के उन का पुनः संस्करण हो सकता है, और वे विद्या सीखने के योग्य बनाये जा सकते हैं, जैसे काई लगा बर्तन, मुर्चा खाया हथियार, विशेष मार्जन, माजने, से, फिर काम के योग्य बनाया जा सकता है।

नहीं होती; खाने पहिनने मे भी तरह तरह की त्रुटि और असंयम होते हैं। इसी से व्यक्ति और समाज 'अ-दर्शनीय' हो रहे हैं, दर्शन के अयोग्य और 'सम्यग्-दर्शन' मे शून्य।

बहुत थोड़ा भी विचार करने से स्पष्ट देख पड़ता है कि सच्चे सात्त्विक धर्मानुकूल काम-शास्त्र की, काम-सम्बन्धी अच्छे ज्ञान की, गृहस्थ गृहिणी को कितनी भारी आवश्यकता है। गार्हस्थ्य का सुख, संतान का उत्कर्ष, अतः समाज की उन्नति, सब इसी पर आश्रित है।

जैसे यह 'सन्तान' की, 'प्रजनन' की, इच्छा, जन्म से कई वर्ष पीछे व्यक्त होती है, वैसे ही, साधारण रीति से, मरण के बहुत पहिले, शरीर के जरा से जीर्ण होने पर, लुप्त हो जाती है।

तीनो की मूल वासना—परमात्मा का काम-संकल्प—उस से तीनो की उत्पत्ति।

यह तीन कामना, एषणा, इच्छा, 'आहार' की, 'परिग्रह' की, (मिथः, परस्पर, स्त्री पुरुष के प्रसंग से, मिथोभाव से, मिथुनता से, दो दो के, जोड़ा जोड़ा के, साथ से परस्पर 'रति' से, 'मैथुन' से) 'संतान' की—यह तीन, मनुष्य की मुख्य इच्छा, तृष्णा, वासना हैं। अथवा यों कहना चाहिये कि एक ही मूल 'वासना' (मूल 'काम-संकल्प', 'माया', 'अविद्या', 'अज्ञान', अस्मिता') की तीन पोर, परु, परुष्, पर्व हैं। इन का आध्यात्मिक रूप--'अहं स्याम्', 'अहं बहु स्याम्', 'अहं बहुधा स्याम्'—ऐसा है; मै होऊँ, सदा बना रहूँ', 'मै बहुत (परिमाण मे बड़ा, लम्बा, चौड़ा, मोटा, ताजा, धन दौलत वाला, सब प्रकार की सम्पत्ति मे 'बहुत') होऊँ', 'मै बहुधा (संख्या मे बहुत बड़ा, अनेक रूप वाला, बहुत आकार वाला, बहुत प्रकार का, बहुत तरह का, बहुत पुत्र पौत्र वाला, बड़े परिवार परिजन किङ्कर वाला) होऊँ।

लोक, वित्त, दार (वा सुत) की एषणा—वेद के उपनिषदों मे, (चित्त और देह दोनो की सम्मिलित संग्राहक दृष्टि से), इन को 'लोकैषणा--वित्तैषणा--दार-सुतै-षणा' के नाम से कहा है। जैन दर्शन मे, देह की दृष्टि से, 'आहारसंज्ञा--परिग्रहसंज्ञा--मैथुनसंज्ञा' के नाम से। बौद्ध दर्शन मे, उभय दृष्टि से, 'भवतृष्णा--विभवतृष्णा—कामतृष्णा'। फ़ारसी मे, 'ज़मीन-ज़र-ज़न' और 'इज़्ज़त-दौलत--हुकूमत'। अंग्रेजी

मे 'वाइन्--वेल्थ्--विमेन्', 'फ़ूड्--शेल्टर्--स्पौज़्', 'हंगर् -ऐक्किज़िटिव्नेस्'--सेक्स्' कह सकते है। देवी-भागवत मे, "आहारेच्छा, धनेच्छा वा, रतीच्छाऽपि तु वा भवेत्"--ऐसा कहा है। चरक-संहिता (सूत्र-स्थान, अ० ११) मे, 'प्राणैषणा--धनैषणा--परलोकैषणा' के नाम से इन की चर्चा की है। स्थान के भेद से दर्शन मे भेद होता है। चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से 'प्राणैषणा' मे 'आहारैषणा' और 'कामैषणा' अंतर्गत समझना चाहिये; क्योंकि अधिकांश रोग इन्हीं दो के दुरुपयोग से होते हैं। 'प्राणैषणा' के स्थान पर 'लोकैषणा' नाम, अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से पड़ता है, और इस मे 'आहार-लिप्सा', 'यशो-लिप्सा', 'परलोक-लिप्सा', अंतर्गत हैं; क्योंकि जैसे 'आहार', इस 'लोक' मे, अन्नमय-प्राणमय-कोषात्मक स्थूल शरीर के बने रहने का साधन है, वैसे, उत्तम कर्मों से कमाया 'यशस्', मनोमय-विज्ञानमय-कोषात्मक सूक्ष्म शरीर का 'आहार' हो कर, 'परलोक' मे उस की स्थिति का साधन होता है। इस का विस्तार करने का यह अवसर नहीं। दूसरे ग्रंथों मे किया है।* निष्कर्ष यह है कि स्थूल शरीर की दृष्टि से जो आहारेच्छा (२) धनेच्छा (३) रतीच्छा हैं वह सूक्ष्म शरीर की दृष्टि से (१) आदर-सम्मानेच्छा (२) विविधज्ञान-संग्रहेच्छा, (शास्त्रैषणा), विविध-'सम्पत्ति'-इच्छा, (३) ऐश्वर्येच्छा हैं; अर्थात् इज़्ज़त, इल्मी दौलत, हुकूमत, (अधिकार, आज्ञा-शक्ति, ईश्वर भार) है।†

इन तीन इच्छाओं की पूर्ति यदि उचित मात्रा मे, उचित प्रकारों से, न्याय से, धर्म से, क़ायदे से, की जाय, तो संसार के सब उत्तमोत्तम सुख मनुष्य को मिलैं, उन के लिये पृथ्वी पर स्वर्ग आ जाय। यदि इन की

---

* अंग्रेज़ी भाषा मे लिखे 'दि सायंस् आफ़् दि इमोशन्स्', 'दि एसेन्शल् युनिटी आफ़् रिलिज़न्स्', एन्शेन्ट वर्सस् माडर्न सायन्टिफ़िक् सोशलिज़्म', तथा 'सायंस् आफ् दि सेल्फ्' मे।

† 'सम्पत्ति इच्छा द्वि-जों के तीन स्वभावों के अनुसार, त्रिविध होती है; (१) शास्त्र-ज्ञान और उस की सामग्री की (२) शस्त्रास्त्र ज्ञान, युद्ध-कौशल, और तदुपयोगी सामग्री की, (३) विविध उत्तम, जीवनोपयोगी, आवश्यकीय, निकामीय, विलासीय वस्तुओं, धन-धान्यों, परिष्कृत भोग-विलास की और ललित कलाओं की सहायक समृद्धियों, की, जिन समृद्धियों का, 'काम' नामक तृतीय 'पुरुषार्थ'से विशेष संबंध है)।

पूर्ति न की जाय, अथवा अति मात्रा मे, अनुचित मात्रा मे, दुष्ट प्रकारों से, अन्याय और अधर्म से, की जाय (आयुर्वेद के शब्दों मे, अ-योग, अति-योग, मिथ्या-योग वा विषम-योग किया जाय), तो संसार के घोरतम दुःख, मनुष्य को भोगना पड़ता है, और भूतल ही उस के लिये साक्षात् नरक हो जाता है।

अहंता, ममता, मदीयता—इच्छा की पहिली काष्ठा, आहार की एषणा—यह 'अहंता' ('अस्मिता', 'अहं-भाव', 'अहंकार') का मूल रूप है। दूसरी काष्ठा, परिग्रह की एषणा, ('स्वत्व', धन-दौलत, मिल्कीयत, 'जायदाद', 'प्रापर्टी' की)—यह 'ममता' का रूप है। तीसरी काष्ठा, पति-पत्नी-द्वारा सन्तान की एषणा, 'आत्म-संतानन' की चाह—यह विशेष रूप से 'काम' कहलाती है। संस्कृत मे 'तन्' धातु का अर्थ तानना, फैलना, खींचना, बढ़ाना, विस्तार करना है। इसी से हिन्दी शब्द 'ताना (-बाना)' और ताँत, तथा संस्कृत शब्द 'तन्त्र', तन्तु, आदि बने हैं। 'आत्मनः', ('अत्तनो', 'आपणो'), आत्मा का, अपने शरीर से दूसरे शरीरों की 'संतति', 'ताँता', शृङ्खला; उत्पन्न कर के, 'तानना' ('ताना'-बाना के ऐसा फैलाना), लम्बा करना, बहुत काल तक 'अपनी' शृंखला टूटने न देना, मानो अमर बनना है। वंश ('बाँस मे से जैसे पर्व से पर्व, पोर से पोर, निकलती चली आती है, वैसे) जीता, बढ़ता, फैलता रहा, तो मानो 'मैं' ही अनन्त काल तक जीता, बढ़ता, फूलता, फलता रहा। 'मदीय' जन, मेरे 'आत्मीय', मेरी 'आत्मीयता', मेरे पुत्र पौत्र प्रेष्य किंकर, बढ़ते रहे, तो मेरा आत्मा ही, 'मैं' ही बढ़ता रहा। 'अहंता-ममता-मदीयता ('आत्मीयता') यह मूल एषणा के तीन दर्जे हैं।

जीव की संसार-यात्रा के दो अर्ध-मार्ग—प्रवृत्ति और निवृत्ति।

मा न भूवम् हि, भूयासम्, इति प्रेम आत्मनि-ईक्ष्यते। (पंचदशी)

मैं कभी नाश न पाऊँ, सदा वर्त्तमान विद्यमान रहूँ*—ऐसा प्रेम आत्मा का, अपने लिये, सर्वत्र देख पड़ता है। 'अविद्या' के वश, देह मे

* 'वर्त्त-मान' का अर्थ, सत्ता को, अस्तित्व को, धारण किये रहना भी और 'वर्त्तुल' 'वृत्ति' गोल चक्र के ऐसा घूमते रहना भी—जो ही

आया जीव, इस वासना-कामना को, (१) आहार द्वारा अपने शरीर को पुष्ट कर के, (२) परिग्रह-सम्पत्ति द्वारा अपने को बड़ा, 'बहु', बना के, (३) संतति द्वारा (शरीर-परम्परा द्वारा) अपने को 'बहुधा' कर के, 'अनेक-बाहू-दर-वक्त्र-नेत्र' कर के, और 'अनंत काल' तक 'अपने' को स्थायी कर के, मिथ्या (१) अमरता (२) वंहिष्ठता, महिष्ठता, भूयिष्ठता, भूमा, (३) विभुता प्रभुता, परमेश्वरता, साध करके, मिथ्या रूप से, पूरा करना चाहता है।

थोड़े विस्तार से, इस अर्थ को यों स्यात् अधिक स्पष्ट कर सकते हैं—परमात्मा परमेश्वर, (१) सर्वज्ञ, सर्व-ज्ञानवान्, 'ऑम्नि-सियेंट', (२) सर्व-शक्तिमान्, सर्वेच्छावान्, 'ऑम्नि-पोटेन्ट', (३) सर्व-वृत्ति-मान्, सर्व-क्रिया-वान्, सर्व-व्यापी, 'ऑम्नि-प्रेजेंट', है। परन्तु वह अपनी इन तीनो महा-विभूतियों को, जान-बूझ कर, लीला-खेल के लिये, भुला देता हैं, और (१) अल्प-ज्ञ, अज्ञ, (२) अ-शक्त, निर्बल अल्प-इच्छ, (३) एक मूठी भर हाड़-मास के पिंड मे अवच्छिन्न, परिमित, क़ैद, अल्प-क्रिय, अनीश्वर, नश्वर मरणधर्मा जीव-देह बन जाता है। पर इस दशा से असंतुष्ट हो कर अपनी सच्ची तीनो महा-विभूतियों को, जिन्ही के दूसरे नाम और रूप, (१) चित्, (२) आनन्द, और (३) सत्, हैं, वापस लाना चाहता है। लेकिन अभी, उन्हे वापस लाने के परम उपाय, परिमित शरीर से पर-वैराग्य, के लिये, तयार नहीं है; इस लिये, सांसारिक (मिथ्या) उपायों से, उन विभूतियों के (मिथ्या) आभास को, अपने ऊपर लाने का जतन करता है; (१) विविध ज्ञानो का संग्रह करता है, (२) विविध (आनन्द-दायी इच्छा-पूरक) सम्पत्तियों को एकत्र करता है (३) पति-पत्नी का संग्रह कर के, बहुत-सी संतान, प्रजा, उत्पन्न कर के, उन मे अपना प्रतिविम्ब देखता है, समझता है कि ये सब 'मै' ही हूं, और उन के ऊपर ऐश्वर्य, हुकूमत, करता है, जैसे अपने हाथ पैर पर।

राग के स्थान मे वैराग्य होने पर 'विद्या', आत्म-विद्या, पाने पर, जीव, इस मिथ्या वासना को छोड़ कर, निष्कामता से काम को मिटा कर,

---

परिमित चित्त-देह-रूपी जीव के लिये, परमाणु के लिये, 'अस्तित्व' के अनुभव का उपाय है। एवं 'विद्य-मान' का अर्थ, 'अस्तित्व-वान्' 'सत्ता-वान्' भी है, और ज्ञाय-मान भी है; क्यों कि 'यद् विद्यते तद् विद्यते' जो जाना जाता है, विदित है, वह है, और जो है वह जाना जाता है'।

त्याग से परिग्रह को हटा कर, और तपस्या से आहार को घटा कर, अधो-रेतस् भाव को छोड कर, ऊर्ध्व-रेतस् भाव का ग्रहण कर, पुनर्वार ब्रह्म-चर्या कर के, ब्रह्म के, परमात्मा के, अपने, शाश्वत सत्य नित्य अजर अमर विभु व्यापक महतो महीयान् महिष्ठ स्वरूप को पहिचान कर, सांसारिक भय से, मृत्यु के भय से, मुक्त हो कर, सचमुच अमर हो कर, इस प्राकृतिक वासना को तत्त्वतः, तथ्यतः सत्यतः, वस्तुतः, पूरा करता है। 'अपने' को, परमात्मा को, 'मैं' को, सब जीवो मे प्रतिष्ठित, अधिष्ठित, प्रविष्ट, व्याप्त और व्यापक, जान कर; 'अपने' को, 'मैं' को, सब का 'स्वामी' पहिचान कर; 'मैं' को, सब जगत् का जनक निश्चय से जान कर—शारीरिक, वैयक्तिक, निजी, (१) सम्मान, (२) वित्त, और (३) संतान की एषणा-ओं को छोड़ देता है।

वही 'अस्मिता', अनित्य शरीर से बँध कर एषणा-त्रय, बुभुक्षा-लोभ-काम, के रूप मे परिणत होती है। वही, नित्य आत्मा से सम्बद्ध हो कर, जीव को एषणा से अतीत, परे, सच्चे, मुमुक्षा-त्याग-निष्कामता के स्व-रूप मे स्थित कर देती है।

आत्मा का अविद्या-विद्या से, ब्रह्म का उभयात्मक महा-माया से, क्यों और कैसा सम्बन्ध है ?; वासना का, 'आ-शय' का, एषणा का, काम-संकल्प का, 'बुभुक्षा' का, 'भोक्तुं इच्छा' का, सांसारिक सुख (के साथ अनिवार्य दुःख का भी) भोग करने की इच्छा का, क्या तात्त्विक स्वरूप और हेतु है ?; इसका विचार अन्यत्र किया गया है।*

इन तीन एषणाओं की विवर्त्तिनी, विपरीतिनी, 'मोक्तुं इच्छा', 'मुमुक्षा' को 'मौक्षैषणा' के नाम से चौथी एषणा कहें तो उचित ही होगा।

शरीर-यात्रा मे, संसार-यात्रा मे, जीव को दो रास्तों पर चलना पड़ता है, (१) प्रवृत्ति मार्ग, (२) निवृत्ति मार्ग। (१) घर से बाहर जाना, दूर-दूर देशों में भ्रमण करना, तरह तरह के सुख-दुःख भोगना, जीव का संसार मे अधिकाधिक पड़ना, घुसना, लिप्त होना, सांसारिक सुख-दुःखों का अधिकाधिक अनुभव करना, (२) फिर थक कर, उपरत हो कर, घूम पड़ना, घर लौटना, संसार से मुंह फेरना, उस को छोड़ना।

---

* 'दि सायंस् आफ् पीस' और 'दि सायंस् आफ् दि सेल्फ़' नामक अंग्रेज़ी ग्रन्थों मे, तथा 'समन्वय' नामक हिन्दी ग्रन्थ के अंतिम अध्याय मे।

प्रवृत्ति मार्ग पर, 'वन्धैषणा' के अंतर्गत इन 'स्वार्थ'-आत्मक तीन इच्छाओं की प्रबलता रहती है। ऐसा रहना नैसर्गिक है, प्राकृतिक फ़ित्रती, क़ुद्रती, और, मर्यादा के भीतर, उचित और आवश्यक भी, है। निवृत्ति मार्ग पर, क्रमशः, धीरे धीरे, इन का क्षय, और मोक्षैषणा के अंतर्गत-'परार्थ' आत्मक 'परमार्थ का, अर्थात् (१) वैराग्य-कैवल्य (आहार-स्थानीय), (२) आत्मज्ञान-योगविभूति (वित्तस्थानीय), (३) भक्ति-तन्मयता (कामस्थानीय), का उदय और प्राबल्य होना, स्वाभाविक, उचित, आवश्यक है। "विरक्तिः—परेशामुभवो—भक्तिः" (भागवत)।

इन चार एषणाओं का, (अथवा दो मुख्य एषणाओं के अंतर्गत छः अवान्तर एषणाओं का), दो मार्गों से, चार पुरुषार्थों से, चार देव-ऋषि-पितृ-आत्म-ऋणों से, चार वर्णों से, चार आश्रमो से, चार शास्त्रों से, क्या सम्बन्ध है—इस के जानने बिना, शिक्षितता 'शिष्टता', सम्पन्न नहीं होती। इस विषय का विस्तार अन्यत्र किया गया है।*

दोनो मार्गों के लक्ष्य और उनके साधन बताने वाले शास्त्र।

यहाँ इतना कहना प्रसक्त है कि मानव जीवन के दो मार्गों के दो मुख्य 'अर्थ' (पुरुषार्थ) हैं। प्रवृत्ति मार्ग का अभ्युदय, निवृत्ति मार्ग का निःश्रेयस (मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, अपवर्ग)। अभ्युदय त्रिवर्गात्मक है—(कर्म-कांडात्मक 'अपर'-) धर्म, अर्थ, काम। निःश्रेयस का त्रिवर्ग — आत्मदर्शन-रूपी परम धर्म, योग-सिद्धि-(योगैश्वर्य) रूपी परम अर्थ, ('सर्वं आत्मा एव', इस लिये सर्वभूतभक्ति)-रूपी परम काम, (सर्वभूतसेवा, 'सर्वलोकहिते रतिः', 'भूतप्रियहितेहा')।

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽत्मदर्शनम्। (याज्ञवल्क्य स्मृति)

इन पुरुषार्थों के साधन का उपाय बताने वाले, 'शासन करने वाले, सिखाने वाले, 'शास्त्र,' इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हैं—(१) धर्मशास्त्र, (२) अर्थशास्त्र, (३) कामशास्त्र, और (४) मोक्षशास्त्र (जिस के अन्तर्गत

* 'समन्वय' नामक हिंदी ग्रन्थ मे; तथा 'दि सायंस आफ़ सोशल आर्गेनिज़ेशन' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ मे; तथा इस 'पुरुषार्थ' ग्रन्थ मे भी, आगे, इसी चतुर्थ अध्याय मे भी, और पंचम षष्ठ मे भी; तथा 'मानव-धर्म-सारः', नामक संस्कृत ग्रन्थ ने भी।

दर्शनशास्त्र, योगशास्त्र, और भक्तिशास्त्र हैं) * । इन सब के तत्त्वों को, सिद्धान्तों को यथा-शक्ति, यथा-सम्भव, जानने से ज्ञान सुसम्पन्न होता है, और संसार-यात्रा का, अल्पतम दुःख और अधिकतम सुख से, निर्वाह हो सकता है ।

आजकाल मिलने वाला, धर्मशास्त्र का प्रधान सर्वाङ्गीण ग्रन्थ 'मनुस्मृति' माना जाता है; तथा अर्थशास्त्र का, चाणक्य-कृत अर्थशास्त्र'; तथा कामशास्त्र, वात्स्यायन-कृत कामसूत्र; तथा मोक्षशास्त्र का, 'प्रस्थानत्रय' ('उपनिषत्', 'भगवद्गीता', बादरायण-कृत 'ब्रह्मसूत्र'), पतञ्जलि-कृत 'योगसूत्र', नारद-(अथवा शांडिल्य-) कृत 'भक्तिसूत्र' । न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, और सांख्य के सूत्रों को भी ब्रह्मसूत्र और योगसूत्र का अवान्तर अङ्ग ही माना जा सकता है ।

दोनों का ऐकान्तिक लक्ष्य—सुख । सुख का मूलरूप, तथा दो अवान्तर रूप ।

तत्त्वतः, अंततो गत्वा पुरुष का 'अर्थ' एक ही है—सुख । अर्थ्यते, याच्यते, इष्यते, इति अर्थः । जो चाहा जाय, मांगा जाय, वह अर्थ । जीवमात्र सुख चाहते हैं, दुःख से सब भागते हैं । सुख की लिप्सा, दुःख की जिहासा†, यही मनुष्य की सभी मानस और शारीर प्रवृत्तियों का एकमात्र प्रवर्त्तक प्रेरक हेतु है ।

> सर्वेऽपि जीवास्तु सुखे रमंते,
> सर्वे च दुःखाद् भृशं उद्विजन्ते । (म० भा०)
> सर्वं परवशं दुःखं, सर्वम् आत्मवशं सुखम् । (मनु)

परवशता ही दुःख, आत्मवशता ही सुख है । आत्मा का राज्य, स्व-अधीनता, स्व-तन्त्रता, स्व-च्छन्दता, स्व-राज्य, 'अस्मिता' की पूर्ति यही सुख है, जैसा ऊपर कहा है; "मैं जो चाहूँ वही हो" । दूसरे का, पराये का, राज्य, पर अधीनता, पर-तन्त्रता, पर-राज्य, मेरे मन के विरुद्ध दूसरे के मन का होना, यही दुःख है । काम-चेष्टा मे, स्त्री-पुरुष के

---

* इन चार शास्त्रों का वर्णन, अध्याय १ मे किया गया है ।

† लब्धु, इच्छा लिप्सा, पाने की इच्छा; हातुं इच्छा, जिहासा, छोड़ने की इच्छा ।

परस्पर परिष्वंग मे, सब त्रपा लज्जा रुकावट छोड़ कर, इस स्वच्छंदता की पराकाष्ठा, एक दृष्टि से, देख पड़ती है; एक दूसरे के साथ जो चाहते हैं सो करते हैं। इसी लिये मैथुन शक्ति के अभाव को, क्लीबत्व वंध्यात्व को, साधारण स्त्री-पुरुष असह्य दुःख मान लेते हैं। इसी लिये उपनिषत् मे भी कहा है, "सर्वेषां आनन्दानां उपस्थः एव एकायनम्", सब आनन्दों का एकमात्र ठिकाना उपस्थ-इन्द्रिय है। उपस्थ शब्द, स्त्री के भी, पुरुष के भी, गुह्य अंग के लिये व्यापक शब्द है। एक दृष्टि से, योषा-पुमान् के परस्पर आलिंगन मे सभी पाँचो ज्ञानेन्द्रियों का (बल्कि पाँचो कर्मेंद्रियों का भी) एक साथ प्रवर्तन, तर्पण, आनन्दन होता है; इस लिये भी कामदेव का एक नाम 'पंच-सायक' कहा जा सकता है; यद्यपि और हेतु भी प्रसिद्ध हैं, दूसरी दृष्टियों से, यथा,

अरविंदं, अशोकं च, चूतं च, नवमल्लिका,
नीलोत्पलं च, पंचैते पंचबाणस्य सायकाः।
संमोहन-उन्मादनौ च, शोषणः, तापनः तथा,
स्तम्भनश्चेति, कामस्य पंचबाणाः प्रकीर्तिताः।

लाल कमल, अशोक पुष्प, आम की बौर, चमेली, नीला कमल—ये पांच, कामदेव के पांच बाण हैं; संमोहन, उन्मादन, शोषण, तापन, स्तम्भन—ये भी। पहिले पांच, काम के उद्दीपक कारण हैं; दूसरे, उस के फलरूप कार्य।

रतीच्छा की ऐसी उग्रता होते हुए भी, गहिरी दृष्टि से देखने से, यही कहना पड़ेगा कि आहारेच्छा ही घोरतम है; क्योंकि 'रति' के बिना जीवन दुःखी है, तो आहार के बिना प्राण ही नहीं बच सकता, लोक मे स्थिति ही नहीं रह सकती। उपनिषत् ने भी कहा है 'पुत्रैषणा' और 'वित्तैषणा' भी 'लोकैषणा' ही हैं।

और भी। जिन आनन्दों का उपस्थ एकायन है, वे सब सांसारिक आनन्द हैं; आनन्दाभास हैं, उस परम और सत्य आनन्द की, शांति की, नक़ल हैं, छायामात्र हैं; जिस के लिये उपनिषत् मे कहा है,

यश्च अकामहतः एष एव परम आनन्दः; एको द्रष्टा अद्वैतो भवति;
एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति।

जब 'मेरे' सिवा कोई दूसरा है ही नहीं, सब का सिरजने, पालने,

संहारने वाला 'मैं' ही, तब 'मेरी' हुकूमत, 'मेरे' ईश्वरभाव, का क्या पूछना ? वहाँ तो 'काम' बाकी बचा ही नहीं; कामना होना ही तो खंडित होना है, अपूरा अधूरा होना है; किसी दूसरी वस्तु की चाह, किसी चीज़ की कमी, है। 'परिपूर्णस्य का स्पृहा' ? परिपूर्ण को न काम है, न मोह है, न शोक है।

यस्य सर्वं आत्मैव अभूत्, तत्र को मोहः, कः शोकः, एकत्वं अनुपश्यतः।
भूमा एव सुखम्। (उपनिषत्)

आनन्द की, सुख की, पराकाष्ठा यह है कि सब को, सब मे, सब जगह, अपने को, आत्मा को ही, देखै, जानै, पहिचानै—कोई पराया है ही नहीं, सब 'मै' ही है; सब कुछ 'मेरे' मे, 'मुझ' मे, ही है, 'मैं' ही सब मे हूं. 'मै' ही सब कुछ हूं, 'मै' सब से बड़ा है; 'बहोर्भावः भूमा'।

यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखं,
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोड़शीं कलाम्। (योगभाष्य)

भौम कामसुख, इस भू-लोक का; दिव्य कामसुख, परलोक स्वर्ग का; यह दोनों सुख, मिथ्या, छोटी, जीवात्मा की हाड़ मांस मे 'अस्मि' वाली तृष्णा के क्षय के, और सच्ची, बड़ी, परमात्मा की सब जगत् मे 'अस्मि' वाली शांति के उदय के, अजर अमर अपार अनन्त सुख के, अणु भाग के भी तुल्य नहीं हैं। लेकिन प्रवृत्ति मार्ग पर, संसार-नाटक मे, जीव के लिये, सुख के आभास का; मिथ्या सुख का, इन्द्रियों के विषयों के भोग के सुख का, जो उस सच्चे सुख की झूठी नक़ल, प्रतिरूप, प्रतिकृति, प्रतिबिम्ब है, अनुभव करना भी आवश्यक है। उस के पीछे, जीवात्मा परमात्मा के 'स्व-भाव' के नियमो के अनुसार, नित्य-अनित्य का 'विवेक' जागने पर, और अनित्य नश्वर पदार्थों से ही बने हुए संसार से 'वैराग्य' उत्पन्न होने पर, दूसरा, सच्चा, पारमार्थिक सुख प्राप्त करना भी परम आवश्यक है।

प्रवृत्तिमार्ग का प्रधान पुरुषार्थ काम-सुख, जो धर्म से साधित अर्थ (धन-सम्पत्ति) से परिष्कृत हो।

इस लिये प्रवृत्ति मार्ग का प्रधान 'अर्थ', 'पुरुषार्थ,' 'काम-सुख' ही है। इस के साथ 'अर्थ' (सम्पत्ति) और 'धर्म', विशेष हेतु से लगा दिये गये हैं। उन की चर्चा करने से पहिले, 'काम' शब्द के दो अर्थ बताना आवश्यक है। वात्स्यायन ने कामसूत्र (१ अधिकरण, २ अध्याय,

११-१२ सू०) मे इन का उल्लेख किया है। (१) पांच ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषयों मे जो अपनी प्रकृति के अनुकूल, प्रीतिकर, सुखद, पदार्थ हैं, उन के अनुभव की इच्छा—यह काम-सामान्य है। 'अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल'—इस लिये कहना पड़ता है, कि प्रकृति के भेद से किसी को खट्टा अधिक अच्छा लगता है, किसी को तीता, किसी को मीठा, किसी को कड़वा कसैला भी; किसी को संगीत प्रिय है, किसी को रूप रंग, किसी को सुगंध, किसी को स्पर्श।

कुरंग-पातंग-पतंग-भृङ्ग-मीनाः हताः पंचभिर् एव पंच;
नरः प्रमादी स कथं न हन्यते, यः सेवते पंचभिरेव पंच।

हरिण को मधुर गीत, हाथी को सुख-स्पर्श, फतिंगे को चमकती जोत, भौंरे को फूलों का सुगन्ध (तथा मधुरूपी रस भी), मछली को सुस्वाद कवल, अधिक प्रिय है; एक एक रस के फेर में पड़ कर, एक एक जाति का जीव मारा जाता है, वा बंधन मे पड़ता है*; मनुष्य को पांचो इन्द्रियों के विषय प्यारे हैं, 'पंच-शर' काम-देव का वह शिकार बनता है; तो भी प्रत्येक मनुष्य को किसी एक इन्द्रिय का अधिक रस होता है; जिह्वा का रस तो प्रायः सभी को रहता है; इस लिये 'जिह्वा-उपस्थ-रताः', 'शिश्न-उदर-परायणाः' शब्द कलिकाल के मनुष्यों के लिये प्रसिद्ध हो रहे है। इस अर्थ मे 'काम' शब्द, इच्छा, वासना, तृष्णा, एषणा, आदि का, तथा

---

*ऐसी प्रसिद्धि है कि हरिन, मधुर गाने-बाजे से मुग्ध हो कर खड़ा हो जाता है तब व्याध उसे मार लेता है; तथा सर्प को भी सँपेरा, तूम्बी के बाजे से मुग्ध करके पकड़ता है; पतंग, फतिंगा, दीपक की लौ को देख कर, मुग्ध हो कर, उस मे घुस जाता है, और जल मरता है; भ्रमर; फूल के सुगन्ध और मधु की लालच से, उस मे पैठता है, और रात मे जब कमल बन्द हो जाता है, तो उसी के भीतर रह जाता है; मछली, चारा लगी कांटेदार बंसी को, खाने की लालच मे निगल जाती है; जंगली हाथी को पकड़ने के लिये शिकारी लोग, सिखाई हुई 'कुट्टनी' हथिनियों को उस के पास छोड़ते हैं; वे जा कर उस से सट कर खड़ी हो जाती हैं; उस स्पर्श के सुख से वह मुग्ध निस्तब्ध हो जाता है; तब शिकारी, हथिनियों के पैरों के बीच, चुपके से जा कर, हाथी के पैर रस्सों से बाँध देते हैं।

'ज्ञान', 'अविद्या', 'शक्ति', 'दैवी प्रकृति', 'माया', आदि का, पर्याय ही है, सारे संसार का बीज है।

काम-सामान्य।

कामः तदग्रे समवर्त्तताधि, मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्;
सतो वंधुम् असति निरविंदन् हृदा प्रतीष्या कवयो मनीषा। (ऋग्वेद
सोऽकामयत बहु स्यां, प्रजायेय।
काममयः एवायं पुरुषः। (उपनिषत्)
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्। (मनु)
सनातनो हि संकल्पः काम इत्यभिधीयते।
संकल्पाभिरुचिः कामः सनातनतमोऽभवत्,
जगत्पतिर् अनिर्देश्यः सर्वगः सर्वभावनः,
हृच्छयः सर्वभूतानां, ज्येष्ठो रुद्राद् अपि प्रभुः।
(म० भा०, अनुशासन पर्व, अ० १६१)
कामः सर्वमयः पुंसां स्व-संकल्प-समुद्भवः,
कामात् सर्वे प्रवर्तंते, लीयंते वृद्धिमागताः।
(शिव-पु०, धर्म-सं, अ० ८)

मनस् का, चित्त का, जीवत्व का, संसार का, रेतस्, बीज, 'काम', परमात्मा के 'निष्-काम' हृदय मे, सदा, सब से आगे वर्तमान है। मनीषी कवियों ऋषियों ने, अपने हृदय मे, (हृदि अयम्, तस्मात् हृदयम्) हृदय-गुहा मे, हृदयस्थ परमात्मा मे, गहिरी खोज कर के, सत् के सगे वंधु इस असत् को पाया है। परमात्मा के भीतर संकल्प हुआ, कामना हुई, कि 'मैं' एक से अनेक हो जाऊं, बहुत हो जाऊं, तब सृष्टि हुई। पुरुष काममय है, उस का रूप, उस की शक्ति, उस की प्रकृति, काम ही है।

वासनाद् वासुदेवस्य, वासितं सकलं जगत्;
चित्ते वसति यस्माच्च, चित्तं वासयते तथा,
जीव एव हि वासुस्तु, वासनेत्युच्यते ततः;
वासु-देवश्च सर्वेषां वासूनां देव एव हि।

चित्त में सदा बसती है, गंध जैसे हवा को वैसे चित्त को बासे रहते है, वासु अर्थात् जीव का रूप ही है, इस लिये इस का नाम वासना है। सब जीवों, वासुओं, के परम देव, परमात्मा, वासुदेव कहलाते हैं।

शरीरधारी जीव का सुख (और दुःख भी) इन्द्रियों के विषयों के द्वारा ही होता है। जिस जीव को इस सुख की कामना नहीं, उस को संसार मे रहने का प्रयोजन नहीं। वह प्रवृत्ति-मार्ग को छोड़ कर निवृत्ति-मार्ग पर पैर रखता है।

धर्म और अर्थ का प्रयोजन।

यह कामसुख पशुओं को भी होता है; अर्थ और धर्म से उन को प्रयोजन नहीं; मनुष्य को क्यों? इसका उत्तर यह है कि (१) पहिले तो पशुओं को भी किसी मात्रा मे 'अर्थ' का प्रयोजन रहता ही है, उन मे भी 'परिग्रह' देख पड़ता है, अपनी-अपनी मांद, विल, खोंते, बसेरे के पेड़, निरामिषों के चरने के और सामिषों के शिकार के जङ्गल, 'रख', रक्षित स्थल, अलग-अलग होते हैं, जिन के लिये आपस मे बड़ी बड़ी लड़ाइयां होती हैं। तथा, अव्यक्त रूप से उन मे आपस के समझौते, क़ायदे कानून, मर्यादा, 'धर्म', भी देख पड़ते हैं; यथा ऋतु काल मे अपने-अपने नर-मादा, और, जब तक छोटे और अ-स्वच्छन्द रहें तब तक बच्चे, एक साथ, अन्य ऐसे कुटुम्बों से अलग अलग, रहते हैं, तथा एक दूसरे की 'रख' मे चरने या शिकार करने नहीं जाते—इत्यादि। (२) दूसरी बात यह है कि मनुष्य के जीवन मे, उस के इन्द्रिय-सुखों में, संस्कार परिष्कार, पशुओं की अपेक्षा से, बहुत अधिक है। यहां तक कि जब तक उचित 'संस्कारों' से 'संस्कृत' न हो, तब तक मनुष्य सच्चा 'आर्य' मनुष्य नहीं हो सकता। मनुष्य को, लकड़ी पत्ते मिट्टी फूस के झोपड़े से ले कर चांदी सोना जवाहिर से जड़े संगमरमर के करोड़ों रुपये के महल तक, रहने को; जंगली कंद मूल फल से ले कर अति महर्घ (महँगे) कृत्रिम सुस्वाद षड्रस लेह्य पेय चोष्य खाद्य तक, खाने-पीने को; पत्ते से ले कर हज़ारों रुपये गज़ के शाल-दुशाले कमख़ाब तक, पहिनने को; सुगन्ध फूल, और फूलों के सौ-सौ रुपये तोले के इत्र, सूँघने को; सुन्दर सु-वर्ण सु-रूप पेड़ फूल फल भरे उद्यान, तथा चित्र, प्रतिमा, रत्न के आभूषण, देखने पहिनने को; बंसी खंजड़ी से ले कर भारी कारीगरी से बनाई वीणा, मृदंग, शहनाई, धौंसा, 'पियानो', 'ऑर्गन', तौर्यत्रिक, नाच, गाना, हाव-भाव, बाजा, नाटक, थियेटर', 'सैनेमा', आदि, सुनने और देखने को; इत्यादि, चाहियें। जीवन के ऐसे परिष्कार संस्कार से ही लक्ष्मी-देवता, सम्पत्ति, 'अर्थ', चरितार्थ होते हैं।

निष्कर्ष यह कि विना 'अर्थ' के मनुष्योचित सुपरिष्कृत 'काम', अर्थात् विषयोपभोग जनित शारीरिक ऐन्द्रिय सुख, तथा मानस मैत्री स्नेह प्रीति के सहित कौटुम्बिक और सामाजिक शालीनता और शोभा का सुख, सम्पन्न नहीं हो सकता। ऐसे ही, बिना समाज के संग्रथन, व्यूहन, व्यवस्थापन के, बिना परस्पर आचार व्यवहार की मर्यादा के, बिना अधिकार के नियमन कर्त्तव्य के, बिना उन नियमो को मानने-मनवाने, पालन करने-कराने, के उपायों के, अर्थात् बिना 'धर्म' के अर्थ का संचय और स्थैर्य, समाज मे, किसी के पास हो नहीं सकता। इस लिये 'अथ' और 'धर्म' की, 'काम' के साथ-साथ, परम आवश्यकता है।

आहार-निद्रा-भय-मैथुनानि सामान्यंएतत् पशुभिर्नराणाम्,
(धर्मात् चितोऽर्थः खलु तद्विशेषः, ताभ्यां विहीनाः) पशुभिः समानाः।
(हितोपदेश)

आहार, निद्रा, भय, मैथुन—यह तो पशुओं मे और मनुष्यों मे समान ही हैं। मनुष्यों मे, धर्म से संचित, अर्जित, रक्षित, (तथा वीत, व्ययित अर्थात् व्यय-किया, खर्च किया) अर्थ—ये ही पशुओं की अपेक्षा विशेष हैं। इन दो से विहीन मनुष्य, पशुओं के समान हैं।

धर्माद् अर्थो, ऽर्थतः कामः, कामाद् धर्मफलोदयः—
इत्येवं निर्णयं शास्त्रे प्रवदंति विपश्चितः। (पद्मपुराण)
यथा पुष्प-फलं काष्ठात् कामः धर्मार्थयोर्वरः। (म० भा० शा०)

धर्म से अर्थ, अर्थ से 'काम', काम से धर्म के फल अर्थात् सुख का उदय—यह निर्णय विद्वान् बुद्धिमान् लोगों ने शास्त्र मे कर दिया है। जैसे, जीते पेड़ मे, काठ से अच्छा फूल फल, उस का उत्पादनीय लक्ष्य होता है, वैसे ही धर्म और अर्थ से साधनीय काम। 'काम' से अधिक अर्थ पर, और अर्थ से बहुत अधिक धर्म पर, जोर इस लिये दिया है, कि 'काम' की ओर तो जीवात्मा की प्रवृत्ति अत्यधिक अपने आप है, उसे और बढ़ाने की जरूरत नहीं है, प्रत्युत रोकने और सुपरिष्कृत करने की आवश्यकता है; तथा धर्म की ओर जीव की स्वरसतः प्रवृत्ति कम है, इस लिये उस को बढ़ाने की आवश्यकता है।

लोके व्यवायऽामिष-मद्य-सेवाः नित्यास्तु जन्तोः, नहि तत्र चोदना;
व्यवस्थितिः तासु विवाह-यज्ञ-सुरा-ग्रहैः; आसु निवृत्तिर् इष्टा।
(भागवत)

अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित्;
यद्यद् हि कुरुते जंतुः तत् तत् कामस्य चेष्टितम् ।
कामऽात्मता न प्रशस्ता, न चैवेहास्ति अकामता;
काम्यो हि वेदाधिगमः, कर्मयोगश्च वैदिकः ।
तेषु सम्यग् वर्तमानो गच्छति अमरलोकताम्;
यथासंकल्पितांश्चेह सर्वान् कामान् समश्नुते । (मनु)
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि, भरतर्षभ ! (गीता)

मद्य-मांस-मैथुन की इच्छा प्राकृतिक है । उस को बढ़ाने का प्रयोजन नहीं । रोकने के लिये, नियम से मर्यादित करने के लिये, विवाह और यज्ञ आदि की विधि, वृद्धों ने बनाई है । बिना 'काम' के, कोई क्रिया, कोई जीव नहीं करता । जो कुछ भी, जो कोई भी, करता है, वह अन्ततः काम की चेष्टा है; सुख की लिप्सा से ही किया गया है । वेदों का पढ़ना, वैदिक कर्म करना, यह सब भी काम की प्रेरणा से ही है । पर अति-काम काम-मग्नता, यह प्रशंसनीय नहीं । उचित मात्रा मे, उचित प्रकार से, 'वैदिक' धर्म की, अर्थात् सज् ज्ञान से सद्बुद्धि से, 'वेद' से, निर्णीत व्यवस्थापित 'धर्म' की, आज्ञा के अनुसार, 'काम' का सेवन जो मनुष्य करता है, वही सब 'काम'-सुखों को पाता है। धर्म से अविरुद्ध, धर्म-सम्मत, जो 'काम' है, वही व्यापक अंतरात्मा को प्रिय है । क्योंकि 'कामात् क्रोधोऽभिजायते', धर्म के विरुद्ध कामाचरण से, चारो ओर, अभितः, आस-पास, क्रोध उपजता है ।

काम-विशेष ।

यहाँ तक 'काम'-सामान्य की चर्चा हुई । अब (२) 'काम'-विशेष को देखना चाहिये । कामदेव का एक नाम पंचसायक है । सुख की इच्छा, पाँच ज्ञानेन्द्रियों के (तथा पाँचो कर्मेन्द्रियों के भी) विषयों (और क्रियाओं) के उपभोग से, उद्दीपित भी और पूरित भी होती है, इस लिये यह नाम पड़ा, ऐसा पहिले कहा (पृ० १७८) स्त्री पुरुष, एक दूसरे के शरीर मे, इन पाँचो (वा दसो) विषयों (और क्रियाओं) के सार, और उन के उपभोग से सांसारिक सुख की पराकाष्ठा का तीव्रतम अनुभव, पाते हैं; इस लिये स्त्री-पुरुष के मिथुन, जोड़े, द्वंद्व, का परस्पर 'काम', विशेष कर के 'काम' का नाम पाता है। स्थूल-शरीर और सूक्ष्म-शरीर, चित्त और देह, दोनो

के सभी विषयों मे (मूलप्रकृति-परमात्मा के, पार्वती-परमेश्वर के अनुकारी) स्त्री-पुरुष एक दूसरे के लिये संसार-सर्वस्व हैं।

आपयतो वै तौ अन्योऽन्यस्य कामान् सर्वान्। (छांदोग्य उप०)

जीव, एक ओर, अति लघु, सऽादि सान्त, मूठी भर हाड़-मांस के देह से बँधा हुआ, तद्रूप हो रहा है; दूसरी ओर, अनादि अनन्त अति महान् परमात्मा से बँधा हुआ, क्या परमात्मा ही, है। लघोर्लघीयान्, अणोरणीयान्, महतो महीयान्—दोनो है। ऊपर कहा (पृ० ११७) कि आत्मवशता ही सुख है, 'मुझ' से अधिक, क्या 'मेरे' समान भी, कोई दूसरा नहीं है। और क्या, 'मेरे' सिवा दूसरा कोई है ही नहीं। 'मैं' ही सब से बड़ा, बड़प्पन की पराकाष्ठा है और हूँ, 'मैं' ही सब कुछ है और हूँ। बड़प्पन ही तो सुख है, छोटाई मे सुख कहाँ ?

नाल्पे वै सुखमस्ति, भूमैव सुखम्।
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। (उप०)
न त्वत्समोऽस्ति, अभ्यधिकः कुतोऽन्यः। (गीता)

वात्स्यानन ने, इस प्रकार से धर्म, अर्थ, काम की परिभाषा की है—

धर्मोर्थकामेभ्योनमः।'''शतायुर्वै पुरुषः विभज्य कालम्, अन्योऽन्यानुबद्धं, परस्परस्य अनुपघातकं, त्रिवर्गं सेवेत। बाल्ये विद्याग्रहणादीन् अर्थान्। कामं च यौवने। स्थाविरे धर्मं च मोक्षं च।...ब्रह्मचर्यम् एव तु आ-विद्याग्रहणात्।

अलौकिकत्वाद्, अदृष्टार्थत्वाद्, अप्रवृत्तानां यज्ञादीनां शास्त्रात्प्रवर्तनम्; लौकिकत्वाद् दृष्टार्थत्वाच् च प्रवृत्तेभ्यश्च मांसभक्षणादिभ्यः शास्त्रादेव निवारणं; धर्मः। विद्या-भूमि-हिरण्य-पशु-धान्य-भाण्ड-उपस्कर-मित्रादीनाम् अर्जनम्, अर्जितस्य विवर्धनम्, अर्थः। श्रोत्र-त्वक्-चक्षुर्-जिह्वा-घ्राणानाम्, आत्मसंयुक्तेन मनसा अधिष्ठितानां, स्वेषु स्वेषु विषयेषु आनुकूल्यतः प्रवृत्तिः, कामः। स्पर्शविशेषविषये तु, अस्य, आभिमानिकसुखानुविद्धा, फलवती, अर्थप्रतीतिः, प्राधान्यात् कामः।

धर्म-अर्थ-काम तीनो को नमस्कार है। सच्चरित्र सावधान मनुष्य की आयु सौ वर्ष की होनी चाहिये; यदि इन तीनो पुरुषार्थों का सेवन, एक दूसरे से परस्पर बाँध कर, परस्पर विरोध के विना, बल्कि तीनो को परस्पर सहायक बना कर, मनुष्य करे; जैसे, उस को, काल का, आयु का,

विभाग कर के, करना चाहिये; तथा, बाल्य मे विद्याग्रहण (रूपी 'अर्थ'), यौवन (और प्रौढ़ि) मे 'काम', वार्धक्य मे सांसारिक-'धर्म' और मोक्षधर्म, का। (तथा प्रौढ़ावस्था मे, प्रतिदिन का विभाग कर के, पूर्वाह्न मे धर्म, अपराह्न मे अर्थ, सायंकाल मे काम, का)। विद्या-ग्रहण की अवस्था मे ब्रह्मचर्य ही करना चाहिये।*

जिन का फल प्रत्यक्ष नहीं है, जैसे यज्ञ आदि कर्म, उन का शास्त्र की आज्ञा से प्रवर्त्तन; और ऐसे कर्मों का, जैसे मांस भक्षण आदि, जिन का फल प्रत्यक्ष है, उसी आज्ञा से निवर्त्तन, यह 'धर्म' है। भूमि, सोना-चाँदी, पशु, धन धान्य, बर्त्तन भाँड़ा, लकड़ी लोहा का सामान, ओढ़ना-बिछौना, अर्थात् गृहस्थी की सब सामग्री, तथा मित्र का अर्जन, और अर्जित का वर्धन, यह 'अर्थ' है। पाँचो इन्द्रियों के विषयों मे प्रवृत्ति, यह 'काम-सामान्य' है। विशेष प्रकार के स्पर्श की इच्छा, जिस मे 'अभिमान' का सुख मिश्रित है, ('अहं बहुधा स्याम्'—इस 'अस्मिता' के दर्प का रस सना है); अपने सामर्थ्य का, गर्भकारक पौरुष पुरुषत्व का, गर्भ-विस्तारक स्त्रीत्व का, स्वसदृश नई सृष्टि कर सकने का, दूसरे को अपने अधीन कर लेने का, हर्ष मिश्रित है; ('पुरि', शरीरे, शेते, इति 'पुरुषः'; 'पुरति, अग्रे गच्छति, पूरयति वा'; 'स्तृणाति, विस्तृणोति, विस्तारयति गर्भं, इति स्त्री'; 'स्त्यायति गर्भः अस्यां, इति वा'); और जिस विशेष प्रकार के स्पर्श से, स्त्री-पुरुष के संयोगात्मक स्पर्श से, सन्तान रूपी फल के, अर्थ के, प्राप्ति की प्रतीति, विश्वास, आशा, उमीद, भी है, ऐसे विशेष स्पर्श की, रति की, मैथुन की, इच्छा को काम-विशेष कहते हैं। 'काम' शब्द इसी अर्थ मे प्रधानतः प्रयोग किया जाता है।

अन्य शास्त्रकारों ने 'धर्म' और 'अर्थ' के और ('अपर') भी लक्षण बताये हैं।

---

* वात्स्यायन ने, अपने ग्रन्थ की विशेष दृष्टि से, क्रम बदल दिया है। सामान्य दृष्टि से, शुरू उमर मे ('बाल्ये', 'कौमारे'), प्रथम आश्रम मे; प्रवृत्ति-मार्गोपयोगी 'धर्म', जिस मे विद्या-ग्रहण अन्तर्गत है; द्वितीय आश्रम मे, ('यौवन' और 'प्रौढ़ि' मे) 'काम' के उपयोगी गार्हस्थ्य का 'अर्थ' और 'धर्म'; तृतीय और चतुर्थ मे (स्थाविरे), मोक्षोपयोगी 'धर्म'।

ब्रह्मऽानन्द और कामऽानन्द ।

जब जीवात्मा अपने को सकल सृष्टि करने वाला परमात्मा पहिचान लेता है, तब उस को भूमता, बहुमता, महत्तमता, का सच्चा 'ब्रह्मानन्द' प्राप्त होता है। उस की सब वासना कामना ऐसी पूर्ण होती हैं कि लुप्त हो जाती है। इच्छा तो अपूर्ण को ही होगी न? जो पूर्णतम हो गया, जिस के उदर मे सारा संसार आ गया, जिस ने जान लिया कि 'मेरा' ही चैतन्य, 'मैं' ही 'अहं' ही, सारे संसार का कर्त्ता धर्त्ता संहर्त्ता है, हूँ, 'अस्ति', 'अस्मि', उस को इच्छा कहाँ अवशिष्ट रहैगी? जो कुछ भी हो रहा है, सब उसी की, 'मेरी' ही, इच्छा से हो रहा है। पारमार्थिक 'अहंता' 'अस्मिता' की यहाँ परा काष्ठा है।

इस सच्चे 'ब्रह्मानन्द' का प्रतिबिम्ब, मिथ्या आभास, होता हुआ भी, व्यावहारिक दृष्टि से नितान्त वास्तविक और बलवान् 'कामानन्द' है। इस मे भी, स्त्री पुरुष के शरीरको धारण करने वाले जीव को, मिथ्या ही, विवर्त्तित ही, उल्टा ही, लेकिन ब्रह्मानन्द के सदृश (जैसे जल के किनारे खड़े मनुष्य का प्रतिबिम्ब उलटा भी और सदृश भी), सब विषयों के उपभोग से सब इच्छाओं की एकसाथ पूर्ति का, पूर्णता का, तथा 'सर्जन-शक्ति', नया (संसारात्मक) शरीर उत्पन्न करने की शक्ति, अतः 'ईश्वरता' का, स्वयं आत्मवश हो कर दूसरे के ऊपर वशिता का, अनुभव होता है।* इस मे सांसारिक 'अहंता', 'अस्मिता', 'अहंकार', 'अभिमान', 'दर्प' की पराकाष्ठा है। मैथुन कर्म से 'अभिमान' का अनुभव, स्त्री-पुरुष दोनो को होना, (न केवल पुरुष को, जैसा कि वात्स्यायन के कई कच्चे (सदोष) सूत्रों से, अति त्वरावान् जल्दबाज़ पाठकों को, धोखा हो सकता है), प्राकृतिक है; इसी लिये सूत्रकार ने 'आभिमानिक सुख' का, इस के सम्बन्ध मे उद्देश किया है (१–२–१२)। बिना अध्यात्मशास्त्र, मोक्षशास्त्र, की शरण लिए, इस का तात्विक हेतु समझ मे नहीं आता। और समझने की आवश्यकता है। यदि समझ कर उस ज्ञान को अपने हृदय मे सदा रक्खे, तो भारी भूलों, पापों, और उन के फलरूप कष्टों, से, बचा जा

* 'शरीर' को 'संसारात्मक' इस लिये कहा, कि जहां 'शरीर' नहीं वहां संसार नहीं; शरीर के, और उस मे स्थित इन्द्रियों के द्वारा ही तो संसार का अनुभव होता है।

सकता है। काम-सुख मे अति 'दर्प' 'गर्व' करने से, स्त्री और पुरुष, परस्पर अथवा दूसरों को, शारीर और मानस क्लेश पहुँचा कर, वैमनस्य खड़ा कर, वैवाहिक वा सामाजिक सुख को नष्ट कर देते हैं; अपने को वा दूसरों को क्रुद्ध वा दीन करते हैं; इसी लिये भीष्म पितामह ने, शांतिपर्व के षटत्रिंशी नामक अध्याय मे, कहा है, 'सेवेत् कामम् अनुद्धतः', काम के सेवन मे बहुत उद्धत न होना चाहिये।*

---

* पहिले पृ० १७७—१७८ पर लिख आये हैं कि, मैथुनप्रसंग मे नर-नारी, एक दूसरे पर, जो चाहते हैं सो करते हैं, और 'अभिमान', 'अस्मिता', अहंकार' का रस चखते हैं। पुण्य और पाप को पृथक् करने वाली रेखा बहुत बारीक होती है; ज़रा सी 'अति होने से पुण्य का रूप बदल कर पाप हो जाता है; परन्तु पाप की 'अति' होने से पुण्य नहीं बन जाता; (मनुष्य-दृष्टि से; ईश्वर-दृष्टि से, रावण आदि का अतिपाप भी, अ-साक्षात्, अ-प्रत्यक्ष, रूप से, मानव जाति का, दूर जा कर, कल्याणकारक हुआ; यह ईश्वर के, परमात्मा के, द्वंद्व-मय, पुण्य-पाप-मय, जगन्नाटक का, अ-वारणीय नियम ही है); ऊपर से नीचे गिरना सहज है; नीचे से ऊपर चढ़ना कठिन; इसके विशेष आध्यात्मिक हेतु हैं। सच्चे प्रेम से, विवाहित भार्या—भर्त्ता के, परस्पर मैथुनीय-आलिंगन मे भी, दोनों ओर, सूक्ष्म अभिमान की (जिसी का घनीभाव, राजस घोर-भाव, दर्प, गर्व, है), मात्रा रहती ही है; उसका आस्वादन, लीला से, बनावटी, कृत्रिम, 'खेल' के भाव से, अपने ऊपर आरोपित नाटकीय प्रदर्शन से, परस्पर, एक दूसरे पर, पर्याय (पारी-पारी) से मिथ्या 'बलात्कार' करके, होता है; और उस से, परस्पर प्रेम, परस्पर रमण (एक दूसरे मे 'रमना', 'रीझना'), आनन्द, बढ़ता है; किन्तु, यदि यह 'बलात्कार', मिथ्या खेल के स्थान मे वास्तविक ('ज़िना बिल-जब्र'), और परस्पर के स्थान पर यक-तरफ़ा, हो जाय, तो घोर, पापिष्ठ, और अति अनर्थकारी होगा, प्रेम प्रीति का सर्वथा नाश करैगा, तीव्र द्रोह और हीनता की आग जलावैगा, जीवन को विषमय करैगा, मानस और शारीर तीक्ष्ण आधि-व्याधियों को जन्म देगा। इस सब विषय के विस्तार की— 'अभिमान' के पुरुषरूप, 'सैडिज़्म और स्त्रीरूप, 'मैसोचिज़्म', आदि की—चर्चा, 'दि सायंस् आफ़् दि इमोशन्स्' मे की है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों

काम के अन्य अर्थपूर्ण नाम ।

कंदर्प—काम के और भी नाम संस्कृत मे हैं। बहुत अर्थपूर्ण हैं। 'सम्यक् कृता' 'अच्छी बनाई हुई', 'संस्कृत' भाषा ऐसी ही है । पर निरुक्त शास्त्र का प्रयोग, जिस से प्राचीन अर्थगर्भ शब्दों का निर्वचन, अध्यात्मशास्त्र की सहायता से हो, प्रायः उठ सा गया है। एक नाम, काम का, 'कंदर्प' है। इस का दो प्रकार से निर्वचन हो सकता है। 'कं दर्पयति', किस के इंद्रिय-निग्रह, आत्म-संयम, के दर्प को बचने देता है ? किसी के नहीं, इस लिये 'कंदर्प' ।

अहल्याया जारः सुरपतिर् अभूद्; आत्मतनयां
प्रजानाथो ऽयासीद्; अभजत गुरोर् इन्दुर् अबलां;
इति प्रायः को वा न पदम् अपथे ऽकार्यत मया,
श्रमो मद्बाणानां क इव भुवनोन्माथविधिषु ।

(प्रबोध-चंद्रोदय)

कामदेव कहता है, मैंने सुरपति इन्द्र को गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या का जार (यार) बना दिया; चन्द्रमा को अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा से व्यभिचार करा दिया; स्वयं ब्रह्मा को अपनी बेटी सरस्वती के पीछे दौड़ा दिया; मेरे बाणो को सारे संसार के 'उन्मथन', 'मनोमथन', मे क्या कोई श्रम है ? कुछ नहीं। मेरा एक नाम 'मन्मथ' है ही ।

व्यवहार-दृष्टि से, इन सब पौराणिक कथाओं का सीधा-साधा अक्षरार्थ भी बड़ा उपदेशप्रद है; ये कहने सुनने वाले को सदा सावधान करती रहती हैं, कि संसार मे सँभल कर चलो, दर्प मत करो, काम के वेग

ने, यूरोपीय भाषाओं मे लिखे हुए, 'सैकियेट्री' (कामादिजनित मानस विक्रिया, उन्मादादि) के शास्त्र के ग्रन्थों मे इस विषय का प्रतिपादन बहुत विस्तार से किया है—कि यह कामसम्बन्धी दर्प अभिमान, कैसे कैसे घोर विकृत बीभत्स भयानक क्रूर रूप धारण कर लेता है, यहां तक कि मैथुन मे हिंसा तक कर डालता है। वात्स्यायन ने भी कुछ थोड़ी चर्चा इस की की है, जिस का स्यात् आगे वर्णन किया जाय। क्राफ़्ट-एबिङ नामक शास्त्री का लिखा ग्रन्थ 'सैकोपेथिया सेक्सुऐलिस्', इस विषय पर बहुत प्रामाणिक समझा जाता रहा है। जर्मन भाषा से अंग्रेज़ी मे इस का अनुवाद, प्रायः चालीस वर्ष हुए, छपा। तब से अन्य कितने ही ग्रन्थ, इस विषय के, नई गवेषणाओं से उपोद्बलित, छपे हैं।

से डरते रहो, बड़े-बड़ों से बड़ी-बड़ी भूल हो गई हैं, और इस के कारण उन को बड़े-बड़े दंड भी मिले हैं; इन्द्र के शरीर मे हज़ार व्रण (उपदंश, गर्मी, के रोग के ऐसे) हो गये; चन्द्रमा को क्षय रोग हो गया; ब्रह्मदेव के पहिले जो पाँच सिर थे उन मे से एक को रुद्र ने काट डाला, जिस से चार ही रह गये; फिर तुम क्या चीज़ हो ! । पर आध्यात्मिक आधिदैविक दृष्टि से ये सब रूपक भी हैं। यथा अ-हल्या का अर्थ है— बिना हल चली, बिना जोती. भूमि; गो-तम का अर्थ बहुत पशु, गाय बैल, पालने वाला मनुष्य; इन्द्र का अर्थ विद्युत् ; चन्द्र का अर्थ जल; जब 'अहल्या' के पति 'गोतम' कहीं चले गये थे, अपनी पत्नी की फ़िक्र, भूमि की रक्षा, देख-रेख नहीं कर रहे थे, उस समय बिजली बादल के अनुचित (अतिमात्र) स्पर्श से खेती की भूमि पड़ती हो गई; फिर राम जी ऐसे महापुरुष के पाद-स्पर्श से, उस पर घूम-फिर कर देखने से, (जैसा राजा और राज-पुरुषों का धर्म है, कि घूम-फिर कर प्रजा का निरीक्षण और कष्ट-निवारण करते रहैं), और उत्तम प्रबंध करने से, वह भूमि, जो पत्थर ऐसी, ऊसर ऐसी, हो गई थी, फिर से जाग उठी, उर्वरा हो गई, जोती-बोई जाने लगी, उसके पुत्र 'शत-ऽनन्द' हुए। राम जी के 'क़दमों की बरकत' से यह सब काम हुआ। "रमन्ते जनाः यस्मिन् स रामः"। तथा बृहस्पति, तारा, चन्द्र, चन्द्र-तारा के पुत्र बुध, पृथ्वी-वाराह के पुत्र भौम आदि, ये सब खगोल में घूमते हुए ब्रह्मांड, ब्रह्म के अण्ड, गोले, ग्रह नक्षत्र आदि, हैं, जिन मे, आपस मे, करोड़ों वर्ष पहिले, (पाश्चात्य ज्योतिष शास्त्र से ऐसी सूचना मिलती है), परस्पर महा उत्पात हो कर, 'संग्रामे तारकामये', तब वर्तमान सौर सम्प्रदाय की व्यवस्था स्थिर हुई। तथा सरस्वती का अर्थ वाक् है; ब्रह्मा का अर्थ महत्तत्त्व, बुद्धितत्त्व, वाग्मी है; रुद्र का अर्थ क्रोध है; वाक् का दुष्प्रयोग होने से, चारो ओर क्रोध फैलने से, वाग्मी की दुर्दशा होती है। कुमारिल ने, 'तंत्र-वार्तिक' नाम के अपने ग्रन्थ मे, एक और अर्थ, इस 'ब्रह्मा-सरस्वती-रुद्र' के रूपक का किया है, यथा, सरस्वती का अर्थ उषा, ब्रह्मा का सूर्य। इत्यादि। इस के विस्तार का यहाँ अवसर नहीं, प्रसंगवशात् केवल सूचना कर दी।

दूसरा निर्वचन 'कंदर्प' का है, 'कं न दर्पयति', किस को दर्पयुक्त, दृप्त, नहीं करता*। कंदर्प का और 'दर्पण', आईना, का साथ है। 'दर्पयति

* वा 'कं, ब्रह्माणं, बृहन्तं, महान्तं अपि, पुरुषं, दर्पयति'; वा 'यं

इति दर्पणः', जिस मे स्त्री-पुरुष अपनी सूरत को देख कर सँवारते हैं, और 'दृप्त' होते हैं। कबीर की गीत है, "मुखड़ा क्या देखै दर्पन मे, तेरे दया धरम नहिं तन मे"।

मदन—एक नाम 'मदन' भी है।

क्षुधाक्षामो, जीर्णः, श्रवणरहितः, पुच्छविकलः,
शुनीम् अन्वेति श्वा; हतम् अपि निहंत्येव मदनः। (भर्तृहरि)

कृश, काणे, खञ्ज, बिना कान, बिना पूंछ, भुखमरा, जराजीर्ण भी, कुत्ता, 'मदन' से प्रेरित हो कर, मत्त हो कर, कुत्ती के पीछे दौड़ता है। नाम बहुत यथार्थ है। 'मदयति इति मदनः', जो जीव को मत्त, मस्त, कर दे। अभिमान, मान, दर्प, मद—यह सब पर्याय ही हैं। अच्छे आहार से बल, उस से बल-मद। अच्छी धन-सम्पत्ति से धन-मद। ऐसे ही विद्या-मद, जाति-मद, रूप-मद, ऐश्वर्य-मद, अधिकार-मद, तपो-मद, आदि। प्रमाद, उन्माद, मादक, प्रमदः, प्रमदा, 'मैड' (पागल), सब नज़दीकी रिश्तादार हैं। अच्छी धन-सम्पत्ति से सुलभ अच्छे आहार से जनित बल का सार, स्त्री-वीर्य, पुरुष-वीर्य; उस से वीर्यमद, काममद, ऐश्वर्यमद। मद्य, मदिरा, मे भी यही धातु है। मद्य के सेवन से भी 'मद' उत्पन्न होता है। मद्य-मांस-मैथुन आदि का, घोर भयङ्कर वाममार्ग के पंच 'म'-कार मे, इसी हेतु से साथ देख पड़ता है। तामस हर्ष के सभी साधन हैं। मद का अर्थ 'हर्ष', 'उद्धतता', तथा 'वीर्य' भी है।* दोनो का आशय 'मद्-भाव,' 'अहं-भाव', की वृद्धि है। 'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया', 'मेरे सदृश दूसरा कौन है'। फ़ारसी मे भी शेख़ीबाज़ आदमी की तस्वीर ऐसे ही लफ़्ज़ों से खींची है—"हम् चु मन् दीगरे नीस्त", जो, "कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया" का तर्जुमा ही है। मद की अति वृद्धि से 'उन्माद' हो जाता है।

ब्रह्मचर्य के गुण।

'शुक्र' नाम ब्रह्म का भी है, वीर्य का भी। ब्रह्म का अर्थ अति बृहत्, अनन्त, परमात्मा भी; वेद अर्थात् अनन्त ज्ञान भी; तथा बृंहणशील,

कं अपि, सर्वं अपि जन्तुं, दर्पयति, उन्मादयति'।

* हाथी जब 'मस्त', 'मत्त', होता है, तब उस की कनपटियों से 'मद' बहता है; नीम का पेड़ जब बहुत पुष्ट और पुराना हो जाता है, तब उस से 'मद' बहता है, जो दवा के काम मे आता है; इत्यादि।

वर्धन सन्तानन शक्ति रखने वाला, वीर्य भी। इन तीनो की प्राप्ति, वृद्धि, सञ्चय करने वाली चर्या का नाम ब्रह्म-चर्य है।

पाके रसस्तु द्विविधः प्रोक्तो हि अन्नरसात्मकः;
रससारमयो भागः शुक्रं ब्रह्म सनातनम्।

स पर्यगात् शुक्रम् अकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धं। (उप०)

अन्न के परिपाक से जो रस उत्पन्न होता है, उस का सार, सनातन-ब्रह्मरूप, ब्रह्मशक्तिमय, शुक्र है। आयुर्वेद का कहना है कि आहार से क्रमशः रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, बन कर, सातवाँ परिणाम वीर्य होता है। आठवाँ परिपाक, वीर्य का परिणाम, तरस्, ओजस्, सहस्, महस्, तेजस्, वर्चस् आदि विविध प्रकार का, पेशियों का, इन्द्रियों का, हृदय का, मन का, अहंभाव का, बुद्धि का, बल होता है। ब्रह्मचर्य की, विद्यार्थिता की, अवस्था मे, शुक्र का, स्वप्नादि मे, स्खलन हो जाय तो,

पुनर्मामैतु इन्द्रियं, पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च,
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थां कल्पन्तामिहैव,

इस मन्त्र का, स्नानादि कर के, मंत्र के शब्दों के अर्थ की भावना के सहित, जप करने से, सब दोष दूर हो जाते हैं, और फिर बल का, वीर्य का, संचय हो जाता है। इसी मंत्र को बृहदारण्यक उपनिषत् मे और विस्तार से कहा है,

तदभिमृशेद्, अनु वा मंत्रयेत, यन् मेऽद्य रेतः पृथिवीम् अस्कान्त्सीत्, यद् ओषधीः अपि असरद्, यद् अपः, इदम् अहं तद् रेत आददे, पुनर्माम् ऐतु इन्द्रियं, पुनस्तेजः, पुनर्भगः, पुनरग्निः, धिष्ण्याः यथास्थानं कल्पन्ताम्।*

ऐसा ध्यान और जप करै कि, जो मेरा वीर्य गिर कर पृथिवी मे, ओषधियों मे, जल मे, मिल गया, उस को मैं फिर अपने चित्त के बल से वापस लेता हूँ; मेरा इन्द्रिय-बल, मेरा तेजस्, मेरा सौभाग्य, मेरे प्राण की गर्मी, और मेरे सब अवयवों मे रहने वाली शक्तियां, अपने अपने

---

* आश्वलायन-गृह्य-सूत्र मे पाठ यों है—पुनर्मामैतु इन्द्रियं, पुनरायुः, पुनर्भगः; पुनर्द्रविणमैतु मां, पुनर्ब्राह्मणमैतु मां, स्वाहा। इमे ये धिष्ण्यासोऽग्नयो यथास्थानमिह कल्पंतां, वैश्वानरो वावृधानोऽन्तर्यच्छतु मे मनो, हृद्यंतरं ऋतस्य केतुः, स्वाहा। (३. ६. ९.) अर्थ एक ही; शब्द बदलते हैं।

उचित स्थान पर वापस आ जावैं। स्पष्ट है कि ऐसा ध्यान मन मे होने और रहने से वीर्य का अवरोध और संचय अपने शरीर मे होगा। 'इन्द्रियं' शब्द वेद के मंत्र मे वीर्य का उपलक्षण है। क्यों कि, (स्त्री-पुरुष के वैवाहिक धार्मिक अनतिमात्र प्रेममय समाश्लेषण से अन्यत्र), वीर्यस्खलन से, उक्त सब प्रकार के बल का, प्राण का, 'क्षय' होता है; अंतःकरण बहिष्करण मे, चित्त और देह मे, शिथिलता आती है; तथा, वीर्य के संचय से सब इंद्रियों मे, सब अवयवों मे, शक्ति और ज्योति बढ़ती है। आयुर्वेद मे निर्णय किया है;

त्रिस्थूणं शरीरं, आहारः निद्रा ब्रह्मचर्यं इति तिस्रः स्थूणाः।

(सुश्रुत, चरक)

शरीर की तीन थूनी हैं, स्तम्भ हैं, शुद्ध आहार, निद्रा, और ब्रह्मचर्य।

'ओजस्' शब्द के दूसरे अर्थ भी सुश्रुत, चरक, शार्ङ्गधर आदि ने कहे हैं; उन के विवरण का यहां प्रयोजन नहीं।

क्षयरोग

यह प्रसिद्ध है कि अति भोग विलास से, बहुत ऐयाशी से, क्षय, तपेदिक़, 'कनूज़मृशन', की बीमारी हो जाती है; अमीरी की बीमारी है; इसी हेतु से एक नाम इस का 'राजयक्ष्मा' है। पर बहुत ग़रीबी से भी यह हो जाती है। वैद्यक मे बहुत प्रकार के क्षय, और उन के कारण कहे हैं; पर विशेष दृष्टि से, दो प्रकार विशेष हैं, अनुलोम क्षय और प्रतिलोम क्षय। शरीर अथवा बुद्धि के अति व्यायाम, परिश्रम, कर्षण से; तीव्र मानस शोक, क्षोभ, चिन्ता से; स्वास्थ्य की साधारण सामग्री, शुद्ध और पर्याप्त अन्न, जल, वायु, वस्त्र, प्रभृति के अभाव से; सर्दी गर्मी खा जाने से; प्रजागर से; मन्दाग्नि मन्द ज्वर आदि हो कर, यदि अनुलोम क्रम से धातु क्षीण होने लगें, पहिले रस, तब रक्त, तब मांस इत्यादि, अंत मे शुक्र; तो उस को अनुलोम क्षय कहते हैं। अति कामुकता, विषम कामुकता, या अन्य किसी कारण से, वीर्य के क्षय से आरम्भ हो कर रस के क्षय से जो अंत करता है, उस को प्रतिलोम क्षय कहते है।

हस्तमैथुनादि दोष और क्षय रोग।

हस्तमैथुन दोष विद्यार्थियों में, पूर्व पश्चिम के सभी देशों मे, आज काल बहुत फैला जान पड़ता है। इस के अतिमात्र आचरण से भी

विविध प्रकार के अन्य मानस और शारीर रोग तथा क्षयरोग, उत्पन्न होते हैं। पर यदि कभी कदाचित् कोई विद्यार्थी ना-समझी से यह भूल कर ले, तो उस को यह भय न होना चाहिये (न किसी दूसरे को उसे ऐसा भय दिलाना चाहिये) कि कोई अ-मार्जनीय अनाचार या अ-पूरणीय हानि, या अ-निस्तार्य दोष, या घोर पाप हो गया। पुनः शुद्ध रहने से यह कादाचित्क दोष मिट जाता है। वेद-मंत्र के जप और उस के अर्थ के भावन की विधि जो ऊपर कही, उस की उपयोगिता यहां भी है। यदि मंत्र के शब्द न भी कहें, उन के भाव ही का ध्यान करै, तो भी वही फल होगा; ध्यान और भावना ही मुख्य हैं, शब्द गौण हैं। वेदों में भी, बहुत स्थलों पर, शब्द बदल-बदल कर एक ही अर्थ कहा है।

प्रसंगवश, एक व्यावहारिक विषय की चर्चा यहां कर देना उचित जान पड़ता है। यद्यपि यह ठीक है कि,

तान् अकृत्स्नविदो मंदान् कृत्स्नविन् न विचालयेत् (गीता).

सब बातों की चर्चा सब के सामने, बिना देश-काल-पात्र के विवेक के, करना ठीक नहीं; और 'काम' सम्बन्धी दोषों को छिपा जाने की ही चाल समाज मे बहुत देख पड़ती है: पर रोग के छिपाने मे अधिक दोष और आपत्ति है। विशेष कर जब रोग संक्रामक और व्यापक हो रहा है। ऐसी अवस्था के लिए उचित नीति दूसरी है,

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् इह विद्यते। (गीता)

ऋते ज्ञानान् न मुक्तिः। अज्ञानाद् बंधः ज्ञानान् मोक्षः।

सज् ज्ञान के ऐसा, चित्त और देह को पवित्र शुद्ध करने वाला, दूसरा पदार्थ नहीं; अज्ञान से तरह तरह के बन्धनो मे, भूलों मे, मनुष्य पड़ जाता है; ज्ञान से ही उन बन्धनो से मुक्त होता है, भूलों से बचता है। बिना ऐसे ज्ञान के, शारीर अथवा मानस दोष से, आधि-व्याधि से, दुराचार अनाचार से, छुटकारा नहीं। इस लिये इस छिपे रोग की, जो समाज को घुन के ऐसा चाल रहा है, प्रकट परीक्षा होना आवश्यक है। हस्तमैथुन, तथा अन्य प्रकारों का घोरतर कामजनित दूषण, बालक-बालिकाओं का, परस्पर, अथवा युवा और तरुणो और प्रोढ़ों के द्वारा, घरों मे, स्कूलों मे, बहुत सुनने मे आता है*; अखबारों मे भी चर्चा होती रहती है; यहां तक कि बिहार

* यह भी इस स्थान पर लिख देना उचित है कि, पुरुषों द्वारा कन्या-दूषण तो होता ही है, जिस के लिये मनुस्मृति मे, तथा प्रवर्तमान भारतीय

और पंजाब की गवर्मेंटों ने, और उन के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टरों ने, सन् १९३४-'५'-६ में तहक़ीक़ात कराई और इस दुराचार के रोकने के लिये कुछ उपाय सोचा और आदेश जारी किया; पर आदेश के शब्द कुछ ऐसे गोलमोल थे कि विशेष कार्यसाधक नहीं हुए। 'यूथ्स वेल्फ़ेयर असोसियेशन', अर्थात् 'युवा और बालकों की रक्षा के लिये समिति', भी पंजाब में बनी। महात्मा गांधी जी ने भी सन् १९३५ में, लाहौर के

(अंग्रेज़ी) दंड-विधान मे, तीक्ष्ण दंड लिखे हैं; बालिकाओं का भी परस्पर दूषण, अंगुलिप्रक्षेप आदि से, होता है; तथा, युवती और प्रौढ़ा स्त्रियों द्वारा बालकों का भी दूषण कभी-कभी होता है; वैद्यक के एक ग्रन्थ मे कहा है—निर्लज्जस्त्रीबलाद्भुक्तबालस्याऽक्षिप्तकं भवेत्; "बालस्याऽऽक्षेपकं", ऐसा भी पाठ कहा जाता है; रोग का रूप प्रायः वैसा कहा जाता है, जैसा अंग्रेज़ी मे 'स्पाज़्म्स्' या 'कन्वल्शन्स्' का कहा है, (भूकम्प के ऐसा घोर शरीर-कम्प, हृत्कम्प, घबराहट, आँख उलटना, बेहोश हो जाना, आदि),जिस बालक से,किसी निर्लज्ज स्त्री ने,बलात्कार से भोग कर लिया है, उस को प्रायः 'आक्षिप्तक''आक्षेपक' रोग हो जाता है। कामशास्त्रीय विषयों के बड़े परिश्रमी अन्वेषक अनुसन्धाता और पंडित, अंग्रेज़ो विद्वान्, हावेलाक् एलिस, ने, अपने लिखे सात जिल्दों के बृहद् ग्रन्थ, "साइकालोजी आफ़ सेक्स"मे, प्रौढ़ा स्त्रियों द्वारा, बालकों के दूषण के अनेक उदाहरण दिये हैं। १९९४ वि. मे, दैनिक समाचार पत्रों मे, कलकत्ता हाइकोर्ट का एक फ़ैसला छपा था, जिस से मालूम हुआ कि, एक तेरह चौदह वर्ष की युवती ने, काम के असह्य वेग मे पड़ कर, एक छः वर्ष के बालक पर अत्याचार किया, और उस की जननेन्द्रिय को बहुत चोट पहुँचायी; न्यायालय से उस युवती को कुछ दंड हुआ। बालक की दुर्दशा, और उसकी सारी आयु भर, इस तीक्ष्ण अनुभव की कड़वी याद, का ध्यान कर के, युवती पर क्रोध आता है; मानव-चित्तको प्रकृति ने कैसा दुर्बल, और काम के वेग को कैसा प्रबल, बनाया है; उस युवती के हृदय पर, उसके दुष्कर्म से कचहरी मे प्रख्यापन और दंडन का, कैसा भारी आघात पहुँचा होगा; और, समग्र जीवन भर इस दाग़ को मिटाना उस के लिये असम्भव होगा; समाज मे मुंह दिखाना कठिन होगा; विवश होकर वेश्या-वृत्ति का ग्रहण

सनातनधर्म कालेज के आचार्य (प्रिंसिपल) के पत्र के उत्तर मे, इस विषय पर, देश को उपदेश दिया। इन सब तहक़ीक़ातों से विदित हुआ कि, स्थान-स्थान पर, स्वयं अध्यापकों ने ही अपने शिष्यों के साथ दुराचार किया। जिस को रक्षक होना चाहिये वही भक्षक हो गया। इस सब से इतना तो जरूर हुआ कि जनता का ध्यान इस ओर फिरा, और हवा बदलने की इच्छा और प्रयत्न शुरू हुए। माता, पिता, गुरु—इन तीन के नाम, वेद मे, मनुस्मृति मे, बहुधा साथ ही लिये जाते हैं। यदि ये ही अपनी संतान की, अपने शिष्य की, हत्या कर डालें, तो क्या उपाय है?

यस्यांके शिर आधाय, जनः स्वपिति निर्भयः,
स एव तत् शिरः छिंद्यात्, तत्र कं परिदेवयेत्? (म० भा०)

जिस की गोद में सिर रख कर सोवै, वही उस सिर को काट ले, तो किस पर भरोसा किया जाय, किस से परिदेवना, शिकायत, पुकार, की जाय?

करना होगा; या भिक्षा-वृत्ति ग्रहण कर के तीर्थ-स्थानादिकों की 'बैरागी' आदि मंडलियों के कुपन्थ-सुपन्थ मे अपना तन और मन डुबा देना होगा, या 'मिरिच' (मारिशस) देश के ऐसे टापुओं मे जाना होगा, जहां बहुतेरी अभागिनियों को जाना पड़ता रहा है—यह सब विचार कर के, अपराधिनी युवती के ऊपर, क्रोध के साथ-साथ दया भी होती है; पर अन्त में यह मानना पड़ता है कि प्रख्यापन और दंडन न होने से, ये प्रच्छन्न पाप बढ़ते ही जायँगे, तथा प्रकाशन और न्यायोचित निर्णेजन से, चाहे एक व्यक्ति का जीवन खट्टा या ध्वस्त ही हो जाय, पर समाज को लाभ होगा, असह्य काम के वेग को रोकने की प्रवृत्ति अधिक होगी, समाज की हवा भी स्वच्छ होगी। यदि समाज मे शुभ संस्कृत परिष्कृत भाव अधिक व्याप्त हों, तो ऐसे दंडित व्यक्ति से फिर कोई घृणा भी न करै, और उस का जीवन भी परिशुद्ध और निष्कलङ्क हो जाय। मनु की आज्ञा है,

एनस्विभिः अनिर्णिक्तैः नार्थं किंचित् सहाचरेत्;
कृतनिर्णेजनांस्तांस्तु न जुगुप्सेत कर्हिचित्।

एनस्वी, पातकी, अपराधी का जब तक निर्णेजन, दंड से मार्जन, नहीं हुआ है, तब तक उस से कोई सम्बन्ध न करै; जब पाप का मार्जन, दंड से, हो जाय, तब उस से कोई जुगुप्सा न करै।

पर नहीं, इस का उपाय है, और किया जाना चाहिये, और किया जा सकता है, यदि गृहस्थ और राष्ट्रभृत्य एकमत और सन्नद्ध हो कर यत्न करें। मुख्य उपाय यह है कि (१) समाज की सारी हवा, जो दुर्भावमय अधर्म्य कामक्रोधादि की इच्छाओं और चेष्टाओं से, विषाक्त हो रही हैं, वह सत्-शिक्षा, सद्-भाव, सत्-साहित्य के प्रचार से, शोधी और बदली जाय। जैसी नई पुश्त की शिक्षा होगी, वैसी भावी समाज की सभ्यता वा असभ्यता होगी; (२) पाठशाला, मद्रसा, स्कूल, कालिज आदि को सच्चा 'गुरुकुल' बनाया जाय; विवाहित और सन्तान वाले ही स्त्री पुरुष अध्यापक बनाये जायँ; गुरु और गुरुपत्नी और उन के अपत्य और शिष्य साथ रहैं, साथ उठैं बैठें, पढ़ैं पढ़ावैं, चलैं फिरैं। अपने और दूसरों के अपत्यों को साथ देख कर, सब के लिये, गुरुओं अध्यापकों अध्यापिकाओं के मन मे शुद्ध वात्सल्य के भाव उत्पन्न होंगे, और सब की तुल्य रूप से देख-रेख रक्खेंगे और रक्षा करैंगे; दुष्ट कामुकता के भाव, किसी के लिये, उन के मन मे उदय होने न पावेंगे। इस के विरुद्ध, जवान, अनब्याहे, निस्सन्तान, स्त्री, पुरुष, यदि अध्यापिका और अध्यापक होंगे, तो उन मे दुष्ट भावों का उपजना बहुधा सहज होगा। अवान्तर उपाय यह है कि, जिस अध्यापक के सम्बन्ध में विशेष शंका और बदनामी उठै, वह बर्ख़ास्त कर दिया जाय, अधिक और साक्षात् प्रमाण आदि की प्रतीक्षा न की जाय; जैसे ज़ाबितै फ़ौजदारी मे नेकचलनी के लिये मुचलका जमानत की आज्ञा बदनामी के ही सबूत पर, दे दी जाती है। और भी; प्रत्येक अध्यापक और अध्यापिका से, छपी शपथ को उच्चस्वर से पढ़वा कर, उस पर हस्ताक्षर, करा लिया जाय, कि हम अपने शरीर मे, तथा 'क्लास' (class, वर्ग, दर्जे) के किसी बालक वा बालिका के शरीर मे, किसी प्रकार का कामीय दुराचार वा अशुचिता न होने देंगे। तथा, स्कूल के प्रत्येक कमरे मे प्रतिदिन नहीं तो प्रत्येक सप्ताह में एक बेर, थोड़ी देर के लिये, मोटे अक्षरों मे लिखा हुआ, यह उपदेश, दीवार पर लटका दिया जाय, जिस मे प्रत्येक बालक-बालिका उसको पढ़ ले, कि, 'किसी बालक-बालिका को, अपने या दूसरे की, मलमूत्र की इन्द्रियों से खेलना कदापि नहीं चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से बड़ी बीमारियां हो जाती हैं; लेकिन इन इन्द्रियों को साफ रखने का प्रकार अपने माता-पिता से ही सीख लेना चाहिये'। गृहस्थ जनता को, अपनी रक्षा के लिये, इस विषय मे, जैसे अन्य विषयों मे,

वल्कि उस से वहुत अधिक, सजग, होशयार, सावधान, रहना चाहिये* । आख कान बंद कर लेना, 'हम तो ऐसी बातें सुनना नहीं चाहते', ऐसी अनास्था अरुचि इस विषय के विचार करने में दिखाना, मुंह फेर लेना—यह भले आदमियों में बहुधा देख पड़ता है; पर, इस प्रकार से, बुरे आदमी अधिक धृष्ट होते हैं, उन के दुराचार समाज को अधिकाधिक भ्रष्ट और दुर्वल और निर्मर्याद करते हैं; छिपाने से रोग और वढ़ता ही है । इस लिये, ऐसे दुराचार को रोकने के सद् उपायों पर, सज्जनों मे परस्पर, शांत और दूरदर्शिनी बुद्धि से, विचार होना ही चाहिये ।

एक और विषय की चर्चा इसी स्थान पर करना प्रसंग-प्राप्त है । आज काल, अवस्था के परिवर्त्तन से; प्राचीन भारतीय शील, शक्ति. सज्-ज्ञान, स्वयंप्रज्ञता, स्वावलम्ब, स्वातंत्र्य, के ह्रास से; पाश्चात्य शक्तियों और विचारों के आक्रमण से; पुरानी सभी व्यवस्थाओं मर्यादाओं के अस्त-व्यस्त हो जाने से; दूषित ज्ञान, क्षुद्र विचार, क्षुद्र आचरण, मूढग्राह, धर्माभास, मिथ्या-धर्म,परतंत्रता,परावलम्ब. परप्रज्ञता, परानुकारिता, की वृद्धि से; इस भारतवर्ष की जनता के जीवन के सभी पार्श्वों. पहलुओं, अंगों मे, उथल-पुथल, अधरोत्तर, समुद्र की लहरों के ऐसा, हो रहा है । समाज-निर्माण, मनुष्य मनुष्य के परस्पर अधिकार-कर्त्तव्य, वार्ता-वाणिज्य-रोज़गार, राजनीति-राष्ट्रप्रवन्ध, शिक्षा-रक्षा-भक्षा, की व्यवस्था के; स्त्री-पुरुष के परस्पर कामिक व्यवहार के, विवाह-पद्धति के; भर्त्ता-भार्या, पिता-पुत्र, भर्त्ता-भृत्य के परस्पर सम्वन्ध और व्यवहार के; दाय आदि के; सभी के नियमो मे उलट-फेर हो रहा है । इस के अन्तर्गत बालक-बालिकाओं, कुमार-कुमारियों, किशोर-किशोरियों, युवा-युवतियों, तरुण तरुणियों का, एक साथ उठ बैठ कर, रह कर, स्कूल कालिजों मे पढ़ना पढ़ाना भी शुरू हो गया है । उस के स्वाभाविक गुणदोषात्मक फल भी होने लगे हैं; अविविवाहित विद्यार्थिनियों को गर्भ रह जाना, और ऐसे गर्भ के पातन का यत्न करना, सुना जाने लगा है । "कामः स्वभाववामः" । बिना अवसर के भी काम उत्पथ ले जाता है; अवसर प्राप्त होने पर, तीक्ष्ण प्रलोभन होने पर, क्या नहीं हो सकता । "कं नहि मदयति मदनः"

---

* 'दि सायंस आफ सोशल आर्गेनिजेशन' के पृष्ठ ६०९–६१७ मे, अधिक विस्तार से इन बातों की चर्चा की है ।

अति तपस्वी, अपने शरीर को सुखा डालने वाले, हवा पानी पत्ता पी खा कर रहने वाले, विश्वामित्र पराशर आदि ऋषियों से भी, स्त्रियों के कमलवत् सुललित मुखों को देख कर, मोह मे पड़ कर, चूक बहुतेरी होती रही हैं, साधारण स्त्री पुरुषों की, घी दूध दही उत्तम पुष्टिकर अन्न (और मद्य मांस भी) खाने पीने वालों की, क्या कथा; यदि ऐसे लोग भी इन्द्रिय निग्रह कर सकें, तो विंध्य पर्वत पौंड़ कर सागर को पार कर ले।

विश्वामित्र-पराशर-प्रभृतयः वात-ाम्बु पर्ण-ाशनाः;
तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः;
शाल्यन्नं दधिदुग्धगोघृतयुतं ये भुजते मानवाः,
तेषाम् इन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत्, विंध्यस् तरेत् सागरं। (भर्तृहरि)

मनु की आज्ञा तीव्र है,

स्वभावः एव नारीणां नराणां (च) इह (परस्पर) दूषणम्;
अतो ऽर्थान् न प्रमाद्यंति प्रमादासु विपश्चितः।
मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्;
बलीयान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसम् अपि कर्षति।

मानव प्रकृति का यह स्वभाव ही है कि, नर और नारी, सान्निध्य मे, परस्पर, एक दूसरे के चित्त को क्षुब्ध करते हैं, एक दूसरे को दूषित करते हैं; इस लिये माता, बहिन, बेटी के साथ भी अकेले मे न बैठे; इन्द्रियों की सेना बड़ी बलवान् है; विद्वान् को भी कुराह मे ले जाती है*। इस

---

* इस श्लोक पर एक वृद्ध अंग्रेज ने मुझ से आश्चर्य प्रकट किया, कि भारतवर्ष के स्त्री-पुरुषों पर, यहाँ के धर्मव्यवस्थापकों, विधान-कारकों, को इतना अविश्वास था। उनसे कहना पड़ा कि, प्लूटार्क के लिखे 'ग्रीस और रोम के वीर पुरुषों के चरित्र' मे, तथा फ्रांस, इटली, ईजिप्ट, पेरू, आदि के इतिहास मे, तथा एक मुग़ल बादशाह के सम्बन्ध में ऐसे पिता-पुत्री भाई-बहन, के दुराचरण के उदाहरण मिलते हैं; तथा आज-काल, इंग्लिस्तान के क़ानून मे, ऐसे पापों के लिये विशेष दंड लिखा है, जिस से सिद्ध होता है, कि ऐसे जुर्म वहां होते हैं; कभी-कभी, सम्वाद-पत्रों मे ऐसों का वृत्तांत छपता भी है; मै ने 'दी सायंस् आफ़ सोशल् आर्गेनिजेशन्' के पृष्ठ ४९५—४९७ पर कुछ उदाहरण दिये हैं। इस देश मे, अनपढ़ गँवार लोगों मे, 'मा' 'बहिन' 'बेटी' की गाली झट मुंह से निकल

अर्थ से, इस हेतु से, पढ़े-लिखे विपश्चित् विद्वान् पुरुषों पर विशेष कर ज़िम्मादारी है (क्योंकि स्त्रियों को पढ़ाने-लिखाने, विदूषी बनाने, की चाल कम हो गई है) कि वे स्त्रियों को रक्षा करैं, और स्वयं प्रमाद न करैं।

'परस्पर', 'एक दूसरे को', यह शब्द याद रखना चाहिये; प्रायः टीकाकार लोग, मनु के श्लोक का यह अर्थ लगाते हैं कि नारी ही नर को दूषित क्षुब्ध करती हैं; यह ठीक नहीं; जैसे और जितना नारी नर के, वैसे और उतना नर भी नारी के, हृदय मे क्षोभ और दोष उत्पन्न करते हैं। नर लेखक प्रायः नारियों को ही गाली देते हैं; यह उनकी धृष्टता, निर्लज्जता, घोर कृतघ्नता है, कि अपनी माता को ही बुरा कहते हैं; अपने पिता को, और सबसे अधिक अपने को, नहीं। अशिक्षित, अशिष्ट, जीवों की विकृत, असंस्कृत, प्रकृति ऐसी ही होती है, कि दूसरे मे ही दोष देखैं, अपने मे नहीं; ऐसी स्त्रियाँ भी प्रायः जब आपस मे बात करती हैं, तब नरों को ही दोषी बतलाती हैं।

दूसरे स्मृतिकार ने कहा है,

> घृतकुम्भसमा नारी, तप्तांगारसमः पुमान्,
> तस्मान् नरं च नारीं च नैकत्र स्थापयेद् बुधः।*

अविवाहित स्त्री पुरुष को एकत्र रखना, मानो आग और ईंधन को साथ रखना है; ऐसी अवस्था में 'ब्रह्मचर्य' और सच्चरित्र निबहना

आती है; ऐसी गालियों का इतना प्रयोग सर्वथा निराधार नहीं हो सकता; "ना-मूला हि जनश्रुतिः"; जब ऐसे पाप वस्तुतः होते हैं, तभी ऐसी गालियां फैली हैं। लिटूर्नू के ग्रन्थ 'हिस्टरी आफ़ मैरेज' मे, तथा 'सेक्स' ('काम') पर अन्य पाश्चात्य वैज्ञानिक 'ग्रंथों' मे, ऐसे सम्बन्धों के बहुत उदाहरण दिये हैं। पुराणो मे राजा पृथु और रानी अर्चि, भाई बहिन कहे हैं। शेक्सपियर के नाटक 'पेरिक्लीज़', और शेली के 'दिचेन्चाइ' भी देखिये।

* अंगरेज़ी मे एक आभाणक है, जो इस संस्कृत श्लोक का मानो अनुवाद ही है, यद्यपि शब्द उसके कुछ भदेस (अभद्र, अपरिष्कृत) हैं,

Man is fire. and woman is tow;
When the two come near, the devil doth blow.

प्रायः असम्भव सा है; और प्रायः स्त्री ही की हानि और दुर्दशा होती है।

अब स्त्रियों की शिक्षा की ओर देश का झुकाव बहुत हो रहा है, और ठीक हो रहा है; पर उस के प्रकार पर गृहस्थों को बहुत गम्भीर विचार करना आवश्यक है। जैसा गम्भीर विचार बालकों की रक्षा के लिये करने की आवश्यकता है, जिसका ज़िक्र ऊपर किया गया, उस से भी अधिक इस पर ध्यान देना चाहिये।*

यह जो कहा, इस का आशय यह नहीं है कि स्त्रियों को शिक्षा न दी जाय, या स्त्रियाँ पर्दे मे रक्खी जायँ; कदापि नहीं; शिक्षा देना ही चाहिये, पर्दे की प्रथा हटाना ही चाहिये। कहने का मतलब केवल इतना ही है, कि स्त्री और पुरुष के प्राकृतिक मानस और शारीर भेद को; संसार मे, जीवन-संग्राम मे, उन के विभिन्न कर्त्तव्यों को; और साथ ही उन के सह-धर्मित्व-सहधर्मिणीत्व को भी; ध्यान से खूब रख कर, शिक्षा रक्षा आदि का प्रबंध, विवेक से, मर्यादा बाँध कर, सुव्यवस्थित किया जाय। महाराष्ट्र, गुर्जर, द्राविड़, आंध्र आदि प्रान्तों और समाजों मे पर्दा की प्रथा नहीं है, पर स्त्रियों और पुरुषों के परस्पर दर्शन सम्भाषण आदि के विषय मे बहुत मर्यादा बाँधी हुई है।

यत्रेच्छेद् विपुलां प्रीतिं, तत्र त्रीणि विवर्जयेत्,
विवादं, अर्थसम्बन्धं, परोक्षे दारदर्शनम्।

जिस से स्नेह प्रीति, घनी मैत्री, चाहो, उस के साथ विवाद, बहस, हुज्जत, मत करो, रुपये पैसे का लेन-देन मत करो, एक दूसरे की अनुपस्थिति मे एक दूसरे की पत्नी से भेंट मुलाकात मत करो। यह पुराना श्लोक है, जिस से स्पष्ट निकलता है कि परस्पर दार-दर्शन की प्रथा भारतवर्ष मे सदा रही है, लेकिन पति की मौजूदगी मे ही, ग़ैरहाज़िरी मे नहीं। तथा, 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'; नहीं तो व्यक्ति के, कुल कुटुम्ब समाज के, जीवन मे, घोर दोष और उपद्रव उत्पन्न होंगे।

---

* 'दी सायंस आफ़ सोशल आर्गेनिजेशन' मे, पृष्ठ ४४७ से ५५१ तक, इस पर विस्तार से विमर्श करने का यत्न किया है।

काम-विषयक शिक्षा के प्रकार और प्रचार के सम्बन्ध मे कुछ विचार।

पच्छिम मे, 'काम' सम्बन्धी लेख, ग्रन्थ, 'शास्त्र', अब बहुत, किंवा अतिमात्र, बढ़ते जाते हैं; इस सब लिखावट को 'सेक्स लिटरेचूर', और शास्त्र को 'सेक्सुअल् सायंस्', 'सायंस् आफ लव्' भी कहते हैं। अंग्रेज़ी मे उस पदार्थ को, जिसे संस्कृत मे (मैथुन्य)-'काम' कहते हैं, प्रायः 'सेक्सुअल् लव्' कहते हैं। 'ईरॉस्', क्यूपिड्', आदि शब्द, इस के पर्याय होते हुए भी, विशेष अर्थों के द्योतक हैं। 'लव्' शब्द की व्युत्पत्ति अंग्रेज़ी कोशों मे नहीं मिलती; बहुत सम्भव है कि 'लुभ्', 'लोभ', का ही रूपान्तर है। बिना विशेषण के, केवल 'लव्' शब्द का अर्थ प्रायः प्रेम, प्रीति, स्नेह, होता है। माता, पिता, पुत्र, पुत्री, भाई, बहिन, मित्र के स्नेह को भी, तथा पति-पत्नी के स्नेह की भी, 'लव्' कहते हैं। पर स्त्री-पुरुष के, विशेष मिथुनताकाम को, 'सेक्सुअल्-लव्' कहते हैं। जहाँ ऐकपाक्षिक पापिष्ठ बलात्कार नहीं है; एक ओर दर्प और क्रूरता, और दूसरी ओर भय और दीनता, नहीं है; जहाँ स्त्री-पुरुष को परस्पर 'काम' है; वहाँ शारीर 'रति' भी और मानस 'प्रीति' भी, दोनो ही सम्मिलित रहती हैं; "कामस्य द्वे भार्ये, रतिश्च, प्रीतिश्च,"; तो भी साधारण बोल-चाल मे, 'काम' शब्द से 'रति' की, 'सुरत' की, 'मिथुनता' की ओर ही अधिक झुकाव माना जाता है। यहाँ एक बात और विचार करने की है; हिन्दी मे 'काम' शब्द का एक अन्य अर्थ प्रचलित है; यह 'काम' शब्द, संस्कृत के 'कम' शब्द का प्राकृत अपभ्रंश वा रूपान्तर है, जैसे 'कार्य' का काज', और उस का अर्थ 'कर्म' ही है; हिन्दी बोल-चाल मे, दोनों शब्द 'काम-'काज', एक साथ भी कह दिये जाते हैं; इस लिए, यद्यपि प्रसंग से उपयुक्त अर्थ का बोध हो ही जाता है, तो भी अच्छा होता यदि कोई दूसरा निर्भ्रान्त असन्दिग्ध शब्द मैथुन-काम के लिए निश्चित कर लिया जा सकता, और उस से अन्य पद, संज्ञा, संज्ञा-विशेषण, क्रिया-विशेषण आदि, बनाये जा सकते; जैसे अंग्रेज़ी मे 'सेक्स्-लव्,' 'सेक्सुअल्,' 'सेक्सुअली', सेक्सुऐलिटी,' आदि। 'सेक्स्' शब्द का आगम अंग्रेज़ी मे कहाँ से हुआ, इस का भी पता ठीक नहीं चलता; शब्द-कोशों मे, प्रायः लैटिन भाषा का धातु, 'सिकेरी', काटना, इस का मूल बताया जाता है; यह ठीक जँचता नहीं; अजब नहीं जो

संस्कृत 'शक्', 'शक्ति' से ही इस की उत्पत्ति हो। क्योंकि सृष्टि करने की पारमात्मिक 'शक्ति' और 'काम्' एक ही पदार्थ है। पर हाँ जैसे परमात्मा और जीवात्मा मे, तात्त्विक ऐक्य होते हुए भी, प्रातिभासिक भेद है, वैसे ही पारमात्मिक सांकल्पिक सूक्ष्म काम मे और जैवात्मिक शारीर स्थूल काम मे भी बड़ा भेद है।*

'सेक्स' शब्द का संस्कृत मे ठीक अनुवाद स्यात् 'लिङ्ग' शब्द हो; दोनो शब्दों के, अपनी-अपनी भाषा मे, प्रयोग की दृष्टि से, यह सम्भावना की जा सकती है; तथा, 'मेल-फ़ीमेल-न्यूटर', तीन 'जेन्डर', अंग्रेज़ी व्याकरण ('ग्रामर') मे, और वही तीन 'सेक्स', प्राणिशास्त्र ('बायॉ-लोजी') मे, माने हैं; और संस्कृत मे भी वही तीन, पुम्-स्त्री-नपुंसक 'लिङ्ग' कहे हैं; परन्तु, जैसे 'सेक्स' से 'सेक्सुअल्' आदि शब्द बनाये गये हैं, और उन का अर्थ 'काम-सम्बन्धी', 'कामिक', आदि मान लिया गया है, वैसे 'लिङ्ग' शब्द से 'लैङ्गिक' आदि बना कर उन अर्थों मे प्रयोग नहीं हुआ, और अब करना बेढब और भ्रमकारक होगा; और भी, 'लिङ्ग' शब्द का प्रयोग दो विशेष अर्थों मे अधिकतर हो रहा है, एक तो पुरुष की जननेंद्रिय के लिये, (स्त्री की नहीं), दूसरा सामान्यतः 'लक्षण', 'चिह्न', के लिये। 'लिङ्ग' शब्द की व्युत्पत्ति, (पुनः पुनः आविर्भूय, पुनः पुनः) 'लयं गच्छति इति', कही जाती है; परमात्मा का स्वभाव, उस की त्रिगुणात्मिका प्रकृति, त्रिविधा शक्ति, उस का 'लिङ्ग' है, व्यञ्जक चिह्न वा लक्षण है; और उस प्रकृति मे उदय-लय, आविर्भाव-तिरोभाव, व्युत्थान-निरोध, बढ़ना-घटना, फूलना-सूखना, विकसना-सिमटना, फैलना-सकुचना, होता रहता है; एवं स्त्रीत्व पुरुषत्व का विशेष शारीर लक्षण, 'लक्ष्यते अनेन इति', उन का 'लिंग' है; पर, जैसा अभी कहा, इस अर्थ मे, यह शब्द, पुरुष के सम्बन्ध मे ही कहा जाता है। शिव के विषय मे पुराणो मे कहा है, "लिंगे, बेरे च, पूज्यते"; अनन्त सृष्टि की शक्ति के आधारभूत लिङ्ग के रूप मे भी, और बेर अर्थात् मुख के रूप मे भी, शिव की पूजा की जाती है; भारतवर्ष मे लिङ्ग के रूप मे ही अधिकतर

---

* अरबी फ़ारसी मे एक प्रसिद्ध शब्द 'शख़्स' है, जिस का अर्थ है मानव—व्यक्ति; अजब नहीं जो, घूम-फिर कर, इस का भी सम्बन्ध 'सेक्स' से हो।

पूजा देख पड़ती है; किसी तीर्थ स्थान मे (यथा मथुरा के कुछ मन्दिरों मे) 'पञ्च-ब्रह्म' अर्थात् 'पञ्च-मुख' मूर्ति के रूप मे, जिन से पाँच महाभूतों की सूचना होती है, यह पूजा की जाती है। जिस स्त्री-योनि के आकार की वेदी के ऊपर बहुधा यह शिवलिङ्ग की मूर्ति मंदिरों मे रक्खी रहती है, उस को 'लिङ्ग' नहीं कहते, 'योनि' ही कहते हैं। सर्जन-शक्ति की दृष्टि से, यदि 'सेक्स' शब्द का आगम 'शक्', 'शक्ति', रचना कर 'सकना', से हो, तो 'सेक्स' के लिये 'लिङ्ग' शब्द ठीक होता है; पर उक्त अन्य विचारों से यह भ्रम-कारक होगा। ऐसी ही आपत्ति, 'शक्ति' शब्द के सम्बन्ध मे है, यद्यपि 'शक्ति उपासना' का वाममार्गीय रूप घोर 'कामोपासना' ही है। इस लिये 'काम' और 'स्मर' शब्दों से ही काम लेना अच्छा होगा; उस मे भी, 'काम', 'कामीय', 'कामिक', 'कामिकता', 'कामुक', 'कामुकता' आदि से अधिक; विशेष कर इस लिये कि 'काम-शास्त्र' शब्द ऋषि-सम्मत है। धर्म-अर्थ-काम का त्रिवर्ग है। समय-समय पर 'मैथुन्य', 'मिथुनीय' 'मैथुनीय' 'मिथुनीयता' आदि से भी कार्य लिया जा सकता है।

काम के दो तीन संस्कृत पर्यायों का उल्लेख किया गया है। (पृ० १७८-१८९, १९२)। अमरकोष आदि मे ये नाम दिये हैं,

मदनो, मन्मथो, मारः, प्रद्युम्नो, मीनकेतनः,
कंदर्पो, दर्पको, ऽनङ्गः, कामः; पञ्चशरः, स्मरः,
शंबरारिर्, मनसिजः, कुसुमेषुर्, अनन्यजः,
पुष्पधन्वा, रतिपतिः, मकरध्वजः, आत्मभूः,
ब्रह्मसूः, विश्वकेतुश्च, वसन्तसखः इत्यपि,
लक्ष्मीसुतः, शिवद्वेषी, विष्वक्सेनात्मजश्च सः।

प्रत्येक नाम का विशेष अर्थ है; आत्मभूः; अनन्यजः, ब्रह्मसूः, लक्ष्मी-सुतः, शिवद्वेषी, स्मर आदि, आध्यात्मिक अर्थों से भरे हैं; आत्मा से, परमात्मा से, स्वयं अपने आप से उत्पन्न होता है; परमात्मा का रूप ही, शक्ति है; दूसरे किसी से नहीं जन्मता; 'आत्मा अन्यन्-न्, अनन्य' है, इस ध्यान मे ही 'अन्यत्' को पैदा करने वाला 'अनन्य-भूः' काम छिपा है; "कामस् तदग्रे समवर्त्तताधि" (वेद); ब्रह्म से, परमात्मा से पैदा हो कर, ब्रह्म को, वेद को, पैदा करता है; "काम्यो हि वेदाधिगमः, कर्मयोगश्च वैदिकः" (मनु); लक्ष्मी से, धन-दौलत से, अधिक बढ़ता है; और 'शिव'

का, कल्याण का, द्रोही हो जाता है, कुमार्ग मे, पाप की ओर ले जाता है। प्रसक्त प्रयोजन के लिये, 'स्मर' शब्द अच्छा जान पड़ता है; इस की व्युत्पत्ति, भानु दीक्षित ने, अमरकोष की टीका मे, "स्मरयति, उत्कंठयति", लिखी है। ठीक है; पर यों भी अर्थ लगा सकते हैं—ब्रह्म की, परमात्मा की, 'स्मृति' मे, ज्ञान, ध्यान, संकल्प, अवधारण मे, समस्त संसार, सर्वथा-सर्वदा-सर्वत्र, भूत-भविष्य वर्त्तमान, सभी वर्त्तमान है; उस स्मृति, स्मरण, स्वप्न, संकल्पन, का ही नामान्तर 'काम-संकल्प' है*। "सोऽकामयत, बहु स्यां, प्रजायेय इति" (उप०)।

इस निष्क्रम संकल्प, इस नित्य अनवरत ज्ञान, के भीतर, क्रमिक जगत् की क्रम-त्रय-मयी, त्रिकालवर्ती, भूत-भवद्-भविष्य-क्रम-त्रय-मयी त्रिविक्रमी, 'माया'-मयी, उत्पत्ति-स्थिति-संहृति देख पड़ती है।

क्रमत्रय-समाश्रय-व्यतिकरेण, या सन्ततं
क्रम-त्रितय-लङ्घनं विदधती, विभात्युच्चकैः,
क्रमैकवपुर् अक्रम-प्रकृतिर् एव या शोभते,
करोमि हृदि ताम् अहं भगवतीं परां संविदम्।

(काश्मीर-संस्कृत-सीरीज़ मे छपे 'ज्ञानगर्भ' नामक ग्रन्थ का श्लोक, शिवसूत्रविमर्शिनी नामक ग्रन्थ मे उद्धृत, पृष्ठ २१ पर)

परमात्मस्वरूपिणी, ब्रह्मप्रकृतिस्वरूपिणी, उस संविद् भगवती, चेतना देवी, का हृदय मे ध्यान आवाहन करता हूँ, जिसका प्रत्यक्ष शरीर तो त्रिकाल का क्रम है, किन्तु आभ्यन्तर-तात्त्विक स्वभाव जिसका 'अक्रम' 'क्रमाभाव', 'सकृत्प्रभात', 'एकरस', 'अखंड' है; जो क्रम-त्रय का आसरा ले कर, त्रिविक्रम के त्रिक्रम के विक्रम के द्वारा, उन का विविध प्रकार का व्यतिकर, मिश्रण, युग के भीतर युग, कल्प के बाहर कल्प, तथा व्यतिकर,

---

* प्रसिद्ध जर्मन 'फ़िलासोफर', दार्शनिक, शोपेनहावर ने 'विल' और 'आइडीया' (वा 'इमैजिनेशन') शब्दों से इस भाव का अनुवाद किया है; उपनिषदों के असमीचीन विकलांग अनुवादों को ही, जिन्हें फ़रांसीसी सज्जन ऐङ्क्वे टिल् डु-पेरों ने लैटिन भाषा मे पहिले पहिल किया, पढ़ कर, शोपेनहावर उन का नितान्त भक्त और मुक्तकण्ठ स्तोता हो गया था; यदि मूल वैदिक उरुस्वन उरुगाय गुर्वर्थ शब्दों को पढ़ समझ सकता तो क्या कहना था।

विरोध, खंडन भी, करती है; और जो परमार्थतः सतत, सदा, तीनो क्रमो का उलङ्घन किये हुए, उन के पार, एक रूप से स्थित रहती है।

परमार्थ तात्विक दृष्टि से, परमात्मा के 'काम-संकल्प-स्मर' का यह स्वरूप है।

संसारार्थ व्यावहारिक दृष्टि से, संतान की उत्पत्ति करने वाला, इच्छा-रूप काम-संकल्पऽत्मक भाव, 'कान्त-कान्ता-स्मरणेन उद्दीप्यते', कामित स्त्री वा पुरुष के स्मरण से, मानस ध्यान से, जागता है, इस लिए 'स्मर' कहाता है।

ध्यायतो विषयान् (पुंसः संगस्तेषूपजायते,
संगात्) संजायते 'कामः',(कामात् क्रोधोऽभिजायते)। (गीता)
केचित् कर्म वदंति एनं, स्वभावम् इतरे जनाः,
एके कालं, परे दैवं, पुंसः 'कामम्' उताऽपरे।
(भागवत स्कं० ४, अ० ९)
ज्ञानं, मायां, प्रधानं च, प्रकृतिं, शक्तिम् अपि अजां,
अविद्याम्, इतरे प्राहुर्वेदतत्त्वार्थचिंतकाः।
(देवी भागवत, स्कं० ८, अ० ३२)
धर्ममूलो-ऽर्थः इत्युक्तः, कामो-ऽर्थफलम् उच्यते,
संकल्पमूलास्ते सर्वे, संकल्पो विषयाऽऽत्मकः।
(महाभारत, शांति, अ० १२३)*

विषयों का ध्यान स्मरण करने से उन की ओर इच्छात्मक, कामना-रूप, 'काम' पैदा होता है; सनातन संकल्प ही का नामान्तर रूपान्तर 'काम' है; जगत् का पति, अनिर्देश्य, सर्वग, सर्वव्यापी, सर्वत्रगामी, सर्वभावन, सब हृदयों मे सोने जागने वाला, रुद्र-क्रोध का जनक भी और जेठा भाई भी, 'काम' है; इसी को कोई स्वभाव कहते हैं, कोई दैव, कोई कर्म; काल, ज्ञान, अज्ञान, माया, प्रधान, प्रकृति, शक्ति, अजा, अविद्या, सब इसी 'काम' के आकारों-प्रकारों के नाम हैं; मानव जाति के लिए, धर्म का फल अर्थ, अर्थ का फल 'काम' है; सब का मूल 'संकल्प' है; संकल्पन, 'विषयों' का होता है।

---

* पूर्व पृ० १८१ मे इस विषय पर अपर (और) श्लोक भी दिये हैं।

'काम' की, 'स्मर' की, ऐसी महिमा है, यदि आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय। यदि केवल अधिभूत भाव से देखा बर्त्ता जाय, तो, इस के विपरीत, वैसी ही असीम इस की क्षुद्रता, पशुता, है। यदि अधिदेव भाव से, ज्ञान-विवेक विचार से, अध्यात्म अधिभूत का समन्वय कर के, इस का आराधन किया जाय, तो,

धर्माऽनपेतः कामोऽस्मि भूतानां, भरतर्षभ ! (गीता)

ऐसे धर्म सम्मत काम की ही उचित शिक्षा का प्रचार करना आवश्यक है, क्योंकि वह, धार्मिक गार्हस्थ्य द्वारा, उत्तमोत्तम सांसारिक ऐहिक और आमुष्मिक दोनो सुखों का साधक है; तथा धर्म-रहित धर्म-विरुद्ध काम वैसा ही दोनो सुखों का बाधक और नरक का प्रापक है। छोटे-बड़े शिष्यों के वयस् की अपेक्षा से, प्रकार मे भेद होना भी आवश्यक है। यह प्रकार क्या है, इस पर बहुत विचार, अनुभवी वृद्धों को करना चाहिये।*

ऊपर लिखा है कि काम-सम्बन्धी चर्चा, बिना देश-काल-पात्र के विवेक के, करने मे बहुत दोष हैं। 'उभयतः पाशा-रज्जुः', 'खाय तो पछताय, न खाय तो पछताय'। यह कथा समस्त 'संसार'-पदार्थ ही की है। 'दुनिया झूठी है', 'माया का जंजाल है'—यह अन्त मे सभी को स्वभावतः कम-वेश मालूम हो ही जाता है, वेदान्त के पारंगत को भी, और अनपढ़ को भी; 'संसरण' का, जगत् के विस्तार का, प्राणियों के वंशानुवंश सन्तान का, भोग-विलास का, धर्म और अर्थ का, मूल हेतु काम ही है; सामान्यार्थ 'अविद्या', 'इच्छा', 'वासना', 'माया-शक्ति', के रूप मे भी, तथा विशेषार्थ, स्त्री-पुमान् की परस्पर मिथुनता, संग, साथ, सुरत, व्यवाय, की इच्छा के अर्थ, और अधिक तीक्ष्ण रूप, मे भी। पहिले कह आये हैं, कि वैदिक कर्मकाण्ड का भी प्रयोजक हेतु काम ही है; तथा इस के दोष भी स्पष्ट हैं; अति काम से अति सन्तान-वृद्धि, तथा काम की सेना, क्रोध, लोभ, मोह, भय, मद, मत्सर आदि, की अति वृद्धि, और तब परस्पर बड़े-बड़े युद्ध और संहार।

---

* अपने मत की सूचना, इस अध्याय के अन्त मे, परिशिष्ट मे, की जायगी।

ऐसे ही, स्त्री-पुं-काम-सम्बन्धी शिक्षा, अल्प-वयस्कों, कम-उमरों, को देने मे भी, न देने मे भी, उभययो दोष हैं। वयस्थों, युवा, युवतियों, विवाहोन्मुखों, के लिए तो ऋषियों ने काम-शास्त्र वना दिया है ही। छोटे लड़के व लड़कियों के सम्वन्ध मे संशय होता है। एक ओर यह आपत्ति है कि, इस विषय का सर्वथा ज्ञान न होने से, बच्चे, वच्ची, कुमार, कुमारी, युवा, युवती, वड़ी-वड़ी भूल-चूक मे पड़ जाते हैं, क्रूर पापिष्ठों के शिकार वन जाते हैं. और सारी उमर शरीर मे रोग, चित्त मे विकार, हृदय मे धँसा छिपा शल्य, भोगते हैं; अथवा नितान्त दुःशील, धृष्ट, वेहया, कामुक हो जाते हैं: दूसरी ओर यह कठिनाई है कि, शिक्षा देने की नीयत से ही, अयान (अनूजान, अज्ञान) भोले, मासूम, कम-उमरों से इस विषय की चर्चा की जाती है, तो उन के मन मे क्षोभ उत्पन्न होता है; वालकों की अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार, और शिक्षा के प्रकार के अनुसार, कभी किसी को भय वढ़ता है, कभी किसी को कुतूहल वढ़ता है, अधिक जानने की, और अपरोक्ष अनुभव कर के जानने की, इच्छा उत्पन्न होती है; और इस रीति से भी वे अनाचार मे पड़ जाते हैं।

यूरोप अमेरिका मे इस पर बहुत क्षुण्ण-क्षोद हो रहा है, कि अल्प-वयस्कों को इस विषय पर कुछ भी शिक्षा देना, या न देना; यदि देना तो किस प्रकार से, किस हद तक। संसार की द्वंद्वमयता के कारण, गुण-दोष, पुण्य-पाप, उजेला-अंधेरा, सव जगह परस्पर लगे, क्या एक दूसरे के भीतर पैवस्त, हैं; वही वस्तु, वही क्रिया, एक अवस्था मे लाभदायक, दूसरी मे हानिकारक, होती है; कोई ऐसा प्रकार नहीं जो सर्वथा शुद्ध केवल गुणमय हो, वा निरा केवल दोषमय; देश-काल-पात्र-अवस्था-सम्पत्काल-आपत्काल आदि देख कर, जिस प्रकार मे गुण अधिक, दोष कम, जान पड़ें, वही पकड़ना चाहिये।

पात्र-कर्म-विशेषेण, देश-कालौ अवेक्ष्य च,
स एव धर्मः, सोऽधर्मः; धर्मो हि आवस्थिकः स्मृतः।
अन्यो धर्मः समस्थस्य, विषमस्थस्य च-ापरः।
नहि कश्चिद् उपायोऽस्ति गुणवान् एव केवलं,
न च दोषमयो वापि, तस्माद् ग्राह्यो गुणाधिकः।

(म० भा०, शांति)

भारतवर्ष की अवस्था को भी देखना चाहिये । होली पर, दो तीन दिन के लिए, सब मर्यादा छोड़ कर, अश्लील शब्द और गीत, गली-गली पुकारे और गाये जाते हैं । छोटे-छोटे बच्चे तक सुनते और गाते हैं । मा, वहिन, वेटी की गालियाँ, और जननेन्द्रिय सम्बन्धी अभद्र शब्द, अनपढ़ लोगों के मुँह से, और कभी-कभी पढ़े लिखे लोगों के भी मुँह से, गलियों मे, सड़कों पर, गाँव और शहरों मे, बच्चों, जवानों, प्रौढ़ों, बूढ़ों के मुँह से, अक्सर सुन पड़ते हैं । चिड़ियों की, मुर्गों की, तथा अन्य पशुओं की, कुत्तों, वानरों, गाय-बैल, बकरे-बकरी, गधा-गधी, की, मैथुन-क्रिया, गाँवों मे, शहरों मे, बच्चे जवान स्त्री पुरुष सभी को वहुधा देख पड़ती है । काशी ऐसे बड़े 'तीर्थ' स्थान मे, मकानो और बाग़ों की दीवारों पर, गज़-गज़ भर लम्बे चौड़े हरफ़ों मे, 'नामर्दी की दवा' के इश्तिहार नज़र आते हैं । बच्चों को कुतूहल स्वाभाविक होता है, प्रश्न करते हैं, 'नया बच्चा कहाँ से आया ?', 'ब्याह क्यों होता है ?' 'बड़ी वहिन, ब्याह होने पर, दूसरे घर क्यों चली गई ?', 'बड़े भाई का ब्याह हो कर नई स्त्री इस घर में आ कर क्यों रहने लगी', 'यह लोग अलग कोठरी मे क्यों सोते हैं ?', इत्यादि; उन के वृद्ध गुरुजन, विशेष कर माता-पिता, जिन के और सन्तान के बीच पराकाष्ठा का प्रेम और विश्वास होना चाहिये (—और माता और उस की सन्तान के बीच मे प्रायः होता भी है, जिस ने नौ महीने तक बच्चे को अपने गर्भ के भीतर रक्खा है, और प्रसव के बाद भी, पाँच-पाँच सात-सात वर्ष तक, उसका एक-एक अंग धोया पोंछा है, उसको स्तन से दूध पिलाया है, उस से क्या दुराव बराव हो सकता है, कौन बात छिपाई जा सकती है या छिपानी चाहिये ?—), जिन्हीं को उन का उत्तर, शिक्षा के रूप मे, उत्तम रीति से, देना चाहिये, वे स्वयं शर्माते हैं, उचित उत्तर जानते नहीं, देते नहीं, बहाने कर देते हैं, भुलावा देने का, बहला देने का, यत्न करते हैं । बच्चे समझ जाते हैं कि झुठका दिया, दूसरे सयानो (सज्ञानो) से पूछते हैं, जो बहुधा अनुचित उत्तर देते हैं, कुचाल सिखा देते हैं, उन का चारित्र्य भ्रष्ट कर देते हैं ।* हिन्दी मे 'कोक-शास्त्र' आदि के नाम से ग्रन्थ, अब, आम तौर से छप और बिक रहे हैं, जो बहुतायत से खरीदे और पढ़े जाते हैं, और जिन मे रति-क्रिया का

---

* परिशिष्ट १ देखिये ।

ही वर्णन अधिक रहता है, धर्म्य-काम-विषयक सत्कुलीन सर्वाङ्गीण शिक्षा नहीं; साहित्य मे भी स्त्रियों का 'नख-सिख' वर्णन और अनावृत लेख बहुत होता रहा है; 'साइनेमा' मे नग्नप्राय स्त्रियों पुरुषों का प्रदर्शन, पश्चिमी देशों के अनुकरण से, बहुत होने लगा है। पचास साठ बरस पहिले, यूरोपीय विद्वान् , और अंग्रज़ी पढ़े भारतीय, मध्यकालीन संस्कृत और हिन्दी काव्यों मे ऐसे 'नख-सिख' वर्णन को बड़ी घृणा से देखते थे। पर, यूरोप अमेरिका मे तो अब बिलकुल हवा बदली है; यहाँ तक कि कुछ वर्षों से, 'न्यूडिज़्म' (nudism) अर्थात् 'नग्नता' का एक नया पन्थ-सा चला है, जिस के अनुयायी स्त्री और पुरुष, 'मादरज़ाद', नवजात, बच्चे के ऐसे सर्वथा वस्त्र-रहित, एक दूसरे के साथ उठते, बैठते, नहाते, हँसते, बोलते, खेलते, दौड़ते हैं; 'व्रूडरी', अति लज्जा, की आत्यंतिक कोटि से जो हटे, तो पशुवत् नग्नता की नितान्त निस्त्रपता, बेशर्मी, की दूसरी आत्यन्तिक कोटि से जा सटे; भारत मे भी, हरद्वार, मथुरा, आदि तीर्थ स्थानो मे, स्त्रियाँ (पुरुष नहीं) सब वस्त्र उतार कर गंगा यमुना मे नहाती देख पड़ती हैं; समाचार पत्रों मे, एक ओर कामवर्धक, नग्नप्राय स्त्री पुरुष के, चित्र, और वृष्य, वाजीकरण, औषधों के इश्तिहार, दूसरी ओर गुप्त रोगों की चिकित्सा के विज्ञापन, बहुत छपते रहते हैं, जिन औषधों के सेवन से दुराचार और रोग प्रायः बढ़ते ही जाते हैं, अनगिनत अल्पवयस्कों का जीवन नष्ट-भ्रष्ट होता है, क्रूर लोभी विज्ञापकों विक्रेताओं की जेबें भरती हैं। साथ ही, अजीर्ण, मंदाग्नि, ज़ोफ़-मेदा, की दवाओं के इश्तिहार बहुत रहते हैं; यूरोप अमेरिका के दैनिक साप्ताहिक मासिक पत्रों मे भी, इन्हीं दो से, उपस्थ और उदर से, सम्बन्ध रखने वाली दवाओं के, तरह तरह से, नाम और रूप बदल-बदल कर, बहुतेरे विज्ञापन, इश्तिहार, 'ऐडवर्टिज़्मेंट', रहते हैं। निष्कर्ष यह कि, इन विज्ञापनो से भी पुनर्वार यही सिद्ध होता है कि, मनुष्यों की प्रायः नव्वे फ़ी सदी बीमारियाँ, जिह्वा और उपस्थ के दुरुपयोग से ही होती हैं, और इन का दुरुपयोग बहुत हो रहा है।

यह दशा भारतवर्ष की है।

पश्चिम के देशों की हालत का नमूना दिखाने के लिए, अमेरिका के 'करेंट हिस्टरी' नामक मासिक पत्र के, सन् १९३७ ई० के दिसम्बर महीने

के अङ्क में छपे हुए, डाक्टर टोलनाइ के लेख से कुछ अंश का उद्धरण यहाँ पर किया जाता है।

"यूनाइटेड स्टेट्स आफ़ अमेरिका मे, (जिस की आबादी अब क़रीब बारह करोर के है), प्रायः सौ मे दस व्यक्तियों (स्त्रियों, पुरुषों) को 'सिफ़िलिस' ('उपदंश', 'गर्मी'), और बीस फ़ी सदी को 'गोनार्हिया' (सोज़ाक) का मर्ज़ है, यानी कुल आबादी मे से प्रायः तीन करोर से अधिक ऐसे रोगी हैं। पाँच लाख नये रोगी हर साल होते हैं; अकेले 'न्यू-यार्क' महानगर मे (जिस की आबादी क़रीब सत्तर लाख है) हर हफ़्ते मे एक हज़ार। पागलख़ानो मे पन्द्रह फ़ी सदी 'सिफ़िलिस'–जनित 'पारेसिस' (एक प्रकार के पक्षाघात, लक़वा, फ़ालिज) से पीड़ित हैं। अन्धों मे पन्द्रह फ़ी सदी, और दुर्बल-नेत्रों में चालीस फ़ी सदी, का कारण भी 'सिफ़िलस' है। जन्मान्ध बच्चों में साठ फ़ी सदी की अन्धता का कारण 'गोनार्हिया' है। प्रायः दो लाख हर साल 'सिफ़िलिस' से मर जाते हैं। एक सामाजिक कार्यकर्त्ता ने अट्ठासी कुटुम्ब जाँचे, तो केवल आठ कुलों मे 'सिफ़िलिस' नहीं पाया। कितने ही पुरुष नामर्द और कितनी ही स्त्रियाँ वन्ध्या, इन रोगों के कारण हो जाती हैं। युनाइटेड् स्टेट्स की गवर्मेंट का दस करोर 'डालर', अर्थात् तीस करोर रुपया (१ डालर = ३ रुपया) सालाना ऐसे रोगियों के इलाज पर ख़र्च होता है, इस के अलावा साढ़े सात करोर रुपया, इन रोगों से अपाहज हो गये रोगियों को ज़िन्दा रखने वाली शालाओं और संस्थाओं पर, तथा पचीस करोर रुपया सालाना इन मरज़ों मे गिरिफ़्तार हुए मज़दूर, काम न करने के दिनों की मज़दूरी के रूप मे, खो देते हैं। जो डाक्टर इन मरज़ों का ख़ास इलाज करते हैं, वे प्रायः घृणा की निगाह से समाज मे देखे जाते हैं, (इस हेतु से कि, घृणा का रूप ला कर रूप लाने वाला सब को यह जताना चाहता है कि, मैं इन सब गन्दी बातों से बिलकुल पाक व साफ़ हूँ)। ऐसे डाक्टर अक्सर सचमुच ठग भी होते हैं; एक वर्ष भर दवा करने के लिए एक मरीज से प्रायः पाँच सौ से साढ़े सात सौ डालर लेते हैं; जो अपने को 'स्पेशलिस्ट', विशेषज्ञ, सिद्धहस्त, कहते हैं, वे तो अमीरों का ही इलाज करते हैं, और पन्द्रह सो से दो हजार तक डालर माँगते हैं। क़रीब डेढ़ अरब, यानी डेढ़ सो करोड़, रुपये की 'पेटेन्ट' दवा, जिनमे अधिकांश इन्हीं रोगों की होती हैं, हर साल बिक जाती हैं।

बहुत से डाक्टर अपने दवाख़ानों मे मुफ़्त सलाह देने की लालच पहिले देते हैं; पीछे, जब रोगी उन के चंगुल मे फँस गया तब, सैकड़ों रुपये ऐंठते हैं। साठ हज़ार 'प्राइवेट', निजी, दवाख़ाने इस प्रकार के हैं, और इन मे प्रायः चार लाख रोगी प्रति वर्ष फँस कर अपना धन भी और रहा सहा स्वास्थ्य भी गँवाते हैं। डाक्टरों और नक़ली चिकित्सकों का गुट-सा बना हुआ है। इलाज के लिए बहुत सूद पर क़र्ज़ दिला कर भी रोगी ठगे जाते हैं। माता-पिता के इन रोगों से रुग्ण होने से, पच्चीस हज़ार बच्चे प्रति वर्ष गर्भ मे ही मर जाते हैं; सौ पीछे दो बच्चों को जन्म से ही ये रोग रहते हैं; न्यूयार्क के स्कूलों मे प्रति वर्ष प्रायः छः सौ लड़के इन रोगों से पीड़ित होने के कारण, संक्रमण (छूत) के भय से, स्कूलों से अलग कर दिये जाते हैं। वेश्याओं द्वारा ये रोग बहुत फैलते हैं; यह कहना सम्भव नहीं कि न्यू-यार्क नगर मे (जिस की आबादी, जैसा पहिले लिखा, क़रीब सत्तर लाख है) कितनी पण्य-स्त्री हैं, (एक लाख से अधिक का अनुमान ग्रन्थकार अन्वेषकों ने किया है; लन्दन, पैरिस, बर्लिन, वियेना, शिकागो, टोकियो, आदि महानगरों और 'राजधानियों' की, सब की ऐसी ही कथा है); सन् १९३४ मे साढ़े तीन हज़ार ('कसब' से, शरीर बेंचने से, जीविका करने वाली) 'कसबी' स्त्रियों पर, उन के पेशे सम्बन्धी क़ानूनो के खिलाफ़ काम करने के लिए, मुक़द्दमे चलाये गये; इन मे से अस्सी फ़ी सदी को संक्रामक गुप्त रोग थे; किसी-किसी ने एक-एक दिन मे बीस-बीस पुरुषों के साथ संगम किया था। 'चकला' ('चक्र', 'भैरवी चक्र', 'कसबख़ाना', अंग्रेज़ी मे 'ब्राथेल') चलाने वालों का प्रायः ख़ास-ख़ास डाक्टरों से साझा समझौता रहता है। बहुत महँगा होने से, इलाज, पूरा-पूरा बहुतेरे रोगी नहीं करा पाते। या डाक्टर बनने वाले झूठे ठगों के हाथ मे पड़ कर अधिक क्लेश भोगते हैं। ऐसे रोगों के सम्बन्ध मे शर्म करना और छिपाना लुकाना स्वाभाविक है, इसी से लुके छिपे डाक्टरों या मिथ्या डाक्टरों के हाथों मे बहुधा रोगी पड़ जाते हैं। आरम्भ जैसे भी हुआ हो, पर अब यह दशा है कि, इन रोगों का संक्रमण, सौ पीछे पच्चीस तो वेश्याओं, पण्यस्त्रियों, कसबियों, के साथ संगम से होता है, पचास फ़ी सदी विवाहों के द्वारा होता है, जिन मे, अविवाहित अवस्था मे दुराचार के कारण रुग्ण हुई स्त्री ने नीरोग पुरुष से, वा ऐसे ही रुग्ण पुरुष ने नीरोग स्त्री से, विवाह किया है;

और बाक़ी पच्चीस फ़ी सदी, विवाहित अवस्था मे परदारगमन परपति-गमन से होता है।"*

उस शुद्ध सच्चरित्र निर्दोष स्त्री, वा पुरुष, के चित्त को कैसा भारी आघात पहुँचेगा, जिस ने सरल सप्रेम सविश्वास हृदय से विवाह किया, और फिर जाना कि ऐसी घोर क्रूर वंचना उस की की गई; कैसी मानभंग की, दैन्य की, क्रोध की, तरंगें उसके हृदय मे उठेंगी, और उस के सारे जीवन को विकारमय, विषमय, कर देंगी। जिस समाज मे ऐसा दुराचरण, वंचन, और तज्जनक व तज्जनित चित्तविकरण, और्व अग्नि के ऐसा, बढ़ता फैलता जायगा, वह समाज क्यों न नरक में गिरैगा। हावेलाक एलिस ने अपने विशाल ग्रन्थ मे, एक स्थल पर लिखा है कि, एक ऐसी वंचित स्त्री को इतना क्रोध, पुरुष जाति मात्र पर, हुआ, उस ने सभी पुरुषों को ऐसा शठ धूर्त्त समझ लिया, कि छव्वीस पुरुषों को लुभा बहका कर उन के शरीर मे गुह्य रोग का संक्रमण उस ने कर दिया। ऐसी ही वंचित पुरुषों

---

* यह उद्धरण, दिसम्बर १९३७ के, 'करेंट हिस्टरी' के; अंक से लिया गया। इसके सात वर्ष बाद, 'रीडर्स डाइजेस्ट' (न्यू-यार्क) के जनवरी १९४५ के अङ्क मे, द्वितीय विश्व-युद्ध के अनुभवों के बाद, वेनी-रियल डिसीज़—फ़ार फ्रॉम बीटन' शीर्षक लेख छपा है। निष्कर्ष उस का यही है कि, वैज्ञानिक डाक्टरों ने हज़ार-हज़ार जतन किये, नई-नई दवाएं निकालीं, जो रोगियों को निश्चयेन अच्छा कर भी देती हैं, तौ भी रोगियों की संख्या मे कमी नहीं होती, गुह्य रोगों की चौतरफ़ा बाढ़ नहीं ही थमती, नित्य नये आदमी रोगी होते हैं, और पुराने अच्छे हुए रोगी भी फिर-फिर से उन्हीं रोगों से रोगी होते हैं, और कारण इसका यह है कि व्यभिचार दुराचार रुकता नहीं, बढ़ता ही जाता है। निचोड़ तो वही पुरानी बात है, "कारणं चिकित्स्यं, न तु कार्यं"; रोग के कारण को दूर करो; जब तक कारण नहीं हटेगा, तब तक उसका कार्य-रूप रोग नहीं घटेगा। उक्त लेख का वैज्ञानिक लेखक अन्त मे यही लिखता है कि जब तक समाज मे, उत्तम शिक्षा के विविध प्रकारों से, सदाचार नहीं फैलाया जायगा, व्यभि-चार दुराचार नहीं मिटाया जायगा, तब तक इन सर्वनाशक रोगों से छुटकारा नहीं होने का।

की कथाएँ हैं। पाप की परम्परा, पाप का वंश, बढ़ता ही जाता है; उस की प्रतिक्रिया का उपाय एक मात्र यही है कि पुण्य की परम्परा, पुण्य का वंश, बढ़ाया जाय, और वंचितों के चित्त की दहकती आग का शमन, कर्म की गति, प्रारब्ध का दोष, क्षमा का असीम चित्तशोधक पापक्षालक प्रभाव, समझा कर, किया जाय।

'आसुरी सम्पत्, शिष्टता, सभ्यता' की तस्वीर जो ऊपर 'करेंट हिस्टरी' के लेख मे मिलती है, उस से अधिक घोर चित्रण, गीता मे भी नहीं है। यह दशा युनाइटेड् स्टेट्स आफ़ अमेरिका की है, जो अपने को शिष्टता, सभ्यता की चोटी पर चढ़ा हुआ, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी से भी आगे बढ़ा हुआ, मानता है। और बाह्य सामग्री, कल-कारख़ाने, धन दौलत, ऐश इश्रत, वायुयान, जलयान, स्थलयान, बाष्पयान, तैलयान, विद्युद्यान, तडिद् यन्त्र, शतभौम (सौ-मंज़िले) भवन, आदि की दृष्टि से, है भी।

'जननेन्द्रिय' के इस दुरुपयोग के साथ 'रसनेन्द्रिय' की करतूत को भी याद रखना चाहिये। अकेले ब्रिटेन की, प्रायः साढ़े चार करोर की, आबादी मे, प्रायः साढ़े तीन सौ करोर रुपये की 'शराब' प्रति वर्ष उठ जाती है; 'कबाब' की भी इसी अनुपात से मात्रा है; करोरों पशु-पक्षियों की, मनुष्यों के आहारार्थ, प्रतिदिन हिंसा होती है; कुम्भकर्ण के रूपक से, वाल्मीकि जी ने, लङ्का की बस्ती का दैनंदिन मद्य-मांस का भोजन पान दिखाया है; आजकाल के पाश्चात्य नगरों की चर्या के आगे, वह पसँगे मे धूल है; ऐसे पापमय राजस आहार से, क्रूर काम-क्रोध के भाव बढ़ कर, मनुष्यों का परस्पर संहार, महायुद्धों मे, होना अनिवार्य ही है। जज लिङ्से आदि अन्य लेखकों ने लिखा है कि युनाइटेड् स्टेट्स आफ़ अमेरिका मे प्रायः बीस लाख गर्भपात प्रति वर्ष कराये जाते हैं। यूरोप के सभी देशों की कम-बेश ऐसी ही दशा है। एक जर्मन लेखक, ऐवान ब्लाक,* ने लिखा है कि जर्मनी मे (जिस की आबादी, २०वीं शती के

* 'दि सेक्सुअल् लाइफ़् ऑफ् अवर टाइम्स' नाम के ग्रन्थ मे। इस मे विशेषकर जर्मनी की अवस्था का वर्णन है, और इस का अनुवाद अंग्रेज़ी भाषा मे हुआ है। इसी बृहल्लेखक का ऐसा ही ग्रन्थ, इससे अधिक विशाल, ब्रिटेन के कामीय जीवन और कृतियों का वर्णन करता

आरंभ मे ग्रन्थ लिखने के समय, प्रायः छः करोर थी), प्रति वर्ष प्रायः बीस लाख वच्चे 'कानीन' अर्थात् अविवाहिता 'कन्याओं' से, पैदा होते हैं। जर्मनी मे 'मुटर-शुट्ज़ बुंड्ज़', अविवाहिता माताओं के और उनके बच्चों के पालने के लिए संस्थाएँ, क़ायम हुई हैं। ब्रिटेन मे भी 'आर्फ़न् होम्स्', यतीमख़ाने, वने हैं, जहाँ विवाह-बाह्य बच्चों को लोग छिपा कर छोड़ जाते हैं। एक दृष्टि से पुण्य-कार्य है, उचित है; दूसरी दृष्टि से, दुराचार व्यभिचार के पाप को बढ़ाता है, क्योंकि उस के दुष्फल से जो दण्डरूप क्लेश होता, उसके भय को, क्रूर दुराचारी व्यक्तियों के हृदय से मिटाता है, और सारे समाज पर, अथवा यों कहिये कि उस के दयालु सदाचारी अंश पर, जार-ज संतान के भरण पोषण के भार को फैलाता है; तथा, यतः अविवाहित, दुर्भाव से भावित, स्त्री-पुरुष से उत्पन्न संतान भी वहुधा दुष्प्रकृतिक होती है, ऐसे संतान की संख्या को, और दूषित प्रकृति की मात्रा को, समाज मे बढ़ाता है; जैसे भारत मे दान की महिमा गाते-गाते, सारा देश भिखमंगों से भर गया, और वहुत आवश्यक हो गया कि, संतोष करने की, दान न माँगने की, और सुपात्र परिश्रमी सुकार्यकर्त्ता को ही दान कहिये, हक़ या मुआविज़ा या उज्रत कहिये, भृति वा अर्घ कहिये, देने की, महिमा सदा गाई और सुनाई जाय।

यह बात देखने की है, कि रूस (रशिया) देश मे आज काल गर्भपात करा देने का, स्त्रियों को, क़ानून से अधिकार दे दिया गया है; क्योंकि वहाँ का मत यह है कि इस विषय में स्त्रियाँ अपने शरीर पर ईश्वर हैं;* जर्मनी मे आजकाल यही काम क़ानून से जुर्म वनाया गया

है, पर जहां तक मुझे मालूम है, उस का अंग्रेज़ी अनुवाद छपने नहीं पाया था; इधर बीस-पच्चीस वर्ष के अन्दर छपा हो तो ख़वर नहीं।

* इधर दस बारह वर्षों से, रूस मे हवा बहुत बदली है; द्वितीय आत्यंतिक कोटि से लौट कर, दोला-न्याय से, पुनः मध्यमा वृत्ति की ओर विचार झुक रहा है; कौटुम्बिक, आर्थिक, शैक्षिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों मे। अनुभव ही से शिक्षा, सच्ची कारगर शिक्षा, मिलती है। अब विवाह-विच्छेद सर्वथा मना तो नहीं, पर कम किया जा रहा है; विशेष कारणों पर ही स्वीकृति, राष्ट्र की ओर से, दी जाती है। ऐसे ही, गर्भपातन के लिए भी।

है, और इस के लिए कड़ा दण्ड रक्खा है, क्योंकि वहाँ की नीति यह है कि सेना को बहुत बलवती करने का प्रयोजन है, और उस के लिए अधिकाधिक संख्या मे मनुष्यों की आकांक्षा है; अमेरिका, ब्रिटेन, आदि देशों मे, ऊपर से तो यह गर्भ–पातन–कर्म निषिद्ध है, पर, 'महाजन' (सर्वसाधारण, 'पब्लिक') का आशय देख कर, इस के विरुद्ध क़ानूनी कार्रवाई प्रायः शिथिल हो गई है। दृष्टि-भेद से व्यवहार मे भेद होता है। भारतवर्ष मे, राजमहलों, रनवासों, नवाबी हरमों, तथा भक्ति-पंथों के मन्दिरों और समागम के स्थानो में, दुराचार व्यभिचार और रोगसंचार बहुत सुनने मे आता है। एक ओर जानी हुई कलावंत नर्त्तकी और वारांगना, 'तायफ़ा', के विरुद्ध आन्दोलन किया जाता है, म्युनिसिपल बोर्डों मे नियम बनाने का यत्न होता है कि ये शहर से बाहर कर दी जाँय; दूसरी ओर, छिपा व्यभिचार और कला-विद्या से शून्य पण्यस्त्रियों का रोज़गार गली-गली मे बढ़ता सुन पड़ता है। वेश्यागामी पुरुषों के दंड की फ़िक्र नहीं होती।*

भारतवर्ष मे, सन् १९३४ की गवर्मेंटी रिपोर्ट के अनुसार, समग्र अस्पतालों मे चिकित्सित समस्त आतुरों की सम्पूर्ण संख्या प्रायः अस्सी लाख हुई, और उस मे प्रायः आठ लाख रोगी गुप्त रोगों से व्याधित थे, अर्थात् दशमांश। निश्चयेन इस से बहुत अधिक ऐसे आतुरों ने, अस्पताल न जा कर, घर पर ही दवा करा ली होगी; तौ भी इन की सकल संख्या

---

* "यु० स्टे० अमेरिका मे, प्रायः १२ कोटि जनसंख्या पर, प्रतिवर्ष प्रायः ३६५ कोटि डालर, बीमारदारी मे खर्च होते हैं, अर्थात् ३० डालर (९० रुपये) प्रति मनुष्य, औसतन्", Human Affairs, (1937) edited by Dr. Cattell, Cohen, & R. M. W. Travers; p. 124 in the paper on 'Medical Progress and Society' by Sir Henry Brackenbury. पाठक सज्जनो को याद रहे कि ऊपर जो लिखा है वह द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रलयंकर भूकम्प और मानव समाज के अधरोत्तरी-करण से पहिले का हाल है। इस युद्ध की समाप्ति के बाद क्या दशा होगी यह कहना इस समय (मई १९४५) मे असम्भव है; पर यह निश्चय है कि कार्य-कारण के प्राकृतिक नियम नहीं बदलेंगे।

प्रायः तीस लाख से अधिक न होगी; अर्थात् संख्या मे भी, और अनुपात मे भी, अमेरिका के दशमांश से अधिक न होगी।

भारत मे उन्माद के रोगियों की भी संख्या यूरोप अमेरिका के मुक़ाविले, प्रतिशत अनुपात मे दशमांश से कम ही है। और भी; यूरोप अमेरिका मे ये गुप्त रोग जैसे उग्र, विकट, प्राणघातक रूप मे देख पड़ते हैं, वैसे भारत मे नहीं; पर अब इन की भीषणता यहाँ भी बढ़ती जाती है; और दुराचार व्यभिचार भी बढ़ते ही सुन पड़ते हैं। कुछ वैद्यों डाक्टरों का कहना है, कि 'सिफ़िलिस', 'उपदंश', भारत मे पहिले नहीं था; पुर्त्तगालियों, फ़रासीसियों, के साथ यूरोप से आया; पहिले 'फिरंग' रोग के नाम से मशहूर था; क्योंकि फ्रांस देश के वासी फ़रासीसी लोग 'फ्रेंच' 'फ्रांक' कहलाते थे। पर इस मे सन्देह है; इन्द्र को, अहल्या के साथ प्रथम ही व्यभिचार के कारण, बिना 'छूत' से संक्रमण के, सहस्र व्रण हो गये; यह पौराणिक कथा ऊपर (पृ० १९०) पहिले कह आये हैं; उस कथा का शेष यह भी पुराणो मे लिखा है, कि 'अहल्या' को जब अपनी घोर वञ्चना विदित हुई, और अपने पति गौतम का क्रोध देख पड़ा, तो उस को वेहोशी की बीमारी ('सिनकोपी', 'टेटेनस') हो गई, और वह बहुत वर्षों तक निस्संज्ञ पाषाणवत् पड़ी रही; (ऐसी बीमारियों का हाल पाश्चात्य डाक्टरों ने भी लिखा है); राम जी के पैरों के शुद्ध ओजस्, 'मैग्ने-टिज़्म', से होश मे आई। तथा, इन्द्र के (इन्द्र शब्द 'राज़ा' के लिए भी शब्द-कोष मे कहा है) अण्ड-कोष सड़ कर गिर गये; तब देव-वैद्य अश्विनीकुमार ने मेष के वृषण कतर कर इन्द्र को लगा दिये, तव से इन्द्र का नाम 'मेष-वृषण' भी हो गया। जो चिकित्सा का प्रकार, अव पाश्चात्य डाक्टरों ने, वानरों, तथा बकरों, भेढ़ों, साण्डों, के वृषणो के द्वारा आरम्भ किया है, उस की विस्पष्ट सूचना इस पौराणिक कथा मे की है। इस कथा का आधिदैविक अर्थ, स्यात् मेष-राशि और, 'वर्षति इति वृषणः', वर्षा से कुछ सम्बंध रखता हो। प्रसंगवश, इस स्थान पर यह भी लिख देना चाहिये कि, दस पन्द्रह वर्ष तो यह चिकित्सा यूरोप मे खूब चली; जीते पशुओं के, विशेष कर वानरों के, अंडकोष निकाल कर, उन के टुकड़े काट कर, रुग्ण वा दुर्बल मनुष्यों की जाँघ मे या पेट के नीचे के भाग मे, चमड़ा चीर कर, उन टुकड़ों को जमा कर, फिर चमड़े को ऊपर से सी देते

हैं; स्त्रियों के लिए मादा पशुओं के रजःकोष, 'ओवरी' के टुकड़ों को। पर अब उस मे बड़े दोष नज़र आने लगे हैं; कुछ समय तक उत्तेजन के पीछे, पहिले से भी अधिक अवसाद और रोग हो जाता है; स्यात् चिकित्सा के बाद यदि संतति हो, तो उसमें वैसे पशु की प्रकृति भी अधिक देख पड़ेगी; इस लिए धीरे-धीरे उस का अनुष्ठान घटने लगा है। यही दशा प्रायः सभी उग्र 'पौष्टिक' कहलाने वाली अस्वाभाविक औषधों, और शुक्रपान रजःपान* आदि चिकित्सा के प्रकारों, की है।

यत्तदग्रेऽमृतमिव परिणामे विषोपमम्। (गीता)

पाश्चात्य डाक्टरों का कहना है, जैसे डाक्टर टोलनाइ का, पूर्वोद्धृत लेख ही मे, कि यदि समाज और शासकवर्ग एक मन हो कर यत्न करें, तो इन गुप्त रोगों की संक्रामकता रोक दी जा सकती है, और चिकित्सा भी बहुत सहज मे और सस्ते में हो सकती है। परं आश्चर्य यह है कि कोई पाश्चात्य, वा अब पौरस्त्य भी, सज्जन महाशय यह नहीं कहते, कि सब एक दिल हो कर यह यत्न करें कि वह दुराचार व्यभिचार ही उठ जाय, नहीं तो कम ही हो जाय, जिस के कारण यह रोग फैले और फैल रहे हैं। प्रायः इन लोगों ने मान रक्खा है कि दुराचार व्यभिचार को कम करना असम्भव है, तथा यह भी मान लिया है कि रोग न उत्पन्न होने पावें तो ये कर्म 'दुराचार'-पद-वाच्य ही न रहें, निर्दोष हो जायं, या तो सदाचार की कोटि में ही आ जायं, नहीं तो स्वाभाविक आचरण मात्र कहलावें, जैसे प्यास लगने पर पानी पी लेना, भूख लगने पर खा लेना, मच्छड़ काटने पर खुजला लेना, वैसे शहवत होने पर, किसी भी पुरुष और किसी भी स्त्री का संगम कर लेना।

यह दृष्टि उन के लिए सही ही है जिन्होंने निश्चय कर लिया है कि मनुष्य और जगत् केवल आधिभौतिक, 'मैटीरियल', 'फिज़िकल' है, तथा

---

*यह प्रकार भी, 'वाजी-करण' (और बड़वा-करण) के उपायों मे, आयुर्वेद और कामशास्त्र के ग्रन्थों मे लिखा है। बहुत वर्ष हुए, मैने अपने ज्येष्ठ भ्राता, दिवंगत श्री गोविन्ददास जी से सुना था, कि दक्षिण के एक राजा, (जिन दिनो मेरे भाई उस रियासत मे भ्रमण कर रहे थे) इस मानव-शुक्र-पान के अभ्यासी थे।

मनस्-अहंकार-बुद्धि-रूप चित्त, 'माइंड', की उत्पत्ति, 'मैटर', 'मात्रा' जड़, से होती है; जो इस निश्चय से सन्तुष्ट हैं, जैसा गीता में आसुरी प्रकृति वालों के वर्णन मे कहा है,

अपरस्परसम्भूतं, किमन्यत् , कामहैतुकम् ।

द्रव्यों के, अकस्मात् , केवल कामना की प्रेरणा से, परस्पर मिल जाने से बन जाता है, अन्य कुछ हेतु नहीं ।

पर बहुतेरों का इसके विरुद्ध, यह निश्चय है कि मनुष्य और जगत् 'आध्यात्मिक', 'स्पिरिचुअल', और 'आधिदैविक' 'स्युपर-फ़िज़िकल', भी हैं; 'मैटर', 'मात्रा', 'दृश्य', 'जड़' पदार्थ सब, 'आत्मा' 'चेतन' 'चित्त' 'स्पिरिट' का क्रीड़नक, खिलौना, क्रीड़ाभूमि, विहारस्थल' 'विनोद-स्थान', लीला का उपकरण मात्र है; 'मैटर', 'मात्र', 'मात्रा' शब्द की व्युत्पत्ति ही है कि 'माति खंडशः क्रमशः प्रकाशयति, परमात्मनः शक्ति, इति मात्रा'; 'मीयते, अनुमीयते, प्रमीयते, आविष्क्रियते, आत्मशक्तिः अनेन, इति मात्रं'; जिस के द्वारा ब्रह्म की शक्ति की, दैवी प्रकृति की, परिमिति, नाप, प्रादुर्भाव हो, जो अनंत अखण्ड, एकरस पदार्थ को, अपनी सान्तता, खंडता, बहुप्रकारता, अनेकता से नाप जोख कर क्रमशः खण्डशः प्रकट करने का अनन्त मिथ्या यत्न सदा करता रहे, वह 'मात्र', 'मात्रा', इस मात्रा का आधार, इस की सत्ता-असत्ता का, इस के आविर्भाव-तिरोभाव का, आधाता विधाता, इसकी सृष्टि-स्थिति-लय का हेतु, चेतन है; न कि चेतन का हेतु 'मात्रा', जड़; चित् के चित्त बन कर, ब्रह्म के ब्रह्मा बन कर, ध्यान, व्युत्थान, जागरण करने से, यह 'जड़', 'देह', उत्पन्न होता है; उस के निद्रण, शयन, निरोधन करने से यह प्रलीन, विलीन होता है। और अब पश्चिम के कितने ही बड़े से बड़े नामवर 'सायंटिस्ट' वैज्ञानिक भी यह मानने लगे हैं, कि 'मैटर'-मात्रा-जड़ के ऊपर प्रभु, हाकिम, अधिष्ठाता 'माइंड', 'इंटेलिजेन्स', 'स्पिरिट', मनस् मानस, बुद्धि, आत्मा है।* जिन का ऐसा मत है, उन का, अनुबन्ध-रूप यह भी मत है, कि ऐसे रोगों का

---

* सन् १९३४ ई० मे, फ्रांसिस मेसन ने 'दि ग्रेट डिज़ाइन्' नाम की पुस्तक प्रकाश की, जिस मे विभिन्न वैज्ञानिक शास्त्रों के पन्द्रह यशस्वी वैज्ञानिकों के लेख छपे हैं, जो, सब यह बात मुक्तकंठ ही से कहते हैं।

मूल मानस विकार है, और चाहे कितना भी शरीर चिकित्साओं, औषधियों इनजेक्शनो वा अन्य उपायों से इन रोगों का प्रत्यक्ष प्रादुर्भाव रोका भी जाय, पर सर्वथा न रुकेगा, और दुराचार व्यभिचार का घोर दुष्फल किसी न किसी रूप मे, समाज को भोगना ही पड़ेगा। पर खेद का, घोर चिन्ता और महाभय का, विषय है, कि पूर्वोक्त 'मैटीरियलिस्ट' 'देहवाद' का प्रभाव भारतवर्ष मे वढ़ता जाता है; जिस का परिणाम, चार्वाकीय उच्छृङ्खलता और समाजोद्ध्वंस होता है।

यदि यह मान भी लें कि, अव यह रोग किसी स्त्री या पुरुष को, विना दूसरे की साक्षात् या पारस्परिक छूत के, नहीं होते, तो भी प्रश्न रही जाता है कि आदि मे आरम्भ कैसे हुआ। पुराणो मे आख्यायिका कहा है; ब्रह्मा ने देखा कि प्राणी इतने पैदा होते हैं, और मरते नहीं, कि पृथ्वीतल इन से ठस जायगा, क्या खायँगे, कैसे हाथ पैर फैला चला सकैंगे? ध्यान कर के मृत्यु देव को उत्पन्न किया, आज्ञा की कि इन प्राणियों को मारो; मृत्यु देव, घोर हिंसा के पाप के भय से, तथा अपयश के त्रास से, काँपने लगे; बोले कि यह कार्य मुझसे न हो सकेगा; ब्रह्मा को इतना क्रोध हुआ कि आँखों से आंसू गिरने लगे; एक-एक बूंद मे एक-एक रोग का विष, 'टाक्सिन' कहिये, कीटाणु, 'माइक्रोब', 'वैसिलस', 'विरस्'* कहिये, बीज, 'सीड', 'जर्म', कहिये, उत्पन्न हो गया; ब्रह्मा ने अपने को सम्हाल कर, चित्त को शान्त कर, मृत्यु को पुनः आज्ञा दी; 'इन रोग-वीजों की सहायता से, जो कार्य तुम्हारे सुपुर्द किया गया है, उस को करो; वदनामी इन की होगी, पाप भी तुम को नहीं लगैगा; यदि अव भी आना-कानी करोगे तो तुम को भारी दण्ड दूँगा; मृत्यु को मानना पड़ा। ऐसे ही उत्कट क्षोभ, तीव्र संवेग, के अन्य अवसरों पर ब्रह्मदेव के शरीर से स्वेद निकला, 'यक्षाणि' फैगोसाइट', और 'रक्षांसि' 'वैसिलस' वन गये;† वाल गिर गया, 'अहयः', विविध प्रकार के 'सर्पक' हिंसक जीव, सूक्ष्माकार व स्थूलाकार, अणु रूप वा अजगर रूप, हो गये। जिन मनुष्यों के चित्त मे राजस तामस भाव और देह मे 'रक्षांसि' अधिक, वे 'राक्षस'।

---

* Toxin, microbe, bacillus, virus, seed, germ.
† Phagocyte, bacillus.

इन सब रूपकों के द्वारा, पुराणो ने यह बताया है, कि वैयक्तिक और सामूहिक चित्त मे जब घोर विकार पैदा होता है, तो शरीर मे, उस के प्रतिरूप, रोग-बीज, कीटाणु, विष, उत्पन्न होते हैं। योग-वासिष्ठ मे, कर्कटी की कथा मे, विशूचिका-रोग के, 'सूची', सूई, के नोके के ऐसे, कीटाणु की उत्पत्ति की कहानी कही है; एवं, मार्कण्डेय पुराण मे 'दुःसह-यक्ष्मा', 'क्षय रोग', के कीट, की। पुरुष और प्रकृति का, 'माइण्ड' और 'मैटर' का, स्थूल रूप मे अथवा सूक्ष्म रूप से 'सर्वदा अविच्छेद्य सम्बन्ध है; एक के विना दूसरा रह नहीं सकता; एक की अवस्था बदलने से दूसरे की अवस्था भी बदलती है; आयुर्वेद का सिद्धान्त ही है, 'आधि से व्याधि, और व्याधि से आधि'; मानसी व्यथा को आधि, शारीर रोग को व्याधि कहते हैं; अन्ततः मूल कारण, जब सारे दृश्य जगत् का, बुद्धि-तत्त्व, महत्तत्त्व, ब्रह्मा, 'यूनिवर्सल-माइण्ड' 'इंटेलेक्टस्-मंडी'* 'अक़लि-कुल', 'रूहि-कुल', है, तो सुतरां नितरां, अवश्यमेव, शारीर रोगों का भी कारण अन्ततः मानस विकार ही होगा। कामीय दुराचार व्यभिचार बलात्कार आदि मे, विविध प्रकार के घोर विकार, दोनो प्राणियों के चित्तों में पैदा होते हैं एक ओर दर्प, क्रौर्य, द्रोह, हिंसा, चौर्य, ईर्ष्या के, दूसरी ओर महा साध्वस-त्रास और घोर दैन्य दुःख के; इत्यादि। इन मानस विकारों से ही साक्षात् शारीर-विकार उत्पन्न हो सकते हैं, और निश्चयेन होते हैं। तीव्र क्रोध को दबा देने से, दो तीन घण्टे के भीतर, सारा शरीर बिलकुल पीला हो गया, पांडुरोग, यर्क़ान, 'जांडिस'† से रुग्ण हो गया—ऐसा पाश्चात्य डाक्टरों ने, अपनी आंखों देखा लिखा है; यकृत् का कार्य तत्काल बिगड़ गया; 'टाक्सिन्स्' पैदा हो गये; 'सीक्रीशन्स्', उत्तम रसों, के ठिकाने 'एक्सक्रीशन्स्', दुष्ट रस, किट्ट, शरीर मे बनने लगे;‡ इत्यादि। अहल्या और इन्द्र की कथा की भी यही सूचना है, कि विना संक्रमण के, प्रथम बार ही, दुराचार से महारोग उत्पन्न हो गया। अथ च, माता पिता की मानस वृत्तियों का, और उनके शरीरों के दबे छिपे रोगों का, जो दवा के बल से, चाहे उभरने से

* Universal Mind, (Anima-) Intellectus (-corpus)mundi.

† Jaundice.

‡ Toxins, secretions; excretions.

रोक भी दिये गये हों, संतति के चित्त और शरीर पर प्रभाव अवश्य पड़ता ही है। आगे कहा जायगा कि कैसे दोषों से कैसी संतति होती है।

'अविद्या', 'मा-या', 'जो नहीं है उस को मान लेना कि है', यह मूर्खता, वेवकूफ़ी, भूल, प्रवृत्ति मार्ग मे चलते हुए जीवात्मा की 'प्रकृति' ही है; बहिर्मुख मनुष्य का स्वभाव ही है। उस अविद्या का मुख्य रूप तो यह है, कि अपरिमित अनादि अनन्त निष्क्रिय परमात्मा, अपने को, परिमित सादि सान्त सक्रिय मूठी भर हाड़ मांस का शरीर, मान लेता है। इस महा भ्रम के अवान्तर रूप अनन्त हैं; उन सब मे भ्रान्ति का एक भाव यह अनुस्यूत है, कि आदमी समझता है कि अपने कर्मों से पैदा हुए क्लेशों का उपाय, प्रतिरोधन, निवारण, मार्जन, मे नये कर्मों से ऐसा कर लूंगा, कि उन क्लेशों की सर्वथा निवृत्ति उच्छित्ति हो जायगी, नये क्लेश न उत्पन्न होंगे, और मैं सुख ही सुख लूटता रहूँगा। भारी धोखा है। परमात्मा की प्रकृति मे 'अविद्या' की प्रतियोगिनी, रोग की दवा, 'विद्या' भी लगी है; इस द्वं-द्व के कारण, सारे संसार मे यह नियम अटल है कि विना दाम दिये आराम नहीं; प्रत्येक सुख का मूल्य एक उसी प्रकार का दुःख; मुफ़्त मे कोई चीज नहीं; तीव्र सुख चाहो तो तीव्र दुःख के लिए तयार रहो; सत्कुलीन सदाचारीण मीठे सुख से 'सन्तोष हो, तो हल्के ही दुःख भी पाओगे; यदि, 'चोरी का गुड़ मीठा', स्टोलन् जॉयज़ आर स्वीट', दुराचार व्यभिचार का तीक्ष्ण सुख चाहोगे, तो वैसा ही तीक्ष्ण दुःख भी, कभी न कभी, भोगना ही पड़ेगा।

> श्रांतः, समासजन् स्कन्धे, शिरसा भारम् उद्वहन्,
> न शर्म लभते, तद्वत् कर्मभिः कर्ममार्जनम्।
> सुखस्यानंतरं दुःखं, दुखस्यानन्तरं सुखम्;
> चक्रवत् परिवर्त्तेते सुख-दुःखे निरन्तरम्। (भागवत)
> यत्तदग्रेऽमृतमिव, परिणामे विषोपमम्
> यत्तदग्रे विषमिव परिणामे ऽमृतोपमम्। (गीता)

बोझ को सिर पर ढोते-ढोते थका आदमी, उस को कन्धे पर रखता है, पर आराम तो नहीं पाता; नये कामो की होशियारी चतुराई से पुराने कामो के दुष्फलों का वञ्चन, बँचा जाना, होने का नहीं; दुःख के भोग से ही दुष्कर्म कटते मिटते हैं। सुख के बाद दुःख, दुःख के

बाद सुख, रथ के पहिये की पुट्ठियों ऐसा यह चक्र सदा चलता रहता है, इसी का नाम संसार-चक्र है; पहिले जो बात जहर सी कड़वी जान पड़ती है, पीछे फल उस का अमृत सा मीठा होता है; जो पहिले मीठी, वह पीछे कड़वी हो जाती है। सुख तो हो, दुःख तो न हो—ऐसा कोई उपाय नहीं। ज्यों-ज्यों सुख बढ़ता है, त्यों-त्यों दुःख भी। यूरोप अमेरिका का उद्धत, उत्सिक्त, उद्दाम, महा-समृद्धिमान्, महा-शौर्यवान्, महा-क्रौर्यवान्, अति उत्कृष्ट भी, और अति निकृष्ट भी, जीवन, रावण की लङ्का के जीवन के सदृश, प्रत्यक्ष उदाहरण है।

मानसविकार-जनित आधियाँ और शारीर-विकार जनित व्याधियाँ

दो दृष्टियां, बहिर्मुख और अंतर्मुख

प्रकृत मे विचारणीय है कि पश्चिम के डाक्टर लोग, इधर प्रायः सौ वर्ष से (१८५० ई० से पीछे) मनुष्य के आधि-भौतिक (शारीरिक, जिस्मानी, 'फिज़िकल') अंग (अंश, पक्ष, पहलू, 'आस्पेक्ट') पर ही अधिकाधिक ध्यान जमाते रहे हैं; आध्यात्मिक (मानसिक, चैत्तिक, अंतःकरण-रूप, रूहानी, 'मेंटल', 'स्पिरिचुअल') अंग की अधिकाधिक उपेक्षा करते गये हैं। इस अति बहिर्मुख प्रवृत्ति के कारण ऐतिहासिक हैं; थोड़े मे यह कि, जैसे भारत मे, धर्माधिकारी कठ-पंडित और कठ-मुल्ला, वैसे ही यूरोप मे, कठ-पादरी, धर्म-'मजहब-'रिलिजन' को रोजगार बना कर, साधारण जनता को मूर्ख कठपुतली बना कर, मिथ्या धर्माभासों और मूढ़ग्राहों में फँसाकर, अपनी कामीय लोभीय दर्पीय क्रोधीय मत्सरीय वासनाओं का घोर तर्पण परिपूरण करने लगे; १६ वीं शती के आरम्भ में मार्टिनलूथर प्रभृति कुछ बुद्धिमान् दीर्घदर्शी सहृदय समाज-हितैषी तथा निर्भय निस्स्वार्थ विद्वानों ने खुला विरोध आरम्भ किया; (जैसे भारत में, १४-१५-१६ वीं शती ई० में, कबीर, नानक, प्रभृति सन्तों ने, तथा १७-वीं १८ वीं शतियों में राजा राममोहन राय, श्री देवेन्द्रनाथ महर्षि, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने, अति मूर्त्तिपूजा को तथा अरब देश में भी काल-प्रवाह से विकृत इस्लाम धर्म के संस्करण-इस्लाह के लिए अब्दुल वहाब नामक प्रतापी सर्दार ने और अब पुनः साम्प्रत काल मे, उन के वंशज शाह इब्नि-सऊद ने, क़ब्र-(एडूक)-

पूजा आदि को हटाने का यत्न, किया है); जनता का अधिकाधिक अंश उन के साथ होता गया; पादरियों मे, राजाओं मे, 'महाजन' जनता के दलों मे, बड़े-बड़े युद्ध हुए; अन्त मे, नये पक्ष की, धर्म के सुधार के लिए, प्रायः विजय हुई; पुराने पक्षवालों की संस्थाओं का सर्वथा उच्छेद तो नहीं हुआ, पर उन के दुराचार कम हो गये, उन्हों ने स्वयं अपनी दुष्ट वासनाओं का नियन्त्रण शुरू किया, उन के अनुयायियों की भी आँखें खुल गईं, बुद्धि जागी, अन्ध-श्रद्धा कम हुई; और चारों ओर, महाजन मे, स्थूलेन्द्रियों के प्रत्यक्ष प्रमाण पर प्रतिष्ठित विज्ञान (बहिर्मुख 'सायंस') की ओर रुचि अधिकाधिक बढ़ी। किन्तु, दैवी-मूल-प्रकृति देवी, संसार के सभी विभागों मे, मनुष्य के चित्त मे भी, सदा दोलाधिरूढ़, झुलुए पर सवार, रहती हैं; एक पेङ् इधर, तो एक पेङ् उधर; "प्रकृतिः उभय-कोटि-स्पर्शिनी, पुरुषः मध्यस्थः"; एक आत्यन्तिक कोटि ('एक्स्ट्रीम') से दूसरी, और दूसरी से फिर एक की, ओर झूलती ही रहती हैं; पुरुष, आत्मा, दोनो कोटियों को घेरे हुए, अपने भीतर रखते हुए, प्रकृति देवी को, दोनो कोटियों से खींच कर, मध्य मे, रखने का यत्न निरन्तर करता रहता है; किसी एक कोटि के पार कूद कर, दूसरी कोटि से टूट कर, सर्वथा विनष्ट हो जाने नहीं देता। सुख और दुःख, राग और त्याग, दोनो को, विद्याऽविद्याऽत्मक मूल काम-संकल्प की एक रस्सी के दोनो छोरों पर, हटे हुए भी, सटे हुए भी, बाँधे रहता है।

इन के फल

इस पारमात्मिक नियम के अनुसार, अति बहिर्मुख प्रवृत्ति से, और विकास-वादी ('इवोल्युशन-वादी') वैज्ञानिकों के प्राणि-संघर्ष-विषयक कच्चे अधूरे सिद्धांत के अनुसरण से, यूरोप अमेरिका के महाजन मे, तथा उन के अधीन वा अधीन-प्राय पूर्वीय दक्षिणीय देशों की जनता मे भी, इन्द्रिय-लौल्य, जिह्वा-उपस्थ-परायणता, राग-द्वेष-विकार, की अत्यन्त वृद्धि हुई; बड़े युद्ध होने लगे; जिस शरीर के सुख के लिए यह सब महा आयास प्रयास किया गया, सांसारिक जीवन के भोग विलास की, सब प्रकार की, अति समृद्ध सामग्री, दुर्बलों को दबा कर, चूस कर, एकत्र की गई, वही आनन्द नष्ट होने लगा; और धर्माभासों के अत्यन्त प्रचार से जो दुष्फल हुआ, उस से भी दारुणतर दुष्फल, सर्व-धर्म-विरोधी, धर्म-मात्र-विरोधी,

सार-धर्म-तिरस्कारी अति बहिर्मुख विज्ञान के प्रसार से हुआ; क्योंकि विज्ञान के अद्भुत आविष्कार, परस्पर तोषण पोषण उत्तंसन-विकाशन के ठिकाने, परस्पर शोषण-मोषण उद्ध्वंसन-विनाशन के लिए प्रयुक्त होने लगे।

यह घोर अनर्थ देख कर, अब पुनः, वर्तमान २० वीं शती ई० के आरम्भ से, स्वयं बड़े-बड़े यशस्वी, अग्रगण्य, वैज्ञानिकों की प्रवृत्ति, सभी पाश्चात्य सभ्यतमंमन्य देशों मे, पुनः आध्यात्मिकता, अन्तर्मुखता, चित्त के शास्त्र, और व्यापक तात्त्विक मार्मिक सार-धर्म वा धर्म-सार की ओर, दो मार्गों से, फिरी है। इस का संकेत, पृ० २२२ पर, एक टिप्पणी मे कर दिया गया है। ये वृद्ध, बहुश्रुत, बहुदर्शी, बहु-अनुभवी, विचारशील वैज्ञानिक, पहिचानने और कहने लगे हैं, कि मात्रा ('मैटर') का निर्माता कल्पयिता भी, उस मे प्रविष्ट भी, उस से अपृथक् भी, उस से विविक्त विवेचनीय भी, परमात्मा, आत्मा ('स्पिरिट', रूह, रूहुल्-रूह, आत्मनां आत्मा, जीवात्मनां परमात्मा) भी, कोई वस्तु है; और शरीर के ऊपर आत्म-बुद्धि-मनस् की प्रभुता को भी वे मानने लगे हैं।

अन्तर्मुखता की ओर वैज्ञानिकों का पुनः पलटना

(१) वैज्ञानिकों की पलटी हुई चित्त-नदी की पहिली धारा प्रथम विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८ ई०) के बाद अधिक पुष्ट हुई; अब प्रवर्त्तमान द्वितीय विश्व-युद्धके लिए, दस-पन्द्रह वर्ष से, पुनः तैयारियों को देखकर और उस को रोकने का महायत्न करने पर भी, उस के आरम्भ हो ही जाने से, यह प्रवृत्ति अधिक बढ़ रही है; जिस का सत्फल, यदि जगदात्मा की मर्ज़ी हुई तो, इस विश्वयुद्ध की शान्ति के बाद कुछ होगा; कामीय-वासनाओं का नियन्त्रण नियमन करने का उपाय, सब से पहिले खोजा, और पाया जायगा, और विश्वव्यापिनी मानव-समाज की विश्वव्यापिनी व्यवस्था ('वर्ल्ड फ़ेडरेशन, वर्ल्ड-आर्डर) की जायगी। जिह्वा और उपस्थ सम्बन्धी वासनाओं का सब से पहिले; इस लिए, कि प्रायः सब ही प्रकार की वासना, मनुष्यों से परस्पर वैर बढ़ाने वाली, उद्धत हर्ष, मद, मत्सर, क्रोध की विविध विकृतियाँ, इसी की अति-वृद्धि से उत्पन्न होती हैं।

कामे जिते जितं सर्वं, जितं सर्वं जिते रसे।

उपस्थीय काम का रस जीत ले, जिह्वा का रस जीत ले, उन पर काबू कर ले, उन को अपने वश मे लावै, उन के वश में न रहे—तो सब कुछ जीत लिया।

स्वार्थी परार्थी वासनाओं का 'नियमन' ही; सर्वथा उच्छेद नहीं।

'वासनाओं' का 'नियमन'—यह शब्द याद रहे; काम, क्रोध, लोभ, मोह (भय), मद, मत्सर आदि स्वाभाविक वासनाओं का सर्वथा मूलोच्छेद तो, उन की प्रतिद्वंद्विनी, उपरति-विरति, शम-शांति, तितिक्षा-त्याग, धैर्य, करुणा, मैत्री आदि वासनाओं के भी उच्छेद, अथवा प्रस्वाप, के साथ ही, प्रलयावस्था मे ही हो सकता है; (प्रस्वाप, क्योंकि आत्यन्तिक विनाश और अभाव तो, अव्यय अविनाशी परमात्मा के स्वभाव मे अन्तर्गत द्वंद्व का, कभी हो ही नहीं सकता), जाग्रद् अवस्था मे, सत्-शिक्षा और सद्-धर्म-क़ानून के जरिये (द्वारा), नियमन, नियन्त्रण, सीमितकरण, समयों (शर्तों) से परिच्छेदन, ही, संभव, उचित, आवश्यक है।

बिना निदान जाने चिकित्सा करने का दुष्फल

स्वार्थ और परार्थ दोनो प्रकार की वासनाओं को काबू मे लाना; अंदाज से ही, परिमित मात्रा मे ही, उन का आस्वादन करना; उन के ऊपर सद्बुद्धि का अधिकार स्थिर करना—यही सब सदाचार का मूल है। इस को न पहिचान कर, इस के विपरीत, पच्छिम मे, कच्चे वैज्ञानिक यह यत्न करते रहे हैं, कि जिह्वा-उपस्थ-सम्बन्धी, इंद्रिय-लौल्य-प्रेरिणी, अधमसत्व-वर्धिनी, अशुभ स्वार्थी वासनाएं यथेष्ट तृप्त की जायं, पर दुष्फल न हो; चटनी-अंचार चख लेने, मांस-मत्स्य खा लेने, शर्बत-शराब पी लेने, के ऐसा, दुराचार-व्यभिचार यथेष्ट होता रहे, पर अविवाहिताओं को गर्भ न रह जाय; उपदंश (आतशक, 'फिरंग' रोग* गर्मी'), मूत्रकृच्छ्र

---

* किन्हीं विद्वान् वैद्यों का मत है कि 'उपदंश' रोग दूसरा ही है, जिस की चर्चा प्राचीन आर्ष आयुर्वेद के ग्रन्थों मे की है; और 'आतशक' (जो हकीमी, तिब्बी, नाम इस का है, क्योंकि 'आतश', आग, के ऐसी जलन पैदा करता है) 'फ्रेंच', 'फ्रैंक', यूरोपीयनों के ही साथ भारत मे आया, इस से 'फिरंग'-रोग कहलाया। इस की चर्चा और चिकित्सा भावमिश्र के ग्रंथ 'भाव-प्रकाश' से, प्रथम प्रथम, संस्कृत चिकित्सा-शास्त्र मे मिलती है; जो ग्रन्थ प्रायः कान्यकुब्ज देश मे, १६ वीं शती ई० मे, लिखा गया। महामहोपाध्याय श्री गणनाथ सेन, पौरस्त्य-पाश्चात्य-उभय-चिकित्सा-शास्त्र के प्रकांड पंडित और बहुत अनुभवी चिकित्सक,

(सूजाक), आदि रौद्र रोगों का संक्रमण न होने पावे; गर्भ यदि रह जाय तो उस का पातन सरलता से हो जाय, यदि नाजायज़, अधर्म्य, विवाह-वाह्य वच्चा हो ही जाय और स्त्री वा पुरुष उस की हत्या न कर के, उसे छिपा कर, रात मे गिर्जा-घर के द्वार पर, या सड़क पर, या अनाथालय के पास, छोड़ आवें, तो उस का पालन पोषण किया जाय—इत्यादि। पर इस का फल यही हुआ है कि, ऐसे दुराचारों, व्यभिचारों, बलात्कारों, कन्या-दूषणो, बालक-दूषणो, स्त्री-पुरुषों के नर-मादा पशुओं के संग मैथुन, की वृद्धि ही होती गई; दुष्फल भी नहीं रुक सके; उग्र संक्रामक रोग अधिकाधिक फैलते ही गये; वस्ती, अर्थात् मनुष्य-संख्या, की अत्यंत वृद्धि हुई; सामाजिक तिरस्कार वहिष्कार के भय और लज्जा से, तथा परस्पर ईर्ष्या मत्सर क्रोध आदि से, आत्मघात तथा नवजात शिशुओं की हत्याएं वहुत वढ़ीं; और अंततः, अति काम के साथ अति लोभ और अति मान के मिल जाने से, विश्वव्यापी रौद्र युद्ध पुनः-पुनः हो रहा है। पाश्चात्य डाक्टरों ने स्वयं लिखा है कि यूरोप अमेरिका में स्यात् ही कोई स्त्री वा पुरुष इस युग मे होगा जिस का शरीर, वा कुल, वा वंशपरम्परा, इन संक्रामक रोगों की छूत से सर्वथा मुक्त और शुद्ध हो। पर इस से कोई भारतवासी, शुद्धंमन्यता और अहंकार का रस चखने के लिए, यह न समझ वैठे कि भारत जनता मे ऐसे पाप नहीं हैं; भारत की, तथा अन्य पूर्वीय देशों की भी, स्यात् कुछ कम, यही हालत जान पड़ती है; विशेष कर, वित्तवालों और उच्चमन्य जातियों मे; पर ठीक पता नहीं चलता; क्योंकि पच्छिम मे तो इन विषयों पर वैज्ञानिकों ने स्पष्ट लिखना छापना, कुछ काल से, आरंभ कर रक्खा है, और उन देशों की गवर्मेंटों ने भी 'कमीशन' 'कमेटी' आदि, समय समय पर, वनाई है, इस लिए कि इस विषय का गवेषण किया जाय, संक्रामक रोगों के प्रसार को रोकने के उपाय किये जायं, और उपयुक्त क़ानून बनाये जायं।

यु. स्टे. अमेरिका के पत्रों मे, द्वितीय विश्वयुद्ध के आरंभ हो जाने के

ने, अपने रचे 'प्रत्यक्ष-शारीर' नाम के ग्रन्थ के उपोद्घात मे, हेतुपूर्वक, यही निर्णय किया है। यह तो इतिहास से सिद्ध है कि यूरोप से, १५ वीं शती के अन्त मे, पोर्चुगीज आये, उन के वाद फ्रेंच और डच और अंग्रेज।

वाद से, पुनः-पुनः लेख निकलते रहे हैं, जिन से स्पष्ट होता है कि, वैज्ञानिक चिकित्सक विद्वान्, जितने ही तीक्ष्ण अचूक अमोघ शीघ्र-फल-दायी उपायों का उपज्ञ (उपज, ईजाद) करते हैं, यहां तक कि उपदंश को दस दिन मे निर्मूल निःशेष करने का दावा (प्रतिश्रव) करते हैं, उतना ही अधिक निर्भीक दुराचार, सैनिकों मे तथा साधारण जनता मे, बढ़ता जाता है, और अधिकाधिक संख्या मे, तथा पुनः-पुनः, लोग रुग्ण होते हैं; और, अभागिनी, अवला, भूखी, वा चंचल-स्वभाव की, योषिताओं के जीवत् (जिन्दा) मांस की बिक्री (विक्रय) का दारुण रोजगार व्यापार करने वाले, निर्दय नृशंस चांडाल, तरह-तरह के छलों से कानून का वंचन कर के, पण्य-स्त्रियों को, सेनाओं के एक शिविर (कम्पू, कैम्प, पड़ाव) से दूसरे तक, मोटर लारियों मे लाद-लाद कर, भगाते पहुंचाते रहते हैं।*

---

* ऊपर, मूल मे उक्त बातें, न्यूयार्क-नगर से प्रकाशित, 'दी रीडर्स-डाइजेस्ट' नामक मासिक पत्र के जून से दिसम्बर १९४२ ई० तक के अंकों के लेखों के, तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं वा पुस्तिकाओं के, आधार पर लिखी गई हैं; कुछ और बातें इस नोट में लिख देता हूं।

"मरज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की"

'सिफ़िलिस'-जनक कीट को मारने के लिए, सूई-द्वारा 'इन्जेकशन' ले, 'मलेरिया'-जनक कीट का प्रवेश, 'सिफ़िलिस' के रोगी के शरीर मे करते हैं; 'विषस्य विषं औषधं'; जैसे, पुराणो मे कथा है, बाणासुर ने जब कृष्ण की सेना के नाश के लिए, 'माहेश्वर-ज्वर' का, अस्त्र द्वारा ('अस्यते' इति 'अस्त्रं', जो दूर से फेंका जाय) प्रयोग किया, तब कृष्ण ने उस के शमन और संहार के लिये 'वैष्णव-ज्वर' का प्रयोग किया। पश्चिम देश के राष्ट्रों के विश्व-युद्धों मे विविध प्रकार की प्राणहारक 'गैसों' का (वायव्यअस्त्रों का), तथा उग्र-रोग के जनक कीटाणुओं का (ज्वर-अस्त्रों का), तथा आग लगा देने वाले बमों का (आग्नेय-अस्त्रों का), प्रयोग हुआ और हो रहा है। पीने के पानी के कूओं, तालावों, झरनो मे ज़हरीली वस्तु डाल देना; जंगलों, वाटिकाओं, खड़े खेतों को काट डालना; इमारतों कारखानों को ढहा देना; कि शत्रु के सैनिक उस पानी को पी कर मरें, और इन द्रव्यों से लाभ न उठा सकें ('स्कार्च्ड अर्थ' रणनीति)—यह सब उपाय—अपाय भी पश्चिम मे काम मे लाये

जाने लगे हैं; इन मे से बहुतों के संकेत, भारत के पुराने ग्रन्थों मे, सन्धि-विग्रह आदि षड्विध रणनीति के अध्यायों मे, मिलते हैं; चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' मे विशेष रूप से।

बंबई के भैरवी-चक्र

प्रायः पच्चीस वर्ष हुए होंगे, बम्बई (ब्रिटिश) गवर्मेन्ट को मालूम हुआ कि शहर मे, कुछ महापातकी दुष्ट हिन्दू भी और विशेष कर पठान ऐसी अबला अभागिनियों को, जिन्हें पेट पालने के लिए कोई दूसरा उपाय नहीं मिलता, खाना कपड़ा-मात्र दे कर, 'चकलों' ('ब्राथेल', भैरवी-चक्रों') मे रख कर, उन से, शरीर बेचने (कसब, 'प्रास्टिट्यूशन')का रोज़-गार कराते हैं; दस-दस, बीस-बीस, नर-पशुओं से एक-एक को, एक-एक दिन मे, संग करना पड़ता है; (जैसे, अमेरिका, ब्रिटेन, आदि महान् राष्ट्रों के महान् नगरों मे, तीस-तीस और चालीस-चालीस तक से); और थोड़े ही दिनों मे ये स्त्रियाँ भी पशु-प्राय हो जाती हैं; जिस दिन आमदनी कम होती है, चकला चलाने वाले, उन दुःखिनियों की रौद्र यम-यातना करते हैं, यहां तक कि पुरुष का मूत्र जबर्दस्ती पिलाते हैं, मार पीट कर हाथ पैर की हड्डियों को तोड़ तक डालते हैं, भूखा प्यासा रखते हैं, ऐसा कि मर-मर जाती हैं; रोगों से भी बहुत मरती हैं। यह सब मालूम होने पर, बम्बई गवर्नमेंट को यह विचार हुआ कि इस घोर व्यवसाय को रोकने के लिए, नया कानून बना कर, पुलिस को विशेष अधिकार दिया जाय। दस्तूर के मुताबिक, इस के बारे मे, भारत के सब प्रान्तों के कुछ-कुछ आदमियों से राय पूछी गई।

जनता का भृत्य, या जनता का स्वामी ?

मुझ से भी पूछा। पाश्चात्य देशों मे भी, जो इस प्रकार के व्यवसाय 'सेक्स स्लेव ट्राफिक' के नाम से, होते हैं, उन का, मै ने, उत्तर मे हवाला दिया। यह बतलाया कि यद्यपि पाश्चात्य देशों में भी, जनता (महाजन, 'पब्लिक', प्रजा) मे भी और 'जनता-भृत्य' ('महाजन-भृत्य', 'पब्लिक-सर्वेन्ट', 'सार्वजनिक-भृत्य', राज-भृत्य, राष्ट्र-भृत्य) मे भी, नेक-नीयती की कमी है, परन्तु भारत मे तो बहुत ही कमी है, और इस के सिवा यह महा आपत्ति है, कि यहां, 'पब्लिक-सर्वेन्ट' अपने को 'जनता का भृत्य' (ख़ादिम) नहीं, प्रत्युत 'पब्लिक-मास्टर' 'जनता का स्वामी'

(हाकिम) समझता है । पश्चिम मे, प्रत्येक राष्ट्र के भीतर, दोनो का, 'पब्लिक-सर्वैंट' और 'पब्लिक'का, लक्ष्य प्रायः एक होता है, अर्थात् सार्वजनिक सुख-समृद्धि; उस के विपरीत, यहां भारत मे दोनो के लक्ष्य, परस्पर विरुद्ध हो रहे हैं अर्थात् राष्ट्र-भृत्यों का समुदाय तो, एकदल ऐसा संग्रथित, अपने दल का भला चाहता है, नित्य-नित्य अपनी शक्तियों और अधिकारों में वृद्धि करता रहता है, प्रजा को अधिकाधिक दबाये रखना चाहता, और रखता है, और प्रजा, हज़ारों 'जात', पंथ', 'धर्म', 'फ़िर्क़ों' में विभक्त होकर, अपना-अपना पृथक्-पृथक् क्षुद्र अल्पकालिक स्वार्थ ही साधना चाहती है; जिसका फल यह है कि क़ानूनो द्वारा पुलिस को जो भी अधिकार इख्तियार दिया जाता है, उसका दुरुपयोग ही होता है, 'काम' के सगे भाइयों का, लोभ क्रोध आदि का, उत्प्रेरक होता है; उत्कोच (रिश्वत, घूस) और प्रजा-पीडन की भी, तथा दुष्ट-कर्मों और व्यवसायों की भी, वृद्धि ही होती है, अन्त में, मैंने यह सूचना की, कि वर्त्तमान दंड-विधान (ताजीरात-इ-हिन्द, इंडियन-पीनल-कोड') मे जो अपराध (जुर्म, 'क्राइम') गिनाये गये हैं, और उनकी सजा के लिए जो अधिकार राष्ट्र-भृत्यों को दिये गये हैं, उन्हीं का उपयोग प्रयोग यदि नेकनीयती से किया जाय, तो भैरवी-चक्र का यह रोजगार सहज मे (सरलता से) बंद कर दिया जा सकता है; इस के लिए नये कानून बना कर पुलिस को विशेष अधिकार देने की कोई आवश्यकता नहीं है। जहां तक मुझे मालूम है, कोई नया विधान तो नहीं बना; पर इस विशेष घोर व्यवसाय की कुछ रोक होने के भी लक्षण देख नहीं पड़े।

राजभृत्यों की वृद्धि और दुष्टता; प्रजा का ह्रास

पुलिस के, मजिस्ट्रेटों के, सभी विभागों (सीग़ों) के सभी गवर्मेन्टी नौकरों के, इख्तियार बढ़ाते रहना, प्रजा के हक़ों को घटाते रहना—यही लक्ष्य, अधिकतर देशों के शासक दलों, गवर्मेन्टों, 'ब्राह्मण-क्षत्रियों' का चिरकाल से हो रहा है; भारत मे तो अत्यंत ही। कलियुग का यह एक प्रधान लक्षण है, कारण भी है, कार्य भी है। अन्योऽन्य अनुग्रह करते हुए अनर्थों की परम्परा यों ही बढ़ती जाती है; एक दिन, अपने असह्य बोझ से आप टूट पडती है; नष्ट होती है। तब पुनः, 'सत्य' के 'युग' (ज़माना, 'पीरियड', ईपोक', 'एज') को अवसर मिलता है; शासक और शासित मे परस्पर स्नेह, प्रीति, विश्वास, सहाऽयन, समर्थन, प्रकृति-

स्वभाव-गुण-कर्म के अनुसार सब मनुष्यों का समाज मे व्यवस्थापन, होता है। आज काल जो विष भरी हवा सारे संसार मे वह रही है, उस के कारणो और कार्यों मे एक मुख्य यह है, कि 'धर्मानपेत काम', और 'कामशास्त्र के आध्यात्मिक तत्त्वों' का, तथा सत्काम और दुष्ट-काम के रूपों, लक्षणो, परिणामो, सुफल-दुष्फलों का, यथातथ्य ज्ञान नहीं है:, और यदि है तो भी विद्यामद, ऐश्वर्यमद, धनमद से मत्तों में, शासन के अधिकारों और वलों को पाये हुओं मे, अतः अधिकार और बल का दुष्ट पापिष्ठ प्रयोग करने का अधिकाऽधिक अवसर पाते हुओं में, धर्म्य 'काम' से विरक्ति, अधर्म्य 'काम' से आसक्ति, अधिकाधिक देख पड़ रही है। "चोरी का गुड़ मीठा" ("स्टोलन जॉयज् आर स्वीट्"), इस लिए, अधिकारी जन, स्वयं चोरी के गुड़ के रसास्वादन के लालची हो कर, अपराधियों (मुजरिमो) के साथ सहानुभूति भीतर से, और दण्ड देने मे दया का दिखाव ऊपर से, करने लगे हैं, पच्छिम के देशों मे इसकी शिकायत, बीच-बीच, समाचार पत्रों में देख पड़ती है। भारतवर्ष का भी एक नमूना देखिये, पर यह भी खूब याद रखिये कि जब जनता पापी है, तभी शासक पापिष्ठ है।

काशी के दैनिक 'आज' के सौर ९ फाल्गुन, १९९८, वि० २१-२-१९४२ के अंक मे, नीचे लिखे आशय की सम्पादकीय टिप्पणी छपी है—

एक अत्यन्त खेद जनक मामिला

"काशी के एक खेदजनक मामिले की ओर हम स्थानीय अधिकारियों का, विशेष कर ज़िला मजिस्ट्रेट का, ध्यान दिलाना चाहते हैं। गोपी नामक चार वर्ष के बालक पर एक सत्रह वर्ष के युवक द्वारा अस्वाभाविक अत्याचार, (अगस्त, १९४१ ई०, मे) किया गया। विचारक मजिस्ट्रेट की राय मे अपराध सिद्ध हो गया। सिविल सर्जन की राय मे लड़के को उस अपराध के कारण अत्यन्त कष्ट भोगना पड़ा है। अपराधी के घर के लोगों की आर्थिक अवस्था मजिस्ट्रेट की राय मे अच्छी है। लड़के की मा के कथनानुसार, जब उसने अपराधी के बाप और चाचा को उस के अपराध से सूचित किया, तो उन्हों ने उसे ही मार डालने की धमकी दी। इतनी बातें विचारक मजिस्ट्रेट अलाउद्दीन साहब के फैसले से ही मालूम होती हैं। इतने पर भी आप ने अपराधी को प्रथम अपराधी और कम-सिन (अल्प-वयस्क) समझ कर केवल दो वर्ष सच्चरित्र रहने

का मुचलका, वह भी केवल दो सौ रुपये का, लेकर छोड़ दिया। लड़के की मा को जो बहुत ही ग़रीब है, और जो यदि श्री राजकृष्ण वांतू उसकी सहायता न करते तो अदालत तक पहुंच भी न सकती, कुछ भी हर्जाना नहीं दिलाया। क्या यह न्याय है? क्या प्रथम अपराधी के सम्बन्ध का कानून ऐसे ही दुश्चरित्रों के लिए बनाया गया है? बेंत लगाने की धारा का उपयोग यदि ऐसे मामिले मे न किया जाय तो वह है किस काम के लिये? हाल में ही हाई कोर्ट ने एक लड़की की हत्या करने के अपराध मे एक स्त्री की सजा, केवल उसे स्त्री समझ कर कम सजा देने के कारण एक जज की निन्दा करके, तीन साल से बढ़ा कर दस साल कर दी है। मतलब यह कि ऐसे मामिलों में स्त्री, कम उम्र, प्रथम अपराध, आदि बातों का विचार करना उचित नहीं है। हम अधिकारियों का ध्यान इन बातों की ओर दिला कर साग्रह अनुरोध करते हैं कि वे इस मामले को सजा बढ़ाने के लिए हाईकोर्ट तक ले जाने का कष्ट स्वीकार करें।"

बाद मे श्री राजकृष्ण से दर्याफ्त करने पर मालूम हुआ कि, निहायत ग़रीब मजदूरिन के चार वर्ष के नादान बच्चे गोपी (कसरवानी बनिया) पर, २४ अगस्त १९४१ ई० को, काशी नाम के सत्रह वर्ष के (सोनार) युवा ने यह अतिक्रूर दारुण अपराध किया, हाल मालूम होने पर श्री राजकृष्ण ने पुलिस मे रिपोर्ट २९ अगस्त को की; पुलिस ने जब मुजरिम की तलाश की तब वह फरार होगया; गोपी कुछ दिन अस्पताल मे रहा; रोज-रोज की रोटी कमाने की फिक्र के सबब से, नौकरी छोड़ कर मा अस्पताल मे बच्चे की फिक्र नहीं कर सकती थी, वहां से बच्चे को अपनी कोठरी में उठा लाई; राजकृष्ण जी की प्रार्थना पर दूसरे डाक्टर देखते रहे; गोपी के गुदा स्थान मे भारी जखम हो गया, सड़ गया, मल विसर्ग में बहुत कष्ट होता था, सारे खून में उस का जहर फैला, आंखें करीब-करीब अन्धी हो गईं। भागे हुए मुजरिम काशी का माल मता जब अदालत के हुक्म से कुर्क हुआ तब वह खुद हाजिर हो गया। इन कारणो से, तथा अन्य कारणो से, देरियां, कुछ पुलिस थाने में, कुछ कचहरी में होती रहीं; उन की वजह से, जुर्म की तारीख के करीब चार महीने बाद मुकदमा अदालत में पेश हुआ; १२ फर्वरी १९४२ को मजिस्ट्रेट ने फैसला किया, जिसकी कैफियत 'आज' पत्र से लेकर ऊपर लिखी गई। श्री राजकृष्ण ने जिला मजिस्ट्रेट से, जाबिते से दर्खास्त भी किया, कि सजा

बढ़ाने के लिए मुकदमा हाईकोर्ट में भेजा जाय, पर इसी बीच मुजरिम काशी ने सेशन जज के यहां मुचल्के के खिलाफ अपील की और जज ने (शायद फैसले मे कोई कानूनी नुक्स पा कर) मजिस्ट्रेट की तजवीज और फैसले को रद्द कर दिया। नतीजा यह हुआ कि काशी बिल्कुल छूट गया, गोया, उसने यह महापाप किया ही न हो।

और नमूने देखिये। इस मामिले के कुछ पहिले, बनारस मे ही, एक तीस वर्ष के जवान (क्षत्रिय) ने, एक तीन वर्ष की नादान मासूम दूध-मुही बच्ची पर बलात्कार (ज़िना बिल् जब्र) किया, घोर व्रण, किसी किसी तरह, टांका वगैरा दे कर, डाक्टरों ने अच्छा किया, बच्ची की जान बच गई; मगर इस राक्षस मुजरिम को सिर्फ पांच वर्ष की कैद हुई, जब शायद दायमुल हब्स (हमेशा के लिए काला पानी) की सजा होनी चाहती थी।

इन दोनो मामिलों के कुछ ही दिन बाद, एक साठ वर्ष के (ब्राह्मण) नर-पशु ने एक नौ-दस वर्ष की बालिका पर बलात्कार किया, और केवल तीन वर्ष कारावास का दण्ड पाया। इस मामिले को, रिश्वत वगैरा दे ले कर, दबा देने की भी कोशिश की गई। पर बात जाहिर हो गई, और पुलिस का एक आदमी थोड़े दिनो के लिए मुअत्तल भी हुआ, जो भी गैरमामूली बात है।

ता० ५ जून १९४४ ई० के 'लीडर' इलाहबाद अखबार मे शाहजहांपुर जिले की तीन खबरें, घोर अपराधों की छपी हैं; (१) जैतीपुर थाने के एक गांव के एक पुरुष ने, साढ़े चार महीने (वर्ष भी नहीं, महीने) की बच्ची पर बलात्कार किया, जो उस के एक रिश्तेदार की लड़की थी, मरी बच्ची की लाश के साथ, पास के एक खण्डहर मे, मुजरिम पकड़ा गया; गांव वालों के सामने उस ने अपना जुर्म कबूल किया। (२) थाना ईसानगर के एक गांव मे, अजीमुल्ला ने अपनी जोरू हलीमन की तत्काल पैदा हुई बच्ची को मार डाला, क्यों कि हलीमन का और हलीमन की मा के दूसरे पति का नाजायज सम्बन्ध था; अजीमुल्ला गिरफ्तार किया गया है; (३) थाना गोला के एक गांव में, महमूद ने नौ बरस की लड़की बन्नो को छुरे से मार डाला, और बन्नो की मा पर भी हमला किया, क्योंकि वह इस का ब्याह बन्नो से नहीं करती थी; बाद मे खुद

डिप्टी कमिश्नर के सामने हाजिर हो गया और गिरफ्तार हुआ। यह एक दिन की एक जिले की, खबरें हैं; न जाने कितने ऐसे दारुण अपराध सारे देश मे प्रतिदिन होते हैं; उत्तम समाज-व्यवस्था से, सत्-शिक्षा के प्रचार से, संशप्तक संन्यासी स्वयंसेवकों के बड़े परिश्रम से ही, ये पाप रुक सकते हैं; और जब तक ये रुकते नहीं, तब तक देश की अधोगति भी रुकती नहीं।

देश की वर्तमान दशा मे, सिवा इस के क्या किया जा सकता है, कि मनु का वाक्य याद कर के, जगदात्मा अन्तरात्मा से, अपनी आत्मा से प्रार्थना की जाय, कि अपराध से पीड़ितों की सहायता करने वाले, और घोर अपराधियों को दण्ड दिलाने का यत्न कर के समाज के, आचार के शोधन की चिन्ता करने वाले, (जैसी उक्त मामले मे श्री राजकृष्ण वान्तू ने की), अधिक संख्या मे उत्पन्न हों, तथा शासकों को, नीच और दूषित बुद्धि के स्थान मे, विवेकिनी बुद्धि मिले; और समग्र जनता का ध्यान ऐसी घटनाओं की ओर, और उनको रोकने के कर्तव्य धर्म की ओर पुनः-पुनः दिलाया जाय, और अधिकारियों की कर्तव्य-विमुखता का उद्घाटन किया जाय और इस कर्तव्य के लिए नगर-नगर मे सर्वजनीन हृदय वाले सज्जन, समितियां बनावें।

> अदंड्यान् दंडयन् राजा दंड्यांश् च एव अपि अदंडयन्,
> अयशो महद् आप्नोति, नरकं चा अधिगच्छति। (मनु)
> (पापानि पापिनां, यस्माद्, अस्य राज्ये तु, भूरिशः
> विवर्धन्ते; विनश्यन्ति शिष्टाः; राष्ट्रं च नश्यति।)

जो राजा दण्डनीय को दण्ड न दे, और अदंडनीय को दंड दे, वह अपने को और अपने सारे राज्य को नरक मे गिराता है; क्योंकि पापी और पाप उसके राज्य मे बढ़ते हैं, सदाचारी घटते हैं; और थोड़े ही दिनों में सारी समाज-व्यवस्था बिगड़ जाने से राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

भारत मे राजकर्मचारियों तथा साधारण प्रजाजनों की दशा

कुछ अपना निजी अनुभव यहां लिख देना अनुचित न होगा। सन् १८९० से १८९८ ई० तक, मै ब्रिटिश-भारत गवर्नमेंट का, संयुक्त प्रान्त मे, नौकर रहा, इस के बाद मैने इस्तीफा दे दिया; १८९९ से १९१४ तक सेंट्रल हिन्दू कालिज, बनारस, का अवैतनिक मंत्री-(सेक्रेटरी) रहा;

उस संस्था के और उस की शाखा प्रशाखा, लड़कों के स्कूल, लड़कियों के स्कूल, रणवीर संस्कृत पाठशाला, छात्रावास (ब्रोडिंङ् हाउस) आदि के आरम्भण, वर्धन, पोषण आदि मे, और इस कार्य के लिए 'ब्रिटिश' भारत और 'भारतीय' भारत (देशी रियासतों) मे, पुण्य-श्लोक श्री एनी बिसेंट के, तथा अन्य बन्धुओं और मित्रों के, साथ, परिश्रमण और परिभ्रमण करता रहा; इस के पश्चात् १९१५ से काशी विश्वविद्यालय का और १९२१ से श्री शिवप्रसाद गुप्त जी के दान से आरम्भ किये और महात्मा गांधी के हाथ से खोले हुए काशी विद्यापीठ का, कुछ वर्षों तक सेवक, अध्यक्ष, और बाद मे तटस्थ शुभचिन्तक आज तक रहा हूँ। १९२३ से १९२५ तक, काशी के म्युनिसिपल बोर्ड का 'चेयरमैन' रहा, और लड़के लड़कियों के म्युनिसिपल स्कूलों को देखता सुनता रहा। डेप्युटी मजिस्ट्रेट की हैसियत से, ताजीरात हिन्द (भारतीय दंड-विधान, इंडियन पीनल कोड्) मे लिखित बहुत प्रकार के अपराधों की तहक़ीक़ात मुझ को, करनी पड़ी। इसलिए मुझे मालूम है कि सरकारी नौकरों से भी, तथा प्रजाजनो मे भी, शासकों और शासित दोनो मे एवं अध्यापकों और अध्यापिकाओं दोनो मे, जब्राना भी शुकराना भी, रिश्वत लेना देना, तथा बलात्कार से भी, डरा धमका के भी, प्रलोभन आश्वासन विश्वासन करके, फुसला कर के, धोखा दे कर के, प्रेम प्रीति दिखा बढा कर के भी, उपस्थ सम्बन्धी अनाचार दुराचार और घोर अपराध भी होते रहते हैं। इन मे से अधिकांश, विविध हेतुओं से, 'छोपो, तोपो गोपो', हो जाते हैं, तो और भीतर-भीतर समाज के चित्तों और शरीरों में ज़हर फैलाते रहते हैं; अल्पांश, अदालतों मे, ('अदल', न्याय, का स्थान, न्यायालय' का नाम तो है, न्याय का काम कम) कचहरियों मे, पहुँचते हैं, और अखबारों मे, चर्चा पाते हैं; उस अल्पांश मे से भी कुछ ही मामिलों मे अपराध सिद्ध होता है, और 'न्यायपति' 'न्यायाधीश', 'मुजव्विज़,' 'हाकिम,' 'मजिस्ट्रेट,' 'जज्ज' की निजी प्रकृति और रुचि और आचार-विचार के अनुसार अपराधी दंड पाता है। यह, भारत देश, भारतीय समाज, की, इस युग (ज़माने) मे, दुर्-अवस्था अ-व्यवस्था है।

पाश्चात्य देशों की दशा

यूरोप अमेरिका के, उपस्थेन्द्रिय-सम्बन्धी जीवन ('सेक्सुअल लाइफ़') की दशा का हाल पहिले कुछ लिखा जा चुका है। जैसे अपने

निजी अनुभव की चर्चा ऊपर किया, वैसे एक मित्र के निजी अनुभव को जो उनको वहां हुआ, (मै स्वयं भारत से बाहर नहीं घूम सका हूं), यहां लिख देता हूँ। "अखिलं विदुषां अनाविलं, सुहृदा च स्वहृदा च पश्यतां" (नैषध), कुछ अपनी आंख, अपने हृदय से, कुछ आप्त मित्रों की आंख और हृदय से, देख कर दुनिया का हाल जाना जाता है। ये मित्र, भारत के गिने चुने, 'हाइ कोर्टों' के ऊंचे पहुंचे हुए, उन 'ऐडवोकेटों' मे एक हैं जिन की सालाना आमदनी तीन चार लाख रुपये तक की कही जाती है; उमर भी इन की मुझ से आठ-दस वर्ष ही कम है, नाम कहने का काम नहीं। पिता और ज्येष्ठ पुत्र साथ ही विलायत यात्रा को गये; फ्रांस देश की राजधानी महा-नगरी 'पैरिस' मे, तथा ब्रिटेन देश की राजधानी महत्तर-नगरी 'लन्दन' मे, थिएटर-सिनेमा का तमाशा देख कर रात मे बाहर निकले; कुल-स्त्री के ऐसे अच्छे साफ़ कपड़े पहिने एक स्त्री ने एक ओर से पिता की एक बांह दूसरी स्त्री ने दूसरी ओर से पुत्र की एक बांह, धीरे से खींच कर कान मे फुसकी किया, "मेरे साथ चलिए, रात रहिये", जान छुड़ा कर भागे। कुल-वधू के वेश मे वेश्याएँ विचरती हैं, पर्दे की प्रथा न होने से, 'कुल-स्त्रियों से भी व्यभिचार बेपर्दे होता है, भारत मे, पर्दे की आड़ मे होता है। वात्स्यायन काम-सूत्र मे राजाओं के और उन के रनिवासों अवरोधों के व्यभिचारों का वर्णन किया है। पंजाबी श्री कन्हैयालाल गौबा की दो पुस्तकें, दस पंद्रह वर्ष हुए, छपीं, 'अंकल सैम (शैम)' और 'दि पैथालोजी आफ़ प्रिंसेज़' नाम की। 'अंकल सैम', यु. स्टे. अमेरिका-निवासी का, हास्य और स्नेह मिश्रित उप-नाम हो रहा है, जैसे ब्रिटेन-निवासी का, 'टामी ऐटकिंस', और फ्रांस-निवासी का, जैक् बॉन—हॉम'; 'शैम' का अर्थ है, 'दाम्भिक'। मिस् मेयो नाम की एक यू० स्टे० अमेरिकन स्त्री ने 'मदर इंडिया' नाम की एक पुस्तिका, इन दो पुस्तकों के पहिले छापी थी; केवल-दोषज्ञ-पण्डिता, दोष-ग्राहिणी, दूषित-चित्ता लेखिका बन कर, भारत जनता की बुराइयां दिखाते हुए, (यह भी कहा जाता है कि भारत जनता की स्वराज्य के लिए अयोग्यता दिखाने को, किन्हीं दूसरों की प्रेरणा सहायता से, 'प्रचारार्थ' 'प्रोपैगैंडा' के लिए), उसने यह पुस्तक छापी। उस के उत्तर मे 'अंकल शैम' पुस्तक छपी; इस मे यु. स्टे. अ. की जनता का दोषोद्घाटन वैसा ही वा उस से भी अधिक किया गया है। दूसरी पुस्तक मे भारत के

राजा महाराजों नवाबों के दुराचारों, भ्रष्टाचारों, घोर अत्याचारों, प्रजा की यातनाओं का रूप अंशतः दिखाया है। प्रायः पचास वर्ष हुए होंगे, एक 'महाराजा' ने 'दि डायरी आफ़ ए महाराजा' नाम की पुस्तक अंग्रेज़ी मे स्वयं लिख कर, किसी पश्चात्ताप के वश, छापी थी; उस मे स्पष्ट लिखा था कि, 'घोर से घोर भी ऐसा कोई महापातक नहीं जो हम महाराजों ने न किया हो वा न करते हों'। इंदोर, अलवर, नाभा आदि के राजा महाराजा, इधर बीस पच्चीस वर्ष के भीतर, गद्दियों से उतारे गये; उन के निकाले जाने के कारण सब को मालूम हैं, खुले हुए हैं; नाभा के राजा का, और उस समय के पटियाला के महाराजा का, परस्पर घोर संघर्ष, स्त्रियों के विषय मे, हुआ था; पटियाला पर ब्रिटिश गवर्नमेंट ने प्रकट कोप किन्हीं कारणो से नहीं किया; अंग्रेजी गवर्नमेंट की ओर से जो कुछ जांच की गई, उस मे, अपनी ओर से पैरवी करने के लिए, ब्रिटेन के एक बहुत बड़े चढ़े बैरिस्टर को, कितने ही लाख रुपये 'मिहनताना' दे कर, पटियाला मे बुलाया था; पटियाला की थैली, नाभा की थैली से दस बीस गुणित अधिक बड़ी कही जाती है। 'मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड' की रिपोर्ट मे स्पष्ट लिखा है कि 'अदालती न्याय' की तराजू का पलड़ा वही भारी पड़ता है जिस मे थैली अधिक भारी हो। 'जस्टिस इज़ आन दि साइड आफ़ दि लांगेस्ट पर्स' पर एक प्रजा-स्नेही सज्जन श्री वुडगर ने, अंग्रेजी मे, एक बड़ा ग्रन्थ का ग्रन्थ, सबूत सहित, चित्र सहित, छाप दिया; और पटियाला के घोर अपराध सिद्ध किये; इत्यादि। सब देश सब काल मे यही हाल रहा; कभी कम, कभी ज्यादा। कहाँ तक कहा लिखा जाय; जैसा, ऊपर कहा गया, जहाँ कहीं भी ऊपर की अच्छी चमकती त्वचा छीली जाय, वहीं, भीतर से, बीभत्स रक्त, मांस, वसा निकल पड़ती है। पर हां, त्वचा का सौंदर्य लावण्य भी एक वस्तु है ही; उस को भी नहीं भूल सकते। यदि दोष हैं, तो गुण भी हैं; 'खाय तो पछताय न खाय तो पछताय'; तो 'कम खाय और गम खाय, तब देश मे माना जाय।'

इस सब का आशय यह नहीं है कि, जिन दोषों का, मिस मेयो ने, या उन के ऐसे अन्य भारत-द्रोहियों ने, वर्णन किया है, वे भारत मे सर्वथा हैं ही नहीं। प्रत्युत, बहुत हैं। इन दोष-दर्शियों का स्वयं दोष

यह है कि वे दोष ही देखते हैं, गुण नहीं। भारतीयों को उन की बातों की सर्वथा उपेक्षा नहीं करना चाहिये, उन से भी शिक्षा लेना चाहिये, और जो दोष हम मे वस्तुतः बहुत हैं, उन को दूर करना चाहिये। *

अपराधों के दंडों की चार मुख्य राशियाँ—'चातुर्दंड्यम्'

दंड के विषय मे भगवान् मनु की आज्ञा, उसी सर्व-व्यापक सर्व-संग्राहक सर्व-नियामक सर्व-समन्वायक सर्व-उपदेशक सर्व-मर्यादक अध्यात्मशास्त्र के अनुसार, जिस के सिद्धान्तों पर कर्मणा चातुर्वर्ण्य और वयसा चातुराश्रम्य प्रतिष्ठित है, दंडों के भी, सत्त्व-रजस्-तमस् और अव्यक्त गुणो के अनुकूल, चार मुख्य प्रकारों की सूचना की है। (अति तामस) अधम पशु-प्रकृति और पाशव घोर साहसों अपराधों के लिए, विविध प्रकार के शारीर दंड, छेदन, भेदन, कर्त्तन, ताडन आदि। लोभी (तामस) प्रकृति और अपराधों के लिये, धन दंड (जुर्माने)। उद्धत (राजस) के भी, कुछ प्रकार के उक्त दोनो, तथा कारावास मे बन्धन, स-परिश्रम, (रिगरस् इम्प्रिज़नूमेंट, कैदि-बा-मशक्कत), दासता आदि। (कुछ सात्त्विक) मृदु-स्वभाव के लिए, जिस से, ऐसे ही किसी विशेष कारण से, अचानक भूल से, सहसा क्रोध सहसा काम से, अपराध हो गया हो; जो पश्चात्ताप और प्रत्यायन करता हो, अपने किये पर शर्माता लजाता हो, और प्रायश्चित्त करने को तयार हो, उस के लिए तीन, पांच, सात, पंद्रह, इक्कीस दिन का उपवास, चांद्रायण, कृच्छ्र-सांतपन आदि, सूचित वा विहित, और उचित हैं। ये उपवास सरल नहीं हैं, शरीर को और चित्त को बहुत संताप पहुंचाते हैं, तथा भविष्य के लिए सदाचार मे निष्ठित और शुद्ध भी बनाते हैं।

'तृतीया प्रकृति'

ऊपर कहा कि प्रेम प्रीति दिखा बढ़ा कर भी, आश्वासन-विश्वासन प्रलोभन दे कर भी, अनाचार होते हैं;-स्त्री-पुरुष के बीच भी; पुरुष-

---

* इस पैरा मे जो असाधारण अंग्रेजी शब्द आये हैं, उन का अंग्रेजी लिपि मे रूप यह है—Advocate; Uncle S(h)am; The Pathology of Princes; Tommy Atkins; Jacques Bonhomme; Propaganda; The Diary of a Maharaja; 'Justice is on the side of the longest Purse'.

पुरुष और स्त्री-स्त्री के बीच भी। यदि स्त्री-पुरुष दोनो वयःप्राप्त वयस्थ हैं, अविवाहित हैं, और परस्पर, जान बूझ कर, प्रीति से आगे चल कर 'रति' 'सुरत' भी किये हैं, तो प्रायः किसी भी देश मे, भारत मे भी, 'कानून' से, उन मे से किसी का दंड नहीं होता, सामाजिक बहिष्कार 'जात बाहर' आदि की कथा न्यारी; यह तो, जहां जैसी आचार-सम्बन्धी हवा बंधी हो, फैली हो, वैसा होता है। पुरुष-पुरुष मैथुन, वा पशु के साथ (वियोनि) स्त्री वा पुरुष के मैथुन, का दँड, (तथा बलात्कार का) कानूनन्, अक्सर देशों में अब तक विहित है। परन्तु पुरुष-पुरुष में, यदि प्रेमपूर्वक, घनिष्ठ सख्य और स्नेह के साथ, न केवल बहिरंग (स्पर्श मात्र वा हस्त-मैथुन आदि) अपितु (अ-योनि) अंतरंग मैथुन भी हो (गुदा, मुख, आदि से), तब पश्चिम मे तो यहां हवा अधिकाधिक बह रही है कि शासक शक्ति की ओर से, तथा समाज की ओर से, इस की उपेक्षा ही की जाय, दंड न किया जाय। वैज्ञानिक दृष्टि से यह जांचा गया, और माना जा रहा है, कि ऐसी एक 'होमो-सेक्सुअल' 'इंटर्मीडियेट सेक्स' प्रकृति ही होती है;* और जब दैवी महाप्रकृति ने उन का भी रूप धारण किया है, तो उन को भी अपने स्वभाव के अनुकूल जीवन-निर्वाह करने देना चाहिये, इस शर्त से कि किन्हीं दूसरों को, जो साधारण प्रकृति के हों, हठेन इस 'अप्राकृतिक' प्रकार (ऐब-नार्मल, असाधारण-प्रकृति) की ओर खींचा न जाय। पाश्चात्य देशों मे, 'ट्रैम्पर्स', 'होबोज़', 'ऐपाश्" गृह हीन व्रात्यों (नटों, कंजरों) के ऐसे भ्रमने वालों मे भी, तथा शिष्ट सभ्य का रूप रखनेवालों मे भी, तथा, 'मंक्स्' 'नन्स्', 'स्टुडेन्ट्स्' मे भी तथा फ़ौजी सिपाहियों मे भी, ऐसे असाधारण प्रकृति वाले जीव कुछ होते हैं। † वेश-धारियों, वैरागी-उदासियों, 'साधु-मंडलियों', विद्यार्थियों, शिष्ट सभ्य सयाने जीवों मे, भारत मे भी ऐसे अक्सर होते हैं। पूर्व पश्चिम दोनो मे, इन वर्गों मे, केवल असाधारण-प्रकृति वाले थोड़े, तो पापिष्ठ प्रकृति वाले बहुतेरे होते हैं। काम-सूत्र के एक अधिकरण मे 'तृतीया प्रकृति' की चर्चा की है, तथा 'औपरिष्टक' मुख-मैथुन और गुदा-मैथुन की; संस्कृत मे पुरुषवत् स्त्री को 'पोटा', और स्त्रीवत् पुरुष को 'भ्रुकुंस' कहते

* Homo-sexual' intermediate sex.

† Tramps : hobo-es; apache; monks; nuns; students.

हैं। ऐसे शब्दों का भाष्य, नये पाश्चात्य विज्ञान के द्वारा ही अब लिखा जा सकता है, इन सब विषयों पर प्राचीन काल मे, संस्कृत मे, विस्तीर्ण ग्रन्थ थे; इस की सूचना वात्स्यायन के उपलब्ध काम-सूत्र मे किया है; पर अब वे गुप्त लुप्त हो रहे हैं।

जिन मित्र सज्जन के, पैरिस और लन्दन की अभागिनी रूपाजीवाओं के व्यवहार के, अनुभव का हाल ऊपर लिखा, उन से, दूसरी मुलाकात मे, यह भी सुना—मुरादाबाद के पास नवाब रामपुर की राजधानी रामपुर नगर मे वे किसी काम से गये; एक ऊँचे अफ़सर के यहां टिके; एक मुकद्दमे की पेशी और कार्रवाई देखी; 'माल' की 'चोरी' का मामिला था; मालूम हुआ कि 'माल' का मानी—एक पुरुष का रक्खा हुआ, 'विवाहिता स्त्री' के ऐसा, एक 'माशूक', और 'चोर' का अर्थ यह कि उस को कोई दूसरा आदमी बहका कर 'निकाल' ले गया था, रामपुर रियासत मे, यह 'रखना' जुर्म नहीं था, बहका कर निकाल भागना जुर्म था; जैसे अंग्रेज़ी भारत मे विवाहित स्त्री को। यह घटना प्रायः पच्चीस तीस वर्ष पहिले की है। इस के बाद, रामपुर में दंडविधान कुछ बदला गया या नहीं, यह दर्याफ़्त और मालूम करने का अवसर मुझे नहीं हुआ। मामसेन ने, ईसा-पूर्व साढ़े सात सौ वर्ष का, रोम का, जो इतिहास लिखा है, उस से स्पष्ट विदित होता है कि, रोम मे, कई बार ऐसे ज़माने हुए जब वहां बिल्कुल रामपुर की सी हालत रही। 'सिपाही युद्ध' १८५७-८ ई० के बाद, अवध मे, कर्नल करी, कमिश्नर रहे; फ़ौजदारी मुकद्दमों का फैसला भी करते रहे, अंग्रेज़ी गवर्नमेंट के बनाये 'इंडियन पीनल कोड' के अनुसार ; इस दंड-विधान पर एक शरह भी उन्होंने छपवाई; उस मे ऐसे अपराधों की बहुतायत की चर्चा की है; नवाबी मे, यह कर्म, अपराध नहीं समझे जाते थे। 'पीनल कोड' (दंड-विधान) मे इस को 'अन्-नैचुरल्-आफेंस', 'जुर्म खिलाफ़ वजा फित्री', 'अप्राकृतिक अपराध', कहा है। एक 'माशूक' के लिए, दो 'आशिकों' मे, लाठी छुरे चलने और कतल तक हो जाने के मामिले, अंग्रेजी अमलदारी की फौजदारी अदालतों मे, कभी-कभी आते ही रहते हैं; मुझे, मैनपुरी जिले मे, १८९४-५ ई० मे, कुछ ऐसों की तहकीकात, मजिस्ट्रेटी हैसियत से कर के, मुलजिमों को जज की कचहरी मे भेजना पड़ा था। 'बाइबल' (यहूदी 'तौरेत') मे लिखा है कि, बहुत प्राचीन समय मे 'सोडोम' नाम का नगर, इस कुकर्म की बहुतायत के

क़ारण, दैवी कोप से ध्वस्त हो गया, सब जीव पाषाण हो गये (अर्थात् मरण-मूर्च्छा या लकवा पक्षाघात से मर गये; जैसे पुराण की कथा मे, गौतम के शाप से उन की पत्नी 'अहल्या' व्यभिचारिणी 'पत्थर' हो गई) अंग्रेजी के शब्द 'सोडोमी' (गुदा-मैथुन) का मूल, यही बाइबल की कथा है। इस्लामी विश्वास मे, पुण्यात्मा मुस्लिमो को 'बहिश्त' मे 'गुलाम' 'ग़िलमा' मिलते हैं, (जैसे हिंदुओं को 'स्वर्ग' से अप्सरा); ग्रीस देश मे, अति विख्यात साक्रेटीज, प्लेटो, अरिस्टाटल आदि के 'उज्ज्वल उदय काल' मे, ईसा-पूर्व पाँचवी और चौथी सदियों मे, यह पुरुष-पुरुष रति-प्रीति बहुत थी। बाद मे, इस प्रकार का, 'प्लेटानिक लव' (संस्कृत 'लुभ्') नाम ही हो गया। रोम मे 'बैकानेलिया' 'सैटर्नेलिया' आदि उत्सवों मे, (जैसा भारत मे 'होली' पर, और ईसाइयों मे जनता के कुछ अंशों मे 'क्रिस्मस' के अवसर पर, वा साम्प्रत इटली मे 'कार्निवल' पर, तथा मुस्लिमो के कुछ दलों मे, गुप्तरीति से, बँधे दिन रात मे, एवं यहूदियों मे भी, तथा ईसाइयों मे, 'ब्लैक मैजिक' 'ब्लैक मास' आदि कर्म-कांड करने वाले दल, जो तांत्रिक वाममार्ग के अनुकारी ही हैं), सब मर्यादा फेंक कर, मनमाने, जिह्वा-उपस्थ-सम्बन्धी अनाचार दुराचार करते रहे हैं। ७९ ई० मे, इटली देश के दो नगर, हर्क्युलेनियम् और पांम्पीआइ, समुद्र के तीर पर बसे हुए, पास के ज्वालामुखी पर्वत वेस्युवियस् के विस्फोट से ध्वस्त हो गये; उद्गीर्ण राख के ढेर में दब गये; नगरों के स्थान पर टीले ही देख पड़ते थे; १८ वीं सदी ई० के आरम्भ मे अचानक, किसी हेतु से, एक स्थान पर खोदने से, गृहों की छतें देख पड़ीं; तब से बहुत खुदाई की गई है, और बहुत सी बहु-मूल्य वस्तुएँ मिली हैं, और 'म्युज़ियम' बना कर रक्खी गई हैं; जैसे भारत मे इधर तीस चालीस वर्ष के भीतर, सारनाथ, नालन्दा, तक्षशिला, मोहन-जो-दड़ो, हारप्पा, आदि मे, तथा काश्मीर और तिब्बत के उत्तर, गोबी नामक मरुभूमि और तुर्किस्तान के बालू के टीलों मे, तथा अन्य बहुत देशों के बहुत स्थलों मे, जहां-जहां खंडहरों का पता चला है। इटली के वे दोनो उद्यान-नगर, रोमनिवासी अमीरों के क्रीड़ा स्थल थे; अब, उन मे, राख के हटाने पर, कई 'मंदिरों' मे नग्न स्त्री-पुरुष की मूर्त्तियाँ, बहुत सुन्दर और अखण्डित, 'कामीय' चेष्टाओं मे व्यापृत, मिली हैं, जो वर्त्तमान नेपल्स नगर के एक म्युज़ियम (अजायब घर, 'आश्चर्य'-गृह)

मे सुरक्षित हैं । भारत मे भी, जगन्नाथपुरी, सिंहाचल, श्रीरंग, चिदंबर, मदुरा, तनजोर, रामेश्वर आदि के मंदिरों मे, तथा काशी के 'नैपाली खपरा' नाम से प्रसिद्ध मंदिर मे भी, ऐसी मूर्त्तियां, दीवारों पर खुदी हुई आज तक हैं; ऐसी अश्लील मूर्त्तियों के बनाने का हेतु पूछने पर, पुजारी लोग, तरह-तरह की बातें बनाते और बताते हैं। यह तो प्रायः प्रसिद्ध ही है कि जगन्नाथपुरी के मुख्य मंदिर के बहुत निकट, वाम-मार्गियों का मंदिर है, और मुख्य मंदिर मे भी देवदासियों का नृत्य होता है, इत्यादि । इस सब से विदित होता है कि सभी देशों और सभी कालों मे, 'प्राकृतिक' स्त्री-प्रकृतियों के साथ-साथ (वर्त्तमान युग मे ठीक ही 'अप्राकृतिक' कहलाती) 'तृतीया प्रकृति' कम-बेश होती रही है । वानरों मे प्रत्यक्ष देख पड़ती है ।

भारत के अधःपात का एक प्रधान कारण

अपने ही किये जिन महापातकों के हेतु से भारत-जनता, भारत-धर्म, भारत-देश, का ऐसा अधःपात हुआ, और अधिकाधिक होता जा रहा है, उन मे यह दारुण व्यवसाय, अबला-यातना का, तथा अन्य प्रकारों से भी बहुतेरा अपमान और पीड़न, स्त्रियों का, एक प्रधान महा-पातक है, जिस के कारण यह देश नितान्त पराधीन, परायों की जूतियों के तले, पड़ा हुआ है; छटपटाता है, पर कुछ भी कर नहीं सकता; अत्यन्त विवश है; क्योंकि अपना आचरण, अपना 'स्व'-भाव, नहीं शोधता; प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक दल, प्रत्येक जात, प्रत्येक पन्थ, दूसरों को ही बुरा कहता है, सब दुःखों के लिए दोष देता है, और अपने को सर्वथा भला और गुणमय मानता बखानता है ।

राजन् सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि ;
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन् अपि न पश्यसि ।
यत्र नार्यस् तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ;
यत्र एतास् तु न पूज्यन्ते, सर्वास् तत्र अफलाः क्रियाः ।
शोचन्ति जामयो यत्र, विनश्यति आशु तत् कुलं ;
यत्र एतास् तु न शोचन्ति, वर्धते तद् हि सर्वदा ।
जामयो यानि गेहानि शपंति अ-प्रतिपूजिताः ;
तानि कृत्या-हतानि इव विनश्यंति समन्ततः ।

तस्माद् एताः सदा पूज्याः, भूषणाऽच्छादना-शनैः,
भूतिकामैर् नरैर् नित्यं, सत्कारेषु उत्सवेषु च ।
संतुष्टो भार्यया भर्त्ता, भर्त्रा भार्या तथा एव च,
यस्मिन् एव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवं ।

सर्सों से छोटे छिद्र दूसरों के देखते हो; बेल से बड़े छिद्र अपने नहीं देखते हो । जिस कुल, परिवार, वंश, समाज मे, स्त्रियों का अनादर अपमान किया जाय, स्त्रियों को पीड़ा दी जाय, जिस को वे रोती विलपती सिसकती स्त्रियां शापैं, वह कृत्या (कोसना, 'कर्स' मानस-अस्त्र) से, विद्युत् बिजली से, मारे हुए के ऐसा, सद्यः नष्ट हो जाता है । जिस कुल मे स्त्रियों का, भूषण, आच्छादन, भोजन से, प्रीति-पूर्वक सत्कार होता है, वही कुल फूलता-फलता है; जिस गृह मे भर्त्ता से भार्या और भार्या से भर्त्ता प्रसन्न है, संतुष्ट है, वहीं स्थायी कल्याण है, वहीं स्वर्ग है।

घोर हानिकारक 'थोथे नारे, अर्थ विसारे'

अंग्रेजी मे कहावत है, 'दि एम्पटी वेसल साउन्ड्ज़ मच,' 'the empty vessel sounds much'; 'रीता घड़ा, शब्द बड़ा' 'भारी ढोल, निरा पोल'; 'लफ़्ज़ कसीर, मानी सग़ीर'; 'सूरत फ़ज़ील, सीरत ज़लील' ।

विना 'स्व'-कीय 'स्व'-भाव शुद्ध किये, 'स्व-राज' 'स्व-राज' का थोथा शोर करना, अर्थशून्य व्यर्थ अपार्थ अनर्थ 'नारे' (घोष, आक्रन्द, पुकार) लगाना चिल्लाना, नितान्त मूर्खता है, और अधिक पराधीनता और दुःखों का हेतु है । जब 'स्व-राज्य' के 'स्व' का ठीक अर्थ जनता जान लेगी, कि क्षुद्र-'स्व-अर्थ'- (-स्वार्थ-)-कामी नहीं, राजस-तामस-कामऽात्मक अधम-'स्व'-वाले नहीं, पर-अर्थ-कामी सर्वजनीन-हित-कामी, सात्विक-कामात्मक निस्स्वार्थी परार्थी उत्तम-'स्व'-वाले, लोक-हितैषी, विद्वान् , अनुभवी, परिपक्व वयस् और बुद्धि के, समाज के सब अंगों के अच्छे और जरूरी पेशों के यथोचित पोषण की नीयत रखते हुए, और सच्चे वर्णाश्रम धर्म के द्वारा समग्र समाज की उत्तम सु-व्यवस्था करने का उपाय भली-भांति सोचे विचारे और जाने हुए, मनुष्यों का राज्य ही सच्चा 'स्व'-राज्य है; क्योंकि इस सर्वजनीन हित के साधने का उपाय सत्य-वर्ण-आश्रम-धर्म-रूपिणी समाज-व्यवस्था ही है । जब ऐसा

होगा, तब ही जनता का 'स्व-राज्य' शब्द का घोषण करना सार्थ होगा; और कृतार्थ भी होगा; अन्यथा नहीं। विवेक-पूर्वक, अल्प-स्व-अर्थी स्वार्थी 'काम' का नियमन, सीमित-करण—यह, इस सन्-मार्ग का पहिला पद (क़दम) है। यदि सब लोग अपने दोष और पराये गुण अधिक देखैं, अथवा, कम से कम, अपने भी और दूसरों के भी गुण भी और दोष भी देखैं, तो सब कलह शांत हो जाय, सत्ययुग का राज्य हो जाय, कलियुग भाग जाय। अपने तो गुण ही, दूसरों के दोष ही, सब लोग देख रहे हैं, इसी से कलह का उद्रेक और कलि का साम्राज्य हो रहा है। अंग्रेज़, जर्मन को; जर्मन अंग्रेज को; जापानी, चीनी को; चीनी, जापानी को; रूसी, जर्मन को; जर्मन, रूसी को; अंग्रेज़, रूसी को; रूसी अंग्रेज को; हिन्दू, मुसलमान को; मुसलमान, हिन्दू को; इत्यादि हर एक, दूसरे ही को बुरा समझता है और पुकारता ललकारता है; अपने को सर्वथा अच्छा ही जानता है। जगत् मे शांति, अहिंसा, और सत्य का राज्य, सत्ययुग, कैसे हो? यदि, मारा-मारी करने के एवज, सब लोग मिल कर शाइस्तगी से सलाह करैं, अपने-अपने काम-क्रोध को दबावैं, अपने दोषों को भी और दूसरे के गुणो को भी देखैं, एक दूसरे की ज़रूरतों को समझैं, और उन को मुनासिब हद तक पूरा करने मे मदद दें, तो ये सब झगड़े आसानी से निपट जायँ। वही पुरानी बात, "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पंडितः"। पर बनता नहीं, प्रत्येक देश मे, काम, क्रोध, लोभ, गर्व, परस्पर भय, और ईर्ष्या की आंधी मे ही, शासक समूह अपने-अपने अनुयायी, मन्त्र-संमोहित, जड़ी-भूत, भेड़-बकरी के ऐसे, प्रजा-समुदाय के साथ, उड़ता रहता है।

(जिस 'नोट' का आरम्भ पृ० २१६ पर हुआ, वह यहाँ समाप्त हुआ)

ब्रिटेन आदि पाश्चात्य देशों की दशा

सन् १९४२ में, ब्रिटेन के स्वास्थ्य-विभाग के एक बहुत ऊंचे अधिकारी ने, जनता को सावधान करने के लिए, अपने विभाग के कार्य की कठिनता के उल्लेख की आड़ में, यह चेतावनी दी कि ब्रिटेन मे, और विशेषतः लंदन महानगर मे, एक नया संकट बढ़ गया है; अविवाहिता युवतियो मे 'वेनीरियल् डिज़ीज़', गुह्येन्द्रिय-सम्बन्धी रोग, की बहुत वृद्धि हो गई है; क्योंकि वे, युद्ध मे ब्रिटेन की सहायता करने के लिए अमेरिका

से आये हुए सैनिकों के साथ, निश्शंक हो कर 'अतिथि-सत्कार' के भाव से, उन का मन प्रसन्न रखने के लिए, स्वच्छन्द विचरती हैं और सिनेमा गृहों मे तथा अन्य मन-बहलाव के स्थानो मे घूमती फिरती हैं। अमेरिका से आये हुए सैनिकों पर, ध्वनि से, दोष मढ़ा गया; पर ब्रिटेन की स्त्रियों के चित्त की दशा का भी प्रदर्शन उसी ध्वनि से होता है। स्वयं ब्रिटेन के सैनिक, जो युद्धकाल मे, अपने देश मे तथा अन्य देशों मे ऐसी ही कर्तूत करते रहे हैं, उस का भी इन्हीं प्रकारों का वर्णन, स्वयं अंग्रेजी ग्रंथों मे मिलता है; तथा भारतीय और अन्य-देशीय सैनिकों का भी युद्धकाल मे सदा से यही हाल रहा है: 'वीर्यमद' का तांडव, हत्या, स्त्रियों पर बलात्कार, लूट, ध्वंसन, सभी प्रकारों से, साथ ही साथ, होता है। योगभाष्य मे, 'वितर्कं बाधने प्रतिपक्ष-भावनं' (सूत्र २-३३) पर, वितर्को का रूप लिखा है - 'वैरी को मार डालूंगा, इस कार्य के लिए झूठ भी बोलूंगा, इस का धन दौलत सब लूट लूंगा, इस की स्त्रियों से व्यवाय (मैथुन) करूंगा, इस के माल-मता का मालिक बन जाऊंगा'। शहरों और ग्रामो मे पद-पद पर देख सुन पड़ता है कि अभद्र मनुष्य आपस मे क्रोध से लड़ते हैं, तो मार पीट के साथ साथ एक दूसरे को मा बहिन बेटी की और अ-योनि-मैथुन की गाली भी दे जाते हैं; तथा ऐसी स्त्रियां भी जब लड़ती हैं, तब एक दूसरे को अश्लील शब्दों मे, तरह-तरह के व्यभिचार के और वि-योनि मैथुन के दोष भी लगाती जाती हैं।

'उपस्थीय' काम के विकारों का; उन से उत्पन्न अति विचित्र, अप्राकृतिक, अस्वाभाविक क्रियाओं का; घोर अपराधों, पापों, रोगों का; हत्याओं, विट-वृत्तियों, वेश्या-वृत्तियों, पुरुष-पुरुष मैथुनो, स्त्री-स्त्री मैथुनो, मनुष्य-पशु मैथुनो का* राजाओं, रानियों, मंत्रियों, उच्चाधिकारियों, के व्यभिचारों

* ऊपर पृ० २१९–२२० पर चेतावनी दी जा चुकी है; याद रहे कि इन सब धर्म-विरुद्ध दुष्कर्मों की, अ-योनि मैथुन (मुख मे वा गुदा स्थान मे), वि-योनि-मैथुन (नर-मादा-पशुओं के साथ), सम-उपस्थ मैथुन (अंग्रेजी मे 'होमो-सेक्सुएलिटी', अर्थात् समान लिंग स्त्री-स्त्री के, पुरुष-पुरुष के, मैथुन), आदि की चर्चा काम-शास्त्र मे की है; और स्मृतियों मे इन के लिए, अपराधों के अनुरूप, छोटे-बड़े प्रायश्चित्त और दंड भी विहित हैं। जो लोग इस की ओर थोड़ा भी ध्यान देंगे, उन को तुरत

का; उन के कामीय दोषों के कारण चक्रों पेटकों (गुट्ट, 'कोटरी', coterie) के बनने का; जिन की चर्चा प्रायः साधारण 'भद्र' इतिहास लिखने वाले या तो अज्ञान-वश, या अश्लीलता के अपयश के भय से, अपने लिखे इतिहासों मे नहीं करते; पर जिन के कारण, देश-देश के इतिहास की गति मे बड़े-बड़े परिवर्त्तन हो गये हैं, और हो रहे हैं,

---

पता लग जायगा कि ऐसे अनाचार कितने फैले हुए हैं, और बहुतेरे सयानो प्रौढ़ों को मालूम भी हैं ही, यद्यपि जल्दी इस की चर्चा सब के सामने नहीं करते; जो स्वयं भले हैं, वे शर्मा-शर्मी से, 'लोक-लाज' से; जो स्वयं दुष्ट हैं, वे तो छिपा कर अपना पाप बढ़ाते रहते हैं, और मन मे भले आदमियों का क्रूर अपहास भी करते हैं, और पकड़े जाने के भय से भीत भी रहते हैं। भारतीय तथा अन्य देशीय सेनाओं के अफसर और डाक्टर अच्छी तरह से जानते हैं कि सिपाहियों मे, जो अपने कलत्र-पुत्र आदि से, वा सब प्रकार की स्त्रियों से, स्वकीया, परकीया, वा वेश्याओं से, अलग पड़ गए हैं, इस प्रकार के अयोनि वियोनि मैथुन बहुत होते हैं। यही हाल, बड़े-बड़े यन्त्रालयों कारखानों कर्मान्तों का है, जहां पुरुष ही पुरुष, वा स्त्री ही स्त्री, एकत्र होती हैं। यही हाल, अयोनि मैथुन का, स्कूलों कालिजों मे और वहां के अध्यापकों मे है; इस की चर्चा, पहिले, पृ० २०९–२१२ पर, कुछ की जा चुकी है। यह सब दोष पूरब के भी, पच्छिम के भी, सभी देशों मे, घोर घोरतर रूप से सदा रहे हैं और बढ़ते जाते हैं। मानव-सभ्यता, 'सभा' की व्यवस्था, सामाजिक वा सामूहिक जीवन, प्रकट जीवन, ('सिविलज़ेशन', 'सोशल स्ट्रक्चर', 'वे आफ कलेक्टिव और सोशल लाइफ' Civilisation, Social structure, Way of collective or Social life), का रूप और प्रकार ज्यों-ज्यों बदलता है, त्यों-त्यों उस के प्रभाव से, वैयक्तिक और कौटुम्बिक जीवन और 'अप्रकट-जीवन' ('प्राइवेट लाइफ़' private life) का रूप और प्रकार भी अवश्य ही बदलता रहता है।

गुरुकुलों की प्रथा, और विद्यार्थी जीवन मे ब्रह्मचर्य की महिमा, और आश्रम-व्यवस्था, जिस काल और देश मे व्याप्त थी, उस मे इस प्रकार के अनाचार-दुराचार का संभव कम था। आजकाल, बालक-बालिकाओं, युवा-युवतियों, के सह-अध्ययन की चाल, जो बढ़ते वेग से चल रही है, उस से अविवाहित मैथुन, गर्भाधान, गर्भपातन, रोग-

और जिन का ठीक-ठीक हाल जाने बिना, इतिहास की गति के पलटे समझ मे नहीं आते; इन सब का गवेषण, इस विषय के पाश्चात्य गवेषकों ने बड़े परिश्रम से किया है, और बड़े-बड़े बृहत्काय, पांच-पांच, सात-सात, दस-दस, जिल्दों के आकर ग्रंथों मे वर्णन लिखा है। ऐसा करने के कारण, शुरू मे, ऐसे लेखकों को बहुत कठिनाइयां और

भोग, आत्म-हनन, सहोढ (गर्भेण-सह, दूसरे के वीर्य से गर्भ मे आये जीव के साथ, स्त्री का) विवहन, (अन्य से गर्भ रह जाने पर, छिपा कर, दूसरे से विवाह करा कर) पति-वंचन, आदि, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन को आधि-व्याधि-मय और नितान्त भ्रष्ट कर रहे हैं, और सामूहिक घोर-चित्त-विकार उत्पन्न कर के तीव्र कलहों और महायुद्धों के कारण हो रहे हैं।

देश-देश मे, शासकों ने, सेनाओं के साथ, कभी वेश्याएँ रखने की, कभी व्याहुता (विवाहिता) स्त्रियां रखने की, तरह-तरह की आजमाइशें कीं; पर एक दुष्फल कुछ रुका, तो दूसरे दुष्फल, अधिक तीक्ष्ण, उत्पन्न हो गये।

ऊपर, 'अप्राकृतिक', 'अस्वाभाविक' ('ऐब्र-नार्मल' abnormal) आदि शब्द लिखे गए हैं। व्यापक 'सार्विक' 'सामूहिक' दृष्टि से तो महा-प्रकृति, पारमात्मिक मूल-दैवी-प्रकृति, के बाहर कुछ हो ही नहीं सकता; पर देशकाल से अवच्छिन्न, परिमित, आपेक्षिक, ('रेलेटिव', relative) खंडग्राहिणी व्यावहारिक दृष्टि से, 'प्राकृतिक', 'स्वाभाविक' ('नार्मल' normal) का अर्थ इतना ही है, कि उस देश और काल मे, वह जीवन प्रकार, वह रहन-सहन, आचार-विचार, आहार-विहार, बोल-चाल, दुआ-सलाम, स्त्री-पुरुष के परस्पर व्यवहार की मेड-मर्यादा, अधिकतर समाज मे प्रचलित और मान्य है; जो प्रचलित वा मान्य नहीं है, निन्दा वा शंका की दृष्टि से अधिकतर देखा जाता है, वह 'अप्राकृतिक' कहलाता है।

'उपस्थ' शब्द पुरुष के लिंग, शिश्न, मेढ्र, मेहन, शेफ, का भी वाचक है, तथा स्त्री के लिंग, योनि, भग, वराङ्ग, मदन-मंदिर, का भी; 'योनि' भी दोनो का; पर रूढ़ि यही है, कि 'लिंग' पुरुष-चिह्न के लिए, 'योनि' स्त्री-लक्षण के लिए, कहा जाता है।

दुर्दशाएं, सामाजिक निन्दा और तिरस्क्रिया, भी झेलनी पड़ीं; और कचहरियों से दण्ड भी सहना पड़ा; पर अंत मे, जनता ने, तब पीछे 'जज्जों' प्राड्विवाकों ने भी, पहिचाना, कि इन को दंड नहीं, आदर देना चाहिये; मनुष्य-जीवन के प्रधान अंग के शास्त्र की नीवी उन्हों ने पुनः डाली है, भारतवर्ष के लुप्तप्राय प्राचीन विशाल काम-शास्त्रीय वाङ्मय का (जिस के कुछ ही वृहत्काय ग्रंथों का नाम वात्स्यायन के उपलभ्यमान अति स्वल्प 'कामसूत्र' के आरम्भ मे लिया गया है) पुनः नये रूप मे उज्जीवन किया है, ज्ञान-विज्ञान बढ़ाया है, अंधेरे मे प्रकाश किया है। सुधारकों की सदा ऐसी दुर्दशा होती रही है; राजस-तामस जन्तु जिस हाथ से रोटी पाते हैं, उसी हाथ को काटते हैं। "सतत-दुर्गतः सज्जनः।"

अब इस विषय पर, पश्चिम मे, हजारों छोटे और मोटे ग्रन्थ निकल चुके हैं और निकलते जाते हैं; तथा प्रायः सभी राष्ट्रों मे, एक एक, दो दो, वा अधिक, प्रतिष्ठित मासिक पत्र भी छपते रहते हैं; जैसे अन्य शास्त्रों के। पर मनुष्य की प्रकृति की द्वंद्वमयता के हेतु से, नये ज्ञान-विज्ञान का घोर दुरुपयोग भी बढ़ता जाता है। इन पाश्चात्य ग्रन्थों मे, जो अति 'काम' वा विषम 'काम' से प्रेरित पापों का वर्णन मिलता है, उस को पढ़ कर, हृदय दहल जाता है; यह पृथ्वी नहीं, साक्षात् नरक है, यही जान पड़ने लगता है; ऊपर का कोमल चमड़ा जरा सा छीलो, तो नीचे मल ही मल देख पड़ता है; स्त्री और पुरुष, परस्पर, जितना सताते हैं, उस से अधिक यातना यमराज की दंडधानी मे भी नहीं हो सकती है; आपात-रमणीय, देखने मात्र को ऊपर से चिकना, स्निग्ध, भीतर नितांत मलमय, चित्त भी, शरीर भी, धारण करना नहीं अच्छा, छोड़ देना ही अच्छा—ऐसे वैराग्य के उत्कट भाव, मृदु-वेदी सुकुमार चित्त के जीव के भीतर उत्पन्न होते हैं। परन्तु,

महामाया-प्रभावेण, संसार-स्थिति-कारिणा,

संसार की स्थिति बनाए रखने वाली महामाया की पूर्वार्धरूप अविद्या देवी के प्रताप से; अथ च परार्धरूप विद्या देवी की आज्ञा से, कि

अनासक्तः फले नित्यं, कृत्यं कर्म समाचर,
(परेषां सेवनार्थाय, ऋणोद्धाराय चात्मनः), (गी०),

फल की इच्छा आशा मे मन अँटकाये बिना, कर्तव्य कर्म करो; दूसरों की सेवा सहायता विविध प्रकारों से कर के अपने देव-ऋषि-पितृ-ऋणो को चुकाओ, तथा दूसरों का अपराध रूपी दुष्कर्म कर के इस जन्म और पूर्व जन्म मे काढे-ओढे ऋणो का, दूसरों के लिए दुःख उठा कर, मानो दंड भोग कर, निर्यातन निर्मोचन करो; तथा वेदान्त के इस सिद्धांत को याद कर के, कि सृष्टि मे पुण्य और पाप की मात्राएँ, अंततो गत्वा, कांटा-तौल तुल्य है; पुनः कार्य मे लगना पड़ता है। अन्न से खाद, और खाद से अन्न, पैदा होते ही रहते हैं। 'संसार-चक्र' का अर्थ ही यही है।

यु० स्टे० अमेरिका मे, शारीरशास्त्र, प्राणिशास्त्र, सचेतनशास्त्र ('बायालोजी' 'फिजियालोजी') के एक अग्रगण्य विज्ञाता और नये नये अद्भुत आविष्कार करने वाले उपज्ञाता, श्री अलेक्सिस कैरेल का देहावसान, ७१ वर्ष की उम्र मे, नवम्बर, १९४४ मे हुआ। आप ने 'नोबेल' पुरस्कार, तथा अन्य राष्ट्रों से भी अर्हणा की उपाधियां, पाईं। सन् १९३५ मे इन का एक ग्रन्थ, 'मैन—दि अन्नोन' (Man-the Unknown, 'पुरुष—अज्ञात'), छपा। बहुतेरे पाश्चात्य उत्कृष्ट विद्वानों के सिद्धान्तों का हवाला देती हुई, तीन सौ पृष्ठ की, इस पुस्तक की पुकार और चेतावनी यही है, कि आधुनिक सभ्यतम मनुष्य अन्य बहुत विषयों को जानता है, पर 'अपने' को ही ठीक-ठीक नहीं जानता, 'आपणे' ('आत्मानं') को आप 'अज्ञात' है, और 'माडर्न सिविलजेशन' ('नूतन पाश्चात्य शालीनता सभ्यता'), अधि-आत्म से अति विरक्ति, और अधि-भूत मे अति आसक्ति अनुरक्ति, के हेतु, सारहीन, निस्सत्व, पोली, विनाशोन्मुख हो कर, अन्ध कूप मे गिरने जा रही है; तथा इस आसन्न विपत्ति से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि, अधि-भूत की अति रुचि का नियमन, नियंत्रण, मर्यादन (सर्वथा उत्सादन नहीं) किया जाय; और अधि-आत्म की प्रसुप्त उच्छिन्नप्राय रुचि पुनः जगाई जाय। सो उन का, तथा सब देशों के सभी विचारशील, विवेकी, दूरदर्शी, शांतिप्रिय, अध्यात्म और अधिभूत का यथोचित समन्वय चाहने वाले सज्जनो का, यह भय सत्य हो ही गया; और १-९-१९३९ को, यूरोप मे, प्रजाविनाशी विश्व-युद्ध शुरू हो ही गया। प्रायः छः वर्ष तक, एक ओर प्रजा की यम-यातना, दूसरी ओर युद्ध की तीव्रता और उग्रता, बढ़ती ही गई। मई, १९४५ मे, जर्मनी ने, सितम्बर, १९४५ मे, जापान ने, हार माना।

यू० स्टे० अमेरिका के अपार धन और अद्वितीय विज्ञान के आगे, जापान का अद्वितीय शौर्य और बहुत बढ़ा हुआ भी विज्ञान, धन और रण-सामग्री की कमी से, निष्फल हो गया। कई कोटि 'डालर' के व्यय से, कई वर्ष के नितान्त छिपाए हुए परिश्रम से, यू० स्टे० अ० के वैज्ञानिकों ने 'ऐटम-बम' (atom bomb) तैयार किए। ८ अगस्त, १९४५, को जापान के हिरोशिमा नगर पर, और ९ अगस्त, को नागासाकी नगर पर, एक-एक ऐटम-बम गिराया गया। ढाई-ढाई तीन-तीन लाख आदमियों की बस्ती सहित, दोनो नगर मानो धूल हो कर हवा मे उड़ गए। उन का कुछ निशान भी नहीं बचा। जापान के सम्राट् और शासकों ने देखा कि अब भी लड़ते रहना तो सारी जापानी जाति को मिटा देना है। देखिये, अब विजेताओं के हाथ जापान जाति और देश की क्या दशा होती है। अत्यन्त आभिजात्य-मद (racepride) ने ही जर्मनी का भी और जापान का भी नाश किया।

अपने भीतरी कलहों से छिन्न-भिन्न जीर्ण-शीर्ण इस अभागे भारतवर्ष मे तो अन्धस्वार्थ, अन्धकलह, पराकाष्ठा के दम्भ, दैन्य, छल-कपट, मिथ्यावादिता, दगाबाजी, परस्पर नितान्त अविश्वास, शंका, भय, चापलूसी, चर्ब-जबानी, चाटुकारिता, का राज्य हो रहा है। और न सच्चा शौर्य है, न सच्चा धर्म, न धन, न विज्ञान-कौशल। पर, जैसे वृद्ध शरीर मे, अनुभव से पक्व बुद्धि और प्राण की अवशिष्ट सूक्ष्म ज्योति भी, जरा (बुढ़ापा) देवी की सहचरी व्याधियों की मंडली के साथ-साथ अन्त तक कुछ न कुछ बनी रहती है, वैसे ही आत्म-विद्या, अध्यात्म-विद्या, योग-विद्या की कुछ थोड़ी सूक्ष्म स्वल्प प्रभा आभा अब भी जहां-तहां भारत मे बच रही है। ऐसे भारतवर्ष मे, बीस पच्चीस वर्ष से, यह भविष्य वाणी फैल रही है कि, घोर कष्टों के अनन्तर, सम्वत् २००० की समाप्ति (अप्रैल १९४४ ई०) के बाद, अस्सी वर्ष का एक बहुत छोटा सत्ययुग के ऐसा अवांतर युग होगा। सम्वत् २००० वि० बीत गया; अभी तक सत्ययुग के लक्षण कोई देख नहीं पड़े; किन्तु परमात्मा जगदात्मा की अनन्त 'काम' शक्ति के लिए कुछ भी असम्भव नहीं; एक क्षण मे सारी हवा बदल सकती है। अस्तु; अनादि अनन्त काल और आकाश मे जो कुछ हुआ, हो रहा है, होगा, वह सब ही 'कामस्य विक्रीडितं', 'अकामस्य, सर्वकामस्य, महाकामस्य, निष्कामस्य, मूलकामाधिपतेः, सर्वकामातीतस्य,

देश-काल-क्रिया-रहितस्य, अक्रियस्य, सर्वक्रियस्य, अविद्या-विद्या-मयस्य, सर्व-द्वंद्व-गर्भस्य, सर्व-द्वंद्व-रतीतस्य, लीला-कैवल्य-धारिणः, भगवतो जगदात्मनः परमात्मनः कामस्य लीलायितम्' ।

महाभारत मे पांडव-कौरवीय प्रजानाशक घोर 'महा-युद्ध' ('ग्रेट वार',) के कारणो मे (यमराज को अणीमांडव्य ऋषि के शाप, और पृथ्वी पर विदुर के रूप मे जन्म, के) रूपक से भी, और स्पष्ट शब्दों मे भी, दो मुख्य कारण कहे हैं।

आपूर्यंत मही कृत्स्ना प्राणिभिर् बहुभिः भृशं;
असुराः जज्ञिरे राज्ञां क्षेत्रेषु, (बहवः तथा) ।

कुछ वर्षों तक राजा धर्मात्मा हुए; प्रजा को सुख मिला; मैथुनीय काम की और मनुष्य संख्या की अति वृद्धि हुई; परस्पर संघर्ष, जीवन संग्राम, घोर कलह, का बीज, अंखुए निकाल कर, बाहर आया और बढ़ने लगा। दूसरी ओर, धर्मात्मा राजाओं के घरों मे असुरों, दैत्य-राक्षस जीवों, ने जन्म लिया; अति वीर्य-मद, लोभ, क्रोध, मत्सर आदि के 'गुलाम', और प्रजा के 'राजा'। संसार मे दुःख भर गया; महाभारत युद्ध हुआ। मात्स्य-न्याय चला; जैसे मछलियां, एक एक वेर मे लाखों अण्डे देती हैं, फिर एक दूसरे को खा जाती हैं, वह हाल मनुष्यों का हुआ। वही हाल आज समग्र मानव-जगत् का हो रहा है।

काहे दुख संसार छयौ रे, काहे दुख संसार छयौ ?
काम क्रोध मद लोभ मोह भय मत्सर कौ जब राज चल्यौ,
तब ही जग मे दुःख छयौ।
प्रेम प्रीत मुसक्यान विनोद रु हंसिबो स्वप्न भयौ।
हाहाकार, परस्पर नाशन, चहुँ दिसि होइ रह्यौ।

ऊपर कहा कि द्वितीय विश्व-युद्ध अधिकाधिक फैलता और जगत्-प्रमाथी होता गया; यहां तक कि जल, स्थल, अनिल मे सर्वत्र व्याप्त हो गया; कोई महा द्वीप या लघु द्वीप इस से बचा नहीं; साक्षात् रक्तपात और मांस-कर्दम से; वा परम्परया, रण की सामग्री एकत्र करने के हेतु किये गये शोषण मोषण से। पुराणो के देवासुर संग्रामो को भी इसने मात कर दिया; चारो ओर रुधिर की नदियां बहीं; कोटियों मनुष्यों की शक्ति का, घोर अपव्यय हुआ; एक ओर युद्ध के उपकरण,

स्थल-यान जल-यान, अन्त र्जल-चर-यान, वायु-यान, गोला, बारूद, 'बम', 'टैंक', सौ सौ फुटतक लम्बी और बारह बारह हजार मन तक भारी तोपों, को बनाने मे; और दूसरी ओर विगाड़ने, तोड़ने, फोड़ने, समुद्र और नदियों मे डुबाने मे। बड़ी बड़ी नगरियाँ, राजधानियां, बम-वर्षा अग्नि-वर्षा से ध्वस्त कर के, उजाड़ी, और खंडहल और राख के ढेर बनाई, गईं; जहाँ जहाँ पेट्रोल, तेल, बारूद, वा 'गैस' के विशाल संचयों (गोदामो, 'गो-डाउन', खजाना, गंज) मे बमो से आग लगाई गई, वहाँ वहाँ हजारों गज ऊंची आग की लपटें और कोसों ऊँचे धूएं के बादल उठते रहे; और बिजली की तड़क और गरज को अति क्षुद्र बना देने वाले धड़ाके, विस्फोट, होते रहे; दस दस, पंद्रह पंद्रह, बीस बीस, और तीस तीस करोर रुपयों की, वा इस से भी अधिक, लागत के* सैकड़ों

* जापानी जल सेना के एक अफसर, किनोआकी मात्सुको ने, जापान मे, अपनी भाषा मे, १९४० ई० मे एक ग्रन्थ छपवाया; उस का अनुवाद, अंग्रेजी मे 'हाउ जापान प्लान्स टु विन्' ('How Japan Plans to Win), नाम से, एक जापान विद्रोही कोरिया-देशी पुरुष, किरसु-हान ने यू० स्टे० अमेरिका मे १९४२ मे छपाया; उस के पृष्ठ ४२ पर छपा है कि ४५००० (पैंतालीस हजार) टन् (बारह लाख मन) के जंगी जहाज का मूल्य सौ मिलियन (दस करोर) डालर (बीस मिलियन पौंड वा तीस करोर रुपया), और पैंतीस हजार टन् के युद्ध-वहित्र का सात करोर रुपया होता है। सिंगापुर, मलाया, बर्मा आदि पर, जापानियों ने, १९४१ के अन्त और १९४२ के आरम्भ मे कब्जा कर लिया; १९४२ के अन्त मे कलकत्ता पर बम-वर्षा की; और तब से भारत की पूर्वी सीमा पर, (आसाम बर्मा के बीच मे) उन की और ब्रिटिश गवर्नमेंट की सेनाओं मे सतत युद्ध होता रहा। १४ अप्रैल १९४४ को बम्बई के जहाजी बन्दरगाह मे, अमेरिका से आए हुए, फौजी सामग्री, बहुत सा सोना, बारूद, बम गोला, आदि से भरे हुए, एक भारी जहाज मे भीतर भीतर आग लग गई, भारी विस्फोट हुआ, अग्नि के गोले शहर पर फैल-फैल कर गिरे; मीलों तक मकान टूट गए; हजारों आदमी हताहत हुए; एक तखमीना किया गया कि जहाज का और शहर का नुकसान मिला कर, प्रायः पाच सौ कोटि रुपयों के तुल्य सम्पत्ति का ध्वंस हुआ; स्यात् कुछ अत्युक्ति हो।

मुसाफिरी और जंगी जहाज, जल के भीतर से 'टार्पीडो' अस्त्र की मार से, और वायुमण्डल के भीतर से 'वम' अस्त्र के प्रहार से; आध-आध घन्टे मे, हजारों मुसाफिरों, सिपाहियों, खलासियों, अपार अन्न वस्त्रादि सामग्रियों समेत डुवा दिये गए; छोटे जहाज तो हजारो; लाखों मनुष्य, (न केवल युद्ध के पेशे वाले फौजी, बल्कि दूसरे पेशे वाले आदमी, अपने देश छुड़वा कर, मजबूरन (अगत्या, वेबसी, विवशता से, सेना मे भरती किये गये, और दो तीन महीने मे आरम्भिक फौजी 'कवायद' सिखा कर युद्ध मे झोंक दिये गये। ये तो मृत्यु के मुख मे 'सशस्त्र' वन कर गये ही; इन के अलावा गांवों और शहरों मे वाकी वचे, निःशस्त्र, दूसरे पेशे करते हुए पुरुष, घर गिरस्ती का काम करती हुई स्त्रियां, स्कूल मे पढ़ते खेलते लड़की लड़के भी, इन शहरो और गांवों पर की गई वमवर्षा, अग्निवर्षा, गोलीवर्षा, से लाखो की संख्या मे हताहत हुए, जान से मारे गये, वा आमरण, सारी वाकी उम्र के लिए, अन्धे, लंगड़े, लूले, वहिरे, हस्तहीन, पादहीन, नासिकाहीन, वनाये गये। इस प्रकार से, इस घोर कलि के तांडव मे पचासों कोटि मनुष्यों की प्राणशक्ति का, साक्षात् वा परम्परया, दारुण दुर्व्यय दुष्प्रयोग हुआ; परम्परया भी, क्योंकि खेती-वारी, पशु-पालन, वाणिज्य आदि के व्यापारों मे, मनुष्य जीवन की आवश्यकीय वा निकामीय वस्तुओं के उत्पादक कार्यों मे, जो लगे हैं, उन के उत्पादित द्रव्यों का भी, अन्न वस्त्र, फल-मेवा, गुड़-चीनी, घी-तेल, लकड़ी कोयला, धातुओं के वर्तनों का, खनिज पदार्थों का, ऊन चमड़े का, औषध का, सभी का, गवर्मेन्टों की आज्ञा-शक्ति से, युद्ध के वड़वानल मे होम-हवन, सभी देशों मे होता रहा है। इस हेतु से साधारण जनता को, एक ओर, आवश्यकीय वस्तुओं का घोर अभाव, नीवाक, प्रयाम, दुष्काल, अकाल होता रहा; दूसरी ओर, शासक शक्तियां, गवर्नमेंटें, सोना-चांदी-तांवा आदि धातुओं के सिक्कों को, व्यवसाय व्यापार मे सहायक होने के उन के स्वाभाविक कार्य से हटा कर, वाजार से खींच कर, युद्ध-सम्वन्धी युद्ध-सहायक कार्यों मे लगाती रहीं; तीसरी ओर, इन सिक्कों के स्थान पर 'करेंसी नोटों' के कागजी घोड़े, गवर्नमेंट ने अपने छापाखानों मे यथेष्ट छाप छाप कर चौतरफा दौड़ाया; चौथी ओर, सब प्रकार के कर, 'टेक्स', दिन दूने रात चौगुने करती रही हैं; पाँचवीं ओर, गवर्नमेंट तो, इस शंका और भय (सेन्स आफ इनसिक्यूरिटी, sense of insecurity) से कि भविष्य मे युद्धोपयोगी किसी वस्तु

की कमी न हो जाय, सब प्रकार के अन्न-वस्त्र-खनिज-तेल आदि द्रव्यों के लाखों करोरों मनों के विशाल संचय ('होर्डिङ', hoarding), अपने ही निर्णीत दामो पर खरीद खरीद कर, स्थान स्थान पर, जमा करती रही, (आटा व अन्य खाद्य पदार्थों को, वर्षा आदि मे खराब हो जाने पर, 'मुफ्त मोल' बेच भी देती रही हैं); पर, उसी शंका और भय से भीत साधारण प्रजा-जनो और दूकानदारों को, अपने निजी ही अन्न आदि का संचय कर के घरों दूकानो मे रख लेने ('होर्डिङ') के लिए, तथा रेज़गी-पैसे का रोज़गार ('मनी-चेंजर्स विज़िनेस', money-changer's business) करने वालों की भी, छोटे छोटे संचयों के लिए भी, नये नये विधान बना कर, कठिन कठिन कारावास और जुर्माने के दंड देती रही है; और 'राशनिङ्' (rationing 'सम-भक्त', प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन के लिए इतने ही नियत निर्धारित हिसाब से, अन्न, वस्त्र, तेल आदि को एक बेर मे खरीद सके, 'प्रयाम'), तथा 'प्राइस-कंट्रोल' (price-control, मूल्यनियमन), और 'ट्रांस्पोर्ट-कंट्रोल' (transport-control, एक स्थान से दूसरे स्थान को, अपने ही कुटुम्ब के उपयोग के वास्ते भी, वा तिजारती क्रय-विक्रय खरीद-फ़रोख्त के वास्ते भी, लाने ले जाने के नियमन-नियंत्रण वा सर्वथा निषेध) के, नित्य बदलते नियम, प्रजा के चित्त मे तीव्र उद्वेग, परीशानी, और किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ता पैदा करने वाले, निकालती ही है।* ऐसी अवस्था मे, प्रजा के कष्ट का क्या कहना है ?

---

* याद रहे कि इन सब प्रकारों की कार्रवाइयाँ, प्रजा के शोषण पीडन की, और राजाओं, नवाबों, शासकों के स्वार्थ-साधन और स्वेच्छा-पूरण की, जब से इतिहास का पता चलता है तब से, पूरब के भी, पच्छिम के भी, देशों मे सदा होती रही हैं; कभी कम, कभी ज्यादा; पर उन के नाम और रूप बदलते रहे हैं। प्रजा-जनो, शासितों, मे भी, परस्पर शोषण मोषण का, विविध रूपों से यत्न सदा होता रहा है; कभी थोड़ा, कभी बहुत। यदि पिछले ज़मानो के मुक़ाबिले (अपेक्षा से) अब कुछ भेद है, तो शायद (स्यात्) इतना ही, कि अब 'कायदे-कानून से जायज', 'ला-फुल-नेस' (lawfulness), 'विधिपूर्वक-अनुमति', की ऊपरी दम्भात्मक शिष्टता (तहजीब) अधिक दिखाई जाती है। पहिले तो राजा नवाब बादशाह महाराजा लोग, पूरब मे, और 'राबर् बैरन्स' (robber

देश का साधारण दैनंदिन जीवन नितरां उलट-पलट गया है, अस्तव्यस्त और त्रासमय हो रहा है; संशस्त्रों को एक प्रकार का घोर कष्ट, तो निःशस्त्रों को दूसरे प्रकार का घोरतर कष्ट, पृथ्वीमात्र मे, युद्ध की समाप्ति के बाद भी, भर रहा है: यह सब, सभी राष्ट्रों के शासकों के भी, और सामान्य प्रजा के भी, कांम-क्रोध-लोभ-मोह-(भय)-मद-मत्सर के अति-आस्वादन से जनित महापातकों और कुनीतियों का फल है। जो अति तीव्र सुख की लालच करते हैं, उन को अति तीव्रतर दुःख भोगना पड़ता है।

यत् तद् अग्रे विपं इव, परिणामे ऽमृतोपम;
यत् तद् अग्रे ऽमृतं इव, परिणामे विषोपमं,
धर्माविरुद्धः कामो ऽस्मि; सेवेत् कामं अनुद्धतः। (गीता, म० भा०)

जो आगे जहर जान पड़ता है, वह पीछे आबि-हयात होता है; जो पहिले अमृत मालूम होता है, वह पीछे विष हो जाता है। इसलिये, यदि

---

barons), 'लुटेरे शासक' आदि पच्छिम मे, खुले अधखुले रूप से दस्यु-पोषक होते थे; पूरब मे अब भी हैं; 'नागाओं', 'उदासियों', 'वैरागियों', विविध-वेश-धारियों, के झुंड के झुंड, सेना के ऐसे, राजाश्रय पाकर, स्वयं जीवन-निर्वाह कर, दूसरे राजाओं के देशों मे लूट पाट करके, अपने राजाओं का कोष बढ़ाते थे, और हैं। पच्छिम मे, कोटिपतियों के 'फाडके' 'कार्नरिङ्' 'स्पेक्युलेटिङ्' (cornering, speculating), के रोजगार का भी मर्म वही है जो 'होर्डिङ्' (hoarding), का। 'ईति' के छः प्रकार, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहों, टिड्डियों, पतंगों, चिड़ियों के झुंड, के साथ, 'प्रत्यासन्न' अति पास रहते या यात्रा करते हुए, छठे, 'राजा' भी (जैसे 'दौरा' करते हुए 'हाकिम' लोग) गिने गये हैं। भर्तृहरि ने भी "वित्ते नृपालाद् भयं" कहा है, 'जिस के पास कुछ धन का संचय हो गया, उस को नृ-पाल से, राजा से, डर उत्पन्न हुआ। नरों के जो 'पालक' वे ही भय-दायक 'घालक', जो 'रक्षक' वे ही 'भक्षक'! और भी पुराना श्लोक है,

नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके;
जनपदहितकारी द्विष्यते पार्थिवेन;

जो (प्रजा-द्रोही) राजा के मन की करता है, उस से प्रजा द्वेष करती है; जो प्रजा का भला चाहता है, उस को राजा अपना दुश्मन

दुःख मे कमी चाहो, तो कम सुख मे संतोष करो; जितना 'काम'-सुख, धर्म के, क़ानून के, अनुकूल हो, उतना ही भोगो; बहुत उद्धत हो कर, मद-माते (मद-मत्त, बद-मस्त) हो कर, अति हर्षित हो कर, दुराचार व्यभिचार बलात्कार द्वारा 'कं-दर्प' के दर्प की गुलामी मत करो।

कोटियों नहीं, अरबों नहीं, अब खरबों रुपयों से सम्मित, कोटियों कोटि मनुष्यों की प्राणशक्ति और जी-तोड़ परिश्रम का जो दारुण अपव्यय, सामरिक और वैनाशिक कार्यों मे हुआ और अब भी हो रहा है; उस के कारण, ब्रिटेन और यू. स्टे. अमेरिका ऐसे महा धनाढ्य, रावण और कुवेर की भी समृद्धि को तिरस्कार करने वाले देशों की भी साधारण जनता को, तथा लखपतियों, करोड़पतियों, बड़े भूमिपतियों (ज़मीदारों) को भी, दिन दिन बढ़ती तंगी, खाने पहिरने के 'नीवाक' 'प्रयाम' से उठानी पड़ी, और अब भी पड़ रही है।* पश्चिम

समझता है। जब काम-क्रोध-लोभ का नियमन, सच्चे धर्म से नहीं किया जाता, तब ऐसे ही उपद्रव उत्पन्न होते हैं; वर्त्तमान विश्व-युद्ध के कारण ऐसे ही हैं। आपस मे, दुर्बल को सबल प्रजा खा लेती है; दोनो को, अधिक प्रबल राजा, बलात् भी, 'टेक्स' के बहाने भी, खा लेता है; छोटे राजा को बड़ा राजा, सम्राट्, 'डिक्टेटर', खा जाने का यत्न करता है। मृत्यु-देव सब ही को खाते रहते हैं।

हिरण्याक्ष, बाणासुर, रावण, बचे न काल बली ते;
हम-हम करि धन-धाम संवारे, अन्त चले उठि रीते।

यह सब काम ही की लीला है।

त्रिविधं नरकस्य इदं द्वारं नाशनं आत्मनः,
कामः, क्रोधः, तथा लोभः, तस्माद् एतत्त्रयं त्यजेत्।
धर्माविरुद्धो भूतानां कामोऽस्मि प्रीतिवर्धनः। (गीता)

काम-क्रोध-लोभ, यह तीन नरक के द्वार हैं; इन को काबू मे, अपने वश मे, रक्खो; इन के वश मत हो जाओ; धर्म से अविरुद्ध जो और जितना 'काम' है, वह तो प्रीति को बढ़ाता है।

* 'न अस्ति, न अस्ति, लभ्यं वा, देयं वा, अन्नादि, इति न-कार-मयं निकारऽात्मकं वाक्यं यदा सर्वत्र श्रूयते, तदा 'नीवाकः' ('स्केयर्सिटी', 'फ़ेमिन' scarcity, dear-th, dear-ness, famine, महर्घता,

के अखबारों मे छपी सूचनाओं से ऐसा अनुमान होता है। नितांत पादाक्रान्त, पराधीन, परमुखावलोकी, परस्पर कलहायमान, आभ्यन्तर भेदों से छिन्न-भिन्न, अभागे भारतवासियों की, प्रतिदिन वेग से वर्धमान सभी आवश्यकीय द्रव्यों की नितांत तंगी की कहानी क्या कही जाय ? सब युध्यमान राष्ट्रों के शासकों को 'विजय' (विक्टरी, 'victory') ही चाहिये; शांति और प्रजा का सुख, किसी को भी नहीं ! अहो माया-विडम्बना !

पश्चिम के ही विद्वानो ने गणना की है, कि यदि इस सब अप-वीत, दुर्वीत, पौरुष शक्ति और महा परिश्रम की, (जिस मे, फौजी सामग्री बनाने वाले कारख़ानो के काम मे विवश जोत दी गई पचासों लाख स्त्रियों का प्राण-परिश्रम भी शामिल है), तुलना, रुपयों मे की जाय, तो सब युध्यमान राष्ट्रों का खर्च जोड़कर, प्रत्येक दिन का अपव्यय, सौ करोड़ रुपयों के बराबर होता रहा है।* पृथ्वी-तल पर, इस समय, प्रायः साठ (६०) पृथक्-पृथक्, 'स्वतन्त्र' कहलाने वाले, तथा स्वतंत्रों के अधीन, राष्ट्र हैं। उन में से इकतीस (३१) एक पक्ष में रहे हैं, और चार (४) दूसरे पक्ष में; प्रथम पक्ष में प्रधान राष्ट्र चार (४), ब्रिटेन, युनाइटेड स्टेट्स् आफ़ अमेरिका, रूस, चीन; बचे सत्ताईस (२७), इन चार के सहायक, वा उपनिवेश, वा अधीन (जैसे भारत) है, वा शत्रु-विजित (जैसे फ्रांस, हालंड, वेल्जियम, नारवे, ग्रीस आदि महा-राष्ट्र वा मध्यम श्रेणी के राष्ट्र) हो गये थे। इन के प्रति-पक्ष मे प्रधान राष्ट्र तीन (३), जर्मनी, इटली, जापान; तथा इन के सहायक छोटे राष्ट्र कई रहे। यह सब प्राण और शक्ति रूपी धन, यदि सत्-प्रज्ञान, सद्-धर्म, सद्-बुद्धि, सद्भाव, सदाचार के अनुसार, मानव जीवन के उपयोगी पदार्थों के बनाने मे, मनुष्य के उचित और धर्म्य सुख की साधने वाली, आवश्यकीय,

---

दुष्प्राप्यता, अलभ्यता); 'अन्नादि-वितरणस्य संकोचनं, प्रकृष्टं यमनं, नियमनं, नियंत्रणं, 'प्रयामः', ('कंट्रोल', control)।

* यू. स्टे. अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन नगर से, ता० २० मार्च १९४३ ई० को, सरकारी खबर छापी गई कि अकेले यू. स्टे. अमेरिका का प्रतिदिन का खर्च, युद्ध की सामग्री की तैयारी पर (? व युद्ध पर) करीब २८ करोड़ डालर, अर्थात्, प्रायः ८४ (चौरासी) करोर रुपये के तुल्य, हो रहा है।

निकार्मीय, विलासीय वस्तुओं के उत्पादन में, लगाया जाय, तो समस्त पृथ्वीतल हरा भरा रमणीयतम उद्यान, बाग, हो जाय; सुन्दर घरों से भर जाय; चारों ओर प्रसन्नमुख, प्रियवादी, हंसते, खेलते, परस्पर प्रीतिमय सौजन्यमय स्त्री पुरुष बालक देख पड़ैं; किम्बहुना, पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आवै।

यह सब वर्त्तमान इतिहास, 'कामाध्यात्म' के सम्बन्ध में क्यों कहा? इस हेतु से कि, (जैसे पृ० १८१–२, २४०, प्रभृति पर सूचित किया है), परमात्मा के अन्तर्गत, मूल-प्रकृति दैवी-प्रकृति रूपिणी अविद्या-अस्मिता का रूपान्तर नामान्तर परिणाम जो काम-संकल्प है, उसी का कार्य समग्र विश्व है। इसी 'काम' के धर्म्य और सात्त्विक रूप से चारो ओर सुख, प्रीति, सहायता, उपकारिता फैलती है। इसी के अधर्म्य और राजस-तामस-भावों से, कामान्धता, क्रोधान्धता, लोभान्धता; मोहान्धता, (भयान्धता, मिथ्यास्नेहान्धता, किंकर्तव्यविमूढ़ता), मदान्धता, मत्सरान्धता, वा इन्हीं मुख्य प्रकारों के, वा अवान्तर बहुतेरे प्रकारों विकारों के, उन्माद, चारो ओर बढ़ते हैं, और कलि का साम्राज्य पृथिवी मात्र को ग्रस लेता है; जैसा आजकाल प्रत्यक्ष देख पड़ रहा है।

पृ० १९५ पर गीता का जो श्लोक उठाया है, उस में 'ज़ायते' के तीन प्रयोग, तीन भिन्न उपसर्गों के साथ, किये हैं। किसी विषय का ध्यान, संकल्पन, स्मरण करने से, उस मे संग 'उप-जायते' उपजता है: संग से काम 'सं-जायते', समन्तात्, उस विषय के 'चारो ओर', मन के 'आगे' रक्खे हुए सम्-अग्र विषय से, 'सं'–जाता है: काम से क्रोध 'अभि-जायते' काम के 'अभितः' आस पास, जो कुछ या जो कोई उस का, चारो ओर, बाधक जान पड़ता है, उस पर, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

सारा संसार, योग दर्शन के दो सूत्रों की व्याख्या है—"अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः; अविद्या क्षेत्रं उत्तरेषां" (अ० २, सू० ३-४)। पारमात्मिक काम-संकल्प के ही एक अर्ध भाग का नाम 'अविद्या' है, दूसरे अर्ध का नाम 'विद्या' है: 'महामाया' मे दोनों अन्तर्गत हैं; मानव काम का पर्याय, राग है: और क्रोध का द्वेष है; अन्य सभी सैकड़ों भाव, विभाव, अनुभाव, अस्थायी भाव, व्यभिचारी भाव, इन्हीं दो मूल भावों के अवान्तर भेद और शाखा, प्रशाखा, पल्लव,

वृन्त, पुष्प, फल रूप कार्य हैं; अविद्या मूल और 'अस्मिता' स्कन्ध, हैं। इन का वर्णन, पूर्वगत 'रस-मीमांसा' नामक अध्याय मे कुछ किया गया है। समस्त मानव इतिहास, विद्यामिश्रित अविद्या-अस्मिता से उपजे हुए इन्हीं दो राग-द्वेष के स्वार्थी-परार्थी अनन्त प्रकार, विकार, संस्कारों की कथा है, नाटक, रूपक, लीला है। गीता मे 'काम' शब्द तेंतीस बार आया है।

इन हेतुओं से 'काम' के आध्यात्मिक तत्त्व का जानना, मानव जीवन के कल्याण-साधन के लिए, आवश्यक है। यदि बाल्य और यौवन में इस सब का ठीक-ठीक समझना कठिन, किंवा असम्भव, है, तो वयस्थों,* प्रौढ़ों, और वृद्धों को तो अवश्य जानना चाहिए, जिससे वे अपनी सन्तति को, अगली पुश्त को, समय समय पर, उचित शिक्षा देते रहें, और विविध प्रकारों के अधःपात से बचावें।

"गइ सो गई, अब राखु रही को"

एवं, जो युवा-युवती स्वयं भूत-भवद्-भविष्य, (पीछे-सामने आगे, बीते-होते-आते, गुज़श्तः-मौजूदः-आइन्दः, पुराभव-तदात्व-आयति), को कुछ समझने सोचने विचारने की उमर को पहुँच चुके हैं; उन को चाहिए कि निःसंकोच हो कर, अपने हितैषी विद्वान् विशेषज्ञ अनुभवियों से साक्षात् पूछ कर, वा ऐसों के लिखे उत्तम ग्रंथों को पढ़ कर, उपकारी ज्ञान पा कर; अपनी और अपनी भावी संतति की रक्षा करें, दुराचार से बचें बचावें, और धर्म्य और समान-शील विवाह कर के, पवित्र गार्हस्थ्य जीवन बितावें ('वि-इत', 'वीत' 'व्यय' करें)। यदि, दुर्भाग्य से, भूल हो ही जाय, तो उन्हीं वृद्ध विद्वान् अनुभवियों के, तथा अच्छे सच्चे वैज्ञानिक चिकित्सकों के, बताए हुए, भूल के दुष्फलों के प्रतिकार के उपायों को काम में लावें; पुनः वैसी भूल मे न पड़ने का, पातक प्रलोभनों से सदा लड़ते रहने का, दृढ़ निश्चय करें; चित्त को बुराई से भलाई की

---

* 'वयस्थ' शब्द का संस्कृत मे वही अर्थ है जो अंग्रेजी मे 'मेजर' (major), 'अटेन्ड टु दि एज आफ़ मैजोरिटी' (attained to the age of majority), का; 'वयःप्राप्त', 'व्यवहारक्षम', 'व्यवहारं प्राप्तः', आदि का भी अर्थ यही होता है।

ओर, अधः से ऊर्ध्व की ओर, पलटैं; स्वभाव को बदलैं, दुष्ट से शिष्ट बनैं; 'सवेरे का भटका शाम को घर लौटा, तो भूला नहीं कहाया।'

अपि चेत् सुदुराचारः भजते मां अनन्यभाक्,
साधुर् एव सः मन्तव्यः; सम्यग् व्यवसितो हि सः। (गी०)

बहुत पतित दुराचारी भी यदि सच्चा पश्चात्ताप, पछतावा, करै; ('अहं'-पद-वाच्य परमात्मा पुरुषोत्तम को) 'अनु-अन्य' होकर ('अन्य' सब को निषेध कर, मन से छोड़ कर), भजै, ('मैं', परमात्मा से 'अन्य', भिन्न, कोई उपासनीय इष्ट नहीं है, अथ च कोई 'अन्य' भिन्न पदार्थ ही नहीं है, जो कुछ है वह परमात्मा ही है, 'मैं' ही है, ऐसी भावना सदा हृदय मे करै), तो उस को 'साधु' ही, भला सत्पुरुष ही, जानना मानना चाहिए; क्यों कि अब उसने सम्यक्, समीचीन, अच्छा, पुण्यात्मक, सदाचार रहने का, व्यवसाय, दृढ़ निश्चय, कर लिया है; सब जीवों में 'अपने' को, 'आत्मा' को, देख कर, पहिचान कर, सबके साथ उचित ही 'आत्मवद्' व्यवहार करने का निश्चय कर लिया है।

यदि कभी कदाचित्, स्वस्थ तन्दुरुस्त पुष्ट शरीर वाले प्राणवान् बलवान् मनुष्य को, किसी ऐसी भूल से, गुप्त रोग लग जाय, और अच्छे सच्चे वैद्य हकीम डाक्टर से सच्चा हाल कह कर औषध ले, तो निस्सन्देह जल्द ही अच्छा हो सकता है। मेरे पास कभी-कभी ऐसे युवा, परामर्श के लिए, आते रहे हैं; कुछ तो केवल परहेज की, वर्जनीय वस्तुओं और क्रियाओं के वर्जन की, और शुद्ध आहार की, सलाह पर चलने से ही रफ्ता-रफ्ता अच्छे हो गए। कुछ मेरे जाने हुए अच्छे वैद्यों, डाक्टरों के नाम मुझ से जान कर, उनके पास जा कर, दवा लेकर, अच्छे हो गए; थोड़े से ऐसे भी हुए, जिन्हों ने परामर्श मे शर्मा-शर्मी से, बहुत देर कर दी, मर्ज को बढ़ा लिया, दुःख भोगते ही रहे, अल्पायु हुए, और यहाँ ही प्रकृति देवी का ऋण चुका कर परलोक को चले गए। आयुर्वैदिक औषध प्रायः विशेष उपयोगी होते हैं, और प्रायः बहुत महर्घ, महंगे, भी नहीं होते। हां, अमीरों के अमीरी वैद्यों की कथा न्यारी।

"कपटी लोकन तें बचियै"

'सच्चे वैद्य डाक्टर हकीम' इस लिए कहा कि एक ओर बुभुक्षा देवी, दूसरी ओर उनकी बहिन गर्धा-तृष्णा-लालच देवी, के फेर में पड़ कर, शरणार्थियों को भी, कुटिल प्रकारों से धोखा दे कर, धन कमाने के लोभ

से, कुछ चिकित्सक, सभी देशों में, भुलावा देते हैं, और रोग बढ़ा तक देते हैं; कि ये दीन हो कर सदा हमारे अधीन बने रहैं, दवा कराते रहैं, धन देते रहैं। ऐसे कपटी चिकित्सकों की गुटबंदियों और चालबाजियों की पोल, समय समय पर, यु· स्टे. अमेरिका के पत्र (जैसे 'रीडर्स डाइजेस्ट') खोलते रहे हैं; सुश्रुत, चरक, आदि में भी ऐसे मिथ्या-वैद्यों का वर्णन किया है; पर जनता पुनः पुनः उस चेतावनी को भूलती और उन के फेर में पड़ती रहती है। इस लिए, यदि रोग से बचना है तो भुलाने और झुलाने वाले, वैद्यों हकीमों डाक्टरों का रूप धरे, ठगों से, जो रोगी को अपनी स्थायी दूकान या जमींदारी ही बना लेना चाहते हैं, पहिले बचना चाहिए। मेरी जानकारी मे ऐसे कई 'अमीर', 'नवाब', 'राजा', 'लखपति' युवा और मध्यवयस्क पुरुष भी रहे हैं, जिन के यहां नित्य कोई न कोई चिकित्सक बैठे ही रहते थे, और उन की नाड़ी थामे और थर्मामीटर लगाये ही रहते थे, या पच्छिम के नये तरीकों से उनके शरीर के निस्स्यन्दों की, कफ, मूत्र, विष्ठा, रुधिर आदि की, परीक्षा करते कराते ही रहते थे। दूसरों को भय और आशा, चुटकी और बढ़ावा, साथ ही साथ, दे दिला कर, अपना स्वार्थ साधने वालों के उदाहरण, केवल उन्हीं लोगों में नहीं जो चिकित्सा से जीविका करते हैं, अपि-तु सभी तरह के रोज़गारियों मे देख पड़ते हैं, ज्योतिषियों मे, तंत्र मंत्र झाड़ फूंक वालों मे, धर्मशास्त्रियों, कर्म-कांडियों, 'औलिया-फ़क़ीरों', वेश-धारी साधु संन्यासी महन्तों, वकीलों, दूकानदारों, राजमंत्रियों, शासनाधिकारियों, बंक वालों, कुसीदजीवियों (सूदखोरों), कम्पनियों, विज्ञापन (ऐडवर्टिज्मेंट) छपाने वालों, सभों मे ही मिलते हैं, स्वयं परमात्मा की प्रकृति के नियम मे द्वंद्व-मयी 'ड्यु अल-पालिसी' (dual policy), द्वैध-नीति, सुख दुख दोनो के मिश्रण की, काम कर रही है; साधारण मनुष्य के लिए यह विवेक करना, कि कौन रोजगारी कपटी है और कौन उचित मात्रा मे ही स्वार्थी है, बहुत कठिन होता है; पर यथाशक्ति यथासम्भव ऐसा विवेक करने का प्रयत्न करते रहना, अपने उचित स्वार्थ की पूर्ति के लिए, आवश्यक है।

रोग-शेष से सावधान रहो

यह कहना कठिन है, किसी भी उग्र रोग के विषय में, विशेष कर उपस्थीय दुश्चरित्र से जनित रोग के, कि ज़ाहिरा बिल्कुल अच्छा हो जाने

पर भी, शरीर मे कोई भी विकार का 'शेष' नहीं रह जाता, और बाद की संतति पर कोई असर नहीं डालता। मसल मशहूर है कि जवानी की चोट बुढ़ापे मे ठंडी हवा लगने पर फिर दर्द करने लगती है। पहिले कह आये हैं, और सब को प्रत्यक्ष ही है, कि संतान का, नये जीव नये प्राणी का, 'स्मर', ('स्मरण' से, संकल्प-ध्यान-संग से, जाग उठता, सं-जायमान), 'काम', ही मूल है; इसलिए, इस के गुण का भी, दोष का भी, प्रभाव, बहुत दूरगामी और चिरस्थायी होता है; पुराणो और आयुर्वेद और धर्म के ग्रन्थों के कर्म-विपाक-सम्बन्धी अंशों से विदित होता है, कि इन रोग-शेषों के कारण, पुश्त-दर-पुश्त, परुष्-परुष् (पुर्खा-पुर्खा) की शृङ्खला मे, चर्म, नख, दन्त, आदि के विविध रोग देख पड़ते हैं। 'बाइब्ल' में भी कहा है कि 'पिता पितामहों के पापों का दंड, पुत्र पौत्रों पर पड़ता है'; उसका आशय, कुलों में ऐसी रोग की परम्पराओं से, प्रत्यक्ष प्रकट हो जाता है। इस हेतु से, जैसा रोग वैसा ही उस का प्रतिरोधी भेषज होना उचित है; 'दुः-स्मरण', दूषित ध्यान, अधःपातक राजस तामस भावों की भावना, की चिकित्सा, 'सु-स्मरण', पूत पवित्र सात्त्विक ऊर्ध्वंउन्नायक भावों का धारणा-ध्यान-समाधान, मानस प्रायश्-चित्त, चित्त की तपस्या। इस चिकित्सा और सत्संग से साधित मानस-शुद्धि, मानस-स्वस्थता, लोक-हितैषिता, मनःस्थैर्य, और तदनुकूल आहार-विहारादि शारीर चर्या, दूषित अस्वस्थ देह को भी बहुत कुछ सुधार सकती है, और सुधारती ही है। पहिले कह आये हैं कि बड़े बड़े ऋषियों से, देवी देवों से, भूल हो जाती है; पर, उस को पहिचान कर, पश्चात्ताप-प्रख्यापन-प्रायश्चित्त से, और पहिले से भी कठिनतर तपस्या करने से, उस भूल का मार्जन वे कर डालते हैं; और इस से उन का महत्त्व और गौरव बढ़ता ही है, घटता नहीं। यह भी विचारने की बात है कि, भूल कर के सुधरना, सच्चा सुधरना है, सयाना (सज्ञान) होना है; कभी भूल न करना, यह तो बच्चों का अयाना-पन (अज्ञानता, अन-जान-पन) है। महाभारत मे अणीमांडव्य ऋषि और यमराज की कथा के रूपक से यह कहा है, कि पाँच वर्ष तक के बच्चे का कोई कर्म न पुण्य ही है न पाप ही, और ऐसे कर्म के लिए दंड देने को, यमराज को भी, मना किया गया है।* 'खाय तो पछताय, न खाय तो पछताय'—

* इस का यह अर्थ नहीं कि अनजान बच्चा अपथ्य वस्तु खा

तो खाय के पछताय, ज्ञानवान् ज्ञानी हो जाय, अविद्या का, प्रवृत्ति मार्ग का, उचित मात्रा में अनुभव कर के, विद्या का, निवृत्ति मार्ग का अनुभव करै, और दिन दिन 'कम कम खाय' और कम कम पछताय; अन्त मे सर्वथा निरीह निःस्वार्थ होकर शरीर को भी और संसार को भी छोड़ कर, परम धाम को चला जाय; "स शांति आप्नोति, न काम-कामी," "ध्यानात् शांतिर् अनन्तरं" (गी०)।

बुद्धि-पूर्वक कुराह मे पैर मत रक्खो

भूलने वाले के मन मे, दुष्फल के कड़ुए अनुभव के कारण, पश्चात्ताप के साथ नम्रता और विनय उत्पन्न होते हैं; तथा अन्य भूलने भटकने वालों के लिए अनु-कम्पा, सहाय-बुद्धि, सद्-उपदेश-शक्ति, संचित होती है; एवं भूल भी सच्चरित्र और ज्ञान का साधन हो जाती है; यदि प्रकृत्या चित्त कुछ कोमल हो। यदि कठोर हो, तो फिर-फिर ठोकर खा कर, "अनेक-जन्म-संसिद्धः, ततो याति परां गतिं", अन्त मे चेतैगा। अविद्या मे से डूबते उतराते, गोते खाते-खाते, एक दिन निकल कर ही तो विद्या की दृढ़ भूमि पर पैर धरैगा। "सैकड़ों टांकी खा कर, ढोंके से महादेव बनते हैं"। इसलिए, एक बार वा अनेक बार भी भूल कर के, किसी को भी, कभी भी, सर्वथा हताश नहीं होना चाहिए; भूल के बाद, पुनः पुनः दृढ़ निश्चय बांधना चाहिये कि फिर ऐसा न होने पावे। याद रहै कि इन वाक्यों का उद्देश्य, उन्हीं लोगों को सान्त्वना, ढाढ़स, देने का है; जो अविद्या की विक्षेप-शक्ति से प्रेरित हो कर अबुद्धि-पूर्वक कुराह मे पड़ गए हैं; इन का आशय यह कदापि नहीं है, कि बुद्धिपूर्वक भी, कोई, इस 'आगे अमृत पीछे विष' का आस्वादन करै।

निश्चिन्त बेफिक्र मत हो जाओ

दृढ़ निश्चय कर के भी सर्वथा निश्चिन्त नहीं होना; प्रलोभनो से सजग और डरते ही रहना 'विरक्तम्मन्यानां भवति विनिपातः प्रतिपदं'; इस अभिमान के फेर मे जो पड़ जाते हैं, कि हम तो पक्के अटल विरक्त हो गए, वे

ले तो बीमार न पड़ेगा, तीव्र विष पी ले तो मरैगा नहीं, आग छू ले तो जलैगा नहीं, बल्कि इतना ही, कि बुद्धि-पूर्वक 'दुष्कर्म' का बुद्धि-पूर्वक 'दंड', और अबुद्धिपूर्वक 'भूल' का अबुद्धिपूर्वक 'दुष्फल' होता है।

पद-पद पर चूकते, लड़खड़ाते, गढ़ों मे गिरते रहते हैं। पहिले कहा है, कि ऋषियों, मुनियों, देवी देवों, प्रजापति ब्रह्मा तक के ऊपर 'काम' ने हमला किया और सत्पथ से उन को हिला-डुला चला कर कुमार्ग पर फेंक ही दिया। पुराणो के अन्य रूपक मे कहा है कि शिव पर भी 'काम' ने चढ़ाई किया; और शिव भी केवल अपनी शान्तता शिवता से ही उस को परास्त न कर सके; तब उन्होंने 'काम' के सगे छोटे भाई क्रोध को ('कामात् क्रोधो अभि-जायते') अपनी तरफ़ फोड़ लिया, और उस से सहायता ले कर, दुनियावी भावों की ओर से तीव्र क्रोधात्मक वैराग्य की अग्नि से प्रज्वलित तृतीय चक्षु; प्रज्ञान चक्षु, को खोल कर, उस की ज्वाला से काम को जलाया—

"वितर्क-बाधने प्रतिपक्ष-भावनं" (योग-सूत्र २ ३३)।

परन्तु इस पर भी काम निःशेष नहीं मरा, बीज रूप बना ही रहा; 'अनङ्ग' हो गया; शिव को उमा-पार्वती (उ-मा, मा-या, संसार-निषेधिनी विद्या, और पार्वती, पर्व-मयी, शरीर की नीवी, तेंतीस गुरिया, तेंतीस 'देवता', वाली मेरु-दंडिका, नाडी-त्रय-मयी त्रिगुण-मयी अविद्या) के साथ धर्म्य विवाह मे, उस ने बांध ही दिया। जीवात्मा का देह से सम्बन्ध करा ही दिया।

जब निवृत्ति-मार्गियों का यह हाल है तब प्रवृत्ति-मार्गी मनुष्य यदि सचेत, हर वक्त होशदार, होशियार, ख़बरदार, न रहै, तो साधु-वेश-धारी बारीक प्रलोभनों के फंदे मे जरूर ही फंस जाता है, हल्की सीढ़ी से, ('इतना ज़रा सा चख लेने मे बदहज्मी अजीर्ण का क्या डर हो सकता है'), नीचे-नीचे अधिकाधिक गहरी खड़ी श्रेढियों (श्रेढी, श्रेणी, निःश्रेणी, नसेनी, स्तर, अंग्रेजी 'सीरीज', 'स्टेयर्स', फारसी 'सतर', सतह) पर खिसकता उतरता ही जाता है; और, अन्त मे, भीषणतम नरक मे मुंह के बल गिरता है। साधारणतः, प्रवृत्ति-मार्गी की आन्तःकरणिक मानसिक, प्राकृतिक प्रवृत्ति यही होती है, कि "लाभाल् लोभः प्रवर्धते"। निश्चित न रहने के लिए मनु की यहां तक आज्ञा है कि—

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति;
हविषा कृष्णवर्त्मा इव, भूयः एव अभिवर्धते।
(मनु०)

लाभ से लोभ और बढ़ता है; घी से आग ज्यादः तेज बलती है;

उपभोग से 'काम' अधिक जोर पकड़ता है; जितना मिलै उतना ही थोड़ा* ।

यत् पृथिव्यां, व्रीहियवं, हिरण्यं, पशवः, स्त्रियः,

तत् सर्वं न-अलं एकस्य, इति मत्वा शमं व्रजेत् । (म० भा०)

पृथिवी भर मे जो कुछ अन्न-धन, गो-धन, सोना, चांदी, हीरा, मोती, और सुन्दर स्त्रियां हैं, वह सब ही यदि एक मनुष्य को मिल जायं, तो भी उस को संतोष नहीं हो सकता है; इस को खूब अच्छी तरह मन मे बैठा कर, समझदार आदमी को चाहिए कि शांत हो जाय, अत्यन्त लोभ, लालच, तृष्णा, हिर्स, तमन्ना, 'ग्रीड' (greed), गर्धा, को छोड़ दे । हां, 'अति' करने से, अति भोजन आदि से, पाचन आदि की शक्तियां थक जाती हैं, अरुचि ग्लानि हो जाती है. कुछ काल के लिए वैराग्य भी होने लगता है; परन्तु यदि पूर्वापरदर्शिनी विवेकिनी बुद्धि, पंडा, नहीं जागी है, और उस वैराग्य का संतत पालन पोषण उपोद्वलन नहीं करती है, तो पुनः पुनः हिर्स ही जोर पकड़ेगी; इसी लिए तो पाचकों और पौष्टिकों के इतने अधिक विज्ञापन और इतनी अधिक बिक्री, ठग लोग कर ही लेते हैं ।

निश्चिन्त न रहने के लिए, मनु की यहां तक आज्ञा है कि,

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तऽासनो भवेत् ,

बलीयान् इन्द्रिय-ग्रामः, विद्वांसं अपि कर्षति । (मनु०)

माता, बहिन, बेटी के भी साथ, पुत्र, भाई, पिता भी, अकेले न बैठें; इन्द्रियों का समूह बड़ा बलवान् है; विद्वान्, गुण-दोष को पहिचानने वाले जानकार, की भी आंखों पर पर्दा डाल देता है, और उस को धक्का दे कर, खींच कर, घसीट कर उत्पथ चला देता है, पापिष्ठ कुचाल मे डाल देता है । साधारण लोग, मनु जी के इस आदेश पर अचरज (आश्चर्य) करते हैं; पर जिन्हों ने भारत के इतिहास-पुराणों को, और पश्चिमीय राष्ट्रों और जातियों के इतिहासों को, ध्यान से पढ़ा है; तथा पूर्व पश्चिम की अदालतों मे पेश हुए, दंड-विधान की उन धाराओं

---

* अंगरेजी मे भी कहावतें हैं, "दि मोर वी हैव, दि मोर वी वांट," "दि ऐपिटाइट्स् डू ग्रो विथ ह्वाट दे फ़ीड अपान्", 'the more we have, the more we want', 'the appetites do grow with what they feed upon'; इत्यादि ।

('सेक्शन्स' sections) के मुकद्दमों का पता रखते हैं, जिन धाराओं मे इस प्रकार के ('इन्सेस्ट' incest के) अपराधों की सज़ा नियत किया है;* तथा अपने आँख कान बन्द न कर के, अपने चारो ओर साधारण गृहों मे, छोटे तथा यौवनोन्मुख लड़के लड़कियों ने, नासमझी और अज्ञान से, कैसे शोचनीय घोर अनाचार हो जाते हैं—उन का हाल जानते और विचारते हैं; वे मनुष्य, मनु जी के इस दूरदर्शी सूक्ष्मदर्शी

*पृ० १८८ के फुट-नोट को देखिये । (Letourneou's Evolution of Marriage) लिटूर्नो के 'इवोल्युशन आफ मैरेज' नामक ग्रन्थ मे, विवाह के सम्बन्ध मे, बहुत देशों और जातियों की रिवाजों का वर्णन किया है । यथा, "अमेरिका के आदिम निवासियों की एक जाति, बिल्कुल पशुओं के ऐसा स्वच्छन्द मैथुन करती है; अरबों मे एक सम्प्रदाय, यज़ीदी नाम का है, जो अंधेरे मे मैथुन करते हैं, और उस समय, मा, बहिन, बेटी, पिता, पुत्र, भाई आदि का कुछ भी विवेक नहीं करते, प्राचीन पार्थिया-पर्शिया (फ़ारस) मे, माता और पुत्र का विवाह धार्मिक-विधि से भी कर दिया जाता था, अमेरिका की, आदिम निवासी चिप्पेवे, कादियाक आदि जातियों मे, मा, बहिन, बेटी के साथ मैथुन जायज है, कारिबी जाति मे स्त्री के साथ उस की बेटी से भी एक ही पुरुष विवाह कर लेता है, यूरोप के बहुत देशों मे, पंद्रहवीं शती ई० के अन्त तक यह रिवाज रही कि किसी प्रजा का विवाह होने पर, नव-विवाहिता वधू, पहिली रात, उस स्थान के राजा या जमीदार के साथ बितावै, इत्यादि । भारत की कई देसी रियासतों में भी, ऐसा कहा है ।

भारत मे, वाम मार्गी 'करौलों' मे, तथा 'वज्रयानी' बौद्धों में, उसी चाल की प्रथा है, जैसी 'यजीदी' अरबों की । बहुत वर्ष हुए मै ने एक मुसलमान मित्र से सुना था कि भारत मे भी कुछ मुस्लिम् सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनमे, ख़ास ख़ास त्योहारों पर, वैसी ही रस्म रिवाज पूरी की जाती है, जैसी यज़ीदियों मे । इस सब 'इतिहास' से यही शिक्षा दृढ़ होती है जो मनु ने दी है; अपने चित्त और इन्द्रियों से सदा सावधान रहना चाहिए; इस मूढ़ता को कभी मन मे न आने देना चाहिए कि हमने तो कामदेव को जीत लिया है । प्रजा-जन की नव-विवाहिता पहिले राजा को अर्पण की जावै, इस 'मध्य-काल के कानून' को यूरोप मे Jus primae nocte कहते थे ।

उपदेश का महत्त्व गुरुत्व समझेंगे* ।' हज़ारों विधवा स्त्रियां, वा अन-ब्याही युवतियाँ, प्रायः 'ऊंच जातों' की, अपने घर वालों के ही दुष्कर्म से गर्भवती हो कर, उन्हीं हृदयहीन, क्रूर, नृशंस पुरुष-वृकों पुरुष-व्याघ्रों के पंजों से क्षतविक्षत हो कर, घर से बाहर निकाल दी जाती हैं, और या तो कूएं नदी में कूद कर, डूब मरती हैं, ज़हर खा लेती हैं, फांसी लगा लेती हैं, या रोती सिसकती हुई, 'रंगरूट' ('रेक्रूट') कुली भरती करने वालों के हाथ अपने को बेच कर 'मिरिच' ('मारिशस') या 'फ़ीजी' टापू आदि को चली जाती हैं।

सावधानः सदा सुखी

इन हेतुओं से, यह आवश्यक है कि जो लोक अपनी संतति और अपने समाज का शारीर और बौद्ध उत्कर्ष चाहते हैं, वे सदा सावधान और 'धर्म-भीरु', अधर्म से डरते, रहें; समय समय पर अपने को, अपने कुटुम्बियों को, और सहवासियों को, यथोचित चेतावनी देते रहें; विशेष कर यह उपदेश कि, किसी से भूल हो जाय, तो उस के मार्जन शोधन का उचित उपाय करें; हल्की भूल का हल्का मार्जन 'प्रायश्चित्त' (चित्त शोधने वाले व्रत, उपवास, जप आदि) से; भारी रोगजनक भूलों का अच्छे वैद्य, डाक्टरों की शरण लेकर; पुनः वैसी भूल से बहुत परहेज़ करें और इस घोरतर भूल मे न पड़ें कि ऐसी गलतियों का शोधन सरलता से हो सकता है। अक्सर देखा जाता है कि चोर सज़ा से बच गया तो फिर चोरी करता है। मंदाग्नि (ज़ोफ़-मेदा) का मरीज, 'पाचक' खा कर, कुछ अन्न पचा कर, परहेज़ नहीं सीखता, बल्कि थोड़ी भी भूख जागने पर, रोचक दवा खा कर, फिर बद-परहेज़ी करता है; अति-अशन, अधि-अशन, विषम-अशन करता है; और अधिक बीमार पड़ता है। अति-अशन का अर्थ है उचित मात्रा से अति अधिक खाना; अधि-

---

* मार्च १९४४ मे मुझे एक पत्र मिला; प्रतिष्ठित कुल के एक पढ़े लिखे युवा ने लिखा कि उसका विवाह भी प्रतिष्ठित कुल की सोलह सत्रह वर्ष की कन्या से हुआ; किसी कारण से संदेह होने पर, युवा ने पत्नी से पूछा, तब उस ने आंसू बहा कर कबूला कि उसके सगे भाई ने ही विवाह से प्रायः एक वर्ष पहिले, उस को भ्रष्ट किया।

अशन, पहिले का खाया पचा नहीं, और भूख नहीं लगी, तौ भी जिह्वा-लौल्य से पुनः खा लेना; विषम अशन, जो पदार्थ 'सम' नहीं हैं, वि-षम हैं, वे मेल हैं, जिन का एक साथ खाना आयुर्वेद से मना है, उन को एक साथ खा लेना। व्यभिचारी, ज़िनाकार, वेश्यागामी, विपमाचारी मनुष्य, मरज़ की बला मे मुब्तला हो कर इलाज करता है, अच्छा हो जःता है; फिर पौष्टिक, वाजीकरण (aphrodisiac), औषध खाता है; 'मेषवृषण' बनता है; फिर वैसे ही दुष्कृत करता है; खुद ज्यादा बीमार पड़ता है, और चारों तरफ़ 'वेबा' (संचारी संक्रामक रोग, 'महामारी', जैसे हैज़ा, प्लेग, इन्फ्लुएंजा, 'शीतला' वा मसूरिका, विशूचिका, आदि, वैसे उपस्थीय आतशक, सूज़ाक, कुष्ठ आदि) फैला कर मर जाता है*

वैज्ञानिकों की अंतर्मुखता की दूसरी धारा

ऐसे हेतुओं से पश्चिम देश के उच्च कोटि के वैज्ञानिकों की चित्त-नदी, जो अधि-भूत से उलट कर, (सर्वथा नहीं, प्रत्युत उस की अत्य-

* पृ० २००-२०८, २१४-२१८, मे इस के घोर उदाहरण दिये हैं। पृ० २१९ पर 'मेष-वृषण' शब्द के अर्थ की भी सूचना की गई है; उसी रूपक के दूसरे अर्थ की सूचना पृ० १७८-१७९ पर की है; 'तन्त्र-वार्त्तिक' नाम के प्रसिद्ध मीमांसा-शास्त्र के ग्रन्थ के रचयिता कुमारिल भट्ट ने एक और अर्थ लगाया है, कि इन्द्र की हज़ार आंखें, इन्द्र अर्थात् राजा की सभा के हज़ार अर्थात् बहु-संख्यक सभासदों की सूचक हैं। पृ० २०६ पर, जिस 'सर्जिकल-आपरेशन', surgical operation, शल्य-शालाक्य-कर्म, की चर्चा की है, अर्थात् जीवद् वानर-वानरी के (तथा मेष-मेषी, बकरा-बकरी, उक्षा-गौ आदि के भी) वीर्यकोष-रजःकोष ('टेस्टिकल', 'ओवरी', testicle, ovary) के टुकड़े काट कर मानव पुरुष-स्त्री की जांघ, या उस के पास, उदर के निचले भाग पेड़ू मे, ऊपरी चर्म काट कर, उस के भीतर सी देना—इस चिकित्सा का आविष्कार, और प्रचार, यूरोप मे, वर्तमान २० वीं शती ई० के आरम्भ मे, वोरोनाफ़ नामक जर्मन वैज्ञानिक चिकित्सक ने किया; किन्तु, जैसा पहिले लिख चुके, इस प्रकार की चिकित्सा की महिमा अब लुप्तप्राय हो रही है। ऐसे ही, अन्य बहुतेरे नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों मे, पहिले गुण ही गुण सूझते हैं; पीछे भारी दोष देख पड़ते हैं।

न्तता, 'एक्स्ट्रीमिज़्म', extremism से ही), अधि-आत्म की तरफ़ घूमी है, उस घुमाव की एक धारा की सूचना, प्रसंग-प्राप्त विविध विचारों की लपेट में, पृ० २१२ पर आरम्भ कर के, यहाँ तक की गई।

(२) अव दूसरी धारा की सूचना कर देना चाहिए। १९ वीं शती ई० के अंत और २० वीं के आदि मे, यूरोप मे, विशेष कर जर्मनी आस्ट्रिया मे, कुछ वैज्ञानिक चिकित्सकों ने, विशेष प्रकार के 'नर्वस डिसीजेज़' (nervous diseases), के निदान का पता लगाने के लिए, शरीर की विकृतियों की परीक्षा कम करके चित्त की विकृतियों की जाँच, विविध उपायों से, शुरू किया। 'नर्वस् डिसीज़' मे 'न्यूरोसिस', 'साइकोसिस', 'साइको-न्यूरोसिस', 'न्यूरो-साइकोसिस', (neurosis, psychosis psycho-neurosis, neuro-psychosis), आदि शामिल किये जाते हैं। अभी तक इन शब्दों के ठीक अर्थ और प्रयोग के प्रकार निश्चित नहीं हो पाये हैं। पर इतना साधारण रूप से निश्चित है कि इन सब मे, एक ओर मानस विकार, और दूसरी ओर, ज्ञान-इच्छा-क्रिया का धारक और वाहक जो नाड़ी-व्यूह है उस का विकार, परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। यदि नाड़ी व्यूह का विकार अधिक है, तो रोग को 'न्यूरोसिस' वा 'न्यूरो-साइकोसिस' नाम देते हैं; यदि मानस विकार प्रवल है, तो 'साइकोसिस' वा 'साइको-न्यूरोसिस'।

चित्त के विकारों की सूक्ष्मेक्षिका करने वाले इन (यूरोप मे) आदिम परीक्षकों ने, कुछ अतित्वरा, उज्लत, से, यह मान लिया कि, सभी मानस रोगों की जड़ मे, उपस्थीय कामीय वासनाओं का किसी न किसी प्रकार का व्याघात वा अवरोध, मूल कारण के रूप मे, रहता है। धीरे-धीरे, इस अति-व्याप्ति का संशोधन, पीछे के गवेषकों ने किया।

दोनो धाराओं के प्रस्थान मे भेद है; मार्गों और उपायों मे भी फ़र्क़ है; कुछ अभ्युपगमो (माने हुए सिद्धान्तों, 'हाइपाथेसिस', 'थियोरी', hypothesis, theory, 'अक़ीदः') मे भी वैदृश्य वैमत्य जान पड़ता पड़ता है। परन्तु लक्ष्य के, मक़्सद के, एक ही, अर्थात् रोग का निर्मूलन और स्वस्थता का अनुकूलन, होने से, ज्यों-ज्यों दोनो धारा आगे बढ़ती हैं, और अपनी-अपनी भूल-भटक का शोधन करती हैं, त्यों-त्यों एक दूसरे के पास आ रही हैं। आशा होती है कि एक दिन, सर्व-विद्या-प्रतिष्ठा, परमात्मनिष्ठा- विस्मृत-प्राया, ब्रह्मविद्या की सरस्वती की सच्ची झलक पा

कर, एक दूसरे से मिल कर, जगत्कल्याणकारिणी गंगा-यमुना-सरस्वती के संगम से वर्धित त्रि-वेणी, महा नदी,, हो जायंगी।

('सर्वं सर्वेण सम्बद्धं', 'पंडिताः समदर्शिनः''
समानं नियमं, च एकं विधिं, जगति, सर्वदा,
सर्वत्र, आवर्त्तमानं, ये पश्यंति. एते हि पण्डिताः);
प्रयोजनेषु ये सक्ताः न विशेषेषु, भारत !,
तान् अहं पण्डितान् मन्ये, विशेषास्तु प्रसंगिनः। (म० भा०)

प्रकृति के सभी विभाग परस्पर सम्बद्ध हैं; अतः, जो विद्वान्, संसार मे, सभी चक्र के सब देशों और कालों मे, एक ही द्वन्द्वात्मक महा-नियम महाविधि को आवर्त्तमान प्रवर्त्तमान, चक्कर खाते, देखते पहिचानते हैं, वे ही समदर्शी पंडित हैं। जो मनीषी, मुख्य प्रयोजनो पर, लक्ष्यों साध्यों पर, अधिक ध्यान देते हैं, विशेष-विशेष, छोटी-छोटी, बातों पर कम, वे ही पंडित हैं; विशेष तो बदलते रहते हैं, प्रयोजन स्थिर रहते हैं।

इस के निदर्शन (नमूना, उदाहरण) के लिए, विचार-जगत् के एक और प्रवाह-द्विक की चर्चा यहाँ पुनः की जाती है।

व्यक्ति-वाद से 'समक्ति-(समाज)-वाद' की ओर

राग-द्वेष काम-क्रोध के भी जेठे भाई 'लोभ' नाम के रोग की, (जिस के उद्रेक और प्रकोप को 'इंडिविज्युअलिस्ट कैपिटलिज्म', (Individualist Capitalism) 'पूँजीवाद', 'थैलीशाही', कहते हैं, उस की) चिकित्सा के लिए, (सोशलिज्म' Socialism), 'समाजवाद', रूपी औषध की परीक्षा, तरह तरह से अनुपानो और प्रकारों मे रद्दोबदल कर के, पिछले सौ वर्षों मे (अर्थात्, स्थूल गणना से, १९ वीं शती ई० के मध्य से) पाश्चात्य देशों मे होती रही है। इस बीच मे, तीव्र रोग और वीर्यवद् औषध के परस्पर भयंकर संघर्ष सम्मर्द से, विश्व-युद्ध-रूपी जगद्विप्लवकारी घोर ज्वर दूसरी बार मानव-संसार पर चढ़ रहा है। इस का निदान, विशेष काम-क्रोध-लोभ आदि सब का पितामह, एषणा-त्रयआत्मक 'काम'-सामान्य है—यह पूर्व ग्रन्थ मे बहुधा कहा गया है। अब इस सब घोर संघर्ष संग्राम के फल के रूप मे, इस निष्कर्ष निश्च्योत (निचोड़) के लक्षण दिखाई पड़ते हैं कि, सोवियट रूस में, मध्यमावृत्ति-अनुसारिणी, ज्ञानी-शस्त्री-धनी-श्रमी चतुर्वर्ण-(वर्ग-व्यूह)-समन्वायिनी,

(वि-अक्ति) 'व्यक्ति'-(सम्-अक्ति)-'समक्ति'-सम्मेलनी,* सर्व-वाद-सम्वादिनी, चतुर्विध-जीविका-कर्मात्मक-चतुर्वर्णता की नीति और रीति की ओर, उस औषध का रूप अधिकाधिक बढ़ता जाता है। तथा, ऐसे नवीन, प्र-णवी-भूत, पुनरुज्जीवित, रूस देश और सोवियेट समाज की आचरणात्मक आचार्यता का मुँह से न मानते, पर मन से तो मानते ही, सभी अन्य देशों पर, उस आचार्यता के प्रभाव की छाप अधिकाधिक छपती जाती है।

अधि-भूत से अधि-आत्म गुरुतर

प्र-कृत मे (अर्थात् इस प्र-करण मे, इस प्रसंग मे) यह दर्शनीय और विचारणीय है कि, रोगियों की परीक्षा और चिकित्सा के सम्बन्ध मे पच्छिम के डाक्टर लोग, इधर प्रायः सौ वर्ष से (सन् १८५० ई० के पीछे, साधारणतः), मनुष्य के आधिभौतिक, शारीरिक (जिस्मानी, 'फ़िज़िकल', Physical) अंग (अंश, पक्ष, पहलू, 'आस्पेक्ट', aspect) पर ही अधिकाधिक ध्यान जमाते आये थे; आध्यात्मिक, मानसिक, चैत्तिक, आन्तःकरणिक (रूहानी, 'मेंटल', 'स्पिरिचुअल', mental spiritual) अंग की अधिकाधिक उपेक्षा करते रहे। प्रायः पचास वर्ष हुए, फ़ाइड नाम के चिकित्सा-शास्त्री ('मेडिकल्सायंटिस्ट', medical scientist) ने, सन् १९०० ई० के आस पास, 'साइको-

---

* 'वि' उपसर्ग से, जिस का एक अर्थ 'विशेष' है, और 'अञ्ज्-अनक्ति', धातु से, जिस का अर्थ 'अंजन' करना, 'आँजना', 'रंगना' है, वि-अक्ति, व्यक्ति बना है; इस का मूल अर्थ है, अव्यक्त परमात्मा का एक विशेष व्यंजन, व्यक्तिकरण, आविष्करण, अब व्यक्ति शब्द, एक मनुष्य, 'इंडिविज्युअल' Individual, पुरुष वा स्त्री, के अर्थ मे बहुत प्रयुक्त होने लगा है। इस के प्रतियोगी, प्रतिद्वंद्वी, 'समाज'-वाचक, 'सोशल' (social) के अर्थ के सूचक, शब्द की भी आवश्यकता है; जैसे वि-ग्रह का सं-ग्रह, वि-भिन्न का सं-भिन्न वि-हित का सं-हित, वि-पत्ति का सं-पत्ति है, वैसे ही वि-अक्ति का द्वंद्वी सम्-अक्ति बना लेने से, बहुविध प्रयोग-द्वारा, नये (प्रायः पश्चिम से इधर आये हुए) भावों के प्रकट करने मे सुविधा होगी। 'समाज' शब्द, 'सं' साथ, 'अज्' 'अजति', चलना, से बना है।

ऐनालिसिस्', psycho-analysis, नाम के, पच्छिम मे नूतन समझे जाने वाले, शास्त्र का प्रवर्त्तन किया। तव से, रोगों मे मानस क्षोभों और विकारों का कितना भारी प्रभाव, अधिकार, और निदानत्व होता है, इस ओर पाश्चात्य वैज्ञानिक चिकित्सकों का ध्यान दिन दिन वढ़ता जाता है। ग्रीक भाषा मे 'साइकी', psyche शब्द का अर्थ, जीवात्मा, चित्त, अन्तःकरण, रूह, 'सोल', soul, होता है, और 'एनालाइ-आइन्' ana-ly-ein, का, ढीला करना, सुलझाना, जैसे ग्रन्थि (गांठ) का; 'साइको·ऐना-लिसिस' शब्द का अर्थ, तन्नामक शास्त्र के प्रयोजन और साधनीय कार्य का वोधक है। चित्त की अन्तर्लीन प्रसुप्तवत् अव्यक्त दुर्ज्ञेय अवस्थाओं का, गांठों का, गूढ़ गुप्त हृदय-ग्रन्थियों और काम-जटाओं का, चित-वृत्ति-संकरों भाव-संकरों का, छिपे छिपाये मनस्-तत्वों चित्तावयवों का, अन्वेषण, प्रत्यभिज्ञान, और विश्लथन, विश्लेषण, विवेचन, विघटन, वि-शकलन, पृथक्करण, और उन दवी दवाई ग्रन्थियों की उत्पत्ति के गुप्त कारणो का निश्चयन, निर्णयन, यह इस शास्त्र का कार्य है।

फ्राइड् की कृति की त्रुटि

'सैको-ऐनालिसिस' के विषय मे, प्राचीन संस्कृत दर्शन शास्त्र की दृष्टि से लिखने का प्रयत्न दूसरे ग्रन्थ मे मैं ने किया है*। फ्राइड् और उन के अनुयायियों ने वड़े परिश्रम किये; विविध रोगों के निदानो और गूढ़ मानस वृत्तियों का, विविध प्रकारों से, अन्वेषण गवेषण और सूक्ष्म अध्ययन किया। उस का निर्विवाद-प्राय सार भूत निष्कर्ष इतना ही है, कि सव या अधिकांश मानस रोगों का नहीं, तौ भी जिन ऐसे रोगों के कारण सुतरां-निश्चेय नहीं हैं, जिन का कोई अन्य प्रत्यक्ष और स्पष्ट कारण नहीं जान पड़ता, उन मे से बड़ी संख्या का, वा अधिकांश का, निदान कारण, किसी-न-किसी प्रकार की कामीय वासना, मैथुनीय तृष्णा, रतीच्छा, का किसी प्रकार का, व्याघात, प्रतिवन्ध, निरोध होता है। फ्राइड को, तथा उन के शिष्यों को, आरम्भ मे, यह विश्वास हो गया कि 'सैकोसिस' 'न्यूरोसिस' 'साइको-न्यूरोसिस' आदि रोग, (अपस्मार उन्माद आदि के वहुविध मानस विकार, ज्ञान-क्रिया-वाहिनी नाड़ियों के विकारों से कार्य-

*"दर्शन का प्रयोजन" के अध्याय ३ मे।

तया वा कारणतया संबद्ध), सभी, केवल कामीय तृष्णाओं की अ-पूर्त्ति व्या-हृति से होते हैं। धीरे-धीरे उन्हों ने पहिचाना, कि क्रोधीय वासनाओं के व्याघात से भी तीव्र रोग उत्पन्न हो जाते हैं; और क्रोध, स्त्री-पुरुष-मैथुन्य 'काम' के ही भङ्ग से नहीं होता; किसी प्रकार के 'काम' के, इच्छा के, अर्थ-काम, धन-काम, आदर-संमान-काम, स्वच्छन्द भ्रमण विचरण-आदि-काम, वा अन्य किसी भी प्रकार से स्व-शक्ति-प्रदर्शन प्रवर्त्तन के 'काम' के (मोक्ष-इच्छा के भी), भंग से भी पैदा होता है; तीव्र भय से भी ऐसे रोग हो जाते हैं, यह निश्चय डाक्टरों को तब हुआ जब उन्होंने प्रथम विश्व-युद्ध (१९१४-१८ ई.) के अस्पतालों में काम किया; पर याद रहै कि, भय भी क्रोध के प्रकारों की एक राशि मे पड़ता है, और प्राण एषणा, प्राण काम, पर आपत्ति आने से उपजता है;* यह तो फ्राइड ने अपनी अन्तिम पुस्तकों मे संकोच करते, सकुचाते, उकस-पुकस करते कबूला भी है; पर यह कह कर अपनी टेक की रक्षा करने का यत्न भी किया है, कि 'काम' शब्द से मतलब उन का केवल मैथुन्य काम से नहीं, अपितु सब प्रकार के काम से है; (यह विस्तृत अर्थ अध्यात्मशास्त्र-सम्मत है); पर उन के, तथा उन के शिष्यों के, आदिम लेखों और ग्रन्थों से, उन के इस नये दावे, प्रतिश्रव, की पुष्टि नहीं होती; और उन लेखों ग्रन्थों से पाठक जगत् के चित्त पर यही अंकन, 'इम्प्रेशन', Impression, छाप, प्रभाव, हुआ, और होता है, कि उन का आशय, प्राथमिक लेखों मे, मैथुन्य 'काम' से ही था।

फ्राइड, यहूदी, और हिटलर

सन् १९३१ ई० से, जब से जर्मनी मे हिटलर को पूर्ण अधिकार हुआ और हिटलर-शाही का आरम्भ हुआ, तब से यहूदी ('ज्यू', Jew) जाति के लोगों पर भारी आपत्ति विपत्ति आई। हिटलर ने यह घोषणा कर दी कि इधर चालीस पचास वर्ष के भीतर जो भी मुसीबतें जर्मनी पर

---

* पूर्वगत 'रस-मीमांसा' अध्याय के पृ० १२२-१२६ आदि पर इस विषय का विवरण किया है; 'दि सायंस आफ़ दि ईमोशंस'में विस्तार से, थोड़े मे यह कि, जब दुःख देने वाले शत्रु पर'क्रोध होता है, पर साथ ही उस की अधिक बलवत्ता और अपनी अशक्तता का ज्ञान होता है, तब 'क्रोध' का रूपान्तर 'भय' हो जाता है।

आई, वह सब यहूदी जाति के रोज़गारियों के चक्कों पेटकों (चाल-बाज़ियों, अमलासाजियों, 'इनट्रीग्ज़', 'क्लीक्स्', कोटरीज़्', intrigues, cliques, coteries) के कारण आई; इन रोज़गारियों ने, सभी मुख्य धनाढ्य देशों मे, यथा ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, रूस, जेको स्लोवाकिया, यु स्टे. अमेरिका आदि मे युद्ध सामग्री बनाने वाले बड़े-बड़े कारखाने जारी किये, और सभी देशों के हाथ तुल्य रूप से सौदा वेचा; तथा ऐश-आराम, भोग-विलास, मद्य-माँस, शराव-कवाव, अश्लील सिनेमा थियेटर, अश्लील कोक-शास्त्रीय ग्रन्थों, के ›चार से, काम-शास्त्र-संवंधी दुष्ट-भाव और असज्-ज्ञान को जनता मे फैलाया, जिस से उन मे दुराचार व्यभिचार वहुत बढ़ा, और मानव-संसार की आध्यात्मिक हवा काम-क्रोध लोभ-मत्सर-कलह से भर गई; तथा, भीतर-भीतर राष्ट्र-नायकों को और जनता को, झूठी 'प्रोपेगेंडा', झूठे प्रचारों, से एक दूसरे के विरुद्ध, भड़काया; जिस से पहिला विश्वयुद्ध भी हुआ, जिस मे जर्मनी मारा गया। हिटलर ने यदि 'यहूदी जाति' न कह कर, 'भिन्न जातियों और देशों के थोड़े से धनकुवेरों का एक अन्तर्राष्ट्रीय गुट्ट' कहा होता, तो यह घोषणा अक्षरशः सत्य होती। वकील लोग, आपस मे मेल रखते हैं, मगर मुवक्किलों को भड़का कर लड़वा देते हैं, और कचहरी मे मुकद्दमा दायर करा कर, उन को चूसते हैं। जब हिट्लर ने अपने अधिकार की पहुँच के भीतर, यहूदियों का उत्पीड़न और विनाशन आरम्भ किया, तव फ़ाइड, जो जात्या यहूदी था, और आस्ट्रियावासी जर्मन था, अपने देश से भाग कर ब्रिटेन मे आ वसा; ऐसे ही और भी बहुतेरे बड़े नामी, प्रोफ़ेसर ऐनस्टैन आदि, यु० स्टे० अमेरिका आदि देशों मे छितरा गये, जहाँ हिट्लर की पहुँच न थी, और साधारण व दरिद्र कोटि के बहुतेरे यहूदी, रूस देश के सोवियेट राष्ट्र की अंग-भूत छोटी यहूदी-रिपब्लिक मे जा बसे, या 'लीग आफ़् नेशंस', League of Nations, की अनुमति से ब्रिटेन के द्वारा बसाई हुई, (और अरबों से लड़ाई जाती हुई, यथा भारत मे हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे से), फ़िलिस्तीन-जरूसलेम की यहूदी-रिपब्लिक को भाग गये।

सन् १९४० ई० मे, लंदन नगर मे फ़ाइड का शरीर छूटा। पर अंत तक उन्हों ने यह नहीं पहिचाना कि मानस एषणा, वासना, कामना, सब, तीन राशियों के भीतर पड़ती हैं, और प्रत्येक के साथ राग और द्वेष की मुख्य और अवांतर वृत्तियाँ बंधी हैं; जिन की चर्चा इस कामाध्यात्म

अध्याय के आरम्भ मे (पृ० १६४-१७३) की गई है; और जिन मे से किसी के भी उत्कट हो कर खंडित होने से मानस और शारीर रोग उत्पन्न होते हैं।

फ्राइड के विचार का तथ्य अंश

जैसा ऊपर कहा, फ़ाइड के विचार मे तथ्य अंश इतना ही है; सब नहीं, कुछ मानस और शारीर रोग, विविध प्रकार के छोटे बड़े उन्माद, दुःस्वप्न, मूढ़ग्राह, और उस प्रकार की (चक्के, इंट, पत्थर के टुकड़े, मल-मूत्र, आदि फेंकने की) चेष्टाएं जो बहुधा भूत प्रेत-पिशाचादि की बाधा के कारण समझी जाती हैं, और जो बाल्य और यौवन की वयः-सन्धि के काल मे, किशोर-अवस्था ('ऐडोलेसेन्स', Adolescence) मे, लड़कियों (को विशेष कर) तथा लड़कों को सताती हैं—यह सब मैथुनीय काम-वासना के व्याघात से, उत्पन्न होती हैं; तथा, इस किशोरा-वस्था मे अंकुरित होती हुई ऐसी वासनाओं को स्वयं न समझ सकने से, और भयभीत और भ्रान्त होने से, ऐसी असाधारण चेष्टाएं उत्पन्न होती हैं; तथा, सयानो (स-ज्ञानो, प्रौढों, 'ऐडल्ट्स', Adults) की दर्प-पूर्ण कामीय चेष्टाओं को देख कर, बालक-बालिकाओं वा किशोर-किशोरियों के हृदय मे साध्वस (हदस) उद्वेग, कम्प, होने से उत्पन्न होती हैं।

इस विषय का समग्र तथ्य

सम्पूर्ण तथ्य का जो अंश फ़ाइड के ध्यान मे नहीं आया, वह यह है कि, न केवल उपस्थीय काम के, अपितु, जीव के भीतर बैठे सर्व-वासना-मय सर्व-इच्छा-मय मूल-काम-सामान्य के किसी भी उद्रिक्त प्रचण्ड विकार के, विशेष काम-क्रोध-लोभ-(मोह)-भय-मद-मत्सर आदि के उद्वेग से, ऐसी विकृतियाँ और अस्वाभाविक चेष्टाएं होने लगती हैं, जो साधारण जन के समझ मे नहीं आतीं, और उन को हैरान-परीशान, चिताग्रस्त, खिन्न और किंर्त्तव्य-विमूढ़ कर देती हैं। जिन विचारशील सज्जनो को स्वयं अपने यौवनारम्भ मे ऐसे विकारों का अनुभव हो चुका है, और जो उन को सर्वथा भूले नहीं हैं, वे इन चेष्टाओं के हेतु को समझते हैं, और मानस विकारों से विकृतों को पुनः स्वस्थ करने मे सहायता दे सकते हैं। प्रायः सभी चिकित्सक लोग ऐसे विकारों का कामीय वासनाओं से सम्बन्ध जानते हैं, और स्थूल रीति से तो साधारण जन भी इस को पहिचानते हैं। अपठित ग्राम-स्त्रियां, इस सम्बन्ध को,

प्रायः अव्यक्त बुद्धि ('प्रातिभ' बुद्धि, 'इन्ट्युइशन' Intuition) से ही जानती हैं; यौवनोन्मुख किशोर किशोरियों की असाधारण नवीन चेष्टाओं को देखकर झट समझ जाती हैं, और, (अनावृत ग्रामीण शब्दों में), कहती हैं कि अब ये वैवाहिक (मैथुन) क्रिया के योग्य हैं और उस को चाहते हैं। "प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवद् आचरेद्"; जब बेटा सोलह वर्ष का हो जाय, तब उस के साथ बराबरी के मित्र के ऐसा व्यवहार करना चाहिये; इस प्रसिद्ध श्लोक का भी संकेत यही है कि, जैसा स्थूल रीति से सभी जनता जानती है, सोलह वर्ष के बाद किशोर को युवा समझना चाहिए।

यदि सम्पूर्ण तथ्य को संस्कृत शब्दों में एकत्र कहना हो तो कुछ मध्यकालीन और अर्वाचीन कवियों के तथा प्राचीन ऋषियों के वाक्यों का संकलन करना चाहिये; यथा,

> कृशः, काणः खञ्जः, श्रवण-विकलः, पुच्छ-रहितः,
> व्रणी, पूय-क्लिन्नः, कृमि-कुल-शतैर् आवृत-तनुः,
> क्षुधा-क्षामो, जीर्णः, पिठरक-कपाल-अर्पित-गलः,
> शुनीं अन्वेति श्वा; हतं अपि निहंति एव मदनः। (भर्तृहरि)

सुखा, भूखा, बूढ़ा, लंगड़ा, लूला, बिना कान, बिना पूँछ, घायल, सड़ा, कीड़ों से भरा, हांडी के टुकड़े को गले मे पहिने हुआ भी कुत्ता, कुत्ती के पीछे दौड़ता है; उन्-मत्त पागल करने वाला 'मदन', मरे को भी मारता है।

> स्त्री-मुद्रां झष-केतनस्य परमां, सर्वार्थ-सम्पत्-करीं,
> ये मूढाः प्रतिहाय यान्ति कुधियः, स्वर्गादि-लाभ-इच्छया,
> ते तेन एव निहत्य निर्दयतरं, नग्नीकृताः, मुंडिताः
> केचित् पंचशिखीकृताश् च, जटिलाः, कापालिकाश् चापरे। (भर्तृहरि)

स्त्री के लिये पुरुष, पुरुष के लिये स्त्री, संसार-सर्वस्व भी है, सब सुख सम्पत्ति का सार भी है; इस को त्याग कर, स्वर्ग आदि के लोभ से, जो स्त्री वा पुरुष असमय विरक्त होना चाहते हैं, उन पर कामदेव की मार पड़ती है, और तरह तरह से विरूप कुरूप बना दिये जाते हैं, कोई, भिक्षु भिक्षुणी नग्न फिरते हैं, कोई मुंडे हो जाते हैं, कोई पांच शिखा कर

लेते हैं, कोई जटा बढ़ा लेते हैं और भस्म लपेटते हैं, कोई 'अघोरी' हो जाते हैं, नर-कपाल खप्पड़ हाथ मे लिये फिरते हैं, विष्ठा तक खा लेते हैं; कोई इन्द्रिय-च्छेदन कर डालते हैं, कोई कनफटे 'अलख'-जगाने वाले हो जाते हैं, तरह तरह के 'वैरागी', 'फक़ीर', कथड़ी गुदड़ी 'सूफ़' कम्बल ओढने वाले 'सूफ़ी' आदि विविध पंथों के विविध वेशधारी हो जाते हैं; कोई जंगल बियावान मे चले जाते हैं और अकेले पड़े रहने का, और कंद मूल फल पर गुजर करने का, जतन करते हैं; कोई शहरों गांवों मे भीख मांगते फिरते हैं; इत्यादि ।

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि, मनसो रेतः प्रथमं यद् आसीत्,
सुतो वंधुम् असति निरविन्दन् , हृदा प्रतीष्य, कवयो मनीषिणः ।
(वेद)

इसका अर्थ, पृ० १७० पर लिखा गया है ।

मन एव मनुष्याणां कारणं वन्धमोक्षयोः (उपनिषत्),
(बन्धाय कामऽाविष्टं हि, निष्कामं मुक्तये तथा) ।

बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है, 'काम'से भरा, वंध का; 'काम' से छूटा, मोक्ष का । हिन्दी कहावत है, 'शहर का मारा जंगल; जंगल का मारा शहर'; अर्थात् , अविद्या, के बाद विद्या, विद्या के बाद अविद्या; सृष्टि के बाद प्रलय, प्रलय के बाद सृष्टि; जागने से थका सोवै, सोने से थका जागै; 'एका भार्या सुन्दरी वा दरी वा' (भर्तृहरि) मनुष्य को एक भार्या चाहिये, या तो सुन्दरी हो, या फिर पर्वत की कंदरा दरी ही हो । गीता मे 'काम' शब्द तेंतीस वेर आया है ।

सच्ची वर्णाश्रम-व्यवस्था से सर्व-समन्वय

पृ० १६९ के आगे कई पृष्ठों मे, काम-सामान्य और काम-विशेष की चर्चा की जा चुकी है, तथा इच्छा के दो त्रिकों, लोक-वित्त-दार-(सुत)-एषणा और आहार-धन-रति-इच्छा, की भी; जिन्हीं के सन्बन्ध मे काम क्रोध आदि के वहुविध द्वन्द्वमय चित्तविकारों की उत्पत्ति होती है । प्रसंग-वश, 'साइको-ऐनालिसिस' के वर्णन के साथ यहाँ, दूसरे शब्दों मे, वह आशय दुहरा दिया गया; क्योंकि, आज काल, जहां जहां आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा और विज्ञान आदि का सम्पर्क है, वहां वहां फ्राइड (और उन के अनुयायी और संशोधक, युंग, ऐडलर, आदि) के

'साइको-ऐनेलिसिस'-वाद की, और मार्क्स (और उन के अनुयायी और संशोधक, एंजेल्स, लेनिन, ट्राट्स्की, स्टैलिन, आदि) के 'काम्युनिज़्म-सोशलिज़्म' वाद Communism–Socialism, की चर्चा, और उन मे श्रद्धा, किंवा अन्ध-श्रद्धा, अपरीक्ष्य-विश्वासिता, भेंड़ी-धसान, मेषी-प्रपातवत् गतानुगतिकता, बहुत देख पड़ती है। यहां इतना कह देना चाहिये कि, जैसे लेनिन स्टैलिन आदि को, व्यावहारिक (अमली, 'प्रैक्टिकल', Practical) अनुभव के बाद, मार्क्स के मत (नय, अभ्युपगम, 'थियरी' Theory, ख़याल) मे शोधन परिवर्तन (तर्मीम, 'कर्रेक्शन' Correction) करना पड़ा है, वैसे ही, युंग, ऐड्लर आदि को, फ्राइड के विचार का परिष्कार करना पड़ा है; और दोनो प्रतिसंस्करणो से दोनो ही के विचार और व्यवहार, वैदिक दर्शन के आध्यात्मिक सिद्धांतों के पास, (यद्यपि अभी तक 'अ-प्रति-अभि-ज्ञात', बिना 'पहिचाने', रूप से); अधिकाधिक आ रहे हैं; और आशा होती है कि दोनो, निकट भविष्य मे, उन्हीं वैदिक सिद्धान्तों के व्यावहारिक-प्रयोग-('प्रैक्टिकल् ऐप्लिकेशन' Practical application)-रूपी वर्ण आश्रम-धर्म-ऽात्मक समाज-व्यवस्था मे, संग्रथित, समन्वित, परिणत हो जायंगे।*

---

* सन् १९३४ ई० के अन्त मे, मै ने, 'एन्शेंट वर्सस माडर्न सायंटिफ़िक् सोशलिज़्म', Ancient versus Modern Scientific Socialism, नाम का, अंग्रेज़ी मे लिखा, ग्रन्थ छपवाया। इस मे यह दिखाने का यत्न किया कि आज काल, चालीस पचास वर्ष से वा सौ वर्ष से, पच्छिम के देशों मे, जो पूंजीवाद और तत्सहायभूत साम्राज्यवाद, शस्त्रवाद, आदि चल रहे हैं, उन का, और उन के प्रतियोगी समाजवाद-साम्यवाद का, किन अंशों मे सादृश्य है और किन अंशों मे वैदृश्य; तथा इस नवीन समाजवाद का और भारतीय प्राचीन समाजवाद का कितना सादृश्य वैदृश्य है। ऐसे ही, "थियोसोफ़िस्ट" नाम के मासिक पत्र मे (जो आड्यार, मद्रास से निकलता है), सन् १०.३७ के अंकों मे, तथा "दर्शन का प्रयोजन" नाम के हिन्दी ग्रन्थ मे, सन् १९४० ई० के अन्त मे, 'साइको-ऐनालिसिस' की समीक्षा परीक्षा की। इसी समीक्षा का उपबृंहण कर के, 'एनशेंट साइको-सिंथेसिस वर्सस माडर्न साइको-ऐनालिसिस' Ancient Psycho Synthesis versus Modern

साधारण रीति से, 'आधयो मानसीव्यथाः' और 'व्याधयो दैहिकी-व्यथाः', ऐसा व्यवहार हो रहा है; आयुर्वेद का निर्विवाद सिद्धांत है कि 'आधि से व्याधि' और व्याधि से आधि;' एक दृष्टि से समग्र आयुर्वेद को, तथा सांख्य-योग-वेदांत को, इसी सूत्र का भाष्य कह सकते हैं; योगोक्त वधियों से चित्त का प्रसादन, परिमार्जन, विशोधन, परिष्करण, स्वस्थापन, आधि-शमन; आयुर्वेदोक्त दिन-रात्रि-ऋतु-चर्या से, शौचऽाचार से, विशेष रोगों के लिए विशेष औषध उपचार आदि से, शरीर-शोधन, व्याधि-शमन; आधि-व्याधि के शमन से सत्त्व (प्राण और बुद्धि) की शुद्धि, परमात्मस्मृति का लाभ, सब हृदय-ग्रन्थियों का वि-प्र-मोक्ष (विशिष्ट प्रकृष्ट मोचन), परम-शांतिरूप स्थित-प्रज्ञता-रूप निरतिशय-आनन्द की प्राप्ति (छांदोग्य उप०) ।

आधि-व्याधि के सम्बन्ध के वैज्ञानिक उदाहरण

व्याधियों के उत्पादन मे आधियों के प्रभुत्व को पाश्चात्य वैज्ञानिक कितना मानने लगे हैं इस के उदाहरण के अर्थ, "दि रीडर्स डाइजेस्ट" (न्यू-यार्क, यु स्टे अ.) के अक्तूबर, १९४२ ई० के अङ्क से कुछ संक्षिप्त उद्धरण यहाँ लिखे जाते हैं। इन से सिद्ध होता है कि, न केवल मस्तिष्क और नाड़ी-'नर्व' (nerve) व्यूह की आधि-व्याधियां, अपि-तु सब प्रकार के शरीर रोग, तीव्र मानस क्षोभ से पैदा हो सकते हैं। ठीक ही है; वात-पित्त-कफ, रजस्-सत्त्व-तमस्, (क्रिया-ज्ञान-इच्छा), सभी सदा साथ रहते हैं; नितान्त पृथक् नहीं किये जा सकते हैं; हाँ, एक समय मे एक अधिक व्यक्त और बलवान्, दूसरे दो कम; ऐसा घटाव बढ़ाव ही उन मे होता

Psycho-Analysis (अर्थात् 'प्राचीन चित्त-संगठन, संश्लेषण, संघाती-करण, व्यूहन, सम्बन्धन, सम्पूरण, संग्रंथन, एकीकरण, और नवीन चित्तविघटन, विश्लेषण, विश्लथन, विशकलन, अनेकीकरण, का परस्पर सम्प्रधारण, मुक़ाबिला, मीमांसन, संतोलन, सं-परि-अप-ईक्षा') नाम के ग्रन्थ का आरंभ किया; आशय यह दिखाना था, कि नवीन वाद ऐकपाक्षिक अर्ध सत्य है, और प्राचीन, सर्वांगीण, सर्वसंग्राहक, सम्पूर्ण सत्य है; पर यह ग्रन्थ अधूरा पड़ा है; अंतरात्मा की इच्छा हुई, और आयुःशेष बुद्धि-शेष पर्याप्त हुआ, तो पूरा होगा ।

रहता है; एक के विकार का असर भी दूसरों पर पड़ता ही है; 'वैशेष्यात् तु तद्वादः तद्वादः'; विशेष मुख्य लक्षण की प्रबलता से, वैशेष्य से, वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, ऐसे विशेष नाम से रोग कहे जाते हैं; अन्यथा सभी रोगों मे, तीनों के विकार कम वेश देख पड़ते हैं।

"पन्द्रह सौ रोगियों की परीक्षा, न्यू-यार्क महानगर के एक अस्पताल मे, की गई; आधे से ज्यादः के रोग का कारण मानस क्षोभ सावित (सिद्ध) हुआ। नौकरी छूट जाने से, आर्थिक चिंता से, दूसरे के पेट के दर्द का हाल सुनने से, मचली और पेट का दर्द शुरू हो गये; दो सौ पांच रोगियों के पेट मे निनावें, मानस क्षोभों से, अधिक चिंता, रोजगार मे नुक़शान, पति-पत्नी के गृह-कलह आदि से; हो गये, तीव्र क्रोध के ऊपरी दमन और भीतरी जलन से तत्काल 'हाइ ब्लड प्रेशर' (रुधिर-वाहिनी शिराओं मे विकार, रुधिर-चाप-वृद्धि) हो गया; 'डायाबीटिस' (बहुमूत्र के विविध प्रकार, इक्षु-मेह, मधु-मेह, उदकमेह, आदि), यक्ष्मा, दन्तरोग, हृदय के रूप और गति के विकार, आदि, विविध रोग, विविध क्षोभों के कारण, विशेष कर गत विश्व-युद्ध मे अप्रकाशित भय के तीक्ष्ण वेग से, और घर वापस जाने की घोर उत्कण्ठा से, उत्पन्न हुए। इन अन्वेषणो का यहां तक प्रभाव पड़ा है कि, प्रगतिशील चिकित्सक अब यह कहने लगे हैं—'किस प्रकार का रोग है, यह जानना कम आवश्यक है, किस प्रकार का रोगी है, यह जानना अधिक आवश्यक है"।* भारत के, तथा पश्चिम के, चिकित्सकों को यह विदित है कि कभी-कभी 'जानडिस' (Jaundice, पांडुरोग, कामला, यर्क़ान, जिस मे यकृत् की विकृति से पित्त सारे शरीर मे फैल जाता है, और शरीर हल्दी ऐसा पीला हो जाता है), उग्र क्रोध के ऊपरी विरोध और भीतरी विरोध से, एक वा दो घण्टे से भी कम मे हो जाता है।

---

* "Mental conditions can upset normal physical functions, weaken our resistance to infection, even actually cause physical change in vital organs;... nausea, stomach pains,...stomach cancer,...stomach ulcer,......mucous colitis,......high blood pressure,... tuberculosis,...diabetes,......arthritis, tooth decay...

काम विषयक शिक्षा*

विना सत्य ज्ञान के दुःख से मोक्ष नहीं

प्रकृत प्रकरण का आरम्भ पृ० १९१ पर, 'काम विषयक शिक्षा के प्रकार और प्रचार के सम्वन्ध मे कुछ विचार', इस शीर्षक से हुआ है। तात्कालिक साक्षात् उद्देश्य इस प्रकरण का वह जान पड़ेगा जिस की चर्चा पृ० १९६-१९९ पर की गई है। किंतु व्यापक और गुरुतर उद्देश्य, इस समस्त 'कामाध्यात्म' नामक अध्यार्य का, यह है, कि कामशास्त्र के आध्यात्मिक तत्त्वों का ज्ञान जनता मे फैले; विशेष कर गृहस्थों मे

---

heart trouuble...(are caused, because) most of us bury distressing problems in a secret crypt of our minds." (This is what the psycho-analyst calls 'repression'). "It is more important to know what sort of patient has a disease, than what sort of disease a patient has", (Reader's Digest for Oct. 1942, pp. 49-51; New York. U. S. A.).

* पुनः कुछ निजी निवेदन—

'श्रेयांसि वहु-विघ्नानि', अच्छे काम मे वहुत विघ्न होते हैं; १४ मई १९४३, शाम को मै कुर्सी से उठने लगा, मूर्च्छित हो गया; सामने रक्खी दूसरी कुर्सी पर गिरा; नाक से प्रायः दो सेर खून, अठारह घंटे मे, निकल गया, ऐसा डाक्टरों ने अनुमान किया; कठिनता से खून वंद हुआ, प्रायः पन्द्रह दिन मे जव फिर शरीर मे कुछ प्राण-संचार हुआ, तव विखरे छितरे प्रसुप्तवद् विचारों को एकत्र कर के, चारपाई मे ही बैठ बैठ कर, ग्रन्थ के कार्य का पुनः आरंभ किया। ऐसी अवस्था मे क्या कार्य और कैसा हो सकेगा, यह अन्तरात्मा को ही विदित है! पर जव तक साँस (श्वास) तव तक आस (आशा)'; "कर्मणि एव अधिकारस् ते, मा फलेषु कदाचन"। पाठक सज्जन इस ग्रंथ के सब दोषों को क्षमा करेंगे; यदि कोई अंश इसका उन्हे उपयोगी उपादेय जान पड़े, तो उस का ग्रहण और प्रचार करैं; जो दोषयुक्त अनुपयुक्त हेय जान पड़े, उस का त्याग और वर्जन अवश्य करैं; यह प्रार्थना है।

जिन के ऊपर नई पुश्त की रक्षा शिक्षा भिक्षा (वा भक्षा) की जिम्मेदारी है; कि वे समय समय पर अपने बच्चों की बुद्धि, वयस्, स्वभाव, अवस्था आदि के अनुसार, उन को, भूलों और दुराचारों से बचाने के लिए, उचित हित उपदेश करें। इस लिये, इन आध्यात्मिक तत्वों के ज्ञान के अन्तर्गत, तथा उन से सम्बद्ध, बहुत सी बातों और विचारों का संग्रह यहां तक कर दिया गया। पक्ष प्रतिपक्ष दोनो पर विचार कर के, इस युग (ज़माने) के लिये निष्कर्ष यही है, जैसा पृ० १८३ पर गीता के श्लोक से कहा गया, कि सत्य ज्ञान के प्रचार से ही 'हवा' पवित्र होती है, जनता का हृदय शुद्ध होता है, सारे समाज का भाव और विचार सात्विक होता है, और तदनुसार, आचार भी शुद्ध और सात्विक होता है; ऐसे समाज की नई पुश्त की उचित रक्षा शिक्षा भिक्षा, अनायासेन आप से आप होती रहती है।

इस का प्रमाण, भारत के प्राचीन इति-ह-आस से मिलता है। कचहरियों में रोज़ देख पड़ता है कि एक ही मामले मे, दोनो पक्ष की ओर से, आंख देखे गवाह परस्पर नितान्त विरोधी साक्षी देते हैं; तब अति दूर भूत काल मे, 'इदं इत्थं एव', ऐसा ही हुआ, 'इति-ह-आस', यह निश्चय से कहना कठिन है; तौ भी न्यायालय मे न्यायाधीश प्राड्विवाक् निर्णय करता ही है, और उस का निर्णय अक्सर ठीक भी होता ही है। यह देखते हुए, उपलभ्यमान स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थों के सहारे से; तथा उन स्मृतियों के आदेशों पर आश्रित जो समयाचार आजकाल भी 'हिन्दू' समाज मे चल रहा है, चाहे अस्त-व्यस्त रूप ही मे, उस के सहारे से; यह अवश्य कह सकते हैं कि, प्राचीन काल मे, भारत में, अब से अधिक सात्विक भाव फैला था, और उस के अनुसार नई पुश्त को शिक्षा मिलती रही।

ब्रह्मचर्य के विषय मे प्राचीन काल की शिक्षा

आश्रमो के, विशेष कर ब्रह्मचारी विद्यार्थी आश्रम के, धर्मों के वर्णन मे, ब्रह्म-चर्य शब्द प्रतिपद आता है; अवश्य ही इस का अर्थ विद्यार्थी को समझाया जाता था; वेद और उपनिषद् के वाक्य, पृ० १८१ पर लिखे गये हैं; मनु की आज्ञा है,

एकः शयीत सर्वत्र, न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्;
कामाद् हि स्कन्दयन् रेतः, हिनस्ति व्रतं आत्मनः;

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रं, अकामतः,
स्नात्वा, अर्कम् अर्चयित्वा, त्रिः 'पुनर् मां' इति ऋचं जपेत् । (म०)

कड़ी चौकी या भूमि पर, ब्रह्मचारी अकेला ही सोवै; एक बिछौने मे, दूसरे के साथ नहीं; जान बूझ कर कहीं कभी वीर्य न गिरावै; यदि बुद्धि-पूर्वक गिरावैगा, तो उस के ब्रह्मचर्य व्रत की हिंसा होगी, वह भ्रष्ट हो जायगा, विद्यार्थी को यथेष्ट विद्या नहीं आवैगी; परन्तु, यदि सपने मे, निद्रा मे, आप से आप, बिना जाने बूझे, बिना इच्छा किये, बिना हस्तमैथुन आदि की चेष्टा किये, वीर्य गिर जाय, तो नहा कर, सूर्य को नमस्कार कर, 'पुनर्मा' इस वैदिक ऋचा को तीन वेर जपे; ऋचा के अर्थ की भावना करता हुआ; 'तज्जपः तदर्थभावनं,' (योगसूत्र); बिना 'अर्थ' की भावना का जप, 'वि-अर्थ' है, व्यर्थ है; सात्त्विक भावना-रूप भावनाऽत्मक जप से चित्त शुद्ध होता है; यह सब बात, माता पिता, वा आचार्य, वत्सल और दयालु भाव से, स्नेहमय शब्दों मे, पुत्र को, शिष्य को, समझा देते थे, और इस सम्बन्ध मे उस को जो शंका और प्रश्न उठते थे, उन का उसी रीति से समाधान कर देते थे। शुक्र, रेतः, वीर्य क्या वस्तु है; क्यों और कैसे गिरता है; गिरने से क्या हानि है; रक्षा से क्या लाभ है, जिस लाभ के लिए उस की रक्षा, उस का शरीर मे संचय, करना उचित है; यह सब बातैं बतलाना ही पड़ता होगा; और इस रीति से ज्यों ज्यों विद्यार्थी, किशोर अवस्था से यौवन की ओर बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों उस, का कामशास्त्र की साधारण और अधिक आवश्यक बातों का ज्ञान अनायास बढ़ता जाता था। सारे समाज मे ब्रह्मचर्य के महिमा का ज्ञान फैला रहने से, ब्रह्मचारी की रक्षा स्वतःप्राप्त होगी। पृ० १५७–१५८ पर और भी श्लोक उद्धृत किये हैं; उनको भी इस स्थान पर पुनः देख लेना चाहिये।

यदि वृद्ध जन, हितैषी, नेकनीयती से भी, अच्छे आशय से भी, सद्-उद्देश्य से भी, अन्तरात्मा की प्रेरणा से ही, ऐसे उपदेश दें, और तौ भी नई पुश्त के चित्त मे दोष ही उत्पन्न हो, तो कहने और सुनने वाले के भाग्य ही का दोष जानना मानना चाहिए; और क्या कहा जाय ?

मातृजंघा हि वत्सस्य स्तम्भीभवति दोहने (रघुवंश)

बछवे के दुर्भाग्य से गाय दूहने के समय, बछवे को बांधने के लिये, उस की माता गाय का ही पैर, स्तम्भ का, खम्भे का, काम देता है।

अल्पवयस्कों को, ऐसे प्रश्नो के उत्तर मे, जिन की चर्चा पृ० १९८ पर की है, क्या वतलाया जाय; इस विषय पर, पुनः, इस अध्याय के 'परिशिष्ट' मे, कुछ लिखने का यत्न किया जायगा।

ब्रह्मचर्य के गुण*

पृ० १८२ पर, इसी शीर्षक का अधिकरण ('सेकशन', 'टापिक', sec. topic), शरीर के तीन स्थूणों खंभों की, तथा ओजस् की, चर्चा से समाप्त किया गया। अव-रोह-मार्ग से, (अव-रोहण, 'नीचे उतरना', सर्जन, सं-चरण, प्र-वर्त्तन से), अनन्त ब्रह्म परमात्मा का ही प्रति-बिम्ब, व्यक्तीकृत, वि वर्त्तित, उलटा किया, स्थूल रूप, 'शुक्र' (ब्रह्म सनातनं) है; आरोह क्रम से, (प्रति-संचरण, प्र-लयन, नि-वर्त्तन, प्रति सर्जन-से), 'शुक्र'-शक्ति को उलटा फ़ेरने से, नीचे उतारने के वदले ऊपर चढ़ाने से, वहिर्मुख के स्थान पर अंतर्मुख करने से, जीव, पुनः सूक्ष्म सूक्ष्मतर भावों का अनुभव करता हुआ, अव्यक्त परब्रह्म परमात्मा के भाव को प्राप्त करता है। योग की विधियों के अभ्यास से निरोध कर के, यदि वीर्य-धातु आत्मलीन किया जाय, तो सिद्धियों में परिणत होता है; ऐसी, योग के ग्रन्थों की सूचना है; वह शक्ति बाहरी कार्यों मे व्यय न हो कर, भीतर फिरती है, शरीर और मस्तिष्क के सुप्तप्राय चक्रों, पीठों, कन्दों का, दिव्य इन्द्रियों का, उद्बोधन संचालन करती है; स्थूल संतान के स्थान पर सूक्ष्म शरीर का ('जिस्मि-लतीफ़' का) निर्माण करती है, जिस से 'खे-चर' सिद्धि होती है। 'खे', चित्ताकाश मे, विचरण की शक्ति; मानस शक्ति, कल्पना शक्ति, जिस के द्वारा सब प्रकार के काव्य साहित्य और विविध शास्त्रो के ग्रन्थों का

---

* इस 'कामाध्यात्म' अध्याय के आरम्भ (पृ० १५४) मे बतलाया है कि पहिले लिखे एक छोटे 'निबन्ध का यह अध्याय उपबृंहण है; उस निबन्ध का प्रायः पंचम अंश इस के पृ० १८० तक मे समाप्त हुआ; उस पृष्ठ पर, 'ब्रह्मचर्य के गुण', इस शीर्षक से, एक अधिकरण आरंभ हुआ; तत्पश्चात्, प्रसंगवश, अन्य बहुत बातों की चर्चा की गई; उन सम्बद्ध बातों की परिक्रमा कर, अब घूम कर, विचार पुनः 'ब्रह्मचर्य से गुण' की ओर आ गया; स्मरण के सौकर्य के लिये, इस अधिकरण का शीर्षक पुनः वही दिया जाता है।

निर्माण होता है, इसी 'खे-चर' शक्ति का एक साधारण रूप है। प्राणि-सृष्टि मे जितना ही नीचे जाइये, उतनी ही उदर-शिश्न-परायणता अधिक देख पड़ती है, आहरण (आहार) और प्रजनन, इन्हीं दो कार्यों मे जन्तुओं की शक्ति दिन रात, लगी रहती है, बुद्धि का विकास नहीं होता; मनुष्य सृष्टि मे आ कर, जितनी ही भोजन-सन्तानन-कार्यों की रोक होती है, उतनी ही बौद्ध-कार्यों की वृद्धि। ब्रह्म आनन्द का विवर्त्त काम-आनन्द है; "तद् ऐक्षत बहु स्याम्" 'तत् सृष्ट्वा तद् एव अनु-प्राविशत्", "तद् यथा प्रियया भार्यया संपरिष्वक्तः न बाह्यं किंचन वेद नाऽभ्यन्तरं", इत्यादि वाक्यों से, उपनिषदों ने, जीवात्मा-परमात्मा के सम्मेलन का भी, और स्त्री-पुरुष के समाश्लेषण का भी, वर्णन किया है, पर यह न भूलना चाहिये कि जीव और ब्रह्म का ऐक्य उत्-तम है, मोक्ष है, शुद्ध अमृत है, एक-रस निश्चल निष्क्रिय अमरत्व है, स्त्री-पुरुष-संगम अधस्-तम अधम है, बंध है, विषाक्त अमृतऽभास हैं, बहु-सुरस-कुरस-पूर्ण चंचल क्रियामय आगम-अपायित्व जनन-मरणत्व है। कामशास्त्र मे मैथुन को अष्टांग कहा है,

> स्मरणं, कीर्त्तनं, केलिः, प्रेक्षणं, गुह्यभाषणं,
> संकल्पोऽध्यवसायश्च, क्रियानिष्पत्तिर् एव च।

इस के विपरीत, योग भी अष्टांग है, "यम-नियम-आसन-प्राणऽयाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयः"। इस विषय का विस्तार, मैं ने "मानव-धर्म-सारः" नाम के संस्कृत-पद्य-ग्रन्थ मे किया है।

बहुकाम के दोष

स्त्री-वीर्य (जिस का नाम रजस् है, पर जो रजस्वला के बहिर्दृश्यमान 'रुधिर' से भिन्न है), जिस को अंग्रेजी मे 'ओवम्' ovum कहते हैं, और पुरुषवीर्य, 'स्पर्म' sperm, आहारादि का सार, और अहंता-ममता काम का विशेष आधार, है। इस का शरीर मे अधिक संचय, और सद्-बुद्धि की मात्रा कम, होने से, ऐश्वर्यमद का प्रधान आविष्कार यह होता है कि सम्पन्न पुरुष बहुत स्त्रियों को ब्याह लेते हैं, अथवा घर मे डाल लेते हैं। तथा स्त्रियाँ, जिन देशों मे ऐसी प्रथा है, बहुत पुरुषों को ब्याहती या

रखेल कर लेती हैं, अथवा गुप्त जार बना लेती हैं* । पूर्व और पश्चिम देशों के प्राचीन अर्वाचीन पुराण-इतिहास मे, जो राजा-महाराजा-सम्राटों, शहनशाह-पादशाह-सुलतानो, किङ्-कैसर-एम्पररों की कथा मिलती हैं, उन से मालूम होता है कि एक एक 'अवरोध' ('हरम') मे कई कई हजार स्त्रियाँ तक समय-समय पर भरते भरते जमा-हो जाती थीं। कृष्ण की सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियाँ प्रसिद्ध हैं। उन के बहुत पुराने पूर्वज राजा रजि की एक लाख लिखी हैं। यह सब पौराणिक अत्युक्ति हो सकती है, पर सर्वथा नहीं। ईरान के इतिहास मे सैकड़ों और हजारों स्त्रियों के हरम मिलते हैं। रोम के किसी किसी सम्राट् के भी सैकड़ों थे। ईसा से हजार वर्ष पूर्व, यहूदियों के सब से प्रतापी प्रसिद्ध बुद्धिमान् विद्वान् ('दि-वाइज़', the wise) किन्तु इस विषय मे अन्य राजों के ऐसे ही दुर्बुद्धि, हजरत सुलेमान की सात सौ बीवियाँ लिखी हैं। ईसवी पंद्रहवीं शताब्दि मे दक्षिण के विजयनगर के साम्राज्य मे, एक राजा के अवरोध मे बारह हजार स्त्रियों का रहना लिखा है; सोलहवीं शताब्दि मे, अति धनसंचय, अति भोगविलास, अति मांस-मद्य-अहार, अति गर्व के कारण, यह साम्राज्य, राष्ट्र के सु-प्रबंध की बुद्धि और नीति मे, तथा शूरता से प्रजारक्षण की शक्ति मे, शिथिल हो गया। इस की समृद्धि, यूरोप के अभ्यागतों के वर्णन से, महाभारत-हरिवंश आदि मे लिखित, युधिष्ठिर की मयनिर्मित सभा और कृष्ण की सुधर्मा सभा की समृद्धि से भी अधिक आश्चर्य-कारिणी जान पड़ती है। सो यह कई पड़ोसी मुसलमान राजाओं के मिल कर आक्रमण करने से ऐसा विध्वस्त हो गया, कि कुछ वर्षों पीछे उस की स्मृति भी भारतवर्ष से भूल सी गई थी। अब इतिहास के गवेषकों ने अपनी खोज के बल उस स्मृति को ताजा किया है; इस पर, सब से पहिले, और सब से अधिक, परिश्रम, सिवेल नाम के एक अंग्रेज सज्जन ने किया; १९०० ई० मे उन का ग्रन्थ छपा, जिस का नाम ही उन्हों ने 'एक विस्मृत साम्राज्य', A Forgotten Empire, रक्खा। उन के बाद भारतीय गवेषकों ने भी अच्छा परिश्रम किया है। मुश्किल से ढाई सौ

* वात्स्यायन ने ऐसे कुछ देशों की चर्चा की है। अंग्रेजी मे 'वेस्टर-मार्क' का 'हिस्टरी आफ़ ह्यूमन मैरेज', तीन बड़ी जिल्दों मे, (पुनर्लिखित पंचम संस्करण, १९२१ ई०), विवाह के प्रकारों पर आकर ग्रन्थ है।

वर्ष मे यह साम्राज्य जन्मा, बढ़ा, तपा, और, अति 'काम' के कारण ही, समूल नष्ट हो गया। मद्रास सूबा के बिलारी जिला मे, हम्पी नामक स्थान मे, इस के विशाल खंडहर पड़े हैं।

यह सोलहवीं शती ईसवी की बात है। ई० सन् १८५७ के सिपाही संग्राम के पीछे, अवध के नवाब वाजिद अली शाह के साथ, कलकत्ते के पास मटियाबुर्ज को, सात सौ बेगम गईं; ऐसी किंवदन्ती, पचास साठ वर्ष पहिले, थी। ई० सन् १९०६ मे मुझे काशी के 'सेंट्रल हिंदू कालिज' के लिये दान माँगने को, हैदराबाद (दक्खिन) जाने का अवसर हुआ। वहाँ दो-मंजिले मकानो का एक बड़ा भारी आहाता, क़िले के ऐसा, शहर के भीतर देख पड़ा; लोगों ने कहा कि इस मे भूतपूर्व निज़ाम के बयालीस सौ 'महल' थे। लखनऊ मे खुस्रौ बाग़ के बारे मे यही कहा जाता है, कि वाजिद अली शाह के 'महलों' का अहाता था, और उस की बावलियों में 'चीरहरण लीला' की जाती थी; इत्यादि। परिणाम जो हुआ प्रसिद्ध है। कुछ वर्ष हुए, काशी के 'आज' अख़बार मे, कुँवर मदन सिंह नाम के एक देशभक्त उच्चवंशीय राजपुत्र ने, राजपूताने की एक रियासत के दुराचारों का हाल कई लेखों मे छपवाया, और वहाँ के राजा के 'अवरोध' की दशा का भी वर्णन किया।

'अवरोध' शब्द 'रुध्' धातु से बना है, जिस का अर्थ 'रूँधना', घेर कर रोकना, जैसे कारावास को दीवारों से, अथवा भेड़ बकरियों के झुण्ड को काँटे झंखाड़ के वा बाँस के घेरे से। अवरोधों से क्या विपत्तियाँ राजा पर पड़ती हैं, तथा राजा के कुल पर, और उस प्रजा पर जिस के दुर्भाग्य और दुष्कर्म से उस को ऐसे राजा मिलते हैं—यह, व्यास वाल्मीकि महर्षि ऐसे इतिहासकारों ने दिखाया है; इन्हों ने कार्य-कारण सम्बन्ध को देखने वाली सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टि से देख कर, वैयक्तिक तथा सामूहिक मानव जीवन को, राग-द्वेष, काम-क्रोध, और इन के अवान्तर भावों की ही, अनन्त माया-क्रीड़ा का प्रवाह पहिचाना और कहा है। कृष्ण के पुत्र साम्ब को कैसे अपनी विमाताओं के साथ व्यभिचार करने से कुष्ठ रोग हो गया, और कैसे तपस्या से अच्छा हुआ, यह कथा भविष्य पुराण मे कही है। तथा कृष्ण के पृथ्वी छोड़ने के बाद उन के अवरोध की क्या दुर्दशा हुई, यह भी प्रसिद्ध है। सब स्त्रियों और बचे हुए बालकों को ले कर, अर्जुन, द्वारका से मथुरा को जा रहे थे; रास्ते मे आभीरों ने छापा मारा, स्त्रियों,

को उठा ले गये; व्यास जी लिखते हैं कि बहुत सी स्त्रियां, आभीरों के साथ, राजी खुशी चली गईं; अर्जुन, कृष्ण के वियोग से ऐसे दुःखित विमूढ़ हो रहे थे कि कुछ रक्षा नहीं कर सके। प्रत्येक अवरोध की प्रायः ऐसी ही दशा होती रही है। आस-पास के तत्कालीन लोग जानते हैं, पर इतिहासकार प्रायः नहीं लिखते*। क्षत्रियों मे कितनी ही स्त्रियाँ, राजा के मरने पर, या राष्ट्र-विप्लव होने पर, एक साथ 'सती' स्वयं होती थीं, या जबर्दस्ती आग मे डाल दी जाती थीं। ऐसी घोर क्रूरताओं का फल, सारे समाज का पतन है। इतिहासकारों को ऐसे कार्य-कारण, विशेष रूप से दिखाना चाहिये। अन्यथा, इस विषय मे अज्ञान और स्मृति-भ्रंश होने से, बुद्धि-नाश और व्यभिचार, देश मे, समाज मे, बढ़ता है, और अन्त मे समाज को डुबाता है। काम-शास्त्र के ग्रन्थकारों को भी ये बातें ध्यान मे रख कर ही ग्रंथ लिखना चाहिये, कि उन के ग्रंथ, समाज के अधः-पात मे सहायक न हों।

वात्स्यायन ने काम-सूत्र मे ऐसे अन्तःपुरों के व्यभिचारों की कुछ चर्चा की है। पर उन के वर्णन की अपेक्षा से, वास्तविक अवस्था बहुत अधिक भयङ्कर और बीभत्स रही, और है। इस विषय की विशेष पुस्तकों से उन का हाल जाना जा सकता है।†

कामीय ईर्ष्या से, न जाने कितनी स्त्रियों, कितने पुरुषों, की हत्या राजमहलों मे की गई है; जहर से, फाँसी से, छुरे तलवार से, बन्दूक-पिस्तौल से, ज़िन्दा गाड़ देने और दीवार मे चुनवा देने से, अन्तःपुर की खिड़कियों के नीचे मगरों से भरे तालाबों मे फेंक देने से, इत्यादि। कितने ही राजवंश, ऐसे ही कारणो से बदल गये हैं; असली हक़दार

* छः सात वर्ष के भीतर की बात है, भारत मे, एक पहाड़ी रियासत के राजा मरे; लड़का गद्दी पर बैठा; उस ने बाप के 'अवरोध' को महलों से एकदम निकाल बाहर किया; सारी सड़क इन स्त्रियों से दूर तक भर गई; जीयो या मरो, क्या तुम्हारे अन्न वस्त्र का उपाय होगा, इस से कुछ मतलब नहीं। यह कथा एक मित्र ने मुझसे कही जिस ने स्वयं इस दृश्य को देखा।

† श्री कन्हैयालाल गौबा की 'दि पैथोलोजी आफ़ इण्डियन प्रिंसेज' मे वर्तमान रियासतों का हाल, और 'अङ्कल शैम' मे अमेरिका का, थोड़े में बहुत कुछ दिखाया है।

मार डाले गये, व्यभिचार के जने, जार-ज, पुरुष, उन के स्थान पर गद्दी पर बैठा दिये गये; इतिहासों की सूक्ष्मेक्षिका से ऐसी बातों का पता चलता है। एक राजा, अवध-प्रांत के जिन को मरे प्रायः तीस वर्ष हुए होंगे, कहा करते थे कि 'बारी' (खिदमतगार) का लड़का राजा, और राजा का लड़का 'बारी' होता है। दैनिक समाचार पत्रों मे, मैथुनीय ईर्ष्या के कारण की गई हत्याओं के मुकद्दमों की चर्चा अक्सर होती रहती है।

इन सब बातों को यहाँ लिखने का तात्पर्य यह है कि, कामशास्त्र के अध्येता को चेतावनी की कमी न हो, कि आहारेच्छा, परिग्रहेच्छा और कामेच्छा के सुप्रयोग से सर्वस सुख और दुरुपयोग से दु खसर्वस्व, मनुष्य को मिलता है। दुष्ट-काम के कारण रावण का महावंश नष्ट हुआ और सोने की लङ्का जली; अत्याहार, अति लोभ, अति बलमद, अति शौर्यमद, अति ईर्ष्या से, भीम-दुर्योधन की, अर्जुन-कर्ण की, परस्पर प्रतिस्पर्द्धा से, महाभारत का युद्ध हुआ। अति परिग्रह-लोभ से, अति धन-मद से, तथा समाज-व्यापी इन्द्रिय-लौल्य, भोग-लोलुपता, विषय-मग्नता से, कलह बढ़ कर, १९१४–१८ ई० में, महायूरोप का महा-समर हुआ, जो महाभारत के युद्ध से दस गुना दारुण, रोग-संचारक, प्रजा-विनाशक, सम्पत्ति-क्षय-कारक हुआ; और अब पुनः, १९३९-१९४६ मे, उस से भी अधिक घोर द्वितीय विश्व-युद्ध हुआ, जिस के अङ्गार-शेष, अभी भी, 'इंडोनीसिया' मे, फिलिस्तीन मे, चीन मे, (१९४६ मे) जल रहे हैं। महाभारतीय संग्राम मे अठारह अक्षौहिणी अर्थात् कोई चालीस लाख आदमी कटे; और यूरोपीय प्रथम विश्व-युद्ध मे (युनाइटेड स्टेट्स अमेरिका के विशेषज्ञो की गणना से) एक करोड़ तीस लाख मरे; इतने ही सारे जीवन के लिये लँगड़े, लूले, अंधे, काने, तरह तरह से अपाहज हो गये; और इस के पांच गुने छः गुने भूख और बीमारियों से मरे। सब देशों के चिकित्सकों मे यह प्रसिद्ध है कि, नब्बे फ़ी सदी रोग, जिह्वा और उपस्थ के अतिलौल्य से और दुरुपयोग से होते हैं, और दस फ़ी सदी बाहरी कारणों से।*

* १९१४–१८ के विश्वयुद्ध मे, सवा चार वर्षों मे, यूरोप मे एक कोटि तीस लक्ष कटे; १९१८ के अंत और १९१९ के आदि मे, सवा चार महीनो मे, भारत मे, सरकारी गणना से, साठ लाख, और वस्तुतः सवा करोड़, आदमी, 'वार-फीवर', 'इनूफ्लुएंजा'. 'न्युमोनिक प्लेग',

उचित 'काम'-सेवन की उपयुक्तता।

यहाँ यह भी कह देना चाहिये कि, प्रवृत्ति मार्ग पर, तीनों इच्छाओं की, उचित मात्रा मे, उचित रीति से, तृप्ति करना भी आवश्यक है। अ-समय अत्यन्त निरोध से भी दोष उठते हैं, जैसे अत्यन्त व्युत्थान से। पर इतना जरूर है कि, अति निरोध से जनित आपत्ति प्रायः व्यक्ति ही पर पड़ती है; और अति व्युत्थान से उत्पन्न, बहुतों पर; इस लिये अति व्युत्थान से अति निरोध कम बुरा जान पड़ता है। अ-समय अति निरोध से विविध बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं; यथा,

शुक्राश्मरी च महतां जायते शुक्रधारणात्। (वाग्भट)

वीर्य की 'पथरी', शुक्रमेह, क्लीवता, शरीर की अतिस्थूलता, आदि, शुक्र के अति निरोध से कभी कभी हो जाते हैं।

हाँ, यदि सच्चा वैराग्य हो कर, मन मे काम-वासना उठे ही नहीं, या बहुत कम उठे, तब रोग का भय नहीं है। प्रतिपद, जीवन के सभी व्यवहारों मे,

आश्रयेन् मध्यमां वृत्तिं, अति सर्वत्र वर्जयेत्।

बीच का रास्ता पकड़ो, अति से सर्वथा, सर्वदा, सर्वत्र, दूर रहो। सब को, सारी उमर भर, हित और मित भोजन की, प्रत्येक इन्द्रिय के अपने विषयरूपी आहार की, उचित मात्रा मे, जरूरत है; आंख को सुन्दर रूप-रंग, कान को मधुर शब्द, नाक को सुगन्ध, इत्यादि। वैसे ही, युवा

(war fever, influenza, pneumonic, plague) से मर गये; मुख्य कारण यही था कि भारत से, जीवन की आवश्यकीय वस्तु, अन्य वस्त्र आदि सब, यूरोपीय युद्ध के लिये; ब्रिटिश गवर्मेंट ने खींच ली, और यहाँ भूख और शीत के निवारण के लिये नहीं बची। द्वितीय विश्व-युद्ध मे, पहिले की अपेक्षा से, सैनिक कम मरे, निःशस्त्र नागरिक अधिक मरे; हवाई-जहाजों से, विमानों से, बम के गोलों के गिराने से; और अपार सम्पत्ति का विनाश हुआ। भारत मे, भूख और बीमारियों से, जिन कारणों से पहिले विश्व-युद्ध मे, उन्हीं से इस मे भी, कम से कम तीस, अधिक से अधिक पचास लाख तक मनुष्य मरे। इस विषय मे पहिले भी लिखा जा चुका है।

और प्रौढ़ अवस्था मे, स्त्री-पुरुष को हित, मित, धार्मिक, वैवाहिक, रति-प्रीति रूपी परस्पर आप्यायन तर्पण की भी आवश्यकता है। ऐसे आहार के विना चित्त मे और शरीर मे कृशता, दुर्वलता, आधि-व्याधि, उत्पन्न होती है। उचित ब्रह्मचर्य पूरा करने के वाद, विवाह और गार्हस्थ्य, साधारण स्त्री-पुरुष को करना ही चाहिये। यह उत्सर्ग है, नियम है। हां, अपवाद, कभी कदाचित्, सभी उत्सर्गों के होते हैं। लाख, दो लाख, या दस लाख मे एक स्त्री या पुरुष ऐसा होगा, जो नैष्ठिक आत्यन्तिक आमरण शुद्ध ब्रह्मचर्य के योग्य, अपनी प्रकृति से, हो। ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों को सच्चे ऋषित्व का और योगसिद्धियों का सम्भव होता है। ऐसे ही कारणों से मनु ने कहा है कि पूरा ब्रह्मचर्य छत्तीस वर्ष का होता है, जिस से 'ब्रह्म' का पूर्ण अनुभव और संचय, समग्र 'वेद' का, 'ज्ञान-सर्वस्व' का, पूर्ण धारण, हो जाय; जो इस को साध सकै वही जीव, सच्चा, तपस्या और विद्या से सम्पन्न, 'ब्राह्मण' होगा; पर यह वहुत कम लोगों के लिये सम्भव है, इस लिये अक्सर लोगों को, 'तदर्धिक', अठारह वर्ष मे ही, तथा वहुतों को, 'पादिकं वा', नौ वर्ष मे ही, अथवा, सर्वसंग्राहक शब्दों मे, 'ग्रहणांतिकमेव वा,' जो विद्या जिस को विशेष रूप से अभीष्ट हो उस का ग्रहण हो जाने तक ही, ब्रह्मचर्य निबाहना चाहिये।

काम-जनित उन्मादादि।

कामवासना के दुष्प्रयोग से परम्परया बहुतों को हानि पहुँचती है, भयंकर सचारी संक्रामक रोग, उपदंश*, फिरंग रोग (गर्मी), आदि, शारीर व्याधियाँ समाज मे फैलती हैं; संतति निर्बुद्धि, दुर्बुद्धि, पागल, पशुवत्, होती हैं; और मानस व्याधियाँ, उन्माद आदि, भी, प्रायः काम-दोष से होती हैं, जिन से चारों ओर दुःख का प्रसर्पण विषवत् होता है, और नयी पुश्तैं अधिकाधिक भ्रष्ट, आसुर-प्रकृतिक, पशु-प्रकृतिक, होती जाती हैं।

---

* उपदंश के विषय मे वैद्यों मे कुछ मतभेद है; कोई कहते हैं कि यह आतशक, गर्मी, फिरंग-रोग ही है; दूसरों की राय है कि 'फिरंग'-रोग, यूरोपीय 'फ्रांक, फ्रेंच' लोगों के ही साथ भारत मे आया, और उपदंश, जिस की चर्चा पुराने ग्रन्थों मे है, वह दूसरा ही रोग है।

अध्यात्मशास्त्र मे षड्रिपु, अन्तरारि, के नाम से, प्रायः छः चित्त-विकार कहे हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह (भय), मद, मत्सर। इतर पाँच को, एक दृष्टि से, काम ही की सेना कह सकते हैं। कामसामान्य की सन्तति ये निश्चयेन हैं।

संगात् संजायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते,
क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः,
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति। (गीता)

संग से काम, काम के विघात से क्रोध, क्रोध से आँख पर पर्दा, मोह, उस से (क्रोध के वश हो कर, हिंसा का यत्न करने से क्या अनिष्ट फल होता है, इस) स्मृति का विभ्रम, उस से बुद्धि-भ्रंश, उस से सर्वस्व-नाश; यह अनुचित अति 'काम' के फलों की अनर्थ-परम्परा है। पर काम-विशेष से भी, क्रोधादिक की, विशेष रीति से उत्पत्ति होती है। कचहरियों मे देखो तो मामले मुक़द्दमे, या तो परिग्रह-जायदाद के हेतु, या 'काम'-विशेष के हेतु, देख पड़ते हैं। अस्पतालों में 'काम'-विशेष से उत्पन्न रोगों से पीड़ित बहुतेरे रोगी मिलते हैं। 'ल्युनाटिक-असैलम', 'मेण्टल-हास्पिटल', (lunatic asylum, mental hospital), उन्माद-चिकित्सालयों मे, प्रायः 'काम'-विशेष से उत्पन्न उन्माद के रोगी होते हैं।

पश्चिम के उन्माद-गवेषकों ने उन्माद के प्रकारों की कई मुख्य जातियाँ, राशियाँ, बनाई हैं। प्राचीन अध्यात्म दृष्टि से छः प्रधान जातियाँ होनी चाहियें, उक्त छः क्षोभों की 'अति' से। पाश्चात्य गवेषक इन के पास पहुँचे हैं. पर अभी ठीक-ठीक इन तक नहीं आ गये हैं; न उन्हों ने अब तक इस की खोज की है कि क्यों इतनी ही राशियाँ मुख्य माननी चाहियें। इस पर विस्तार अन्यत्र किया गया है*। यहाँ थोड़े में इन छः राशियों की सूचना उचित है; (१) कामोन्माद (पश्चिम के डाक्टर इसे 'एरोटो-मेनिया' कहते हैं); (२) क्रोधोन्माद ('होमिसाइडल-मेनिया'; यदि 'साइडो-मेनिया' नाम रखते तो अच्छा होता); (३) लोभोन्माद

* 'दि सायंस आफ दि इमोशन्स', 'दि सायंस आफ सोशल आर्गे-निज़ेशन', 'दि सायंस आफ दि सेल्फ' मे, तथा 'साइको-एनालिसिस' विषयक मेरे अन्य लेखों मे।

('क्लेप्टो-मेनिया'); (४) मोहोन्माद, वा भयोन्माद, (इस के लिये अंग्रेज़ी मे अभी कोई शब्द तजवीज़ नहीं हुआ है, यद्यपि, प्रायः बीस प्रकार के भयों के नाम, भय के कारणों के नामो के साथ 'फ़ोबिया' शब्द जोड़ कर बना लिये गये हैं: यथा, बन्द कोठरी से भय 'क्लास्ट्रो-फोबिया', खुले मैदान से भय, 'आगोरा-फ़ोबिया',आदि; यह सब मानस बीमारियाँ हैं; सब प्रकारों के भयोन्मादों के लिये संग्राहक नाम, अंग्रेज़ी मे, 'फोबो-मेनिया' अच्छा होगा; (५) मदोन्माद ('मेगालो-मेनिया'); (६) मत्सरोन्माद, (इस के लिये भी कोई अंग्रेज़ी शब्द ठीक नहीं हुआ है; 'ज़ीलो-मेनिया' प्रायः अच्छा होगा)।* अन्य सब प्रकार, इन्हीं छः के अवान्तर भेद समझे जा सकते हैं। 'मेनिः, मेनयः', शब्द, तीक्ष्ण चित्त-विकार और उत्कट इच्छा के अर्थ मे, ऐतरेय ब्राह्मण मे आया है। पाश्चात्य उन्माद-शास्त्रियों का विचार है कि प्रायः सभी उन्मादों की जड़ मे मैथुन्य काम-विकार ही है। यह ठीक नहीं। ऐसे काम मे असम्बद्ध, अति लोभ, भय, क्रोध, मद आदि भी कितनो के मूल-कारण होते हैं। किन्तु यह सत्य है कि अधिकांश उन्माद का हेतु मैथुनीय काम-विकार है, चाहे 'काम' की अति मात्रा, चाहे व्याहति, चाहे काम-सम्बन्धी साध्वस, ईर्ष्या, असन्तोष, भय, क्रोध आदि। ‡

संसारसुखसर्वस्वे, योषा-पुं-रागसम्भवे,
खडिताः दुर्भगाः यांति विविधां वै विरक्तताम्।

काम-प्रेम-राग के विषय मे जिन स्त्री-पुरुषों की आकांक्षा खंडित हो जाती है, उन को तरह तरह के मानस विकार, शंका, ग्लानि, उद्वेग, असूया, निराशा, विराग, उन्माद, मूर्छा, देहशोष, कामज्वर, मरण तक

---

* Erotomania, cido-mania, klepto-mania, phobo-mania, megalo-mania, zelo-mania; Fere's Pathology of the Emotions मे विविध भयोन्मादों का विस्तृत वर्णन है।

‡ ग्रीक भाषा के 'मेनिया' शब्द का अर्थ 'उन्माद' है; तथा 'ईरोस' का, 'काम'; 'क्लिप्टीन' का, चोरी; 'फ़ोबास' का, भय; 'मेगास' का, बड़ा, बड़प्पन, (अपने को बड़ा जानना, अहंकार, अभिमान); 'ज़ीलोस' का, प्रतिस्पर्धा; लेटिन भाषा के 'साइडेरी' शब्द का, हत्या करना।

होते हैं*; इन की चर्चा पृ० २६५-२६६ पर की गई है। पौराणिक रूपक मे, काम-क्रोध-अहंकार के देवता भव-हर-रुद्र के गण, प्रमथ-भूत-यक्ष-रक्षः-पिशाच आदि, उन्मत्त-प्राय प्राणी होते हैं; पृथ्वी पर इन्हीं गणो के प्रति-रूपक, विविध-पन्थों के विविध-वेशधारी 'विरक्तों' को समझना चाहिये। इस विषय पर, इधर चालीस पचास वर्ष मे, जर्मन जातीय आचार्य, ब्रूअर, फ्राइड, तथा उन के शिष्य, युंग, ऐडलर, आदि ने, वहुत गवेषणा कर के बहुत ग्रन्थ लिखे; इन मे, स्वप्नो के वर्णन से, मनुष्य के मन के भीतर दवे छिपे, वा उन की स्मृति की, दुःख-कारकता के कारण, दवा छिपा दिये गये और भूल से गये, निरुद्ध, अव्यक्ती-भूत, काम-विकारों की, 'हृदय-ग्रन्थियों', 'काम-जटाओं', का पता लगाने का, (पच्छिम मे सर्वथा नया माना जाता) एक उपशास्त्र, 'सैको-ऐनालिसिस' के नाम से, खड़ा कर दिया है, जिस की चर्चा पहिले की गई है। (पृ० १९५-२६४) इस उप-शास्त्र को, भर्तृहरि के उक्त श्लोक की विस्तृत व्याख्या ही, एक दृष्टि से, मान सकते हैं। यह उप-शास्त्र बहुत उपयोगी है। अभी इस के सिद्धान्त पश्चिम मे स्थिर नहीं हो पाये हैं, वाद-विवाद-ग्रस्त हैं। पर, पूर्वीय वेदान्त-शास्त्र, योग-शास्त्र, साहित्य-शास्त्र की सहायता से, यदि ये स्थिर कर लिये जायँ, तो काम-शास्त्र मे, सामान्य रीति से, इन की मूल बातों का समावेश करना बहुत लाभदायक होगा।

कामशास्त्र; तीन अंग

जब मानव-जीवन के अर्ध भाग, प्रवृत्ति मार्ग, का प्रधान पुरुषार्थ 'काम' है; और उस के पाने की राह, ऐसी सुख-दुःख, आशा-भय, सम्पत्ति-आपत्ति, मानस-शारीर आधि-व्याधि, से पुष्पित-कंटकित है; तो यथा-सम्भव फूलों के विकासन के भी, और काँटों के निष्कासन के भी, उपाय सीखना, मनुष्य को परम आवश्यक है। इन दोनो उपायों के सिखलाने वाले शास्त्र का ही नाम कामशास्त्र होना उचित है।

शास्ति यत्साधनोपायं पुरुषार्थस्य निर्मलम्,
तथा एव बाधनाऽपायं, तत्शास्त्रम् इति कथ्यते।

---

* "दश तु कामस्य स्थानानि; चक्षुःप्रीतिः, मनःसंगः, संकल्पोत्पत्तिः, निद्राच्छेदः, तनुता, विषयेभ्यो व्यावृत्तिः, लज्जाप्रणाशः, उन्मादः, मूर्छा, मरणं, इति तेषां लिङ्गानि"। (काम-सूत्र, ५-१-४,५)

किसी पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम, या मोक्ष, के साधन के उत्तम निर्मल निर्दोष उपायों को, तथा बाधन के अपायों को, रोकने, दूर करने, वाले प्रकारों को, बतावै, शासन करै—यही शास्त्र की शास्त्रता है। जो ऐसा करै वही ठीक-ठीक शास्त्र कहला सकता है।

इस लक्षण को ध्यान मे रख कर कामशास्त्र का सर्वाङ्गीण ग्रन्थ तैयार किया जाय तो उस मे प्रायः ये अंग होने चाहियें—

१—ज्ञानांग, २—रसांग (इच्छा-भक्ति-स्थानीय), ३—क्रियाङ्ग वा कर्माङ्ग।

ज्ञानांग

अध्यात्म-स्थान

(१) अध्यात्म-स्थान। (१) पारमात्मिक, पारमार्थिक, दृष्टि से, स्त्री-पुं-भेद, काम, रति-प्रीति, सौंदर्य, यौवन, और रजो-वीर्य, के तात्त्विक स्वरूप का वर्णन होना चाहिये; ये सब क्या हैं और क्यों हैं। (इस के दिग्दर्शन मात्र का यत्किंचित् यत्न ऊपर किया गया है, और 'दि सायंस आफ़ पीस' तथा 'दि सायंस ऑफ़ इमोशन्स' मे कुछ अधिक किया है)। अंग्रेज़ी शब्दों मे इस अंश को 'दि फ़िलासोफ़ी, आर् मेटाफ़िजिक, आफ़ सेक्स' (the Philosophy or Metaphysic of Sex) कहा जायगा। इस का संकलन, प्रायः वेदान्त-शास्त्र के बल से ही करना होगा। पाश्चात्य ज्ञान से इस मे सहायता कम मिलेगी। (२) जैवात्मिक, व्यावहारिक, दृष्टि से, काम के आकार, प्रकार, विकार, आविष्कारों का वर्णन आवश्यक है। इस पर संस्कृत के साहित्य-शास्त्र मे, तथा पच्छिम के 'दि सैकालोजी ऐण्ड पैथालोजी आफ सेक्स' the Psychology and Pathology of Sex, के अब विशाल साहित्य मे, बहुत सामग्री है। अंग्रेजी मे इस अंश को 'दि सैकालोजी आफ सेक्स' कहते हैं।*

---

* Havelock Ellis, The Psychology of Sex, 7 vols; Iwan Block, The Sexual Life of Our Time (Germany) 1 vol, (Britain) 2 vols.; Krafft Ebing, Psychopathia Sexualis; etc.

शारीर स्थान

(ख) शारीर स्थान। (१) स्त्री-पुरुष के प्रजनन इंद्रियों का, उन के सूक्ष्म अवयवों का, एक-एक के विशेष-विशेष रसों, निस्स्यन्दों, 'सीक्रीशन्स', secretions, का, गर्भाधान और संतान-उत्पत्ति मे उपयोगों का, वर्णन होना चाहिये*। (२) तथा इन के रोगों का, रोगों के कारणो का

---

* इस विषय पर, हिन्दी मे, वैज्ञानिक रीति से लिखे, अब ग्रंथ मिलने लगे हैं; ऐसा, विज्ञापनो से, मालूम होता है; मेरे देखने मे एक आया, डाक्टर ए० ए० खां का लिखा 'जन्मनिरोध' (१९४० ई०, भार्गव पुस्तकालय, बनारस)। यद्यपि नाम 'जन्म-निरोध' है, पर पुरुष और स्त्री की प्रजनन इन्द्रियों का वर्णन, तीन अध्यायों मे, चित्र सहित, अच्छा किया है; जन्म-निरोध सम्बन्धी अन्य बातों का भी प्रतिपादन, प्रामाणिक रीति से किया है। इस के बाद, हाल मे, डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा का ग्रन्थ, "हमारे शरीर की रचना" (दो जिल्द, १९३८-१९४४ ई०) देखा; इसकी दूसरी जिल्द के अन्त मे, स्त्री पुरुष की प्रजनन इन्द्रियों का अच्छा और प्रामाणिक वर्णन किया है; तथा गर्भाधान, गर्भ मे शिशु की अवस्था, और प्रसव, का भी। वात्स्यायन के काम सूत्र का हिन्दी मे अनुवाद, श्री विजयबहादुर सिंह ने किया है (महाशक्ति प्रेस, बनारस); उसी के लिये, भूमिका के रूप में "कामाध्यात्म" का प्रथम लघुरूप लिखा गया था, विजय बहादुर जी ने अनुवाद अच्छा किया है, पाश्चात्य ग्रन्थो के ज्ञान से भी, अनुवाद का, स्थले स्थले, उपबृंहण किया है, और दुराचारों व्यभिचारों के विरुद्ध चेतावनी भी दी है; इन्हों ने प्रजनन इंद्रियों का वर्णन भी किया है, जो वात्स्यायन ने सर्वथा छोड़ दिया है; यद्यपि नामोल्लेख, विजय बहादुर जी ने नहीं किया, पर मिलाने से विदित होता है, कि डाक्टर त्रिलोकीनाथ के ग्रन्थ से ही बहुधा शब्दशः उद्धरण दिया है; एक जगह, 'समीरणी, चांद्रमसी, गौरी', इन तीन नाड़ियों की चर्चा की है; कहाँ से इन का हाल मिला, सो नहीं लिखा; अभी थोड़े दिन हुए, 'पंचसायक' नाम का ग्रन्थ मेरे देखने मे आया; इस के 'नाड़ी-ज्ञान-समुद्देश-प्रकरण' मे इन नाड़ियों की चर्चा की है, और कहा है कि, स्त्री-योनि की समीरणी नाम की नाड़ी मे पुरुषवीर्य पड़ने से निष्फल होता है, चांद्रमसी मे कन्या

रोगों से बचाये रखने के उपायों, अर्थात्, नित्य-शौच के प्रकारों, का। (३) इस सम्बन्ध मे, ओषधि-वनस्पति-वृक्ष-गुच्छ-गुल्म-तृण-प्रतान-वल्ली रूप स्थावरों के, तथा विविध जंगम जंतुओं के, प्रजनन के प्रकारों का, वर्णन प्रसक्त है। तीन प्रकार मुख्य हैं; *पहला प्रकार, अलिंग-अमैथुन, कांडप्ररोही, है; कितने ही पौधे ऐसे हैं जिन की एक टहनी काट कर ज़मीन में गाड़ देने से, जड़ पकड़ लेती है; तथा जल में रहने वाले कई चाल के अणु कीट भी ऐसे होते हैं जो फूल कर फटते और दो टुकड़े हो जाते हैं, और प्रत्येक टुकड़ा स्वतन्त्र कीटाणु हो जाता है, और फिर फूलता है, फटता है, परम्परया। (२) सृष्टि का दूसरा प्रकार, उभयलिंग-अंतर्मैथुन, बीजप्ररोही, है, जैसा अधिकांश ओषधि-वृक्षादिकों का; इन के फूलों के बीच में जो सूत्र या जीरे निकले रहते हैं, उन में से कुछ पुरुष-लिंग और कुछ स्त्री-लिंग होते हैं; दोनों के मुख-भाग को सूक्ष्मेक्षिका से देखने से, उनमें भेद प्रत्यक्ष जान पड़ता है; पुरुष सूत्रों के मुख पर से पराग झड़ कर, अथवा विविध प्रकार के फनगों (पतंगों) मधुमक्खियों आदि के द्वारा, स्त्री-सूत्रों की नाली में प्रविष्ट हो कर, बीज बनता है। पाशव और मानव पुरुष शरीरों में, अव्यक्त रूप से स्त्री चिन्ह, और स्त्री शरीरों में पुरुष चिन्ह, सभी को होते हैं; और किसी अति प्राचीन युगांतर मे उनकी उभय-लिंगता, अर्धनारीश्वरता, का प्रामाणिक अनुमान कराते हैं। इन सब बातों का, संक्षेप से, पर विशद रूप से, वर्णन होना चाहिए†।

जन्मती है, गौरी मे बालक; पर पंचसायक-कार ने यह किस प्रमाण पर लिखा, सो नहीं मालूम होता। आधुनिक पाश्चात्य शारीर-विज्ञान के ग्रंथों मे ऐसी तीन स्त्री-नाड़ियों की कुछ चर्चा नहीं है; तथा उस ग्रंथ मे, इन चार पांच श्लोकों के सिवा वात्स्यायन की बातों से अन्य, कुछ भी नहीं है। 'रति रहस्य', 'अनंग-रंग', 'नागर-सर्वस्व' आदि अन्य ग्रन्थ भी, जिन से विजय बहादुर जी ने जहां तहां उद्धरण किये हैं, वात्स्यायन के कुछ अंशों के प्रायः अनुवाद मात्र हैं।

* अमैथुनाः प्रजाः पूर्वं; न व्यवर्धन्त ताः; ततः

† मिथुनं ससर्ज भगवान्; बहुरूपाः ततोऽभवन्। (वायुपुराण, पूर्वार्ध, अ० ८ व ५७)। पुराणो मे कहा है कि आदिकाल मे अमैथुन सृष्टि होती थी; उन मे विचित्रता नहीं हुई; तब ब्रह्मा ने मिथुनता उत्पन्न किया, समैथुन सृष्टि बहुरूप हुई।

(३) तीसरा प्रकार, सृष्टि का, भिन्न-लिंग समैथुन है, जैसा इस युग में, अधिकांश कीट, पतंग, दंश, मक्षिका, सरीसृप, मत्स्य, पशु, पक्षियों में, और मानवों मे है। इन के संयोग के और गर्भाधान के प्रकारों का वर्णन होना चाहिये। इस विषय मे पाश्चात्य आचार्यों ने भारी परिश्रम से बड़ी गवेषणा की है, और बड़े रोचक और शिक्षक ज्ञान एकत्र किये हैं। किन्ही किन्ही प्राणि-जातियों मे, जैसे विशेष प्रकार की मकड़ियों मे, नारी, गर्भाधान के बाद, नर को मार डालती है और खा जाती है; किन्ही मे स्त्री-वीर्य पानी पर उतरा आता है, तब नर उस पर पुरुष-वीर्य छिड़क देता है; किन्ही मे, यथा मधुमक्षिका और दीमकों मे, एक ही 'रानी' होती है, और वही गर्भ-धारण करती और हजारों बच्चे देती है, जिन मे से दस-बीस ही, विशेष प्रकार का पदार्थ खिला कर, नर बनाये जाते हैं, बाकी नपुंसक और महापरिश्रमी, मधु आदि का सञ्चय करने वाले, शहद का छाता और दीमक की बाँबी (व्रमी, वल्मीक) बनाने वाले, होते हैं; इत्यादि। यह बात याद रखने की है कि, नर और वानर से नीचे दर्जे के प्राणियों मे मैथुन-काम, बँधे ऋतुओं मे, और गर्भाधान के लिए, ही होता है। तीसो दिन, बारहो महीने, रति के अर्थ, नहीं होता, जैसा सौभाग्य-दौर्भाग्य से मानवों मे होता है। पुराणो मे शिक्षाप्रद वृत्रासुर के वध और वर्षा के आरंभ के रूपक से बताया है कि क्यों और कैसे 'नित्यकामवराः स्त्रियः' (और 'पुरुषाः') हो गये; 'नित्यकाम' होते हुए भी, स्त्रियों को तो प्रत्यक्ष ही 'ऋतु' होते हैं; पाश्चात्य सूक्ष्म 'सायंटिफिक' scientific, शास्त्रीय, गवेषणा से विदित हुआ है कि पुरुषों को भी 'सैक्लिक पीरियाडिसिटी', cyclic periodicity, 'चक्रवत् वीर्याधिक्य-काल' होता है; यथा, वसन्तोत्सव (होली, 'कार्निवल') सभी देशों मे मनाये जाते हैं, यद्यपि उन के प्रकार सात्त्विक-भाव वा राजस-भाव से भेदित होते हैं; कहीं अधिक ललित और आवृत वचनों, नृत्यों, और चेष्टाओं से हँसी, ठठोली की जाती है, कहीं अधिक अश्लील, अश्रील, अभद्र, अनावृत गीतों, आवाजों, और मुद्राओं से। इन बातों का वर्णन भी होना चाहिये। इस अंश का, प्रायः पाश्चात्य ज्ञान के बल से ही, अधिकतर, संकलन हो सकता है। अति प्राचीन अतीत युगों मे, मानव-जाति मे भी अमैथुन और अंतर्मैथुन सृष्टि होती थी, इस का सूचन पुराणो मे, तथा कुछ अधिक स्पष्ट वर्णन अंग्रेजी के 'दि सीक्रेट डाक्ट्रिन'

नामक ग्रन्थ मे मिलता है* । इस सब अंश का अंग्रेज़ी नाम 'दि फ़िसिया-लोजी आफ़् सेक्स', the Physiology of Sex, है ।

(ग) विवाह के प्रकारों का वर्णन ; मुख्यतः तीन । (१) सात्विक प्रकृति के योग्य; मनुस्मृति के शब्दों मे, ब्राह्म-दैव-आर्ष-प्राजापत्य; इन सब का प्रधान और समान अंश यह है कि, वृद्धों की सलाह के साथ-साथ, वर-वधू की भी परस्पर अनुकूलता हो । (२) राजस-प्रकृति के अनुरूप, यथा (२-क) गांधर्व, अर्थात् स्त्री-पुरुष का परस्पर स्वयम्वरण, और (२-ख) राक्षस, अर्थात् स्त्री का बलात् अपहरण, और (२-ग) आसुर, अर्थात् स्त्री के माता-पिता को धन दे कर उस का मोल लेना; आसुर को रजस्-तमस्-मिश्रित भी कहा है† । (३) तामस, यथा पैशाच, अर्थात् सोती हुई या प्रमत्त (अनजान, अबोध, प्रमादवाली, बेफ़िक्र, खेलती, बालिका कन्या, या नशे से ग़ाफ़िल) स्त्री पर बलात्कार । पौराणिक रूपक मे उमा-महेश्वर, पार्वती-परमेश्वर, गौरी-शंकर का जोड़ा सात्त्विक, भव भवानी का राजस, रुद्र-काली का तामस । वात्स्यायन ने गांधर्व विवाह को सब से अच्छा कहा है, (जैसी पाश्चात्य शिक्षितों की भी राय है); परन्तु, सात्त्विक राजस तामस प्रकृतियों का विवेक नहीं किया है, इस से वात्स्यायन का मत, भगवान् मनु की सर्वसंग्राहक दृष्टि से, ऐकपाक्षिक और न्यून है ।

इन सद् विवाहों और असद् विवाहों के गुण-दोष, सन्तति के ऊपर प्रभाव, आदि की, थोड़े मे, किन्तु पर्याप्त सूचना, मनुस्मृति और महाभारत मे की है;

अनिंदितैः स्त्रीविवाहैः अनिंद्या भवति प्रजा,
निंदितैर्निन्दिता नृणां, तस्मान् निंद्यान् विवर्जयेत् ।

---

* H. P. Blavatsky, The Secret Doctrine, 6 vols. (Adyar edition).

† भारत मे तो अब इस द्वितीय प्रकार का एक नया चौथा भेद बहुत प्रबल होता जाता है, अर्थात् वर के माता-पिता को धन देकर, वर को खरीदना । इस का फल यह हो रहा है कि जब कन्या के दरिद्र या अल्प-वित्त माता-पिता, वर के माता-पिता को, उन का मुंह मागा धन नहीं दे सकते, तो कन्या आत्महत्या कर लेती है । ऐसे इतिवृत्तों के समाचार, बीच बीच मे, अख़बारों मे, छपते रहते हैं ।

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्षु एव, अनुपूर्वशः,
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्राः जायंते, शिष्टसंमताः,
रूपसत्त्वगुणोपेताः, धनवंतो, यशस्विनः,
पर्याप्तभोगाः, धर्मिष्ठाः, जीवन्ति च शतं समाः।
इतरेषु अवशिष्टेषु, नृशंसा अनृतवादिनः
जायंते, दुर्विवाहेषु, ब्रह्म-धर्म-द्विषः सुताः। (मनु)
अविज्ञातासु च स्त्रीषु, क्लीबासु, स्वैरिणीषु च,
परभार्यासु, कन्यासु नाऽऽचरेन् मैथुनं नरः;
कुलेषु पापरक्षांसि जायंते वर्णसंकरात्,
अपुमांसो, ऽङ्गहीनाश्च, स्थूलजिह्वाः, विचेतसः,
एते चान्ये च जायंते, यदा राजा प्रमाद्यति,
तस्माद् राज्ञा विशेषेण वर्तितव्यं प्रजाहिते।

(म० भा०, शांति, अ० ९०)

भगवान् मनु के, तथा भीष्म पितामह के, ये श्लोक, कामशास्त्र के मस्तक पर सदा लिखे रहने चाहियें, और अध्येता को सब से पहिले कंठ कर लेने चाहियें; तभी उस का अध्ययन, इस शास्त्र का, निर्दोष और गुण-मय होगा; अन्यथा, विपरीत होगा। सात्त्विक विवाहों से, और स्त्री-पुरुष के संयोग के समय सात्त्विक भावों के, प्रेममय भावों के, आधिक्य से, सात्विक सन्तति होती है; राजस से राजस; तामस से तामस। व्यभिचार से, कन्यादूषण से, घोर अप्राकृतिक पश्वादि के ऐसे संयोग से, नपुंसक, पशु-रूपी, अथवा हीनांग, स्थूल जीभ वाले, 'बौरहे', 'राक्षस' रूपी, भयङ्कर आकृति के, जीव पैदा होते हैं। आयुर्वेद के ग्रन्थों में इस विषय पर विस्तार किया है। राजा के ही प्रमाद से, ऐसे व्यभिचार आदि पाप, प्रजा मे फैलते हैं; इस लिए राजा को सावधानी से इन्हें रोकना चाहिये; अपने मे भी, और दूसरों मे भी; "यद्यद् आचरति श्रेष्ठः तत् तद् एव इतरो जनः" जैसा बड़ा करता है, उसी की नक़ल छोटा करता है; राजा पापी है, तो प्रजा पापी होगी; राजा सदाचारी है, तो प्रजा भी सदाचारी।

पौराणिक रूपक में, 'कामस्य द्वे भार्ये, रतिश्च प्रीतिश्च', कामदेव की दो पत्नी, रति और प्रीति। शरीर-प्रधान और अभिमान-प्रधान भाव 'रति' है; चित्त-प्रधान और प्रेम-प्रधान भाव 'प्रीति' है। प्रेम के पर्याय

शब्द, अनुराग, स्नेह, प्रियता, हार्द, भक्ति, दया आदि हैं। भक्ति शब्द, केवल इष्टदेव के ही सम्बन्ध में प्रयोज्य नहीं है। 'भजमानं भजस्व मां', ऐसी उक्ति उत्तम नायक नायिका के बीच, काव्यों मे मिलती है। तथा, 'दयिता', यह विशेषण प्रिय और सुकुमार भार्या का, प्रसिद्ध है। उत्तम दाम्पत्य वह है जिस में पती-पत्नी, भर्त्ता-भार्या, (इन शब्दों के यौगिक अर्थ विचारने और हृदय मे रखने योग्य हैं*), एक दूसरे के लिये ऐसा कह सकें जैसा दशरथ ने कौशल्या के लिये कहा, कि 'वह देवी, दासी, सखी, भगिनी, भार्या, माता, सभी के ऐसा मेरा परिचार करती है',

> यदा यदा हि कौसल्या दासीवत् च सखी इव च,
> भार्यावद्, भगिनीवच् च, मातृवत् च उपतिष्ठते।
>
> (वा० रामा०, अयो०, सर्ग १२)

शकुन्तला ने दुष्यन्त से,

> सखायः प्रविविक्तेषु भवंति एताः प्रियंवदाः,
> पितरो धर्मकार्येषु, भवंति आर्त्तस्य मातरः;
> अर्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा,
> भार्या मूलं त्रिवर्गस्य, यः सभार्यः स बन्धुमान्,
> भार्यावन्तः क्रियावन्तः, सभार्याः गृहमेधिनः,
> यः सदारः सः विश्वास्यः, तस्माद् दाराः परा गतिः;
> तस्माद् भार्यां पतिः पश्येत् पुत्रवत् पुत्रमातरं;
> अंतरात्मा एव सर्वस्य पुत्रो नाम उच्यते सदा।
>
> (म० भा०, आदि० अ०, ८९)

योगवासिष्ठ मे, चूडालोपाख्यान मे, कहा है,

> मोहाद् अनादिगहनाद्, अनन्तगहनाद् अपि,
> पतितं, व्यवसायिन्यस्, तारयंति कुलस्त्रियः;

---

* 'पाति इति पतिः', कुल की रक्षा करता है; 'पाति, बालकान् इति पतिनी=पत्नी', बालकों की रक्षा करती है, उनका पोषण करती है। 'भरति, इति भर्त्ता', भरण पोषण करता है; 'भ्रियते इति भार्या', जिसका भरण पोषण किया जाय; 'भृत्य' का भी अर्थ यही है, 'भरण पोषण के योग्य' नौकर।

शास्त्रार्थ-गुरु-मंत्रादि तथा न उत्तारणक्षमं,
यथा एताः कुलशालिन्यः भर्तृणां कुलयोपितः;
सखा, भ्राता, सुहृन्, मित्रं, गुरुर्, भृत्यो, धनं, सुखं,
शास्त्रं, आयतनं, दासः, सर्वं भर्तुः कुलाङ्गनाः;
सर्वदा सर्वयत्नेन पूजनीयाः कुलाङ्गनाः,
लोकद्वयसुखं सर्वं सम्यग् यासु प्रतिष्ठितं ।

(यो० वा०) ।

अनादि अनन्त गहन अविद्या मोह के मारे, पाप मे, नरक मे, गिरे, पति को, व्यवसायवती हिम्मतवर कुलस्त्री ही उबारती है । शास्त्र की बातें, गुरु, मंत्र आदि, पतित डूबते हुए के उत्तारण मे वैसी समर्थ नहीं होते जैसी कुलीन भार्या । भर्त्ता के लिये कुलीन भार्या तो सखा भी, भ्राता भी, नितान्त सहृदय मित्र भी, गुरु, भृत्य, धन, सुख, शास्त्र, शरणगृह, दास, सभी है । कुलाङ्गनाओं का सब प्रकार से, बहुत यत्न से आदर करना चाहिये, क्योंकि इहलोक परलोक दोनो का सर्वस सुख इन्हीं पर प्रतिष्ठित आश्रित है ।

एक स्मृतिकार ऋषि ने कहा है,

व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात् ,
तथा पतिव्रता नारी भर्त्तारं अनुगामिनी,
अपि पातकिनं घोरं नरके पतितं पतिं;
तथा भर्त्तारं आसाद्य स्वर्गे लोके महीयते ।

जैसे सँपेरा साँप को बिल मे से बाहर अपने बल से खींच लाता है, वैसे पतिव्रता पत्नी अपने पति को नरक मे से बाहर खींच लाती है, और स्वर्ग मे उस को लेजा कर, उस के साथ, स्वर्गवासियों से आदर पाती है।

अज ने, इन्दुमती के लिये विलाप करते हुए कहा,

गृहिणी, सचिवः, सखी मिथः,
प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ । (रघुवंश, अ० ८)

सीता ने राम का वर्णन करते हुए, अनसूया से,

किं पुनः यो गुणश्लाघ्यः, सानुक्रोशः, जितेन्द्रियः
स्थिरानुरागः, धर्मात्मा, मातृवत् , पितृवत् , प्रियः;

शकुन्तला ने दुष्यन्त को समझाया,

एकांत मे मीठी बात करने वाली सखी, धर्म कार्यों मे पिता, दुःख मे माता, पति के लिये पत्नी सब कुछ होती है; पुरुष का आधा शरीर पत्नी है; श्रेष्ठतम मित्र है, धर्म-अर्थ-काम के त्रिवर्ग का मूल है; जिस को भार्या है उसी को सच्चा बन्धु है, वही क्रियावान् है, वही, अपने अपने कुल के, अपने समाज के, हित के लिये व्यवसायात्मक कर्म करता है, बेकार नहीं बैठा रहता, वही गृहस्थी रूप शाश्वत मेध, यज्ञ, करता रहता है, वही विश्वासपात्र होता है। पिता की अंतरात्मा ही, पुत्र के रूप मे, पत्नी के द्वारा उत्पन्न होती है; इस लिये पति को उचित है, कि पुत्र की माता को अपनी ही माता जानै। अज के लिये इन्दुमती, गृहिणी भी, सचिव, सखी, कलाओं मे शिष्य भी, थीं। सीता के लिये राम, सर्वगुण-संपन्न, परम दयालु, जितेन्द्रिय, स्थिर-प्रेमी, धर्मात्मा, माता और पिता के ऐसे प्रिय थे।

अद्वैतं सुखदुःखयोः, अनुगुणं सर्वासु अवस्थासु यत्,
विश्रामो हृदयस्य येन, जरसा यस्मिन् न हार्यो रसः,
कालेन आवरणात्ययात् परिणते यत् स्नेहसारे स्थितं,
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य, कथं अपि एकं हि तत् प्राप्यते।

(उत्तररामचरित)

वह स्नेह का सार, सच्चा प्रेम, जिस से, सब अवस्थाओं मे, एक को सुख तो दूसरे को सुख, एक को दुःख तो दूसरे को भी दुःख, एक सा होता है; थके मादे हृदय को जिस से विश्राम मिलता है; जिस के रस को बुढ़ापा कम नहीं करता है; बल्कि युवावस्था की लज्जा हट जाने से जो और अधिक परिपक्व हो जाता है—वह प्रेम, वह स्नेह का सार, भले दम्पतियों को ही, बड़े भाग्य से मिलता है। यौवन (जवानी) मे, 'रति' का भी अंश व्यक्त होने से, परस्पर 'आवरण' (पर्दा, त्रपा, हिजाब) रहता है; वृद्धावस्था मे, यदि शुरू से ही रति के साथ सात्त्विक 'प्रीति' भी प्रबल रही, तो प्रीति ही प्रीति रह जाती है, जिस मे कोई पर्दा नहीं।

इन उत्तम सात्त्विक परिष्कृत भावों को भूल कर, स्वार्थप्रधान और अभद्रप्राय शब्दों मे उन का आभास, राजस स्वभाव के पुरुष यों कहते हैं,

कार्यें दासी, रतौ वेश्या, भोजने जननीसमा,
विपत्तौ बुद्धिदात्री च, सा भार्या सर्वदुर्लभा।

गृहकार्य के लिये दासी, मैथुन मे वेश्या सी निरूप, विपत्ति मे अच्छी सलाह देने वाली—ऐसी भार्या बहुत दुर्लभ होती है।

इस का प्रतिरूप और पूरक द्वितीय अर्ध नहीं सुनने मे आता; यदि यह भी कहा जाय तो आभास मे सद्-अंश अधिक हो जाय; यथा,

कार्यें दासो, रतौ जारो, पोषणे जनको यथा,
विपत्तौ रक्षिता चैव, स भर्त्ता सर्वदुर्लभः।

कार्य के लिए गुलाम, रति-प्रसंग मे जार (यार, उपपति, विट), विपत्ति मे रक्षा करने वाला—ऐसा भर्त्ता बहुत दुर्लभ होता है।

'पुरुष' की 'प्रकृति' होती है; पुरुष प्रकृतिमान् है। शिव, शक्तिमान् है; शिवा, शक्ति है। पुरुष धर्मी है; प्रकृति उस का धर्म, उस का स्वभाव, है। इस लिए पुरुष और प्रकृति, शिव और शक्ति, एक ही हैं। तौ भी दो के ऐसे जान पड़ते हैं। यही आदि माया का मूल है। पारमार्थिक एकत्व मे इसी द्वित्व के कारण, उस का अनुकरण करके, स्त्री-पुरुषऽत्मक द्वित्व की उत्पत्ति होती है।*

स आत्मानं द्वेधाऽपातयत्, ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्।
तस्माद् इदं अर्धबृगलमिव। आपयतो वै तौ ऽन्योऽन्यस्य
कामान् सर्वान्। (उप०)
एतावान् एव पुरुषः, यज् जायाऽत्मा प्रजा इति ह;
विप्राः प्राहुः तथा च एतद्, यो भर्त्ता सा स्मृता ऽङ्गना। (मनु)

परमात्मा ने अपने दो टुकड़े कर दिए; एक पति हो गया, दूसरा पत्नी; इसी से, अकेला पुरुष, अकेली स्त्री, अधूरे से होते हैं; पति-पत्नी-संतान, यह तीन मिल कर सम्पूर्ण पुरुष बनता है; ऋषियों ने कहा है कि जो भर्ता है, वही अंगना है; पति और पत्नी मे भेद नहीं।

---

* दुर्गासप्तशती मे चिद्रूपिणी, चेतना-रूपिणी, अर्थात् चैतन्य-परमात्मा-रूपिणी, देवी के ही रूपान्तर, क्षुधा, तृषा, निद्रा, तुष्टि, पुष्टि, धृति, स्मृति, लज्जा, श्रद्धा, कांति, शांति आदि को कहा है।

यह आदि-मिथुन, मूल-जोड़ी, एक दूसरे के लिए संसार-सर्वस्व हैं, इन्द्रिय-गोचर-सर्वस्व हैं, एक दूसरे के सभी 'कामो', इच्छाओं, को पूरा करते हैं। इसी मूल-द्वंद्व-दाम्पत्य-भाव के अन्तर्गत, पति-पत्नी भाव, भर्त्ता-भार्या भाव, पिता-पुत्री भाव, माता-पुत्र भाव, भ्राता-स्वसा भाव, सखा-सखी भाव, गुरु-शिष्य भाव, स्वामी-दासी और स्वामिनी-दास भाव, गृही-गृहिणी भाव, राजा-सचिव भाव, सभी हैं; इसी से सभी उत्पन्न होते हैं; सभी इस आदि-द्वंद्व-भाव मे समाहृत हैं। ऐसे ही, आदर्श मानव-दम्पती, के बीच भी इन सब उत्तम भावों की चरितार्थता होनी चाहिए। अनार्य अभद्र, भदेस, अश्लील, अश्रील, पाशव-दम्पती के बीच में जार-वेश्या के भाव होते हैं। वे भी, पुरुष प्रकृति के रजस्-तमस् के अधम अंश के उद्गार हैं। मन मे अधिक रखने की बात यह है कि, आर्यदम्पती को, 'पति-पत्नी', 'स्त्री-पुरुष', भाव का जो अंश शरीर-'रति'-प्रधान है, उस को (सर्वथा तो त्याग नहीं सकते, पर प्रायः) गौण रखना चाहिए, और अन्य सब भाव जो चित्त-'प्रीति'-प्रधान हैं, उन को मुख्य रखना चाहिए। तभी कौटुम्बिक सांसारिक गार्हस्थ्य-जीवन कल्याणमय होगा; अन्यथा नहीं। रति-प्रीति, शक्ति-भक्ति, दोनो ही चाहिएं, पर रति-आत्मक शक्ति कम, प्रीति-आत्मक भक्ति अधिक।

त्वं हि सर्वशरीरी आत्मा, श्रीः शरीरेन्द्रियाऽऽश्रया,
नामरूपे भगवती, प्रत्ययस् त्वं अपाश्रयः।

(भागवत, ६-१९-१३)

परमात्मा शिवः प्रोक्तः, शिवा माया इति कथ्यते,
पुरुषः परमेशानः, प्रकृतिः परमेश्वरी,
मन्ता स एव विश्वात्मा, मन्तव्यं तु महेश्वरी,
आकाशः शंकरो देवः, पृथिवी शंकरप्रिया,
समुद्रो भगवान् ईशो, वेला शैलेन्द्रकन्यका,
वृक्षो वृषध्वजो देवो, लता विश्वेश्वरप्रिया,
शब्दजालम् अशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा,
अर्थस्य रूपं अखिलं धत्ते मुग्धेंदुशेखरः;
यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिर् उदाहृता,
सा सा विश्वेश्वरी देवी, स स सर्वो (शर्वो) महेश्वरः।

(शिव पु०, वायु सं०, उ०, अ० ५)।

परमात्मा पति है, दृश्य जगत् पत्नी है; शरीरी, जीवात्मा, पति है, शरीर पत्नी है; मंता, ज्ञाता, ध्याता पति है, मंतव्य, ध्येय, ज्ञेय, पत्नी है; आकाश पति है, पृथ्वी पत्नी; समुद्र पति है, वेलातट पत्नी; वृक्ष पति है, लता पत्नी; अर्थ पति है, शब्द पत्नी; द्रव्य पति है, गुण पत्नी; जिस पदार्थ की जो शक्ति कही जाती है, वह पदार्थ, महेश्वर, पति है, और वह शक्ति, विश्वेश्वरी, पत्नी, है। ऐसे ऊँचे भाव, शिष्ट आर्य दम्पती को सदा अपने मन मे धारण करना चाहिए।

पचास पचपन वर्ष हुए होंगे; युवावस्था मे, मैं ने अपनी गृहिणी से एक गीत सुना; बहुत आदर, बहुत भक्ति, बहुत नमस्कार से अपने हृदय मे रख लिया; उसी आदर और भक्ति से, नयी पुश्त के वधू-वरों के सात्त्विक आनंद के लिए, आज, वृद्धावस्था मे, उस को यहाँ लिखता हूँ। उक्त पौराणिक आर्ष श्लोकों के ही भावों का अनुवाद, सीधी सादी हृदयंगम बोली मे है; यदि भावों मे उतनी गुरुता गंभीरता नहीं है, तो मिठास उन से अधिक है।

तूं होयो दियना, हम होवै बाती; तूं होयो कागद, हम होवै पांती,
तूं होयो जंगल, हम होवै मोरा; तूं होयो चंदा, हमहु चकोरा;
तूं होयो हिम-गिरि, हम होवै गंगा; जनम जनम नहिं बिछुरै संगा।

पत्नी के गीत की तो इतनी ही कड़ियां याद पड़ती हैं, पर भाव ऐसा प्रिय है कि पुराण के श्लोकों का आशय, हिन्दी के शब्दों मे, चाहे टूटे-फूटे ही, अदल-बदल कर, कहने को मन चाहता है।

तूं होयो गागर, हम होवै पानी; हम होवै प्रेमी, तूं होयो ज्ञानी;
हम होवै चंदन, तुमहु भुअंगा; तूं होयो सागर, हमहु तरंगा;
तूं होयो पद्मिनि, हम होवै नीरा; तूं होयो सोना हम होवै हीरा;
तूं होयो सरिता, हम होवै तीरा; तूं होयो गंध, (अ) रु हमहुं समीरा;
हम होवै ध्वजदंड, तुमहु पताका; तूं होयो बादर(वारिद),हमहु बलाका;
हम होवै वनिका, तुमहु कुरंगा; तूं होयो दीपक, हमहु पतंगा;
तूं होयों सूत्र, (अ) रु हम होवै टीका; हम होवै पन्था, तूं रथ-लीका;
हम होवै प्रानी, तूं होयो स्वाँसा; तूं होयो तारा, हमहु अकासा;
तूं होयो यात्री, हम होवै नावा; हम होवै शब्द, (अ) रु तूं होयो भावा;
तूं होयो हिरदय, हम होवै पीरा; तूं होयो चेतन, हमहुं शरीरा।

विवाह के वैदिक मंत्रों के उदार उत्कृष्ट सात्त्विक भावों को देखिए;

ॐ, सं-अञ्जंतु विश्वेदेवाः, सं आपो हृदयानि (हृदयेऽपि) नौ,
सं मातरिश्वा, सं धाता, सं उ देष्ट्री दधातु नौ ।
अमो (प्राणो) ऽहं अस्मि, सा (वाणी) त्वं; द्यौर् अहं, पृथिवी त्वं,
साम अहं, ऋक् त्वं, तौ, एहि, विवहावहै, सह रेतो दधावहै;
प्रजां प्रजनयावहै; पुत्रान् (पुत्रौ) विन्दावहै बहून् (शुभौ);
ते (तौ) सन्तु जरदष्टयः (ष्टी); संप्रियौ, रोचिष्णू, सुमनस्यमानौ ।
पश्येम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं,
प्रब्रवाम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, भवेम शरदः शतं,
मोदेम शरदः शतं, भूषेम शरदः शतं, रोहेम शरदः शतं,
अदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात् ।
मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तं अनु चित्तं ते अस्तु,
मम वाचं एकमनाः जुषस्व, प्रजापतिस् त्वा नियुनक्तु मह्यं ।
गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं, मया पत्या जरदष्टिर् यथासः,
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर् मह्यं त्वाऽदुर् गार्हपत्याय देवाः ।
ॐ सह नौ अवतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै, तेजस्वि नौ
अधीतं अस्तु, मा विद्विषावहै, ॐ ।

सब देवता हम दोनो का प्रेम बढ़ावैं; सब पवित्र जल हमारे हृदयों को मिलावैं; शुद्ध पवन, और बुद्धि के अधिष्ठाता ब्रह्मदेव, पावन प्रेरणा और उत्तम उपदेश हमारी अंतरात्मा को दें । मैं प्राण (श्वास) हूँ, तुम वाणी हो; मै आकाश हूँ, तुम पृथिवी हो; मै साम हूँ, तुम ऋक् हो; आओ, हम दोनों विवाह करैं, रेतस् (रजो–वीर्य) एकत्र करैं, प्रजा उत्पन्न करैं, एक जोड़, उत्तम पुत्र और उत्तम पुत्री; हम दोनों भी, और वे भी, मनुष्य की परम आयु पावैं, वृद्ध हों, परस्पर प्रिय, परस्पर रोचिष्णु, परस्पर सुमनाः; सौ वर्ष, अक्षीण इंद्रियों से देखैं, सुनैं, बोलैं, जीयैं, आभूषण धारण करैं, आनन्द करैं, अदीन रहैं; सौ वष से भी अधिक; हम दोनो एक दूसरे के व्रती हों, पत्नीव्रत और पतिव्रता हों, परस्पर चित्त मे चित्त मिलावैं, एक दूसरे की बात को ध्यान से सुनैं, प्रजापति देव हम दोनो को एक दूसरे के साथ बांध दें। सौभाग्य के लिये हम दोनों एक दूसरे का हाथ पकड़ते हैं, एक दूसरे की सहायता कर के दोनो परम आयु पावैं । सविता, सूर्य देव ने, अपने भग, अर्यमा, पूषा

आदि द्वादश महीनो के द्वादश आदित्य-रूपों से, तथा महादेवी शक्ति देवी पुरंधि ने, जो इस शरीर रूपी पुर का आधान, निर्माण, और धारण करती हैं, इन सब ने हम दोनों को उत्तम गार्हस्थ्य के लिये, और प्रजातन्तु का उच्छेद न होने के लिये, सात्विक विवाह के वन्धन मे वाँधा है।

ये मन्त्र अब भी वैदिक विधि से कियें जाते विवाहों मे, पाणिग्रहण के समय पढ़े जाते हैं; तथा अन्य पौराणिक श्लोक भी, जिन से पति-पत्नी, एक दूसरे से, वहुत अच्छी-अच्छी प्रतिज्ञाएँ करते हैं (जो आगे लिखे जायंगे)। पर, इनके अर्थ की ओर वर-वधू का ध्यान नहीं दिलाया जाता।

प्राचीन युगों मे, जव वस्ती कम थी, तव 'पुत्रान्', वहुत से पुत्री-पुत्रों की कामना करना उचित था; अव इस कलियुग मे, जव वस्ती इतनी वढ़ गई है कि पृथ्वी माता उस का पालन पोषण धारण नहीं कर सकती, उस का भार नहीं सह सकती, तव व्याकरण के "रक्षा-ऊहा-आगम-लघु-असन्देहाः", नियम के अनुसार, 'पुत्रान्' के स्थान पर 'पुत्रौ' पढ़ना, और (पुत्री च पुत्रश्च पुंत्रौ) एक वेटी और एक वेटा की आकांक्षा करना उचित और पर्याप्त है; तथा 'वहून्' के स्थान पर 'शुभौ'। "संप्रियौ, रोचिष्णू , सुमनस्यमानौ", यह 'पुत्रौ' के भी, और 'पति-पत्नी' के भी विशेषण हो सकते हैं।

विवाह शब्द के पर्याय संस्कृत मे ये हैं—उद्वाह, पाणि-ग्रहण, परि-णय उप-यम, उप-याम। 'विशेष' रीति से, विशिष्ट 'उत्कृष्ट' प्रकार से, एक दूसरे का 'वहन' करना, संग साथ निबाहना, निर्वाह करना; परस्पर हाथ पकड़ कर सहारा देना; 'परितः', सब अवस्थाओं मे, 'प्र-णय' से, प्रीति से, परामर्श से, एक दूसरे का 'नयन' करना; एक दूसरे का, प्रेम प्रीति से, यमन नियमन भी करना, परस्पर ग्रहण आस्वादन करना, एक दूसरे को अच्छी-अच्छी वस्तु उपहार करना; यह इन पर्यायों के अर्थ हैं। ऐसे अर्थपूर्ण पर्यायों से विवाह की महिमा का द्योतन होता है।

पच्छिम के विद्यारसिक, विविध ज्ञानो का संग्रह करने वाले, स्वावलम्बी, नये शास्त्रों उपशास्त्रों के प्रवर्त्तक, स्फुरद्बुद्धिमान् , गवेषकों ने, जैसा अन्य विषयों मे, वैसा इस मे भी, पृथ्वीतल के सभी देशों, और सभ्य, असभ्य, और अर्धसभ्य जातियों, की विवाह-प्रथाओं की खोज कर के, बड़े

बड़े ग्रन्थों मे उन का वर्णन विस्तार से किया है। कहीं एक जाति की सब स्त्रियों का दूसरी जाति के सब पुरुषों से विवाह, अर्थात् स्वच्छन्द मैथुन, जाति के भीतर के स्त्री-पुरुषों का परस्पर नहीं, (अँग्रेजी मे इस को 'एक्सो-गेमी' exogamy, कहते हैं); कहीं एक जाति के भीतर की सब स्त्रियों का उसी जाति के सब पुरुषों से अनिरुद्ध संयोग, किन्तु दूसरी जाति वालों से नहीं ('एण्डो-गेमी', endogamy); कहीं एक पुरुष का बहुत स्त्रियों से, ('पाली-जैनी', polygyny); कहीं एक स्त्री का बहुत पुरुषों से, ('पाली-ऐण्ड्री', polyandry); कहीं अन्य स्त्रियों और पुरुषों के साथ प्रसंग का अनुभव कर चुकने के बाद ही विवाह, ('एक्सपीरियेन्स्ड मैरेज', experienced marriage); कहीं विवाह करने के बाद स्वच्छन्दता; कहीं गर्भ रह जाने के बाद गर्भाधायक पुरुष और गर्भिणी स्त्री का विवाह; कहीं अज़माइशी विवाह, अर्थात् कुछ काल तक सहवास के बाद, यदि मन मिला तो, पक्का व्याह, नहीं तो पार्थक्य, ('ट्रायल', 'कम्पैनियनेट', या 'एक्सपेरिमेंटल मैरेज', trial, companionate, or experimental marriage); कहीं जाति ('ट्रैब', tribe) के मुखिया, प्रधान नायक, राजा ('चीफ', chief) या पुरोहित ('मेडिसन-मैन', 'प्रीस्ट', 'मैजिशन' medicine man, priest, magician) के द्वारा कन्या को 'क्षतयोनि' और 'पवित्र' करा के किसी अन्य से विवाह; कहीं विवाह हो जाने के पश्चात्, 'प्रथम रात्रि' मे, उस एक रात्रि के लिये, ('जुस प्राइमी नोक्टी' jus primae nocte) नववधू का, राजा, पुरोहित, सम्प्रदायगुरु, को समर्पण; इत्यादि।

भारतवर्ष की हजारों जातियों मे खोज करने से, स्यात्, सभी न हों तो बहुतेरे प्रकार मिल जायेंगे। यथा शिमला के पास, सीपी नाम के एक स्थान मे प्रतिवर्ष मेला लगता है, वहाँ एक पहाड़ी जाति के जो पति-पत्नी परस्पर असन्तुष्ट होते हैं, वे आपस में पति-पत्नियों का विनिमय, बदलौवल कर लेते हैं; इत्यादि।

मनुस्मृति मे पुनर्भू, सहोढ़, नियोग, आदि शब्दों से ऐसे प्रकारों की सूचना होती है। महाभारत, आदिपर्व, अ० १२८, मे स्पष्ट लिखा है,

अनावृताः किल पुरा, स्त्रियः आसन्, वरानने !,
कामचारविहारिण्यः, स्वतंत्राश्, चारुहासिनि !,

तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्, सुभगे !, पतीन्,
नाधर्मोऽभूद्, वरारोहे !, स हि धर्मः पुराऽभवत्;
तम् अद्यापि विधीयंते तिर्यग्योनिगताः प्रजाः;
उत्तरेषु च, रम्भोरु ! कुरुषु अद्यापि पूज्यते,
अस्मिन्स् तु लोके न चिरात्, मर्यादा इयं, शुचिस्मिते !,
उद्दालकस्य पुत्रेण स्थापिता श्वेतकेतुना।

'प्राचीन काल मे स्त्रियां अनावृत (बिना रोक-टोक छेंक के), कामचार से विहारिणी, स्वतंत्र, होती थीं, जैसे तिर्यग्योनि पशुओं की, तथा जैसे 'उत्तरकुरु' जाति के मनुष्यों मे अब तक; यही उस काल में धर्म माना जाता था। बहुत काल नहीं बीता है जब से यह एक-पति-व्रत विवाह की मर्यादा, उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु ऋषि ने स्थापित की', जब उन्हों ने देखा कि उनकी माता को एक दूसरे ऋषि, अपने लिए पुत्र उत्पादन करने के हेतु, ले कर जाने लगे; इत्यादि। आज काल पच्छिम मे, 'स्वच्छंदचार', 'फ्री-लव्', 'कम्पानियनेट मैरेज', free love, companionate marriage, आदि की प्रथा जोर कर रही है, और इस विषय पर ग्रन्थ बहुत लिखे जा रहे हैं, तथा अखवारों में बहस होती रहती है।

सर्वाङ्ग कामशास्त्र में इन सब प्रकारों की, थोड़े मे, चर्चा, तथा प्रत्येक के गुण-दोष का दिग्दर्शन, होना चाहिये।

निष्कर्ष यही निकलता है कि लाखों वर्ष की आयु मे, मानवजाति ने स्त्री-पुरुष-संग के सब प्रकार आजमा डाले, पर अंत मे सब से उत्तम सात्त्विक प्रकार, अधिकतर सुख और अल्पतर दुःख का, यही पाया है कि ब्रह्मचर्य अवस्था मे अविप्लुत अदूषित युवा, और वैसी ही अविप्लुत अदूषित युवती कन्या, का विवाह, उन की समान-व्यसन-शीलता का यथाशक्य निर्णय, वृद्धों के परामर्श से, तथा परस्पर युवा-युवती की रुचि और प्रेम से, निश्चय कर के, किया जाय; और तब सारी जिन्दगी एक दूसरे के साथ वफ़ादारी, प्रेमव्रत, अव्यभिचार, से निबाही जाय।

अन्योऽन्यस्य अव्यभीचारो भवेद् आमरणांतिकः—
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्री-पुंसयोः परः;
तथा नित्यं यतेयातां स्त्री-पुंसौ तु कृतक्रियौ,
यथा न अभिचरेतां तौ वियुक्तौ इतरेतरम्। (मनु)

स्त्री पुरुष, पति-पत्नी, के धर्म कर्म का सार इतना ही है, कि सदा ऐसा जतन करते रहैं, कि एक दूसरे से चित्त कभी न फटै, न हटै, कभी तीसरे पर न सटैं, कभी व्यभिचार न करैं। पीछे टिप्पणी में, वेस्टरमार्क के ग्रन्थ की चर्चा की है; जज लिंड्से की 'दि रिवोल्ट आफ़ माडर्न यूथ' (१९२७ ई०) और 'कम्पानियोनेट मैरेज'"* (१९२८ ई०) नामक पुस्तकों मे, पश्चिम देशों की वर्त्तमान कामिक और अति-कामुक अवस्था का थोड़े मे बहुत पूरा वर्णन, तथा गुण-दोष-दर्शन (पर कम सन्तोषकारी) किया है। इस विषय पर अन्य बहुत से ग्रन्थ, अंग्रेज़ी में, इन ग्रन्थों के बाद छपे हैं; बहुत थोड़े से जो मेरे देखने मे आये, उन मे से दो विशेष उल्लेख्य जान पड़े, 'सेक्स इन सिविलजेशन' (१९२९ ई०) और 'दि सेक्स लाइफ़ आफ़ दि अन्-मैरिड् ऐडल्ट' (१९३५ ई०); पहिले ग्रन्थ में बत्तीस, और दूसरे मे ग्यारह, विशेषज्ञों के लेख छपे हैं, इन में स्त्रियां भी हैं, पुरुष भी; विविध शास्त्रों और जातियों के ये शास्त्री हैं, अन्तःकरण-शास्त्र, साइकालोज़ी (Psychology) के विविध अंगों के ये विशेष अध्येता और वेत्ता हैं; इन मे से कई, चिकित्सक, वा वकील, वा समाजशास्त्री, वा 'साइकोऐनालिस्ट' भी हैं। प्रायः सभी लेख ऊँची काष्ठा के हैं; एक दो अपरिपक्व बुद्धियों के लेखों को छोड़ कर, प्रायः सभी ज्ञान-वर्धक, विचार-कारक, हैं। इन तैंतालीस लेखकों में से दो या तीन को छोड़ कर, सब के अनुभव, विविध अध्ययन, विविध-विषय-परीक्षण, का निष्कर्ष यही है कि, उत्तम पक्ष वही है जो मनु ने कहा है; पर, साथ ही, जब इस 'कलियुग' मे उस का अविकल पालन प्रायः असम्भव हो रहा है, सौ मे अस्सी पचासी लड़के लड़कियों, विद्यार्थी विद्यार्थिनियों, का ब्रह्मचर्य अविप्लुत नहीं रहता, विशेष कर पश्चिम मे, जहाँ युवा-युवतियों के सह-अध्ययन की रीति फैल गई है—जब यह अवस्था है, तब, इन विशेषज्ञो की सलाह यह है कि, समानशीलव्यसनता को यथासम्भव निश्चय कर के विवाह

* Judge Lindsay's 'The Revolt of Modern Youth' and 'Companionate Marriage' 'Sex in Civilisation, a Symposium', edited by Calverton and Schmalhausen; 'The Sex Life of the Unmarried Adult, a Symposium', edited by Dr. Ira Wile.

करें, और बीती भूलों को भुला कर, आगे के लिए, परस्पर अ-व्यभिचार, परस्पर पतिव्रत-पत्नीव्रत, का दृढ़ निश्चय कर के, सदाचार से जीवन निर्वाह करें, और सन्तान को यथासम्भव उन भूलों से बचावें।

सन् १९३६ ई० में, डाक्टर हैना स्टोन और उन के पति डाक्टर एब्रहम स्टोन ने, "ए मैरेज मन्युअल" (Dr. Hannah Stone and Dr. Abraham Stone, "A Marriage Manual") नाम का ३२२ पृष्ठ का ग्रन्थ छपवाया। प्रश्न-उत्तर के रूप मे, यह पुस्तक लिखी गई है; लिखने वाले पति-पत्नी, दोनो, बहुत अनुभवी, इस विषय के विशेषज्ञ विद्वान् और चिकित्सक हैं। एक युवा और एक युवती, जो परस्पर विवाह करना चाहते हैं, दोनो डाक्टरों से प्रश्न करते हैं। ३९९ प्रश्न किये। उन के उत्तर दिये गये। कामशास्त्रीय और विवाहसम्बन्धी बहुतेरे विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला है। कहने का ढंग रोचक, बुद्धबु-द्बोधक, निष्पक्षपात, शांत, विरुद्ध मतों के बीच का समवादी रास्ता दिखाता हुआ, है। इस ग्रन्थ मे ये वाक्य हैं—

"In spite of our changing values, it seems to me that a lasting union of one man with one woman is the most ideal form of human sex relationship; an ideal marriage is one that meets most adequately the essential objects of the marital union (a) companionship, (b) sexual intimacy, (c) the establishment of a family." इसका अर्थ यह है—'जीवन के उद्देश्य क्या हैं, कौन वस्तु स्पृहणीय हैं, क्या पुरुषार्थ अभीष्ट होने चाहिए—इस विषय के विचारों मे, आधुनिक मानव जगत् मे, बहुत परिवर्त्तन हो रहा है। उस सब को देखते हुए भी, हम को यही समझ पड़ता है कि, एक पुरुष का एक स्त्री से शाश्वतिक वैवाहिक सम्बन्ध ही उत्-तम, उत्कृष्टतम, आदर्शतम विवाह ही वैसा है जिस से तीन अभीष्टों की प्राप्ति हो, (१) सुख दुःख मे समवेदिता, तुल्यता, संगसाथ, सहचार, सख्य, मैत्री, (२) कामीय अन्तरंगता, घनिष्ठता, दर्श-स्पर्श मे असंकोच, (३) संतति का उत्पादन पालन, कुल का प्रतिष्ठापन।'

सारी पृथ्वी की परिक्रमा कर के, बहुत सा देशाटन कर के, बहुत-सी खोज और छान-बीन कर के, विविध प्रकार के हज़ारों स्त्रियों पुरुषों के

कामीय सम्बन्धों के अनुभवों और फलों के ज्ञान का सम्पादन कर के, ये दोनों चिकित्सा-शास्त्री सज्जन, प्राचीन 'आर्य कुल के अपने गृह' को वापस आये हैं। 'सवेरे का भूला-भटका शाम को घर आया तो भूला नहीं कहाया।' विचारशील पाठक सद्यः पहिचान लेंगे कि ये तीन वैवाहिक अभीष्ट वे ही हैं जिन की सूचना, संस्कृत मे पुराणो ने की है—प्रीतिः, रतिः संततिश्च, काम-भार्या-त्रयं स्मृतं"। प्रीति, मित्रता, सुख दुःख मे ऐक्य, सहचार; रति, कामीय अन्तरङ्गता, घनिष्ठता, पारस्परिक शरीर-संमिश्रण, विश्रम्भ, संकोच का अभाव; उत्तम संतान का प्रजनन, पालन-पोषण, एक 'कुल' का संस्थापन।

डाक्टर एक्सनर की "दि सेक्सुअल साइड आफ़ मेरेज" (Dr. M. J. Exner's "The Sexual Side of Marriage.") १९३२ ई० मे छपी, स्टोन की पुस्तक से छोटी है, प्रकार भी दूसरा है, पर गवेषण इस मे भी बहुत किया है; और निष्कर्ष इस का भी वही है जो उस का है। हज़ारों विवाहित और अविवाहित स्त्री पुरुषों के कामीय अनुभवों की जाँच कर के यही स्थिर किया है कि (१) मानस प्रीति, (२) विवाह के भीतर सुशिक्षित शरीर-मिश्रण, (३) उत्तम अपत्य, मे ही जीवन का आनन्द है।

श्री जेनी ली, १९२९ ई० मे ब्रिटिश पार्लमेंट की सदस्य हुईं; अमेरिका, यूरोप, रूस मे बहुत घूमी, रूस मे प्रथम बार १९३० ई० मे गई, तब से और भी कई बार गईं, ब्रिटिश मिनिस्ट्री के सेक्रेटेरियट (दफ़्तर) मे इन को एक जगह भी दी गई थी, परन्तु समाचार-पत्रों में लेख छपाने का स्वातन्त्र्य रहे, इसलिए उस पद को त्याग दिया। १९४१ ई० के अगस्त मे पुस्तिका छपाई, "अवर ऐलाइ रशिया", Our Ally Russia; चौंसठ पृष्ठ की इस छोटी पुस्तिका के आठ अध्यायों में, सोवियट शासन और रूसी सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के सभी मुख्य अंगों की सार सार बातें लिख दी हैं, लिखने के प्रकार से, पाठक के चित्त पर यह प्रभाव पड़ता है कि निष्पक्ष सत्य लिखा है। पुस्तिका के पृ० २४ पर लिखा है, "हाल मे, विवाह और तलाक़ के क़ानून कड़े कर दिए गए हैं, स्त्री और पुरुष का शाश्वतिक संग साथ, और अपने और अपनी सन्तान के लिए परस्पर-सबद्ध दृढ-मूल (कौटुम्बिक) जीवन का साधन और निर्वाहण—इस समय रूस देश मे यही भावना धारणा बलवत

है"। अर्थात्, विविध प्रकारों की परीक्षा और अनुभव कर के, रूसी जनता और शासक भी मनु के सिद्धान्त के पास पहुँचे हैं।

(घ) विवाह सुखमय कैसे हो, इस के साधनों का वर्णन। कामशास्त्र का ठीक नाम तो सांसारिक-सुखशास्त्र', वा 'दाम्पत्य-शास्त्र', वा 'गार्हस्थ्य-शास्त्र' होना चाहिए। इस दृष्टि से, इस शास्त्र के ज्ञानांग मे, स्त्री और पुरुष के आदर्श शरीरों का वर्णन, चित्रों के साथ, होना चाहिए।

अर्थस्य मूलं निकृतिः, क्षमा च; कामस्य रूपं च, वयो, वपुश्च;
धर्मस्य यागादि, दया, दमश्च; मोक्षस्य चैव उपरमः क्रियाभ्यः।

काम का मूल, यौवन, रूप-सम्पत्ति, और दृढ़ शरीर है, अर्थ का, नीचा निकृष्ट व्यवहार, और बर्दाश्त, नम्रता; धर्म का, यज्ञ याग आदि, इष्ट आपूर्त्त आदि, के द्वारा परार्थ कार्य, दया, और इन्द्रिय-दमन; मोक्ष का, सब क्रियाओं से उपरम, निवृत्ति। कामशास्त्र की दृष्टि से, कामसूत्र मे, इन चार मे से प्रथम तीन पुरुषार्थों को नमस्कार किया है, और उन का लक्षण संक्षेप मे, किया है, वह पीछे के पृष्ठों में लिखा गया। मोक्ष का तो केवल नाममात्र लिया है; उस को काम-शास्त्र मे अनधिकृत अनुपयुक्त समझा; पर यह ठीक नहीं; साक्षात् सम्बन्ध तो नहीं है, किन्तु परम्परया है। अध्यात्म शास्त्र के सिद्धान्त, एक ओर अभ्युदय के अन्तर्गत तीन पुरुषार्थों को, और दूसरी ओर निःश्रेयसात्मक चौथे पुरुषार्थ मोक्ष को, परस्पर बाँधे हुए हैं, उन सिद्धान्तों की सर्वथा उपेक्षा करने से, "आत्मवत् सर्वभूतेषु" को भुला देने से, न धर्म ही, न अर्थ ही, न काम ही, सुख अधिक (और दुःख कम) के रूप से सध सकता है; 'काम' का जो गुरुतर पक्ष वा अंश 'प्रीति' है, वह नहीं पनपैगी। गार्हस्थ्य मे, पापों से ही 'वैराग्य' होना उचित है, पुण्यात्मक सांसारिक व्यवहारों से नहीं; पर ऐसे 'साराग्य' को भी धर्म बनाये रहने के लिए, उत्तम अध्यात्म भाव का कुछ न कुछ ध्यान, मन मे बना रहना, उपयुक्त ही, किंवा एक सीमा तक आवश्यक भी, है; इसी लिए, अक्षरारम्भ के पहिले संध्या वन्दन सिखाने की विधि है; अभ्युदयाभिलाषी युवा को, मोक्षोन्मुख शांत सद्वृद्धों के दर्शन पूजन से, अति अभिमान, अति काम, अति लोभ आदि नहीं होने पाता, और सभी सांसारिक कार्यों मे सहायता और अच्छे

उपदेश मिलते रहते हैं। इस लिए वात्स्यायन अन्तिम पुरुषार्थ की सर्वथा उपेक्षा नहीं करना चाहता था।

कन्या वरयते रूपं, माता वित्तं, पिता श्रुतं,
बांधवाः कुलमिच्छन्ति, मिष्टान्नम् इतरे जनाः (लोकोक्ति)।
कुलं च, शीलं च, सनाथतां च, विद्यां च, वित्तं च, वपुर् , वयश्च,
एतान् गुणान् सप्त विचिन्त्य, देया कन्या बुधैः, शेषं अचिंतनीयं।
(व्यास-स्मृति)

अव्यंगांगीं, सौम्यनाम्नीं, हंसवारणगामिनीम् ,
तनुलोमकेशदशनां; मृद्वंगीम् , उद्वहेत् स्त्रियम् (मनु)

युवा और कन्या दोनों का कुल, शील, विद्या, वित्त, वपु (शरीर की सुन्दरता और स्वस्थता), वयस्, अच्छा नाम, अच्छी चाल, आदि का विचार कर के विवाह स्थिर करना चाहिये।

रूप—यौवन की प्राप्ति के बाद, 'काम' का उद्बोधक, सब से पहिले, सुन्दर 'रूप' है। प्रायः अनार्ष अर्वाचीन संस्कृत-साहित्य मे, तथा हिन्दी-साहित्य मे, स्त्री का ही नख-सिख-वर्णन देख पड़ता है; वह भी अतिरंजित, यहाँ तक कि मिथ्या और भदेस। पुरुष-शरीर की शोभा का वर्णन बहुत कम मिलता है। इस का फल यह हुआ है कि, पुरुष के मुख और अन्य अंग के सुन्दर होने की कोई जरूरत नहीं, पुरुष भोक्ता, और स्त्री भोग्य है, भोग्य ही को सरस होना चाहिये—ऐसा दुर-भाव फैल रहा है। फलतः सुन्दर पुरुष-मुख कम देख पड़ते हैं; तथा, क्रिया-प्रतिक्रिया के नियम से, जब पिता सुन्दर न होंगे तो केवल माता के सुन्दर भी होने से कन्या सर्वथा सुन्दर नहीं हो सकती, इस लिये स्त्रियों का सौन्दर्य भी विरल हो रहा है, और समस्त जाति रूपहीन होती जाती है। पश्चिमीय देशों में कभी कभी 'स्कल्पटर', sculptor, प्रतिमाकार, रूपकार, मूर्ति-उत्किरक, तथा 'पेण्टर', painter, चित्रकार लोगों मे बहुत रोचक बहस उठती रहती है; इस प्रश्न पर, कि स्त्री-रूप निसर्गतः अधिक सुन्दर और स्थायी है, कि पुरुष-रूप। सिद्धान्त यह है कि पुरुष को स्त्री-रूप और स्त्री को पुरुष-रूप अधिक सुन्दर प्रकृत्या जान पड़ता है। इस का आध्यात्मिक कारण खोजना हो तो, काम के पारमार्थिक अध्यात्मतत्त्व से सम्बद्ध, स्त्रीत्व और पुरुषत्व का आध्यात्मिक तत्त्व जानना होगा।

सौन्दर्य क्या है, इस पर, पूर्व मे भी, पश्चिम मे भी, बहुत विचार किया गया है ; आध्यात्मिक निष्कर्ष यही है,

यद् यस्य रोचते, तस्मै, तद् एव ननु सुन्दरं;

जो रूप जिस को रुचै, उस के लिये वह और वही सुन्दर है ।

पुरुष भोक्ता और स्त्री भोग्य—यह भाव असभ्य, अनार्य, असत्य है । यदि ऐसे शब्दों का प्रयोग करना ही हो, तो कहना चाहिये कि स्त्री-पुरुष दोनो परस्पर भोक्ता और भोग्य हैं । आर्ष ग्रन्थों मे यह नहीं देख पड़ता । यदि सीता की शोभा का वर्णन है तो राम की शोभा का उस से अधिक है* । कृष्ण के रूप की महिमा तो पुराण इतिहास में

---

* महर्षि वाल्मीकि ने राम जी के आध्यात्मिक गुणों का वर्णन तो किया ही है, उन के शरीर के एक-एक अङ्ग की भी आदर्श-प्रवीर-पुरुषोचित शोभा का भी पुनः पुनः वर्णन किया है । पर सीता देवी के स्त्री-शरीर का वर्णन कैसे करें ?

अहो महर्षेः कारुण्यं, अहो वत्सदयालुता,
अहो बोधनकौशल्यं, अहो शिक्षाप्रवीणता !

परन्तु महर्षि की करुणा का, वात्सल्य, बोधन कौशल्य, शिक्षा-प्रावीण्य का, क्या कहा जाय ! सीता के शरीर का भी वर्णन किया ही । इन्द्रजित् ने राम जी और लछमण जी को नागपाश से बांध दिया है; दोनो भाई मूर्छित, निश्चेष्ट, प्राणरहित से, पृथ्वी पर पड़े हैं; रावण की आज्ञा से सीता देवी को विमान पर बिठा कर, उन्हें दिखाने के लिये, राक्षस लाते हैं; देख कर, सीता देवी, विह्वल रोती हैं; "जो जो लक्षण दैवज्ञों ने कहा है कि, जिस पत्नी के शरीर मे ये लक्षण हों, उस को वैधव्य कभी नहीं हो सकता, वे सब लक्षण मेरे शरीर मे वर्त्तमान हैं; फिर कैसे यह वैधव्य ?" और सीता देवी अपने शरीर के लक्षणो का वर्णन करती हैं (युद्धकांड, सर्ग ४८) । इस प्रकार से महर्षि ने, ऐसे दारुण दुःख के समय मे, स्वयं देवी के मुख से अपने शरीर का वर्णन कराया, कि किसी के चित्त से काम-विकार उत्पन्न हो ही नहीं सकता; देवी के दुःख से दुःखी ही होना पड़ता है । यह महर्षि का कारुण्य, वात्सल्य, उपदेश-प्रावीण्य है । जैसे, छोटा बच्चा, अपनी माता के साथ स्नान करता हुआ, उस के

बहुत ही प्रसिद्ध है। "बिभ्रद् वपुः सकलसुन्दरसन्निधानं", "त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं", "नेत्रोत्सवं विदधतं नगरांगनानां"; कृष्ण के शरीर मे मानो संसार के सब सुन्दर-तम पदार्थ एकत्र हुए थे; वह ऐसा था जिसको स्त्री-पुरुष आंख फाड़-फाड़ कर देखैं, जिस के देखने से आंख थकैं नहीं, अघायैं नहीं। पुराणो मे कथा है, स्वर्ग मे बहस चली, सब से सुन्दर कौन है; उर्वशी, मेनका, रम्भा आदि अप्सराओं की पंचायत बना कर, नारद ऋषि को मध्यस्थ, प्राड्विवाक, सरपंच, नियत कर, सब लोकों मे घूम कर निर्णय करने को, इन्द्र ने नियुक्त किया; राजा पुरूरवा को, स्नान के समय, अनऽावृतांग, नग्न, देख कर, पंचायत ने निश्चय किया कि ये ही सब से सुन्दर हैं; फिर उर्वशी उन पर, और वे उर्वशी पर, इतने मुग्ध हुए कि विवाह हुआ और चन्द्रवंश बढ़ा। स्नान के समय जांच इस लिए की गई कि, स्वाभाविक लावण्य पर, स्वेद आदि धुल कर, और भी 'आब', 'पानी', की चमक, आ जाती है। यह हुई पौराणिक कथा। इतिहास मे विख्यात सिकन्दर की भी, स्नान के समय, उस के योद्धा देखने को जमा हो जाया करते थे; उस का शरीर ऐसा ही सुन्दर और बलवान् था। उस की शोभा पर भी, और युद्धनेतृत्व के कौशल पर भी, मुग्ध हो कर, योद्धा उस के लिए अपने प्राण का बलिदान किया करते, और उस की विजयश्री को नित्य बढ़ाते रहते थे; अंत मे, पंजाब देश के राजा पौरव से युद्ध कर के, सिकन्दर की और उस के रणोद्भट भटों की युद्धश्रद्धा क्षीण हुई; कामसूत्र, अर्थशास्त्र, पंचतंत्र आदि ग्रन्थरत्नों के कर्त्ता, वात्स्यायन-चाणक्य महामंत्री, के बुद्धिबल से समुन्नद्ध, चंद्रगुप्त की साम्राज्य-शक्ति की कीर्ति सुन कर, वे और भी हिम्मत हारे, और अपने देश

शरीर को निर्विकार भाव से देखता है, वैसे ही, सज्जन, इस वर्णन को पढ़ कर, चित्त का संस्कार ही पाता है, विकार नहीं।

यथा बालो हि सौन्दर्यं मातुः स्नान्त्याः निरीक्षते,
संस्कारं एव चऽायाति, विकारं न प्रयाति च,
विषीदत्या महादुःखैः सीतादेव्या हि वर्णनं
कृतं यत् स्वशरीरस्त, पठित्वा, सज्जनस् तु, तत्,
शुभं संप्राप्नुयाज् ज्ञानं, तथा भावं च सात्त्विकं।

की ओर वापस चले* । राजा पौरव की शरीर-सम्पत्ति सिकन्दर से भी किन्हीं अंशों मे बढ़ी चढ़ी थी, ऐसा स्वयं ग्रीस देश के तत्कालीन इतिहास-लेखकों के ग्रन्थों से विदित होता है; साढ़े सात फुट से अधिक ऊंचे थे, हाथी की गर्दन पर सवार, विना महामात्र (महाउत) के, स्वयं उस को चलाते दौड़ाते हुए, (जैसे महाभारत मे राजा भगदत्त), युद्ध करते थे; ग्रीक लेखक प्लूटार्क कहता है कि पौरव, हाथी पर सवार नहीं, बल्कि घोड़े पर सवार जान पड़ते थे, गजराज और नरराज के शरीरों की ऊंचाई की निष्पत्ति (अनुपात, 'निस्वत', 'प्रोपोर्शन', Proportion) से भी, और राजा के हस्ति-संचालन-कौशल से भी, ऐसा जान पड़ता था मानो अश्व पर अश्वारोही आरूढ़ है; दवे शब्दों मे सिकन्दर की हार भी प्लूटार्क क़बूलता ही है । पंजाब प्रांत अब भी शरीर-सम्पत्ति की खान है । खेद है कि महाभारत-ग्रन्थ के बाद, सच्चे, सविस्तर, बहु-विषय-संग्राहक, बहुश्रुतता-संपादक, सर्वशास्त्रसार, सर्वकाव्यरसाधार, नवीन-नवीन इतिवृत्तों से पूर्ण, अतः अधिकाधिक मनोहर ओजस्वी, इतिहासों के लिखने का स्रोत ही इस अभागे देश मे बंद हो गया । कामशास्त्र का इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह ऊपर सूचना की जा चुकी है । प्रायः सभी असाधारण ऐतिहासिक घटनाओं के करने वाले, अलौकिक, अति विशिष्ट, धर्मावतारों और अधर्मावतारों, की उत्पत्ति मे, कोई विशेष आविष्कार, किसी विशेष काम-विकार का भी लगा रहता है; यह, पुराणो मे, रामादि और रावणादि, कृष्णादि और कंसादि, पांडवादि और कौरवादि, तथा उनके मुख्य सहायकों, की जन्म-कथाओं से बहुधा सूचित किया जाता है । आधुनिक पाश्चात्य पौरस्त्य लेखक अक्सर इस की चर्चा बचा जाते हैं, पर इस से, अध्येता के कार्य-कारण-संबंध-ज्ञान मे त्रुटि रह जाती है ।

---

*. ग्रीक जाति के इतिहास-लेखकों ने तो यही दिखाने का यत्न किया है कि 'पोरस' (पौरव) हारा और संधि का इच्छुक हुआ; पर इस के बाद सिकन्दर ने विजय-यात्रा समाप्त क्यों कर दी, और पीछे क्यों लौटा ? इस का कोई पर्याप्त हेतु नहीं बताया । नई गवेषणाओं से अधिकाधिक सिद्ध होता जाता है कि, सिकन्दर ही हारा, बहुत घायल हुआ, उस की सेना भागी, और उस ने राजा पौरव से सन्धि की प्रार्थना की, और लौटने की अनुमति पाई ।

अच्छे अर्वाचीन कवियों ने भी, कभी-कभी, पुरुष-नायकों का भी कुछ वर्णन कर दिया है; यथा रघु का कालिदास ने,

युवा युगव्यायतबाहुर् अंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकंधरः,
वपुःप्रकर्षाद् अजयद् गुरुं रघुस्, तथापि नीचैर विनयाद् अदृश्यत।

वृषभों पर रक्खे जाने वाले युग (जूआ) के ऐसे मोटे और लम्बे बाहु, भारी कन्धे, दुर्ग के फाटक के ऐसा विशाल और दृढ़ वक्षःस्थल, मांसपेशियों से नद्ध ग्रीवा, इस प्रकार के उत्कृष्ट शरीर से, रघु, अपने पिता दिलीप से भी बढ़ गये; किन्तु विनय से मानो दबे हुए ही रहते थे।

तथा श्रीहर्ष ने, नल का, दूसरे प्रकार से,

अधारि पद्मेषु तदंघ्रिणा घृणा, क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे,
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्वणशर्वरीश्वरः। (नैषधं)

राजा नल ने जब यौवन मे प्रवेश किया, तब उनके पैरों ने कमलों का तिरस्कार किया; उन के हाथों की सुन्दरता की छाया भी, अच्छे से अच्छे पल्लवों ने नहीं पाया; पूर्णिमा के चन्द्रमा की शोभा तो उन के मुख की शोभा की दासी होने के भी योग्य नहीं थी।

एक अन्य नाटककार ने बहुत ललित शब्दों मे, राम और सीता के परस्पर भाव, एक दूसरे के सौन्दर्य के विषय मे, विवाह से पहिले के, कहे हैं,

यौवनोद्गमनितांतशङ्किताः, शीलशौर्यबलकांतिलोभिताः,
संकुचन्ति विकसन्ति राघवे, जानकीनयननीरजश्रियः।
उत्तरङ्गय, तरङ्गलोचने ! लोचने कमलगर्वमोचने,
अस्तु सुन्दरि कलिन्दनन्दिनीवीचिडम्बरगभीरम् अम्बरम्।

यौवन के आरम्भ के कारण नितान्त सकुचाते; पर राम जी के शील, शौर्य, बल, कांति से लुभाते भी, सीतादेवी के नयन चंचल हो रहे हैं; (यह, विवाह के पहिले, मिथिला के उद्यान मे दोनों की भेंट के समय की बात है); राम जी सीतादेवी से कहते हैं :

आप के लोचन, जल की तरङ्गों के ऐसे चंचल हो रहे हैं, सो इन को स्थिर कीजिये, कि मै इनकी शोभा मन भर के देख सकूं ; अभी तो मानो स्वच्छ श्वेत आकाश मे कलिन्दनन्दिनी यमुना की तरंगै दिखा रही हैं।

तथा मृच्छकटिक नाटक के नायक का वर्णन है,
घोणोन्नतं मुखम्, अपाङ्गविलासिनेत्रं, नैतद् विभाजनम् अकारणदूषणानां;
नागेषु गोषु तुरगेषु तथा नरेषु, नैवऽाकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम् ।

ऊँची नाक, विशाल नेत्र, जिस की आकृति मे हों, वह पुरुष दोष लगाने योग्य, दुष्कर्मा, प्रायः नहीं होता; हाथी, घोड़े, वृषभ, और मनुष्यों का वृत्त, प्रायः उन की आकृति के अनुसार होता है, उदार आकृति वालों का स्वभाव और चरित्र भी प्रायः उदार ही होता है ।

हिन्दी-साहित्य मे तुलसीदास जी ने भी प्रायः आर्ष भावों का प्रदर्शन किया है, यद्यपि कहीं कहीं, भक्ति की अति कर दी है ।

आदर्श पुरुष और आदर्श स्त्री के, बालक-बालिका, कुमार-कुमारी, युवा-युवती, प्रौढ़-प्रौढ़ा, वृद्ध-वृद्धा अवस्थाओं के चित्र, घर-घर मे रहने चाहियें, जिन को देखते-देखते विवाहित दम्पतियों के मन मे वे रूप ऐसे बस जायं कि उन की सन्तान वैसी ही होने लगै । राम और सीता, कृष्ण और रुक्मिणी, बलराम और रेवती, वसिष्ठ और अरुंधती, नल और दमयन्ती, सत्यवान् और सावित्री, बुद्ध और यशोधरा की, बाल्यादि सब अवस्थाओं की तस्वीरों या प्रतिमाओं की घर-घर मे पूजा बड़ी उपकारक हो, यदि ये तस्वीर और प्रतिमा सचमुच सुन्दर हों । मूर्तिपूजा की युक्तिमत्ता, उपादेयता, चरितार्थता, तभी है जब इष्टदेव की मूर्ति और भाव सुन्दर और सात्विक हों, और, 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' के नियम से, उपासक और उस की संतान के देह और चित्त भी ध्यान और भक्ति के बल से, वैसे ही सुन्दर और सात्विक हो जायं । 'जिस की जिस पर श्रद्धा होती है, उस का रूप वैसा ही हो जाता है' । खेद है कि मूर्तियां प्रायः सुन्दर के स्थान पर भद्दी रहती हैं । ग्रीस देश मे, दो सहस्र वर्ष पहिले, सौन्दर्य की उपासना बहुत हुई, और उस समय वहां स्त्री-पुरुष बहुत सुन्दर होते थे । उस समय की जो बची-खुची सङ्गमर्मर की टूटी-फूटी भी प्रतिमा, खंड़हलों मे दबी-दबाई मिली हैं, उन को, और उन के फोटो चित्रों और प्रतिकृतियों को भी देखते आँख नहीं थकती । हिमालय पर्वत की किन्हीं-किन्हीं द्रोणियों मे अब भी ऐसी जातियां हैं, जिन के विषय मे, स्वयं अंग्रेज़ों ने, अपना जात्यभिमान भुला कर, मुक्तकंठ लिखा है, कि इन से अधिक सुन्दर स्त्री-पुरुष अन्यत्र कहीं नहीं हैं ।*

---

* वात्स्यायन ने, इस प्रकार से, स्त्री और पुरुष के शरीर की

वपुः—वपुष्मत्ता, शरीर-सम्पत्ति, अर्थात् बल और दृढ़ता, भी काम-सुख के लिए आवश्यक है; केवल सुन्दर-रूप पर्याप्त नहीं; यदि बहुत नाजुक, सुकुमार, रोगी है, तो सुन्दर ही होकर किस काम का ? इस लिए कामशास्त्र मे, उपयुक्त आहार तथा व्यायाम की भी चर्चा होनी चाहिये।

सुन्दरता के लक्षण तो कहे नहीं; उन की गुह्य इन्द्रियों के परिमाण के भेद से, तीन-तीन भेद लिख दिये हैं यथा,

शशो, वृषो, अश्वः, इति नायक-विशेषाः ;
नायिका पुनः मृगी, वड़वा, हस्तिनी, चेति;
(साम्प्रयोगिक अधि०, २ अ०)।

पीछे के लेखकों ने चार भेद किये हैं,

शशो, मृगो, वृषो, वाजी, पुरुषास्तु चतुर्विधाः ;
पद्मिनी, चित्रिणी चैव, शङ्खिनी, हस्तिनी, स्त्रियः।

शशी, मृगी, गौ, वड़वा, कहना था; पर ऐसा नहीं किया। इस प्रकार के भेद, मैथुन मे शरीर सुख की अधिक दृष्टि से किये गये हैं ; सर्वथा उपेक्षणीय तो नहीं है ; क्योंकि समान-शील-व्यसनता मे शरीर-समता भी अन्तर्गत है ; किन्तु, शरीर के अन्य, और अ-गुह्य, अवयवों के सौन्दर्य का, और उत्तम चारित्र्य के गुणो का, अधिक वर्णन होना चाहिये, क्योंकि पहिले परिदृश्यमान साक्षात् आकर्षक तो ये हैं। वाल्मीकि रामायण मे, कई स्थानो मे, राम और सीता के जो वर्णन किये हैं, वे देखने योग्य हैं ; 'न्यग्रोधपरिमंडलः' और 'श्यामा' विशेषण दिये हैं; इन दो शब्दों के ठीक अर्थ आज काल प्रायः भूले हुए हैं; पुराणो के वाक्यों के आधार पर यहां लिखे जाते हैं।

प्रसारितभुजस्य इह, यस्य बाहुद्वयान्तरं
उच्छ्रायेण समः, सः स्यात् न्यग्रोधपरिमंडलः ;
महाधनुर्धराश् चैव, त्रेतायां, चक्रवर्त्तिनः
सर्वलक्षणसम्पन्नाः, न्यग्रोधपरिमंडलाः ;
न्यग्-रोधौ तु स्मृतौ बाहू, व्यामो न्यग्रोधः उच्यते ;
व्यामतुल्योच्छ्रयो यस्यअस्ति अधः ऊर्ध्वं च देहिनः ,
सम-उच्छ्रय-परीणाहो, न्यग्रोधपरिमंडलः।
स्तनौ सुकठिनौ यस्याः, नितम्बे च विशालता,

ऊपर कहा कि शरीर-सम्पत्, वपुष्मत्ता, अब भी पंजाब मे बहुत है। अफ़गानिस्तान मे भी है; याद रहै कि मुहम्मद और इस्लाम धर्म के जन्म के पहिले, उस देश का नाम 'गांधार' था, (अब 'कंदहार' है), और वहां के बाशिंदे सब 'हिन्दू' और बौद्ध थे; बुद्ध, चंद्रगुप्त, सिकंदर, अशोक, आदि के समय मे, तक्षशिला का विद्यापीठ परम प्रसिद्ध था; पाणिनि,

---

मध्ये क्षीणा भवेद् या, सा न्यग्रोधपरिमंडला।
शीते सुखोष्णसर्वाङ्गा, ग्रीष्मे तु सुखशीतला,
तप्तकांचनवर्णाभा, सा स्त्री श्यामा इति कथ्यते ;
अप्रसूतांगनाया: च श्यामा (सोमलतौषधौ ...)।
(अग्नि पु०, मत्स्य पु०, विश्वकोष, शब्दकल्पद्रुम आदि)

जिस पुरुष की छाती-पीठ अर्थात् धड़ की, और ऊंचाई की, नाप बराबर हो, वह 'न्यग्रोधपरिमंडल'; ऐसे, त्रेतायुग मे महाधनुर्धर चक्रवर्त्ती होते थे; बाहु को न्यग्रोध कहते हैं; (न्यक्, नीचे, रुह्, बढ़ना, लटकना, जैसे वट के बरोह; वटवृक्ष को भी न्यग्रोध कहते हैं); फैलाई हुई बांह का जो परिमाण, वही सिर से पैर तक का, जिस का हो, तथा छाती का घेरा और ऊँचाई भी बराबर हो, वह न्यग्रोधपरिमंडल। जिस स्त्री के स्तन कठिन, नितम्ब विशाल, कमर पतली हो, वह 'न्यग्रोधपरिमंडला'; जिस का शरीर शीत काल मे उष्ण, और ग्रीष्म काल मे ठंढा हो, और जिस का रंग तपाये सोने के ऐसा हो, वह 'श्यामा'। यहां श्यामा का अर्थ सांवली, काली, नहीं; रामायण मे सीता का वर्ण गौर लिखा है। जिस स्त्री को प्रसव नहीं हुआ है, उसको भी श्यामा कहते हैं।

सभी अंग पुष्ट और सुन्दर होने चाहियें ; तौ भी स्त्री शरीर मे स्तनो की, और पुरुष शरीर मे बाहुओं की, शोभा पर, साहित्य मे अधिक ध्यान दिया है। क्यों ? अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से हेतु यह जान पड़ता है, कि मनुष्यों के चित्त मे अव्यक्त रूप से यह भाव बैठा हुआ है कि, अच्छे स्तनो से बालकों का पालन, और अच्छे बाहुओं मे कुटुम्ब और समाज का रक्षण, अच्छा हो सकता है ; काव्यों मे, 'पीनपयोधरा' और 'महाबाहु' 'महाभुज' शब्द, इस हेतु से, बहुधा स्त्री-पुरुष के विशेषण लिखे गये हैं।

पतंजलि, आदि का जन्म इसी प्रान्त मे हुआ; अस्तु। सिख-मंडली मे कहा जाता है कि महाराज रणजीत सिंह जब हाथी पर निकलते थे, तब सर्दार हरिसिंह नड़वा, उन के हाथी के पुट्ठे पर एक हाथ रक्खे हुए साथ-साथ बात करते चलते थे, जैसे किसी घुड़सवार के साथ उस का आत्मीय, उस के घोड़े के पुट्ठे पर हाथ रक्खे बात करता चलै; ऐसे विशालकाय थे। इन्हीं हरिसिंह और मेलाराम ने अफ़ग़ानिस्तान और काबुल फ़तह किया; हरिसिंह ने उसी युद्ध मे अपना शरीर छोड़ा। एक पंजाबी सज्जन से मैं ने सुना कि अब तक अफ़ग़ानी लड़ाकू जातियों की स्त्रियां, अपने शोर करते बच्चों को यह कह कर चुपाती हैं कि "हरिसिंह आया, नड़वा आया"। ऐसा विशाल शरीर होना असम्भव नहीं, और किंवदन्ती को अत्युक्ति और मिथ्या हठात् नहीं समझ बैठना चाहिए; साढ़े छः फुट के सिख और अफ़ग़ानी मैं ने कई देखे हैं। ७ जनवरी १९३० ई० के 'पायोनियर' नाम के दैनिक मे, (जो उस समय इलाहाबाद से निकलता था), एक चित्र छपा है; इस मे जे० जी० टार्वर नाम का अतिकाय पुरुष, एक हाथी के पुट्ठे पर हाथ रक्खे और अपनी दाहिनी कुक्षि मे एक साधारण पुरुष को दबाये, दिखाया है। टार्वर का उच्छ्राय (ऊंचाई, क़द) आठ फुट चार इंच लिखा है; और शरीर की तौल एक हजार 'पाउंड', अर्थात् साढ़े बारह मन। 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' मे 'जायन्ट्स' (Encyclopedia Britannica, article 'Giants') पर लेख है, और दैनिक पत्रों मे समय-समय, ऐसों के हाल छपते रहते हैं। गिबन ने, अपने लिखे "रोम-साम्राज्य के इतिहास" मे, मैक्सिमिन नाम के एम्परर का सुप्रमाणित हाल लिखा है, कि आठ फुट से अधिक ऊंचा था, उसी अनुपात से मोटा, अति बलवान्, दिन मे बीस सेर मांस और तीस सेर मदिरा खा-पी लेता था; दूसरा वृकोदर भीम ही था। भारतवर्ष को ऐसे बलशाली भीम, अर्जुन, पौरवों की आवश्यकता है। जैसे सूखे भूखे, मर्कट-आकृति, मर्कट-प्रकृति के, जीव देश मे भर रहे हैं, वे भारत का उद्धार नहीं कर सकते।

वयस्—तीसरे; उपयुक्त वयस भी कामोपभोग का आवश्यक अंग है। इस सम्बन्ध मे, किस वयस् मे विवाह होना चाहिये, इस का भी विचार कामशास्त्र मे होना आवश्यक है।

मुक्ताफलस्य छायायास् तरलत्वं इव अन्तरा
दृश्यते यद् युवांगेषु, तल् लावण्यम् इह उच्यते।

मोती के 'आव', पानी, के ऐसी, लवण, नमक, के डले के ऐसी, तरल चमक, जो युवा अंगों पर देख पड़ती है, उस को लावण्य, लुनाई, नमकीनी, सलोनेंा-पन कहते हैं। (स-लोना शब्द भी स-लवण का ही रूपान्तर है)। यह पूर्वोक्त शुक्रकला का फल है। लावण्य और तारुण्य का साथ है। आयुर्वेद, सुश्रुत आदि मे,

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन संगता,

इत्यादि से, वीस और सोलह वर्ष का वयस; पुरुष और स्त्री के विवाह (संगम) के लिये उचित है, ऐसी सूचना की है। इस से कम तो किसी प्रकार होना ही नहीं चाहिए। इतने वर्ष तक अविप्लुत-ब्रह्मचर्य से रहने से शरीर मे लावण्य तारुण्य की यथा-कथंचित् कांति और दीप्ति आ जाती है। पुराणो मे, स्वर्ग और नन्दन-वन के आदर्शो के वर्णन मे, ऐसा रूपक वनाया है कि, स्वर्गवासी पुरुषों और स्त्रियों का, पच्चीस और सोलह वर्ष का स्थिर यौवन रहता है। मनुस्मृति की प्रचलित लिखी छपी प्रतियों मे पाठ यों देख पड़ता है,

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीं;
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा, धर्मे सीदति सत्वरः।

'तीस वर्ष का पुरुष बारह वर्ष की कन्या से, अथवा, यदि ब्रह्मचर्य धर्म के अवसाद के भय से त्वरा हो तो, चौवीस वर्ष का पुरुष आठ वर्ष की स्त्री से विवाह करे'। निश्चयेन यह पाठ भ्रष्ट है। पुरुष की अवधियां तो विज्ञान-सम्मत हैं, पर स्त्री की स्पष्ट ही विज्ञान-विरुद्ध हैं। बारह वर्ष की अनभिव्यक्तांग वालिका से तीस वर्ष के प्रौढ़ पुरुष का, अथवा आठ वर्ष की अबोध बच्ची से चौवीस वर्ष के तरुण का, संयोग तो घोर बाल-हत्या और महापातक है।

मैं एक ऐसे कुटुम्ब का हाल स्वयं जानता हूं जहां (१९२० के आसपास) कोई पैंतीस वर्ष हुए होंगे, एक हृष्ट-पुष्ट व्यायाम-शील (और प्रायः सदाचारी भी) बीस वर्ष के युवा का दूसरा विवाह, पहिली पत्नी के किसी रोग से मर जाने पर, एक ठीक आठ वर्ष की बच्ची से कर दिया गया। उस अनजान बच्ची को, प्रथम प्रसंग मे ही अत्यन्त पीड़ा हो कर, गर्भ भी रह गया; गर्भ की वृद्धि से अति व्याकुल, वह बच्ची अपने साथ खेलने वाली बालिकाओं से कहती फिरती थी, 'अभी हमे ऐसा

नहीं होना चाहिये था', 'अभी हमे ऐसा नहीं होना चाहिये था' ; सातवें मास असमय प्रसव-वेदना उठी; भयंकर यातना के साथ मृत बालक हुआ; उस को, वह बालिका, अपनी स्तनहीन दुग्धहीन छाती पर दोनो हाथों से चपका कर, परलोक को चली गई, परमेश्वर से पूछने को, 'आप ने ऐसा क्यों किया', 'आप ने ऐसा क्यों किया', 'मनुष्यों की ऐसी तामस बुद्धि क्यों बनाई' ।

अवश्य ही मनु के श्लोक का पाठ भ्रष्ट हो गया है; स्यात् कारण यह होगा कि विदेशियों के आक्रमणो से, अथवा स्वदेशी राजों के ही दुराचार, परस्पर कलह, युद्ध, लूट पाट से, और उन की और उन के सैनिकों की,

पुरीं अवस्कन्द, लुनीहि नन्दनं, मुषाण रत्नानि, हर-ामर-ाङ्गनाः (माघ),

'नगर पर धावा करो, उस मे घुस जाओ, बाग बागीचों को नोच खसोट डालो, सब रत्न और अच्छी चीजें लूट लो, और स्त्रियों को उठा लाओ'— इस पाशव रीति से भीत हो कर, 'शास्त्री' लोगों ने, कन्याओं की रक्षा के लिये ही, उन के व्याह की उमर कम कर दी, और पर्दे की प्रथा भी चला दी, कि विवाहित हो जाने से स्यात् कम हरी लूटी जांय; फिर, सामान्य जनता की साम्यबुद्धि ने पुरुषों की भी व्याह की उमर तदनुसार घटा ही दी, यद्यपि 'शास्त्रियों' को तीस और बारह, तथा चौबीस और आठ, की असमंजसता नहीं सूझी । बीच-बीच मे रुपये वाले बूढ़े, बालाओं से जो ब्याह कर लेते हैं, उन को अपवाद ही जानना चाहिये । अब जन-मत इस के बहुत विरुद्ध हो रहा है । यदि 'विवाह' का अर्थ 'वाग्दान', सगाई, समझा जाय, तो कम उमर मे सगाई कर देने मे दोष नहीं, बल्कि गुण है ; बाल्य और कैशोर अवस्था का, कुमार-कुमारी का, स्नेह अधिक सात्विक 'प्रीति'—मय पवित्र होता है । 'द्विरागमन', गौना, की चाल भी, इन्हीं हेतुओं से चल पड़ी; वही असली 'विवाह' है; उस से, 'प्रीति' के साथ 'रति' भी मिलती है ।

प्रबलतम प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण है; सब अन्य प्रमाण उस पर प्रतिष्ठित हैं; वही उन सब की नीवी, नीव, प्रतिष्ठा है । आयुर्वेदशास्त्र, प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है । ऐसे आयुर्वेद शास्त्र से विरुद्ध, मानव-धर्म-शास्त्र कभी नहीं हो सकता; अन्यथा, अ-शास्त्र हो जायगा । आयुर्वेद-सम्मत शुद्ध पाठ, मनुस्मृति के .उक्त श्लोक का, निश्चयेन यही हो सकता है,

त्रिंशद्वर्षो(उ)द्वहेत् कन्यां हृद्यां द्वि-दश-वार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टिवर्षां वा, धर्मे सीदति सत्वरः ।

'तीस वर्ष का पुरुष, हृदय-ग्राहिणी, हृदय को प्रिय, बीस वर्ष की स्त्री से; अथवा चौबीस वर्ष का पुरुष, 'अष्टि' अर्थात् सोलह वर्ष की स्त्री से, विवाह करै। इस विषय का पाश्चात्य विज्ञान भी, अब प्रायः इन्हीं अंकों को उचित मानने लगा है। इन अंकों के गुण स्पष्ट हैं; शरीर और बुद्धि दोनो पुष्ट परिपक्व हो जायंगे। मनु के कहे हुए, मध्यम श्रेणी के, अर्थात् अठारह वर्ष के, ब्रह्मचर्य का, और उपयुक्त विद्याग्रहण का, सम्पादन, कुमार कर लेगा; तथा कुमारी भी भविष्य मे अपने कर्त्तव्य के साधक और उचित, गृह-कर्म-सम्बन्धी ज्ञान, कला, विद्या, आदि का संचय कर लेगी; एक दूसरे को देख कर समान-शील-व्यसनता और परस्पर रुचि का भी दोनो यथासंभव निश्चय कर ले सकेंगे।*

---

* (निर्णयसागरीय) डल्हणकृतटीकोपेत सुश्रुत, शारीर-स्थान, अ० १० मे कहा है, "अथाऽस्मै पंचविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीं आवहेत् , पित्र्य-धर्म-अर्थ-काम-प्रजाः प्राप्स्यति, इति ।

ऊनषोडशवर्षायां अप्राप्तः पंचविंशतिं,
यदि आधत्ते पुमान् गर्भं, कुक्षिस्थः सः विपद्यते,
जातो वा न चिरं जीवेत् , जीवेद् वा दुर्बलेन्द्रियः ;
तस्माद् अत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत । (सुश्रुत)
बाला इति गीयते नारी यावद् वर्षाणि षोडश । (भावप्रकाश)
पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णं (पच ?)विंशेन संगता,
शुद्धे गर्भाशये, मार्गे, रक्ते, शुक्रे, अनिले, हृदि,
वीर्यवन्तं सुतं सूते ; ततो न्यूनाब्दयोः पुनः
रोगी अल्पायुर् अधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ।
(वाग्भट, शारीर० अ० १)

श्री यादव शर्मा आचार्य द्वारा संशोधित सम्पादित सुश्रुत के उक्त संस्करण (१९३८ ई०) के पृष्ठ ३९२ पर, ऊपर उद्धृत श्लोकों के नीचे टिप्पणी मे लिखा है—"षोडशवर्षा इति तालपत्रपुस्तके पठ्यते; द्वादशवर्षा इति इतरेषु हस्तलिखितपुस्तकेषु ।...... वृद्धवाग्भटे तु, 'पुमान् एकविंशतिवर्षः कन्यां द्वादशवर्षदेशीयां उद्वहेत ; तस्यां षोडशवर्षायां पंचविंश-

एक बात इस स्थान पर याद रखने की है, जिस की सूचना पूर्वोक्त इस कथन से हो चुकी है, कि ब्रह्मचर्य से शरीर मे प्राणसंचय और बलसंचय होता है। देखा जाता है कि जिस उमर मे प्राणी वीर्य-विसर्जन और संतानन आरम्भ करते हैं, उस की चौगुनी उन की आयु होती है।

तिवर्षः पुरुषः पुत्रार्थं यतेत; तदा हि तौ प्राप्तवीर्यौ वीर्यान्वितं अपत्यं जनयतः', इति पठ्यते"। अर्थात् 'तालपत्र की प्रति मे सोलह वर्ष की स्त्री, अन्य हस्तलिखित पुस्तकों मे बारह वर्ष की लिखा है। वृद्ध वाग्भट मे लिखा है कि २१ वर्ष का पुमान्, १२ वर्ष की स्त्री से विवाह तो चाहे कर ले, पर संगम, ४ वर्ष बाद, जब २५ और १६ वर्ष के हों, तब करें।

श्री राजेश्वरदत्त मिश्र शास्त्री आयुर्वेदाचार्य के रचे "स्वस्थ-वृत्त-समुच्चयः" (१९३० ई०) नामक ग्रन्थ के पृ० ८२ पर 'गर्भाधानकालः' शीर्षक के नीचे, यह श्लोक भी, अन्य श्लोकों के साथ, लिखा है,

पंचविंशे ततो वर्षे पुमान्, नारी तु षोडशे,
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्।

'षोडश' और 'द्वादश' के पाठभेद के ऊपर, बहुत वाद-विवाद किया जाता है; उस सब का परीक्षण करने के लिये, न यहां अवसर है, न कोई उपयोगी प्रयोजन ही। पाठक सज्जन स्वयं ही, पक्ष-प्रतिपक्ष के गुण-दोष को विचार कर के, निर्णय कर लें, कि कौन अधिक युक्तियुक्त है; मेरा तो विश्वास यही होता है कि धर्माभास के फेर मे पड़ कर, वा विदेशियों के आक्रमणो के कारण अस्थिर बुद्धि, विचलित-मति, किंकर्तव्य-विमूढ, हो कर, 'धर्माधिकारियों' ने 'षोडश' के स्थान पर 'द्वादश' लिखना-लिखाना आरंभ कर दिया। जो कुछ हो; युग का, जमाने का, प्रभाव आप निर्णय कर रहा है; लिखित-पठित कुलों मे, स्वयं द्विजम्मन्य, द्विज-ब्रुव, घरों मे, विविध कारणो से, विवाह का वयस् बढ़ता ही जा रहा है। यदि इस विषय के बहुविध अति विचित्र आचारों, रीतिरिवाजों का, जो भारत मे पूर्वकाल मे प्रचलित थे और अब हैं, वर्णन किया जाय, तो बड़ी पुस्तक हो जाय। एक श्लोक, जो वाल्मीकि जी ने एक स्थान पर सीता देवी से कहलाया है, इस प्रसंग मे लिखना उचित है;

मम भर्त्ता महातेजाः, वयसा पचविंशकः,
अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते।

कुत्ते बिल्ली दूसरे वर्ष बच्चे देने लगते हैं, सात आठ दस वर्ष मे मर जाते हैं; गाय बैल तीसरे चौथे वर्ष मे, और बारह चौदह सोलह तक जीते हैं; घोड़े पांचवें वर्ष और बीस वर्ष; सिंह व्याघ्र आदि दस बारह वर्ष और चालीस पचास वर्ष; हाथी 'साठा तब पाठा', और दो सौ ढाई सौ वर्ष तक जीता है। यह अनुगम प्रायः जरायुजों पर ही लागू है; अंडजों पर नहीं; यथा कछुए, और कई प्रकार के पक्षी, बहुत जल्दी बच्चा देना शुरू करते हैं, तौ भी बहुत वर्षों तक, मनुष्य से अधिक जीते हैं। मनुष्य की वेदोक्त आयु, साधारण रीति से, 'शतायुर्वै पुरुषः' है; पच्चीस वर्ष शुद्ध ब्रह्मचर्य निबहै तो यह प्रायः सधै। अक्सर लोग कहा करते हैं कि निबहना (निर्वहण) कठिन है ; तो फिर अधिक जीना कठिन है। परन्तु निभना ऐसा कठिन नहीं है; यदि सारे समाज मे सच्चा ज्ञान, सच्चे भाव, ब्रह्मचर्य के आदर की बुद्धि, कुमारों कुमारियों की आचारभ्रंश से रक्षा करने की बुद्धि, एक बेर चारों ओर फैल जाय, तो यह बात नितांत सहज हो जाय। पति पत्नी के वयस् मे चार पाँच से आठ नौ वर्ष तक का अन्तर तो होना ही चाहिये; पुरुष का वयस् अधिक; इस से बहुत ज्यादा अन्तर, शास्त्र और विज्ञान के विरुद्ध है, तथा आध्यात्मिक और सामाजिक दृष्टि से भी।

"भावप्रकाश" नामक वैद्यकग्रन्थ मे दो श्लोक कहे हैं,

> सद्योमांसं, नवं चान्न, बाला स्त्री, क्षीरभोजनं,
> घृतं, उष्णोदके स्नानं, सद्यः प्राणकराणि षट्;
> पूतिमांसं; स्त्रियो वृद्धाः, बालार्कः, तरुणं दधि,
> प्रभाते मैथुनं, निद्रा, सद्यः प्राणहराणि षट्।

(कुछ पाठ भेद भी किया जाता है); आशय यह है—ताजा मांस, नया अन्न, (वा धारोष्ण दूध), बाला स्त्री, दूध (-सहित, वा स्निग्ध, स्नेह-युक्त, घी-तेल-आदि 'चिकने' पदार्थ सहित, भोजन), घी, उष्ण जल से स्नान, ये छः तत्काल प्राण बढ़ाते हैं। पुराना सड़ा मांस, वृद्धा स्त्री; बाल (अर्थात् कुमार) आश्विन कार्त्तिक की घाम, अहोरात्र से कम का कच्चा दही, सबेरे का मैथुन भी और निद्रा भी, ये छः तत्काल प्राण घटाते हैं। "वृद्धस्य तरुणी विषं", "बालायाः जरठो विषं" "बाला तु प्राणदा प्रोक्ता, तरुणी प्राणहारिणी", "सद्यः प्राणहरा वृद्धा", आदि

अन्य वाक्य भी बहुत कहे सुने जाते हैं। स्वार्थी दुर्बुद्धि पुरुष इन का दुरुपयोग कर के वृद्धावस्था मे प्राणवान् बनने की तृष्णा से बाला स्त्री (सोलह वर्ष से कम) से विवाह करते हैं; जो चतुर विशेषज्ञ नहीं हैं, उन पर तो उलटा ही असर होता है, अधिक प्राणक्षय होता है, और जल्दी ही मर जाते हैं ; जो चतुर हैं, वे पौष्टिक रसोषधों का सेवन करते हैं, जिस से बाला स्त्रियाँ ही मर जाती हैं, और वे पुनः पुनः विवाह करते जाते हैं। काशी के ऐसे एक विशेषज्ञ वैद्य के बारे मे, जिन को परलोक गये बहुत वर्ष नहीं हुए, कहा जाता है कि प्रायः सत्तर वर्ष की उमर तक मे, छः वा सात विवाह ऐसी ही लड़कियों से, एक के मरने के बाद दूसरो से किया; स्वयं कोई उग्र पौष्टिक का सेवन करते थे, जिस से उन के शरीर मे इतनी और इस प्रकार की गर्मी उत्पन्न होती थी कि वे स्त्रियाँ उस के प्रभाव से ही जल्दी मर जाती थीं, इत्यादि।

यहाँ, यह भी स्मरण रखने की बात है कि, जैसे अ धक वयस् का पुरुष, बाला स्त्री के प्राण का शोषण करता है, वैसे ही अधिक वयस् की पत्नी, बाल-पति के प्राण का शोषण करती है। कुमार-कुमारी का सात्विक प्रेम, युवा युवती की रजो-मिश्रित सात्विक रति-प्रीति, वृद्ध और वृद्धा का पुनः सात्विक प्रेम, और दोनों का, संतान के लिए, सात्विक दयामय स्नेह, वात्सल्य—यह सब परस्पर प्राणपोषक और आयुर्वर्धक हैं।

सात्विक आचार यह है कि, प्रथम आश्रम मे ब्रह्मचर्य, द्वितीय मे नियमित मैथुन और एक पति-पत्नी-व्रत, तृतीय चतुर्थ मे पुनः ब्रह्मचर्य; इस सदाचार से मनुष्य, स्त्री भी पुरुष भी, दीर्घजीवी और स्वस्थ हो सकते हैं। याद रहे कि स्त्री-शरीर के लिए गर्भ-धारण का कार्य भारी परिश्रम और प्राण पर खींच का है; गर्भावस्था मे मैथुन प्रायः वर्जनीय ही कहा है। दुनिया जानती है कि गर्भधारण और प्रसूति से स्त्री का यौवन क्षीण होता है, तथा, "वयसि गते कः कामविकारः", ढली उमर मे काम-विकार, काम-चेष्टा, का अपहास ही होता है। साथ ही एक और वास्तव है, जिस का ज्ञान जनता मे कम है, कि वृद्धावस्था के मुख की शोभा, यौवन के मुख की शोभा से किसी तरह कम नहीं है, यदि उचित सदाचारी जीवन से उस का आवाहन, निमंत्रण, संचयन, किया जाय; हाँ, वह शोभा, सात्त्विक शांति की शोभा है; यौवन और बाल्य की

कान्ति, राजस चापल्य चांचल्य की है। सफ़ेद (श्वेत) बाल, प्रशांत मुख, उज्ज्वल दयामय स्नेहपूर्ण नेत्र, स्वच्छ देह आदि का, वार्धक्य मे अनुभव यदि इष्ट हो, तो गार्हस्थ्य और मैथुन को उचित समय से समाप्त कर देना चाहिये। स्त्री के लिये तो प्रकृति ने प्रत्यक्ष अवधि, गार्हस्थ्य (मैथुन) काल की, बाँध दी है, अर्थात् पचास वर्ष की उमर के आस पास मासिक रजो-दर्शन का वन्द हो जाना; समझदार सदाचार सुचरित्र पुरुष को भी तदनुसार 'गार्हस्थ्य' समाप्त कर देना चाहिये। सात्विक काम सब पुण्यों का मूल है, जैसे राजस तामस काम सब पापों का।

उत्तम-संतान—संतान, विवाह के सुख का बड़ा और आवश्यक साधन है, जो पति और पत्नी के प्रेम को परस्पर दृढ़ करता है।

अर्थागमो नित्यम्, अरोगिता च, प्रिया च भार्या, प्रियवादिनी च,
वश्यश्च पुत्रो,ऽर्थकरी च विद्या, षड् भागधेयस्य सुखानि, राजन्! (म.भा.वि)

रथाङ्गनाम्नोर् इव, भावबन्धनं, बभूव यत् प्रेम परस्परऽाश्रयम्,
विभक्तं अपि एकसुतेन, तत्, तयोः, परस्परस्य उपरि पर्यचीयत।
तं अङ्कं आरोप्य, शरीरयोगजैः सुखैर् निषिंचन्तं इव अमृतं त्वचि,
उपान्तसम्मीलितलोचनो नृपः चिरात् सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ। (रघु०)
अपि बालांगनासंगाद्, अपि, साधो! सुधारसात्,
राज्यादपि सुखायैव, पुत्रस्नेहो, महामते! (योगवासिष्ठ,प्र०१,अ०८)

'शरीर नीरोग हो, अन्न वस्त्र के लिए अर्थ (आय, आमदनी) की कमी न हो, भार्या प्रिया भी हो, और प्रीति करनेवाली मीठा बोलने वाली भी हो, (अर्थात् दो-तरफ़ा प्रीति हो, यह नहीं कि एक तो दूसरे पर लट्टू हो और दूसरा तो मुंह फेरे रहै), सन्तान अनुकूल मनोहर गुणवान् हो, तथा इहलोक परलोक की, और चारो पुरुषार्थों की, साधने वाली विद्या हो—ये छः बातें बड़े सौभाग्य से मिलती हैं। कुछ लोग इस धोखे में पड़े हैं कि सन्तान होने से पति पत्नी का परस्पर प्रेम कम हो जायगा; संतान के ऊपर चला जायगा; ऐसा नहीं है; प्रत्युत और दृढ़ हो जाता है; बच्चा एक छोटे हाथ से माता की अंगुली और दूसरे सें पिता की अंगुली पकड़ कर गंठजोड़ा ताजा कर देता है; उस का स्नेह रेशमी मखमली डोरी का काम करता है, दोनो को एक दूसरे से बांध देता है; रस्सी, दो

पदार्थ मे, आधी आधी वंटी हुई भी, दोनो को एक दूसरे से कस देती है ! यूरोप मे और उस से भी अधिक, यु० स्टे० अमेरिका मे, पति-पत्नी, पहिले तो बड़े लाव-चाव से ब्याह करते हैं, पर थोड़े ही दिनों मे एक दूसरे से अति तृप्त हो कर उद्विग्न होने लगते हैं, और विवाह विच्छेद करने वाली कचहरियों (डाईवोर्स कोर्ट्स, Divorce Courts) मे दौड़े जाते हैं; पर जिन के आगे बच्चे रहते हैं, वे प्रायः नहीं जाते; वा जाते हैं तो तभी जब परस्पर बहुत ही उद्विग्न हो जाते हैं, और बच्चों के लिये स्वतंत्र प्रबंध कर सकते हैं। 'दिलीप ने अपने बालक रघु को गोद मे लिया; उस के स्पर्श से मानो सारे शरीर मे अमृत भीन गया'। दशरथ से राम को, यज्ञ मे विघ्न करने वाले राक्षसों के निवारण के लिए, विश्वामित्र मांगने आये; दशरथ देना नहीं चाहते थे; कहा कि, 'नवविवाहिता अतिप्रिया अति सुन्दर अङ्गवाली अंगना के स्पर्श से भी अधिक सुख देने वाला, सुधा अमृत के स्वाद से भी अति मीठा, राज्य और ऐश्वर्य के सब भोग विलासों से भी अधिक प्यारा, अपत्य का स्नेहमय स्पर्श होता है; कुमार को कैसे जोखिम में डालें'। बहुत समझाने पर जाने दिया। प्राचीन आर्ष श्रुति स्मृति के और अर्वाचीन काव्यों के सात्त्विक भाव कुछ और देखिये; ये भाव विज्ञान-समर्थित भी हैं। माता-पिता अपने पुत्र को आशीर्वाद देते हैं,

> ॐ अङ्गाद् अङ्गाद् प्रभवसि, हृदयाद् अधि जायसे,
> आत्मा वै पुत्रनामाऽसि, वर्धस्व शरदां शतं, ॐ।

'हे पुत्र ! मेरे अङ्ग अङ्ग के सार से, विशेष कर हृदय से, तू उत्पन्न हुआ है; आत्मा ही पुत्र के नाम-रूप से जन्मा है; सौ वर्ष तक तू जीवे !'

> पतिर् भार्यां संप्रविश्य, गर्भो भूत्वा हि जायते;
> जायायास् तद् हि जायात्वं, यद् अस्यां जायते पुनः। (मनु)।
> शिशोर् आलिंगनं तस्माच् चंदनाद् अधिकं भवेत्;
> न वाससां, न रामाणां, न अपां, स्पर्शस् तथाविधः,
> शिशुनालिंग्यमानस्य स्पर्शः सूनोर्, यथा सुखः;
> ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठः, गौर् वरिष्ठा चतुष्पदां,
> गुरुर् गरीयसां श्रेष्ठः, पुत्रः स्पर्शवतां वरः;
> पुत्रस्पर्शात् प्रियतरः स्पर्शो लोके न विद्यते। (म०भा०शकुन्तलोपा०)

आलक्ष्य-दन्त-मुकुलान् अनिमित्तहासैर्,
अव्यक्त-वर्ण-रमणीय-वचः-प्रवृत्तीन्,
अंकऽाश्रय-प्रणयिनस् तनयान् वहन्तो,
धन्यास् तद्अंगरजसा मलिनी-भवन्ति । (कालिदास, शकुन्तला)
अंत:करणतत्त्वस्य दम्पत्योः, स्नेहसंश्रयात्,
आनंदग्रंथिर् एकोऽयं अपत्यं अभिधीयते ।
अंगाद् अंगाच् च्युतः इव निजो देहजः सत्त्वसारः,
प्रादुर्भूय स्थितः इव वहिश् चेतनाधातुर् एव,
सांद्रऽानंद-क्षुभित-हृदय-प्रस्रवेण इव सृष्टः
गात्रश्लेषे यद् अमृतरसस्रोतसा सिंचति इव । (भ०,उ०रा० चरित)

'पति ही भार्या मे प्रवेश कर के गर्भ बनता है, और पुनः पुत्र रूप से जायमान होता है; इसी से पत्नी जाया कहलाती है'। 'चन्दन के लेप से भी अधिक प्यारा, शिशु का आलिंगन होता है; कोमल वस्त्रों का, स्त्री के कोमल अंगों का, ग्रीष्म मे शीत जल का, स्पर्श वैसा सुखद नहीं। 'सद्ब्राह्मण जैसे द्विपाद मनुष्यों मे, चतुष्पादों मे गौ, आदरणीयों मे गुरु, जैसे श्रेष्ठ होते हैं, वैसे सुखद स्पर्श वालों मे पुत्र श्रेष्ठ है; पुत्र स्पर्श से प्रियतर स्पर्श कोई नहीं।' 'निष्कारण हँसी से दंतुली दिखलाते हुए, तोतली बोली बोलते हुए, गोद मे बैठने के प्रेमी बच्चों की धूलि से धूसर अंगों से जिन के शरीर और वस्त्र धूसर होते हैं, वे जन धन्य हैं'। 'दम्पति के अन्तःकरणों की आनन्द-ग्रन्थि ही का नाम पुत्र है; अंग-अंग से बाहर आया देह का सत्त्वसार, मानो चेतना-धातु ही बाहर आया; यही पुत्र है, जो घने आनन्द से क्षुब्ध माता पिता के हृदयों का रस बाहर निकल कर, अपने स्पर्श से पुनः अमृत द्रव के ऐसा आनन्द उन को लौटा देता है।'

इस प्रस्तुत विषय से अतिप्रसक्त दो अवान्तर विषयों का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। सन्तान-उत्कर्ष; और सन्तान-निरोध।

सन्तानोत्कर्ष—पश्चिम के वैज्ञानिक शास्त्रियों ने, इधर पचास-साठ वर्ष से क्रमिक सृष्टि-विकास-वाद ('इवोल्युशन' evolution) के विकास के साथ-साथ, इस विषय पर, कि अपत्य सुरूप, शक्तिशाली, वपुष्मान्, कैसे हों, और समाज मे सौन्दर्य कैसे फैले, बहुत विचार किया है,

और ग्रंथ लिखे हैं ; एक नया उपशास्त्र बन रहा है, जिस का नाम 'यूजे-निक्स eu-genics' (ग्रीक 'यु', संस्कृत 'उत्', उत्तम ; लैटिन 'जेनि-टम्', 'सं० 'जन्', प्रजनन) रक्खा गया है। पर इन विद्वान् शास्त्रियों का ध्यान प्रायः शरीर गुणो की ही ओर रहा है।

पशुओं मे, चुन चुन कर, उत्तम रूपवान् वृषभ और रूपवती तथा बहुदुग्धवती गाय के, उत्तम रूप बल वेग वाले अश्व-अश्विनी के, एवं श्वा-शुनी के, कुक्कुट-कुक्कुटी के, तथा अन्य पालतू पशुओं के, जोड़ों का संयोग करने से, संतति अधिकाधिक उत्कृष्ट होती है, यह उन्हों ने प्रत्यक्ष सिद्ध कर लिया है। ऐसी युक्तियों से, उन्हों ने, घोड़ों, कुत्तों, कुक्कुटों, भेड़-बकरियों को, विशेष-विशेष कार्य के लिये विशेष उपयुक्त, उपजातियां भी तैयार कर ली हैं; यथा घुड़दौड़ी घोड़े, शिकारी घोड़े, छकड़े खींचने वाले घोड़े, गाड़ी खींचने वाले घोड़े, आदि, (जिनका उपयोग अब मोटरों के कारण कम होता जाता है), उमदा ऊन की भेड़ तथा शिकारी कुत्ते, चौकी-दारी कुत्ते, चूहा पकड़ने वाले कुत्ते, बर्फ़ान मे यात्रियों को बचाने वाले कुत्ते, खिलौने कुत्ते, आदि। ऐसे ही, फूलों, फलों, गेहूँ, चावल आदि धान्यों, मे, चुने हुए पुमान्-केशर से पराग ले कर, चुनी हुई स्त्री-केसर के भीतर डालने से, बहुत उत्कर्ष किया गया है, रंग, गंध, स्वाद, परि-माण बढ़ाया गया है; तथा नयी नयी क़िस्में, उपजातियां, तैयार की गयी हैं। यह सब प्रत्यक्ष सिद्ध होते देख कर, इन वैज्ञानिकों की धारणा यह होती रही है, कि सुन्दर बलवान् स्त्री-शरीर और पुरुष-शरीर एकत्र करने से संतति सुन्दर होनी चाहिये। 'नय' (सिद्धांत, शास्त्र, 'उसूल', नीति, 'थियरी') तो यह ठीक है; पर इस के 'चार' (प्रयोग, व्यवहार; 'अमल', रीति, 'प्रैक्टिस') मे कठिनाई है। पहली बात यह है कि, मानव योनि मे पहुँच कर, जीव मे अन्तःकरण, मनो-बुद्धि-अहंकारऽत्मक चित्त, अहंता-ममता, स्व-च्छन्दता, अपनी-अपनी अलग राह चलने और मनमाना करने की इच्छा, एक ओर, और, दूसरी ओर, लोक-संग्रह-युक्त 'समाज' (समं अजन्ति जनाः यस्मिन्) मे दूसरों के साथ रहने और चलने की इच्छा, विशेष रूप से विकसित होती है; इस से एक ओर 'कामः स्वभाव-वामः' देख पड़ता है; दूसरी ओर 'धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ !', मनमाना वाम-स्वभाव वाला होते हुए भी काम, धर्म और अर्थ के साथ बंध गया है; सभ्य कहलाने वाले सब देशों मे,

इस समय, विवाह के सम्बन्ध मे, कानून-कायदे, मर्यादा, धर्म, बंध रहे हैं। तथा, जिस को एक स्त्री या पुरुष सुन्दर कमनीय जानै मानै, उस को दूसरे कभी कभी ऐसा नहीं समझते। फ़ारसी मे कहावत है, "लैला रा ब चश्मि मजनूं वायद दीद", लैला पर मजनू आशिक, आसक्त, था; लैला उस से विवाह करना नहीं चाहती थी, मजनू शोक से मरणासन्न हुआ; देश के बादशाह ने दोनों को बुलवाया; देखा लैला मे कोई विशेष रूप नहीं; मजनू से पूछा, क्यों ऐसा मरा जाता है; तो उसने कहा, 'लैला को मजनू की आंख से देखना चाहिये'। गाय बैल का तो, अपने वैज्ञानिक प्रतिमानो के अनुसार 'विवाह' करने मे प्रभुत्व, पश्चिम देश के शास्त्रियों को है, पर मनुष्यों का नहीं। पूर्व देश मे, यदि वृद्धों को ऐसा प्रभुत्व है, तो प्रायः उसी अवस्था मे जब वधू-वर वयःप्राप्त नहीं है; ऐसी अवस्था मे उन का स्वरूप व्यक्त ही नहीं है, इस लिए शास्त्रानुसार परीक्षा की शर्तें पूरी नहीं हो सकतीं, तथा, यदि वयः-प्राप्त, परिपक्व-बुद्धि, हो जायें तो वह प्रभुत्व नहीं हो सकता। इस कारण से, तथा मर्यादा के कारण से, मानवों में वैज्ञानिक परीक्षा के लिये यथेष्ट संयोग-वियोग नहीं कराया जा सकता। दूसरी बात देखने की यह है कि, मानव प्रकृति को ध्यान मे रख कर, न केवल शरीर के सौन्दर्य की चिन्ता करना चाहिये, किंतु चित्त के सौन्दर्य की भी। वैवाहिक सुख और संतानोत्कर्ष, दोनो; के लिये आवश्यक है कि, 'समान-शील-व्यसनेषु सख्यम्', 'विशिष्टायाः विशिष्टेन संगमो गुणवान् भवेत्', इन न्यायों के अनुसार, वृद्धों के परामर्श, और युवा-युवती की अन्योन्य के प्रति अनुकूलता, दोनो, को मिला कर, सब प्रकार का 'वर्ण', (जिस से व्यक्ति के स्वभाव और तदुचित जीविका का 'वर्णन' व्यञ्जन, होता हो), जिन का 'समान' हो, शरीर भी और मानस भी जिन का सुन्दर हो और मिलता हो, उन का परस्पर विवाह किया जाय। शील, व्यसन, जीविका, आदि के सच्चे 'वर्ण' और 'गुण' के निर्णय मे, अध्यात्म-शास्त्र से प्रभासित ज्योतिष-शास्त्र से सहायता मिल सकती है। ऐसा होने से विवाह सुखमय होंगे, और सन्तानोत्कर्ष भी होगा। इस विषय पर मै ने, "मानव-धर्म-सार" नामक संस्कृत ग्रन्थ मे विस्तार करने का यत्न किया है।

ऐसा हो सकना और होना, देश मे, समाज मे, अनुकूल हवा बांधने, शिक्षा फैलाने, सद्भाव जगाने, की बात है। ऊपर (पृ० २८८-२८९)

उद्धृत मनु महाभारत आदि के श्लोकों मे जैसी सूचना की है, यदि राजा उत्तम हो, प्रजाभक्त प्रजाहितचिन्तक हो, स्वयं सदाचारी हो और सत् शिक्षा का प्रचार करावै, और प्रजा उस से सर्वथा प्रसन्न हो और राजभक्त राजानुयायिनी हो, अर्थात् दोनों परस्पर अनुव्रत हों, तो यह बात सहज में हो जाय; क्योंकि राजा प्रजा-भक्त और प्रजा राज-भक्त होने से दोनो अवश्य धर्म-भक्त होंगे। तथा दोनों यदि धर्मभक्त हैं तभी दोनों परस्पर-भक्त भी होंगे। आज काल के भारतवर्ष के सामाजिक-जीवन मे देख पड़ता है कि पाश्चात्य सभ्यता के दोषों की नकल अधिकाधिक होती जाती है और गुणो की कम। विषय-लोलुपता, विलास-प्रियता, आर्थिक लोभ-द्रोह-स्पर्द्धा-अभिमान, धनार्जन के अधार्मिक प्रकार, जूआ-चोरी के रोजगार, 'फाड़का', कम्पनी आदि के नाम से धोखा देने वाले मिथ्या विज्ञापन, अफीम-शराब का अधिकाधिक प्रचार, तथा सिनेमा थियेटर, कहानी, कविता, चित्र आदि मे अश्लील कामोद्दीपक दृश्य और लेख, जिन मे अष्टांग वा दशांग मैथुन के केवल अंतिम दो-तीन अंग भी बचाये जाते हों या न हों; युवकों से रुपया ठगने वाली, उन को कुराह मे लगानेवाली, रोग बढ़ानेवाली, वल्कि हत्या करने वाली, 'कोक-शास्त्र' की पुस्तकों और 'पौष्टिक' औषधियों के इश्तिहार—इन ही की चारों ओर भरमार देख पड़ती है। ऐसी दशा मे, इन वर्धमान अज्ञान-जन्य दुर्भाव दुर्बुद्धि रूप रोगों का उपाय यही है, कि सद्ज्ञान का उपदेश करने वाले सद्ग्रन्थों का, और उन में 'धर्म से अनपेत', धर्मयुक्त, अर्थपरिष्कृत, ललित कलाओं से परिमार्जित, काम के सद्-ग्रन्थों का, अधिकाधिक प्रचार किया जाय।

सन्तान-निरोध—जहां एक ओर यूरोप और अमेरिका के शास्त्री, सन्तान उत्कर्ष के उपायों की खोज पचास-साठ वर्ष से कर रहे हैं, वहां पचीस-तीस वर्ष से संतान-निरोध के उपायों की खोज भी प्रकट रूप से कर रहे हैं। इस खोज के प्रेरक, कई कारण, ऐतिहासिक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, हो रहे हैं। मनुष्य संख्या बहुत बढ़ गई है; भोजन आच्छादन की पर्याप्ति नहीं है; इतने प्राणियों के योग्य पेट भर अन्न और पीठ भर कपड़ा उपजाने लायक़ उर्वरा भूमि की मात्रा पर्याप्त न होने से, अथवा शासकों और पूंजीपतियों के दुष्प्रबन्ध से, या दोनों से, जीवन-संग्राम, परस्पर आर्थिक द्रोह, बहुत बढ़ गया है; यहां तक कि प्रथम विश्व युद्ध मे,

तथा घोरतर द्वितीय विश्व-युद्ध मे, यह आर्थिक लोभ और तज्जनित स्पर्धा और द्रोह, प्रधान कारण हुए। सभ्यता, यन्त्र-प्रधान हो गई है; आये दिन एक नया यंत्र ऐसा निकलता है, जिस के सहारे एक होशियार आदमी दस, वीस, पचास, सौ तक मजदूरों का काम अकेला कर लेता है; और वे मजदूर वेकार हो जाते हैं; इस से वेरोजगारी वहुत वढ़ती जाती है। एक ओर, धनिकों मे स्वार्थांधता और भोगलोलुपता भी वहुत वढ़ गई है, जिस से अपने ही तन पर, सुख भोग पर, इन्द्रिय-तर्पण पर, सब धन व्यय कर लेना चाहते हैं, और अपत्यों तक को इस मे विघ्नकारक मानते हैं; जैसा कालिदास ने, सूर्यवंशी हो कर भी दुश्चरित्र राजा अग्निवर्ण के विषय मे लिखा है,

> इन्द्रियार्थपरिशून्यं अक्षमः सोढुम् एकं अपि स क्षणांतरम्,
> अंतर् एव विहरन् दिवानिशं, न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः।
>
> (रघु० अ० १९)

'इन्द्रियों के विषयों के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता था, हर वक्त मुख मे 'सिगार', या बीड़ी या पान, या तम्बाकू, या इलायची या सुपारी, या शराव, या 'कॉकटेल,' या मिठाई, या 'चॉकोलेट', कुछ न कुछ पड़ा ही रहना चाहिये, या गाना, या बाजा, या 'रेडियो' सुनते ही रहना चाहिये; दिन रात हज़्रत अग्निवर्ण महलों के अन्दर ही पड़े रहते थे; रय्यत को कौन पूछता है'। दूसरी ओर, अल्पवित्त या मध्यवित्त वालों मे यह समझ भी वढ़ रही है, कि अपत्य तभी और उतने ही होने चाहियें, जब और जितने अच्छी तरह से पाले, पोसे, पढ़ाये, लिखाये जा सकें। उन्मत्त, 'अचेतसः' अर्थात् बौरहे, बावले, 'वैवेय' ('इम्वेसील', 'इडियट', 'मोरन', Imbecile, idiot, moron) आत्म-घाती, तथा पाप-रोगी गर्मी, सुज़ाक, कुष्ठ आदि संक्रामक (इन्फ़ेक्शस', infectious.) और सान्तानिक (आनुवंशिक, हेरेडिटरी, hereditary) रोग वाले मनुष्यों की प्रतिशत संख्या भी प्रतिवर्ष यूरोप अमेरिका मे वढ़ती जाती है। इन सब कारणों से, पहिले छिपे-छिपे, अब इधर अधिकाधिक अ-गुप्त, खुली प्रवृत्ति हुई है, कि ऐसे उपाय उपज्ञात किये जायं, जिन से वर्तमान स्त्री-पुरुषों के रति-सुख मे बाधा भी न हो, और उक्त आपत्तियां भी बढ़ने न पावें। पहिले कह चुके हैं कि पश्चिम मे विवाह की 'धार्मिक' संस्कारता,

(सैक्रेमेन्टल क्वालिटी, sacramental quality) उपयोगिता, औचिती, पर से नागर-वर्ग की आस्था हटती जाती है, और स्वच्छंद, अनियंत्रित, अनियमित, काम-प्रेम (फ्री लव् , free love) की ओर बढ़ती जाती है; यह आस्था-परिवर्तन और संतान-निरोधोपाय, अन्य कारणो की भी उपस्थिति से, और भी लाज़िम-मलज़ूम, परस्परानुग्रही, हो रहे हैं।

निरोध के उपाय आयुर्वेद मे भी कुछ कहे गये हैं। अब पश्चिम मे नये, कई प्रकार के, ईजाद किये गये हैं। यहाँ पर पहिले यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि सन्तान-निरोध के दो पहलू, प्रकार, सूरतें, हैं, (१) गर्भ का आधान ही न हो; (२) यदि हो गया, तो ठहरने और जीने न पावै। पहिले प्रकार के उपायों का चार राशियों मे विभाजन हो सकता है। (१) भक्ष्य-पेय औषध; (२) लेप्य औषध; (३) जननेन्द्रियों का शस्त्र-कर्म से चिकित्सन; (४) जननेन्द्रियों पर लपेट देने के वाह्य उपकरण। एक पांचवाँ प्रकार भी इनके साथ गिना जा सकता है, अर्थात् , संगम होने पर, पीर्यपात से पहिले ही पुरुषेन्द्रिय को वाहर हटा लेना: पर यह क्रिया ऐसी अनिश्चेय है, काबू में अक्सर नहीं ही रह सकती, और इसकी सफलता ऐसी सन्दिग्ध है, कि इस उपाय को अनुपाय ही समझना चाहिये। दूसरा प्रकार गर्भ का स्राव करा देने का है।

पूर्वोक्त प्रथम प्रकार के प्रथम तीन उपाय, सैकड़ों, हजारों, वर्ष से, पूर्व देशों मे भी, पश्चिम मे भी, लोग, छिपा कर, काम मे लाते रहे हैं; पर ये सब बहुत भयावह, बहुदोषयुक्त, रोगकारक, बहुधा प्राणघातक, हैं; और दूसरा प्रकार, जानवूझ कर गर्भस्राव करना-कराना, धर्म-विरुद्ध, क़ानून के खिलाफ़, अदालत में दण्डनीय, भी है। गर्भस्राव के विषय मे, पश्चिम मे, जनमत अब बहुत बदल गया है; अतः कानून भी अमल मे ढीले होते, या रूपतः बदलते, जाते हैं; नये रूस मे तो खुला नियम हो गया है, कि जाने हुए डाक्टरों की सलाह से, विशेष कारणं होने पर, गर्भस्राव करा देना जायज़ है; बिना विशेष कारण, और बिना ख्यात डाक्टरों की मंजूरी के, दंडनीय है। अन्य देशों मे भी धीरे-धीरे इस का अनुकरण, प्रकट वा अप्रकट रूप से, होता जाता है। ऐसा होते हुए भी, एक प्रामाणिक लेखक ने पुस्तक मे लिखा है कि, केवल युनाइटेड स्टेट्स आफ़ अमेरिका मे, प्रतिवर्ष दस लाख से अधिक गर्भ-स्राव किये जाते हैं।

प्रथम प्रकार का चतुर्थ उपाय, रबर के बने हुए बाह्य उपकरणों का, जिन से पुरुष की जननेन्द्रिय और स्त्री के गर्भाशय (कमल) का मुख वेष्टित हो जाय, कम दोषयुक्त समझा जा रहा है। इस की चर्चा 'कांट्रासेप्टिव्ज़' (Contraceptives) के नाम से, अखबारों मे बहुधा होती रहती है, तथा दूकानदारों के इश्तिहार भी समाचार-पत्रों में अब अक्सर देख पड़ते हैं। इस विषय पर से समाज ने प्रायः लज्जा का आवरण हटा लिया है, और क़ानून मे भी इस की दंडनीयता नहीं कही जाती। खुली तरह से बिकती हुई अंग्रेजी पुस्तकों मे, अन्य उपायों के साथ इस की तुलना समीक्षा कर के, इस की प्रशंसा की जा रही है। यूरोप में तो बहुत प्रचार इस का है ही; यहाँ तक कि कई देशों मे, शासक वर्ग की ओर से, प्रकाश रूप से, अस्पतालों मे प्रबन्ध कर दिया गया है, कि डाक्टर और डाक्टरनी, इन उपकरणों के उपयोग करने के विषय मे आवश्यक शिक्षा, विवाहित स्त्री-पुरुषों को दें। भारतवर्ष में भी, अप्रकाश रूप से, इस उपाय का प्रयोग बहुत होने लगा है, और अब यहाँ की गवर्मेंट मे भी, ब्रिटेन की सरकार का अनुकरण करने का विचार हो रहा है। ऐसी अवस्था मे, कामशास्त्र के ग्रन्थ मे इस के गुण-दोष पर विचार करना न्याय-प्राप्त है।

विचार का निष्कर्ष यह समझ पड़ता है कि, यदि विवाह की परिधि के भीतर, पति-पत्नी ही, मर्यादित नियमित रूप से, इस चतुर्थ उपाय का प्रयोग करें, तो धर्म से विरुद्ध न होगा, दोष कम और गुण अधिक देख पड़ेंगे। सर्वथा गुणमय तो कोई प्रकार हो सकता ही नहीं।

सर्वेऽारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽऽवृताः। (गीता)
नात्यंतं गुणवत् किंचित्, नात्यंतं दोषवत् तथा। (म० भा०)

देश-काल-अवस्था को देख कर, जिस आरम्भ मे दोष कम, गुण अधिक, देख पड़ें, वही करना चाहिए; क्योंकि बिना कर्मारम्भ के भी संसार-यात्रा असम्भव है,

न कर्मणां अनारम्भात् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। (गीता)

निरपत्यता में भी दोष है, बह्वपत्यता मे भी बहुत दोष है। ऊपर कही आपत्तियां, वर्तमान मानव जगत् मे प्रत्यक्ष हैं; अधिकांश मनुष्य उन से पीड़ित हैं। काष्ठवत् ब्रह्मचर्य भी, इने गिनों को छोड़ कर, मानव

शरीर के लिये असम्भव है। ऐसी दशा मे, इस युग मे, 'रबर' का उपाय, आध्यात्मिक वैज्ञानिक मर्यादाओं का पालन करते हुए. विवाहित पति-पत्नी के बीच, कथंचित् उपादेय है। दोष इस के, पाश्चात्य ग्रन्थों से विदित होते हैं, यथा—निरोध निश्चित नहीं; मैथुन के प्राकृतिक सम्पूर्णता मे विघ्न हो जाने से स्त्री-पुरुष को शरीर और मानस तृप्त नहीं होती, असन्तोष रह जाता है; पौराणिक कथा मे, भव-पार्वती के 'विघ्नितेच्छ', असम्पूर्ण 'रत', के पश्चात् , पार्वती के कोप, और केवल भव-वीर्य से कार्त्तिकेय के जन्म का आख्यान, इस का निदर्शन है। गर्भाधान का और संक्रामक रोगों का भय कम हो जाने से, अविवाहित युवा-युवतियों मे, विशेष कर उन स्थानो मे जहां लड़की-लड़के साथ ही स्कूल कालेज मे पढ़ते हैं, मैथुन बहुत होने लगा है; तथा विवाहितों मे व्यभिचार। अक्सर, समाचार पत्रों मे, विवाह-प्रथा के विश्वासी पक्ष की ओर से शिकायत छपती है, कि वैवाहिक स्त्री-पुरुष का धर्म-भाव और परस्पर प्रतिपालन का भाव लुप्त हुआ जाता है, और स्त्रियों के पहिरावे मे भी लज्जा नहीं रह गयी हैं; दूसरी तरफ, स्वाच्छंद्य-विश्वासी पक्ष की ओर से यह कहा जाता है, कि वैवाहिक आमरण बलात्कृत गंठबन्धन से सच्चे प्रेम का वध हो जाता है, पति-पत्नी एक-दूसरे से विवाह के थोड़े ही दिन पीछे उद्विग्न हो जाते हैं, और अमेरिका के बड़े नगरों मे तो यहां तक दशा पहुँची है कि, यदि वर्ष मे सौ वैवाहिक गंठजोड़ा होता है तो पचास अन्योऽन्य त्याग, गंठ-तोड़ा, 'डैवोर्स' (divorce), विवाह-विच्छेद होता है। यह सब उथल-पुथल अधिकतर पश्चिम के बड़े नगरों मे ही देख पड़ती है, जहां जीवन के प्रकार नितान्त कृत्रिम हो रहे हैं; देहात मे ऐसा नहीं है; वहां विवाह और परस्पर निर्वाह की श्रद्धा अभी भी पूर्ववत् कुछ बनी है; यद्यपि नगर और ग्राम के परस्पर वर्धमान सम्पर्क के कारण अब ग्रामो की हवा भी बदलती जाती है।

पश्चिम के नगरों के सामाजिक कामिक जीवन की भयङ्कर तस्वीर, इस विषय की पुस्तकों से, तथा अखबारों मे जो खबरें निकलती रहती हैं उन से, आंखों के सामने आती है। इस प्रकार का जीवन सुखावह नहीं है, आपात-रमणीय है, थोड़ी सी दूर-दृष्टि से महा दुःखावह जान पड़ता है। मानव जीवन के जो विशेष विकास और परिष्कार हैं, वे, बिना

मर्यादित 'अहंता' ('इंडिविजुऐलिटी' Individuality) के, अर्थात् अंतः-करणरूप अहंकार-बुद्धि-मनस् के, उपोद्बलन संवर्धन विकासन के; विना नियंत्रित परिग्रहात्मक, स्वत्वात्मक, अर्थ-सम्पत्ति, 'ममता' ('प्रापर्टी' Property) के; विना नियमित एक-स्त्री एक-पुरुष के विवाह ('मोनोगेमस मैरेज' mono-gamous-marriage) के; विना इन के, वे परिष्कार ऊंची कोटि को नहीं पहुंच सकते। मैथुन-स्वाच्छंद्य-वाद का और परिग्रह-विषयक साम्यवाद का, प्रायः साथ देख पड़ता है। पर यही पशुओं मे देख पड़ता है। इस ओर जाना, मनुष्यों के लिये मानो प्रतिसंचर करना है, ऊंचे से नीचे गिरना है। हां, अतिपरिग्रह, बहु-विवाह, अत्यहंकार आदि के अति वैषम्य मे भी वैसे ही अति भयंकर दोष हैं, जैसे अति साम्य मे। इस लिये बीच का रास्ता पकड़ना चाहिये। जांच कर, समान-शील-व्यसनो का विवाह हो, उस के बाद श्रद्धा से एक-दूसरे का आमरण निर्वाह करें, नाता तोड़ने की, तलाक की, नौबत न आवै, तथा अति परिग्रह का भी लोभ न हो, तभी विवाह मे और गार्हस्थ्य मे सुख मिल सकता है।

कुछ लोग, आत्यन्तिक अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह पर जोर देते हैं; उन की भ्रान्ति इतने से ही प्रत्यक्ष सिद्ध है कि यदि वे स्वयं, आत्यंतिक अहिंसा वा अपरिग्रह का आचरण करें, तो उन का शरीर एक क्षण भी जी न सकै। अध्यात्मशास्त्र से सर्वथा सिद्ध है, कि जीवन के पूर्वार्ध के दो आश्रमो मे, 'बुभुक्षा' की, एषणात्रय की, 'स्वार्थ'-त्रिक की, त्रिमूर्ति का नियन्त्रित उपासन, परमात्मा की प्रकृति की, ब्रह्म के स्वभाव की, अतः जीवात्मा के स्वभाव की, 'ह्यूमन नेचर, ह्यूमन साइकालोजी, human nature, human psychology,' की, अनुल्लङ्घनीय आज्ञा है; तथा, उत्तरार्ध के दो आश्रमो मे, 'युयुक्षा' 'मुमुक्षा' के 'परार्थ' का वर्धमान उपासन। यदि ऐसा न हो तो सृष्टि चल ही नहीं सकती; अथ किं, हो ही न सकती। परमात्मा ने स्वयं मूलप्रकृति-दैवीप्रकृति-रूपिणी देवी 'अविद्या' (मूर्खता, बेवकूफी !) से विवाह किया; "अनित्य-अशुचि-दुःख-अनात्मसु नित्य-शुचि-सुख-आत्म-ख्यातिः अविद्या" (योगसूत्र), अपने नित्य-शुचि-सुखमय आत्मता को जान बूझ कर भुला दिया, और अनित्य-अशुचि-दुःखमय अनात्मा, शरीर रूपी जीवात्मा, बन गया; खुदा ने खुदी बीबी को अपने सर पर चढ़ा लिया। जब सृष्टि के आरम्भ की यह

दशा है, तो हाड़ मांस के मनुष्य के लिये, अपने शरीर को पालते हुए भी, आत्यंतिक अहिंसा अपरिग्रह आदि की पुकार करना, अपने को और दूसरों को धोखा देना है। हां विशेष देश-काल-अवस्था मे, विशेष कारणो से, हिंसा-असत्य-स्तेय-(चौर्य)-व्यभिचार-परिग्रहलोभ की आत्यंतिक वृद्धि को रोकने के लिए, इन के प्रतियोगी प्रतिद्वंद्वी विरोधी, अहिंसा आदि भावों की आत्यंतिक पुकार, उतने काल तक जब तक अवस्था न सुधरै, उचित और न्याय्य, नीतियुक्त, कर्तव्य हो सकती है।

पाश्चात्य देशों मे, विवाह के बरस दो वरस, या अक्सर महीने दो महीने, ही बाद, वधू-वर एक-दूसरे से ऊब (उद्विग्न हो) जाते हैं, और तलाक की कचहरी मे दौड़े जाते हैं। उस मे विशेष हेतु यह है कि 'हनी मून' honey-moon, ('मधु-चंद्र' विवाह के बाद का एक पखवारा, जैसे भारत मे 'सौभाग्य रजनी', 'सोहाग रात') की प्रथा के अनुसार, स्त्री-पुरुष दस पन्द्रह दिन, एक दूसरे के साथ निरन्तर रहते हैं, सन्तान निरोधक उपायों का प्रयोग करते हैं, एक दूसरे के शरीर के अनवरत संभोग से सब इन्द्रियों को अति-तृप्त, और वीर्यादि रसों के अति-व्यय से नितान्त म्लान-ग्लान, कर डालते हैं। सुस्वादु, सुमधुर, भोज्य पदार्थों के भी अति-भोजन से वमन होने लगता है।

यदि विवाहित वधू को गर्भ रह जाय, तो उस की भी और वर की भी मनोवृत्ति तत्काल बदल जाती है, गर्भ रक्षा की चिन्ता होने लगती है, चित्त, स्वार्थी से परार्थी हो जाता है। सब संसार ही दूसरा और नया हो जाता है; परस्पर स्नेह, दया, रक्षाभाव बढ़ता है। इस लिए, परिमित संख्या मे, अपत्य नितान्त आवश्यक है। बिना विवाह के गर्भाधान होने पर, प्रायः यही देखा जाता है, इस देश मे भी और अन्य देशों मे भी, कि पुरुष, हृदय-हीन शठता और क्रूरता से, स्त्री का परित्याग कर देता है, और स्त्री को, या तो मरण मे शरण लेना पड़ता है, या वेश्या आदि वृत्ति मे।

इस सम्बन्ध मे, इस प्रश्न का आध्यात्मिक उत्तर विचारणीय है कि, वर्तमान युग मे, प्रकृति देवता ने, रजो-वीर्य-विसृष्टि-रूप, अपत्य-सृष्टि-रूप, 'आनंद-सार' को उन्हीं इन्द्रियों से क्यों बांध दिया है जिन से मूत्र-पुरीष के उत्सृष्टि के 'घृणा-सार' को भी बांधा है। पुराण और वेदान्त का निर्णय है कि 'मोक्षस्तु मानवे देहे', मनुष्य देह मे ही पहुंच कर जीव

को मोक्ष हो सकता है; क्योंकि इसी योनि मे उस को यह बुद्धि होती है कि, 'मै बँधा हूँ, कैसे छूटूँ'। अन्य शरीरों मे इस प्रकार का विवेक और वैराग्य नहीं होता। पशु योनियों मे तमो-बाहुल्य से विवेकिनी बुद्धि नहीं; देव-योनियों मे सूक्ष्म दिव्य इन्द्रियों का सुख इतना तीव्र है कि उस को छोड़ने की इच्छा का, उस से 'मुमुक्षा' का, संभव ही नहीं। इस विवेक वैराग्य का सम्भव तभी होता है जब तीव्रतर द्वन्द्व का, सुख-दुःख का, आनन्द-घृणा का, साथ ही अनुभव हो; इस के साधन के लिये, प्रकृति देवी ने, मनुज देह मे निज-(आत्म)-बोधोपयोगिनी प्रत्यक्चेतना के, प्रत्यग्दृष्टि के, समर्थ, बुद्धि भी रक्खी है, और मूत्रेन्द्रिय को आनन्देन्द्रिय भी बनाया है; कि जीव, अति-आनन्द से पलटा खा कर, तृतीय चतुर्थ आश्रम मे, अति-घृणा, संसार से अति-वैराग्य, की पराकाष्ठा को पहुंच जाय। योग भाष्य मे वैराग्य की दो काष्ठा कही हैं, आरम्भ में 'अपर' और अंत मे 'पर'; 'पर वैराग्य' और 'परम-प्रज्ञान' 'मोक्ष', एक ही पदार्थ के दो पक्ष वा नाम हैं। (योगसूत्रभाष्य, १, १६)।

इस सम्बन्ध मे, भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोक की याद करा देना उचित है,

> स्तनौ मांसग्रन्थी कनकघटवत् श्लिष्यति मुहुः,
> मुखं लाला-क्लिन्नं पिबति चषकं सऽासवं इव,
> अमेध्यक्लेदऽार्द्रे पथि च रमते स्पर्शरसिकः,
> अहो मोहान्धानां किं इव रमणीयं न भवति।

मांस की लोथ जो स्तन है, उस को सोने के घटों के ऐसा समझता है और गले लगाता है; थूक से, लार से, भरे मुख को, आसव, शर्बत और शराब, से भरे प्याले के ऐसा चूसता है; मूत्रादि अशुचि वस्तुओं से सने मार्ग के स्पर्श से आनन्द मानता है; मोहान्ध पुरुष को क्या नहीं रमणीय है!

यह हुई स्त्री शरीर की निन्दा और घृणा, पुरुष दृष्टि से; इस की पूर्ति के लिये, स्त्री-दृष्टि से पुरुष देह की भी वैसी ही निंद्यता और घृण्यता है, जिस को कहना भर्तृहरि भूल गये,

> मांसास्थिपंजरं इयं मनुतेऽतिकान्तं,
> आनन्दधाम गणयति अपि मूत्रकाङ्गं,

बीभत्समांसपरिघर्षणं अपि उपास्ते,
लालां सुधां इव च, संमदमोहमत्ता ।

हाड़ मांस के ठट्ठर को परम सुन्दर कमनीय कान्त वस्तु समझती है, मूत्र के स्रोत को आनन्द का स्रोत मानती है; मांस के टुकड़ों के परिघर्षण की उपासना करती है; मोह की मारी स्त्री वेचारी, लार और थूक को अमृत मानती है ।

संसार की द्वन्द्वता, अमृत-विष-ता, अन्न-पुरीष-ता; उपादेय-हेय-ता, प्रतिपद प्रत्यक्ष है। चित्त जब एक ओर अधिक झुकता है, इन्द्रियों के विषयों मे सुख मानता है; तब प्रवृत्ति, स-रागता, होती है । जब दूसरी ओर झुकता है, और उन विषयों में दुःख मानने लगता है, तब वि-रागता और निवृत्ति ।

उक्त प्रश्न के इस उत्तर से समझ मे आवेगा; कि क्यों काम का परि-पाक, परिणाम, यदि अपत्य-वात्सल्य-रूप नहीं हुआ तो, परस्पर घृणा-रूप हो जायगा । यह माया की द्वन्द्व-निर्माण-शक्ति का, जगत् के द्वन्द्वात्मक स्वभाव का, फल है । पुण्य-पाप मिले हुए हैं । जीव, या एक ओर या दूसरी ओर, चलता ही रहता है । यदि फल बहुत कच्चा हरा तोड़ कर रख दिया जाय, तो खट्टा कसैला कड़ुवा हो कर, कठवायगा और सड़ जायगा; यदि सूर्य की कल्याणमय किरणो से यथासमय पक जाने पावेगा, तो खाने पर सुस्वाद और तुष्टि-पुष्टि-कारक होगा । ऐसे ही दैह्य रति, कामिक शारीर क्षोभ, 'कार्नल पैशन', carnal passion, यदि मातृत्व पितृत्व के वात्सल्य मे, 'स्पिरिचुअल् ऐफ़ेक्शन', spiritual affection, मे, परिणत न होने पाया, बलात् रोका गया; तो विष हो जायगा, विषय-तृष्णा-पूर्ण ब्रह्म-राक्षस ब्रह्म-पिशाच, अर्थात् ज्ञान-पूर्वक बुद्धि-पूर्वक पापा-चारी, हो जायगा; चारो ओर जार-वेश्या, अप्सरा-गन्धर्व, यक्ष-यक्षिणी, राक्षस-राक्षसी, पिशाच-पिशाची के भाव को फैला कर समाज को दारुण उन्माद मे डालेगा और नष्ट-भ्रष्ट करेगा ।

यूरोप के महायुद्ध मे, भीतर-भीतर, यह एक प्रधान कारण हुआ है । जो ही अग्नि, नियम के, शास्त्र-सायंस के, अनुसार, प्रयोग करने से खाना पकाती है, जाड़ा (जाड्य, जड़ता) दूर करती है, एञ्जिन मे रह कर लाखों यात्रियों और लाखों मन माल असबाब को दूर-दूर के देशों मे

पहुंचाती है, वही अग्नि, दुष्टता या मूर्खता से, प्रयोग करने से, नगर के नगर जला डालती है, लाखों मनुष्यों के प्राण ले लेती है, करोड़ों की जायदाद भस्म कर देती है । कामाग्नि का यही हाल है ।

मनु ने कहा है,

> यस्मिन् ऋणं संनयति, येन चऽानन्त्यम् अश्नुते,
> स एव धर्मजः पुत्रः; कामजान् इतरान् विदुः ।

'ज्येष्ठ पुत्र, जो माता-पिता को देव-ऋषि-पितृ-ऋण से छुड़ाता है, जिस के द्वारा माता पिता अमरता पा सकते हैं, वही धर्म-ज पुत्र है; पीछे के पुत्र कामज हैं ।' इस श्लोक से, आदि प्रजापति, नितान्त प्रजावत्सल, "वात्सल्ये मनुवन्नृणां" (भाग०), अपने वंश की वृद्धि चाहते हुए भी, वहु-प्रजत्व का दोष देखते हुए, सूचना मात्र कर देते हैं, कि अपत्य होना भी आवश्यक है, पर बहुत अपत्य होना अच्छा नहीं, "विस्तरं तु न कारयेत्" । इस कल्याण-कारक धार्मिक उपदेश को मन मे रख, विवाहित दम्पती को चाहिये कि संतान अवश्य उत्पन्न करें, पर पांच सात वर्ष मे एक । बीच मे यदि शुद्ध ब्रह्मचर्य नहीं बन सके तो, अगत्या, गर्भाधान-निरोध के अल्पतम दोष वाले चतुर्थ उपाय को काम मे लाना अनुचित नहीं कहा जा सकता । यों, एवं, उन के शरीर और चित्त के स्वस्थ रहने की आशा है, और अपत्य-पालन भी यथावत् हो सकेगा, अपत्य-स्नेह से परस्पर स्नेह भी बढ़ेगा, अपत्य के हित-चिन्तन मे दिन बीतेंगे, कामाग्नि कम सतावेगी, उस का परिणमन, स्नेह और प्रीति मे निरन्तर होता रहेगा ।

सौशील्य— सब से उत्तम और सब से आवश्यक साधन, दाम्पत्य-सुख का सौशील्य है । शील के तीन अंग इस सम्बन्ध मे कहे जा सकते हैं ।

(१) पहिला अङ्ग यह कि, पति-पत्नी अपने-अपने अलग-अलग 'स्वार्थ' सुख का ध्यान कम करें, और 'एक दूसरे के अर्थ' का, सुख का, ध्यान अधिक करें । यह तो महाभारत (शांतिपर्व) मे कहे, शील के मौलिक मार्मिक लक्षण का ही अनुवाद मात्र है—'जो अपने लिये न चाहो, सो दूसरे के लिये भी मत चाहो; जो अपने लिये चाहो, वह दूसरे के लिये भी चाहो; जिस कर्म से दूसरों का हित बिगड़ता हो वह मत करो; जिस कर्म

को करते स्वयं अपने मन मे लज्जा, त्रपा, शर्म आती हो वह मत करो; जिस कर्म के करने से भले आदमी, सभा मे एकत्र हो कर, प्रशंसा करें, वह करो। थोड़े मे शील का तत्त्व यही है'।

संक्षेपतस्तु शीलस्य तत्त्वं शृणु, नरेश्वर !;
यद् अन्येषां हितं न स्याद्, आत्मनः कर्म, पूरुषः,
अपत्रपेत वा येन, न तत्कुर्यात् कथंचन;
तत् तु कर्म तथा कुर्याद् येन श्लाघ्येत संसदि।

(म० भा० शांति० अ० १२४)

(२) दूसरा अङ्ग, दाम्पत्य शीली का, पहिले अंग का प्रसारण ही है। वह यह है कि, एक दूसरे से सर्वथा निर्लज्ज न हो जांय; एक दूसरे की ओर, विनय, आदर, कुछ लज्जा, का भाव सदा बनाये रहैं; प्रीति अधिक और रति कम करैं। स्वयं वात्स्यायन ने भी, कामसूत्र मे, यह सलाह दी है।

परस्पर-ऽनुकूल्येन तद् एवं लज्जमानयोः,
संवत्सरशतेन-ऽपि, प्रीतिः न परिहीयते।

भर्तृहरि ने भी कहा है,

एतत् कामफलं लोके यद् द्वयोः एकचित्तता;
अन्यचित्तकृते कामे, शवयोः इव सङ्गमः।

'सदा एक दूसरे के अनुकूल होते हुए भी, जो पति-पत्नी एक दूसरे से कुछ लजाते भी रहते हैं, उन की परस्पर प्रीति सौ वर्ष मे भी कम नहीं होती। दोनो का चित्त एक होना चाहिये; यही इस संसार मे काम का उत्तम फल है। बिना चित्त एक हुए, कामना दूसरे की, शरीर दूसरे का, ऐसे शरीरों का मिश्रण तो मुर्दों का मिश्रण है।'

प्रीति की नवता, ताजगी, तभी बनी रहेगी, जब 'रति' की 'अति' न की जायगी। अन्यथा, नी-रस, बासी, फीकी, अथच कु-रस शीघ्र ही हो जायगी।

युवा पाठक सज्जन ! वृद्धावस्था मे, अगली पुश्त के लिए, वात्सल्य-मोह अधिक हो जाता है; 'वृद्धस्तावच् चिंतामग्नः'; यह चिंता वृद्धों को सदा सताती रहती है कि बच्चे अच्छे रहैं, इन को क्लेश न हो। इस वात्सल्य-मोह से प्रेरित हो कर, तुम लोगों की भलाई की उत्कट कामना

से, फिर-फिर यह कहता हूँ, कि पश्चिम देशों की इस वर्धमान भयानक भूल मे मत पड़ना, यह मत समझना कि स्त्री-पुरुष के शरीरों का संयोग केवल, क्षणिक इन्द्रिय-सुख की बात है, जैसे स्वच्छंद रुचि के अनुसार खट्टा-मीठा खा लेना, गंध सूंघ लेना, रंग देख लेना। यह मत समझना, कि इस संयोग से, धर्म का, मर्यादा का, क़ानून-क़ायदे का, कुछ संबंध न होना चाहिये। ऐसा समझना भारी भूल है। साधारण इन्द्रिय-सुख भी, खाना पीना भी, बड़े व्यापक धर्म का, प्राकृतिक भी मानुषिक भी क़ायदे-क़ानून का, विषय है; यहां तक कि 'आहार-शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः ··· ध्रुवा स्मृतिः ·· मोक्षः' (छांदो० उप०); योगाभ्यास और मोक्ष की सीढ़ी का पहिला भी और अंतिम भी डंडा, जिह्वा-शिश्न का जय, उदर-उपस्थ का मर्यादित निग्रह, ही है; आहार मे भूल करने से प्राण का नाश तक हो सकता है, और बहुधा हो जाता ही है। सात्त्विक आहार से सात्विक-बुद्धि; उस से मोक्ष-सिद्धि। वैसे ही, या उस से बहुत अधिक, स्त्री-पुरुष के संयोग के विषय मे भूल होने से तो, महा-समाज के महा-प्राण का सामूहिक नाश हो सकता और होता है। लंका के, और राक्षस और वानर वंशों के, महासंहार का निदर्शन देखा ही है। स्त्री-पुरुष संयोग भी क़ायदे-क़ानून का नितरां विषय है; स्वाच्छंद्य का नहीं। इस क्रिया को 'क्षणिक' मत समझो; इस 'क्षण' मे अनंत भूतकाल, अनंत भविष्यकाल, भरा हुआ है; अनंत ब्रह्मशक्ति का कार्य, और अनंत संतान-परम्परा का कारण, स्त्री-पुरुष का वीर्य है। ऐसा वीर्य जिस 'क्षणिक' क्रिया से सम्बद्ध हो, वह, साधारण चीखने, सूंघने, थूकने, छींकने, खांसने की-सी क्रिया नहीं है, जीव का समग्र अंतःकरण इस से सम्बद्ध है। पश्चिम के देशों मे, बुद्धिमान् विद्वान् भी माने हुए मनुष्य, पर इस विषय में दुर्विद्वान्, दुर्बुद्धिमान् , अदूरदर्शी, अनध्यात्मवित् लोग, कहने लगे हैं, कि काम-सुख मे परस्पर ईर्ष्या-द्वेष न करना चाहिए। ये लोग मानव प्रकृति के अध्यात्म-तत्व की ओर आँख बंद किये हैं, और, "न हि अनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलम् उपाश्नुते" (मनु), समाज को गढे मे गिरा रहे हैं। यदि नया जगत् और अपूर्व स्वभाव के जीव, ये लोग बना सकेंगे, तब उन का विचार स्यात् ठीक हो सकेगा; अन्यथा, मानव-स्वभाव से, जगत् की द्वन्द्वात्मक प्रकृति से, निसर्ग से, यह सिद्ध है कि, बिना मर्यादा बांधे, बिना धर्म की व्यवस्था किये, बिना स्वाच्छंद्य की परिधि और सीमा घेरे,

दूषित काम से क्रोध, ईर्ष्या-द्वेष, आदि अवश्य उत्पन्न हो कर, समाज मे घोर उपद्रव खड़ा करेंगे; और अर्धसभ्य, असभ्य, जातियों की, और फिर पशुओं की अवस्था की, ओर, वापस ले जायेंगे।*

---

* पच्छिम मे हवा बदल रही है, इस का उदाहरण देखिये। मई, १९४४, के 'रीडर्सडाइजेस्ट' (The Reader's Digest, New York, U.S.A.) मे, ग्लाडिस डेनी शुल्ट्ज (Gladys Denny Schultz) नाम की महिला का एक लेख छपा है। उस का शीर्षक यह है—'क्या तुम्हारी बेटी समझती है कि किसी पुरुष पर उस को प्रेमासक्ति हो गई है?' (Does your daughter think she is in love?) इस मे उस ने माताओं को सलाह दी है, कि अपने पुत्र वा पुत्री को किस प्रकार का परामर्श, कामीय वासना के विषय मे, देना चाहिये। संक्षेप से, उस का आशय यह है—"जवान लड़के, इस दारुण विश्व-युद्ध के समय मे, फौज मे भर्ती हो कर, देश के बाहर जा रहे हैं; फिर लौटेंगे, या नहीं? कौन जानता है? किन्ही स्त्रियों से उन को, उन से किन्ही स्त्रियों को, स्नेह प्रीति है; विदा होने के पहिले, एक बार, मन भर के मिल भेंट लें; बस, 'पेटिङ्' petting, स्पर्शन, आश्लेषण, चुम्बन से बढ़ते-बढ़ते, मैथुन की अंतिम क्रिया भी निष्पन्न हो जाती है, लजाते खिसियाते एक दूसरे से विदा होते हैं। यदि कन्या को गर्भ रह गया, तो उस के लिए तरह-तरह की महा मुसीबत; प्रायः गर्भस्राव कराना पड़ता है; पुरुष तो अक्सर भूल ही जाते हैं। [जैसे क्षुद्र-प्रकृतिक कामुक दुष्यन्त, अपनी क्षणिक वासना को तृप्त कर के, सीधी सादी शकुन्तला को भूल गया]। इन हेतुओं से, लड़कियों को 'पेटिङ्' से, पुरुषों के 'लाड़ प्यार' से, बहुत डरते बचते रहना चाहिये। सच्चा प्रेम, युवा और कुमारी को, जिन का शील व्यसन मिलता हो, परस्पर, अवश्य करना चाहिये; पर सच्चे प्रेम मे तो रतिवासना कम, प्रीतिवासना ही अधिक रहती है; एक दूसरे के लिये आदर की भावना, एक दूसरे की शुद्धता, पुण्यता, 'वर्चू', virtue, को अखण्डित बनाये रहने की इच्छा अधिक रहती है। जो कुमारी अपने शरीर को, सहज मे, पुरुष के वश हो जाने देती है, उस कुमारी का तिरस्कार, वह पुरुष ही, करने लगता है, और, अवसर रहते भी, उस से विवाह नहीं करता; समझता है कि

(३) सौशील्य का तीसरा अंग, दूसरे अंग का सम्पूरण और साधन है। परस्पर शरीर के भोग मे अति न होने पावै, सब रति-शक्ति थोड़े ही दिनो मे, दिवालिये के धन के ऐसी, खर्च न हो जाय, एक दूसरे का रस समाप्त न हो जाय, परस्पर नवीनता सदा बनी रहै—यही तीसरा अंग है।

तदेव रूपं रमणीयतायाः, क्षणे क्षणे यत् नवतां विधत्ते। (माघ)
जगति मिथुने चक्रौ एव स्मरऽागमपारगौ,
नवम् इव मिथः सम्भुञ्जाते वियुज्य वियुज्य यौ;
सततम् अमृताद् एवऽाहाराद् यद् आपद् अरोचकम्,
तद् अमृतभुजां भर्त्ता शम्भुर विषं बुभुजे विभुः। (नैषध)

'चकवा-चकई ही काम-शास्त्र, स्मरऽागम, के पार पहुँचे हैं, उस के मर्म को जानते हैं; कि प्रति दिन, संध्या मे बिछुड़-बिछुड़ कर, सवेरे, एक दूसरे के लिये, पुनः नये हो जाते हैं। नित्य-नित्य अमृत पीते-पीते

'यह तो बहुत सस्ती है'। जहां परस्पर आदर नहीं, वहां परस्पर प्रीति स्थायी नहीं, परस्पर विश्वास नहीं, कुलीनता की मान-मर्यादा का गौरव नहीं।"

इतना और कहा जा सकता है कि कौमार्य, 'वर्जिनिटी', virginity, का हरण करने वाला पहिला प्रसंग, स्त्री पर भी, पुरुष पर भी, सदा के लिये, अच्छा या बुरा असर, प्रभाव, संस्कार वा विकार, डाल देता है, चाहे वह बुरा दाग़ हो, चाहे सुन्दर रंग हो; एक प्रकार का 'इन्फ़ेक्शन', infection, चाहे बीमारी का, चाहे तन्दुरुस्ती का। यदि वैवाहिक प्रीति पूर्वक कौमार-हरण है, तब तो सुसंस्कार है, समस्त जीवन पर उत्तम रंग चढ़ैगा, आरोग्य स्वास्थ्य का ही परस्पर संक्रमण होगा। अन्यथा, शरीर मे भी कोई विकार, और चित्त पर भी दाग़, स्मृति मे कांटा, लग जायगा। "यन् नवे भाजने लग्नः, संस्कारो न अन्यथा भवेत।" पर हां, भूल चूक के बाद भी, दूसरे स्त्री पुरुष से भी प्रीति हो, विवाह हो, परस्पर विश्वास हो, और पुरानी भूल का प्रख्यापन और पश्चात्ताप हो, तो नया गाढ़ा प्रेम, पुराने विकार को भी दवा मिटा सकता है।

ऊब कर, शिव जी ने हालाहल, मनफेर के लिये, पी लिया। रमणीयता का मर्म यही है कि प्रति क्षण नई जान पड़े, नित्य नई दिखाय।'

परस्पर शील बनाये रहने के लिये आवश्यक है, कि यह भाव दूर कर दिया जाय कि पुरुष स्वामी और स्त्री दासी; पुरुष मालिक और स्त्री मिल्कीयत जायदाद; पुरुष भोक्ता और स्त्री भोग्य-परिग्रह; पुरुष इष्टदेव, स्त्री भक्त उपासिका; नर उच्च, नारी नीच। दुर्भाग्यवश, इधर सैकड़ों, स्यात् सहस्रों, वर्ष से, भारतवर्ष मे, तथा अन्य देशों मे भी, यह भाव फैला हुआ था और है। अब यह पाश्चात्य देशों मे इस तेजी से बदल रहा है, कि दूसरी आत्यन्तिक कोटि तक उस के बहक जाने का भय उत्पन्न हो रहा है। स्यात् इसका ही रूपक, तन्त्र के ग्रन्थों मे, यह किया है, कि शिव तो शव के ऐसे पृथ्वी पर पड़े हैं, और नग्नप्राय, खड्ग-धारिणी, मुण्डहस्ता काली, उन के ऊपर पैर रख कर खड़ी हैं। यह दोनों आत्यन्तिक भाव, आर्ष काल मे नहीं थे, अथवा यों कहना चाहिये कि, उपलभ्य आर्ष ग्रन्थों के सात्त्विक अंशों मे नहीं देख पड़ते हैं। सत्य और आर्य भाव, जो, अनुमानतः, आर्ष काल मे था, उस को फिर से हृदय मे धारणा करना और फैलाना चाहिये; अर्थात्, यदि पति स्वामी तो पत्नी स्वामिनी, पति देव तो पत्नी देवी, नर आर्य तो नारी आर्या। देवों और महापुरुषों के नामोच्चारण मे, अधिक आदरार्थ, देवी का नाम पहिले और देव का पीछे अब भी लिया जाता है, यथा लक्ष्मी-नारायण, उमा-महेश्वर, सीता-राम। उस भाव का उत्तम सूचक रूपक तो, शिव-पार्वती की अर्ध-नारीश्वरता है। भागवत मे कहा है, कि स्त्री और पुरुष परस्पर, तुल्य रूप से, भोग्य, और बंधन मे डालनेवाली माया के रूप, हैं। महाभारत मे, पुरुषसार, अत्युदार, प्रवीर, आजीवन अच्युत ब्रह्मचारी, भीष्म पितामह ने कहा है कि, व्यभिचार जब होता है तब "नर एवाऽपराध्यति"; पुरुष का ही दोष अधिक होता है। इन बातों को ध्यान मे रख कर, जहाँ जहाँ, अच्छे ग्रन्थों मे भी, ऐकपाक्षिक नारी की निन्दा या भोग्यता के सूचक शब्द हों, वहाँ पाठ को शोध देना चाहिये। यथा, उदाहरणार्थ, भर्तृहरि के श्लोक,

शम्भु-स्वयम्भु-हरयो (हरिणेक्षणानां) ऽपि च, तस्त्रियश्च,
येनाऽक्रियन्त सततं (गृहकर्मदासाः) गृहदासदास्यः,
वाचाम् अगोचरचरित्रपवित्रिताय,

तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय।
द्रष्टव्येपु किम् उत्तमं, (मृगदृशां) जगति, हे!, प्रेमप्रसन्नं मुखं;
घ्रातव्येपु अपि किं, तद्ऽास्यपवनः; श्रव्येषु किं, तद्वचः;
किं स्वाद्येषु, तद्ओष्ठपल्लवरसः; स्पृश्येपु किं, तत्तनुः;
ध्येयं किं, नवयौवनं, सहृदयैः, (च सततं) सर्वत्र तद्विभ्रमः।
दम्पत्योः परस्परमिति।

विरक्ति और निवृत्ति की अवस्था मे, दोनो प्रकार के शरीरों की समान बीभत्सता भी पीछे कही जा चुकी है।

वैवाहिक सुखसाधन के प्रकरण के अंत मे, पुनरपि यह कहना चाहिये कि, संसार के और मनुष्य के द्वंद्वात्मक स्वभाव से उत्पन्न, यदि दैववशात् कभी पति-पत्नी के बीच मे सौमनस्य के ठिकाने वैमनस्य, किसी हेतु से, आ ही जाय, तो अपने अपने चित्त के क्षोभ के शमन के लिए, परस्पर पाणिग्रहण के समय का, पवित्र वैदिक मंत्रों से की हुई (पृ० २९४-२९६) प्रतिज्ञा को याद करना चाहिये, और यह ध्यान मे लाना चाहिए कि केवल अपनी ही रुचि ने नहीं, किंतु माता-पिता ने, साक्षी देवताओं ने, भी, यह सम्बन्ध जोड़ा है, और दोनों को एक दूसरे के साथ बाँधा है; और उन का अनादर होगा, उन के वात्सल्य को पीड़ा होगी, यदि यह वैमनस्य और अमर्ष बढ़ा, और परस्पर सम्मर्श, सहिष्णुता, निर्वाह, सौमनस्य, सौशील्य, न स्थिर किया गया।*

---

* परन्तु, मुण्डे मुण्डे मतिर् भिन्ना", "भिन्नरुचिर् हि लोकः"। कुछ तबियतदार लोगों का कहना है कि 'वह स्त्री पुरुष कैसे, जिन को कभी क्रोध नहीं आया, जो कभी आपस मे लड़े नहीं? वह तो मिट्टी के पुतले हैं! दूध पीते बच्चे भी छैला जाते हैं, खुशामद चाहते हैं, और उनको मनाना ही पड़ता है! जिस ने सारी उमर ऊख का पतला रस ही चूसा, कभी खट्टा तीता नमकीन कड़ुआ कसैला चक्खा ही नहीं, उस को जीभ का स्वाद और जिन्दगी का रस क्या मालूम? और क्रोध आवै और दबाता ही रहै तो बीमार ही हो जाय! इसलिए, जान-दार, जीवन वाले मिया-बीबी कभी-कभी आपस मे लड़ भी लेते हैं, एक दूसरे पर क्रोध निकाल देते हैं, और फिर खूब मेल कर लेते हैं!' जरूर, यह भी एक पक्ष है! समन्वय यों होता है, कि जिन पति-पत्नी की प्रकृति में, रजस्-

देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते, न (केवलं) इच्छयाऽऽत्मनः;
तां साध्वीं बिभृयाद् नित्यं, देवानां प्रियम्आचरन् (मनु० ९,९४)

आर्य जीवन मे, आर्य सभ्यता शिष्टता मे, 'काम' नामक पुरुषार्थ का, 'अर्थ' और 'धर्म' नामक पुरुषार्थों से अभेद्य सम्वन्ध है; अतः,- 'सौशील्य' के साथ, विधवा-विवाह और विधुर-(विभार्यक)-विवाह पर भी विचार होना उचित है। आज काल, जिस 'व्यक्ति-वाद', 'वैयक्तिकता', 'व्यक्ति-स्वाधीनता', प्रातिस्विकता, प्रात्येकिकता, ('इंडिविजुअलिज़्म', 'इंडिविज्युएलिटी', 'फ्रीडम आफ दि इडिविजुअल', individualism, individuality, freedom of the individual) की लहर वह रही है, उस पर आरूढ़ व्यक्तियों की दृष्टि से, प्रत्येक स्त्री पुरुष के स्वच्छंद आहार विहार के हक़ मे, अधिकार मे, कोई वाधा होना उचित नहीं है। इस दृष्टि से, ऐसे विवाहों का कोई नियमन नियंत्रण नहीं होना चाहिये; वल्कि 'फ्री-लव', 'free-love', स्वच्छंद-'मुक्त'-अनवरुद्ध-'काम' का (यथा 'वाम-मार्गियों' मे) पोषण होना चाहिये। परन्तु, प्रतिपक्ष यह कहता है, कि कोई भी व्यक्ति सर्वथा 'स्व-तंत्र' नहीं है; केवल अपने वल से ही नहीं जीता; समाज के बल से भी जीता है; इस से, समाज का, देव-ऋषि-पितृ-ऋण-रूप त्रिविध ऋण से, ऋणी है; इस लिये, यह प्रश्न केवल वैयक्तिक दृष्टि से ही नहीं देखा जा सकता; सामाजिक सामूहिक दृष्टि से भी देखना आवश्यक है। स्त्री-पुरुष सम्वन्ध और तज्जनित संतान, यह समाज का वीज है, मूल है; जड़ है। अतः, दोनों पक्षों पर विचार करने से यह निष्कर्ष होता है, कि विधवा और विधुर का विवाह न होना, वा कम होना, अच्छा है; विशेष कर ऐसे स्त्री वा पुरुष का, जिस को पहले विवाह से संतान मौजूद है। इस से, मनुष्य-संख्या की अतिवृद्धि रुकैगी; और विधवा और विभार्यक को, परार्थी सामाजिक कार्यों मे शक्ति लगाने का सुअवसर मिलैगा; ऐसों को समझना चाहिये, कि भाग्य ने वानप्रस्थता हम को दे दी, चाहे प्राकृतिक समय से पहिले

तमस् की मात्रा किंचित् वहुत नहीं, अधिक हो, उनके लिए यह प्रकार भी ठीक है। सात्त्विक प्रकृति के लिए मूल में कहा प्रकार उचित है। देखिए 'रीडर्स डाइजेस्ट, मई, १९४४, Have a good marital quarrel'. "फाणितेषु मरिच-अवचूर्णना" !

ही। सब को सब सुख ही सुख मिलै—यह न कभी हुआ और न होगा; एक सुख के साथ, एक दुःख, वैयक्तिक भी और सामाजिक भी, लगा ही है। कुछ लोगों को, परार्थ के लिये, त्याग करना ही पड़ेगा, और पड़ता ही है। सांसारिक विषय, किसी न किसी दिन, अवश्य ही हम को छोड़ देंगे, और तब उस को हम दुःख मानेंगे; तो यदि, हम ही, अपनी आज्ञा से, उन को हटा दें, छोड़ दें, तो बहुत शोभा है, बहुत शान्ति का आनन्द मिलेगा।

> अवश्यं यातारः, चिरतरं उषित्वाऽपि, विषयाः;
> वियोगे को भेदः, त्यजति न मनो, यत् स्वयं अमून् ?
> व्रजन्तः स्वातंत्र्याद् , अतुलपरितापाय मनसः;
> स्वयं त्यक्ताः हि एते, शमसुखं अनन्तं विदधति। (भर्तृ०)

'मनुष्य कितने भी वर्ष जीयें, एक न एक दिन सब विषय उस को छोड़ कर चले ही जायंगे। तब फिर, हे मन !, तू स्वयं ही इन को, उचित समय पर, क्यों नहीं छोड़ देता ? वियोग तो होना ही है; क्या दो प्रकार के वियोगों मे कुछ भेद है ? हां, बड़ा भेद है; यदि तेरी इच्छा के विरुद्ध, तुझे छोड़ कर वे चले गये, तो तू रोता ही रहेगा, अनन्त परिताप भोगेगा; यदि तू स्वयं, अपनी इच्छा से, उन को दूर कर दे, तब तू सदा ही हँसता ही रहैगा, और अनन्त शान्तिसुख पावैगा।'

अपनी ही बुद्धि से, स्व-वशता से, अपनी स्वार्थ-सुखेच्छाओं का दमन करना, और यह समझ समझ लेना कि भाग्य ने, पूर्व कर्म ने, परमेश्वर ने, आपत् के रूप मे सपत् दिया है, अनुग्रह किया है, परार्थ मे लग कर पाप-क्षय और पुण्य-संचय का अवसर दिया है—यह उन व्यक्तियों के लिये भी, और उनके समाज के लिये भी, अच्छा है; पृ० ८१–८५ पर परीक्षित और नारद की कथा देखिये। समाज उनका आदर करेगा और समाज का भला करैंगे; इस परस्पर चित्त-सम्बन्ध का आनन्द कम नहीं है।

परन्तु, यदि इतना क़ाबू (वशिता) अपनी तबीयत पर नहीं ही हो, यदि इतना सत्त्व अपनी प्रकृति मे न हो, रजस्-तमस् कुछ अधिक हो, तो प्रायः समवयस्क विभार्यक और विधवा का परस्पर पुनर्विवाह होना कथंचिद् अनुमंतव्य है। उन की निन्दा न की जाय, पर उतना

आदर भी नहीं जितना सर्वजनीन समाज-सेवी विधवा और विधुर 'वनस्थों' का।

(ङ) गर्भस्थान—कामशास्त्र के ज्ञानांग मे गर्भाशय का, गर्भाधान से प्रसव तक की गर्भ और गर्भिणी की परिवर्तमान दशाओं का; गर्भरक्षण के उपायों का; प्रसवोपयोगी सामग्री का; तथा सूतिकागृहचर्या का; स्थूल रूप से, सर्वसाधारणोपयोगी, वर्णन रहना चाहिये। पुराणो मे रूपक कहा है, और हिन्दूजनता मे विश्वास फैला हुआ है, कि गर्भ मे, जीव, पिछले जन्मों मे अनुभव की हुई, अपनी चौरासी लाख योनियों की याद करता है, जिन को पार कर के मनुष्य-योनि में आया है; और परमात्मा से अपराध-क्षमापन और प्रार्थना करता है, कि 'अब फिर पाप न करूँगा, इस आवागमन से, इस गर्भरूप कारागृह से, हथकड़ी-वेड़ी बंधन से, नरक से, छुड़ाइये; मुक्ति दीजिये'। पाश्चात्य विज्ञान ने अद्भुत परिश्रम से यह सिद्ध किया है, कि सचमुच मानवभ्रूण चतुर्विध भूतग्राम के, (जिन मे सब, लाखों की संख्या मे, अवान्तर योनियाँ अन्तर्गत, विभक्त, राशीकृत, हैं), मुख्य मुख्य लाक्षणिक ('टिपिकल') रूपों की, नौ-दस महीने मे उद्धरणी कर जाता है। पहिले (पृ० १५५) लिख चुके हैं कि, जन्म के पीछे भी, दो तीन वर्ष मे यह उद्धरणी करता है। उस से भी, अधिक सूक्ष्म और सविशेष रीति से, गर्भाशय के भीतर उद्धरणी करता है। कुछ सप्ताहों तक बुद्बुद कलल के रूप मे, जैसे उद्भिज्ज भ्रूण (embryo) का, फिर मछली के भ्रूण का, फिर सरी-सृप के, फिर पशु के, फिर वानर के, फिर स्वलक्षण नर के भ्रूण का, आकार धारण करता है। यह एक निदर्शन मात्र है, कि कैसे वेदों पुराणों के वैज्ञानिक और ऐतिहासिक, आधिदैविक और आधिभौतिक, अंशों की व्याख्या, विना पाश्चात्य विज्ञान की सहायता के, अब ठीक ठीक हो नहीं सकती। इस देश से वह आवश्यक ज्ञान लुप्त हो गया है। एवं पाश्चात्य ज्ञान को भी वद्धमूल और (मनुष्य-घातक, मनुष्य-अपकारक, नहीं) मनुष्य उपकारक, मनुष्य-पालक, होने के लिये, अभी भी यत्किंचित् उपलभ्यमान, भारतवर्ष के प्राचीन अध्यात्मज्ञान, की, नितान्त आवश्यकता है। स्यात् इसी इच्छा से, परमात्मा, जगदन्तरात्मा, ने, दोनो का, भारत-भूमि मे, सम्मेलन किया है। पर मानवप्रकृति के दोष से, यदि एक ओर कुछ लाभ इस मिश्रण से हुआ है, तो दूसरी ओर बहुत हानि भी

होती देख पड़ती है; दोनो जातियां, एक दूसरे के दोषों का अधिक, गुणो का कम, ग्रहण करती हैं। परन्तु,

"यत्ने कृते, यदि न सिध्यति, कोऽत्र दोषो"
यत्नेऽभवद्, भृशम् इदं तु विचारणीयम्;
निश्चित्य तच् च्, यतितव्यम् अहो पुनश्च,
यावद् भवेन् न खलु तोषकरी इष्टसिद्धिः।

ऐसी कहावत है कि, 'यदि किसी ने यत्न किया, पर फल सिद्धि नहीं हुई, तो (उस का) क्या दोष ?'; पर नहीं; कहावत का अर्थ यों लगाना चाहिये कि, 'क्या दोष, यत्न मे, हुआ, जिस के कारण सिद्धि नहीं हुई'—इस को विचार कर के, और निश्चय कर के, उस दोष को दूर कर के, पुनः यत्न करना चाहिये, जब तक इष्ट की सिद्धि न हो।

इस सम्बन्ध मे विविध जन्तुओं के भ्रूणो के परिवर्त्तन की कथा, कथासरित्सागर और अलिफलैला से बहुत अधिक मनोहर हैं। कई कीट पतंग ऐसे हैं जो परभृत (कोकिल) से परभृतता मे कहीं अधिक बढ़े हुए हैं। एक प्रकार की बिलनी को एक षष्ठ कर्मेन्द्रिय होती है, नालीदार पोली सुई के रूप मे, ('ओवी-पॉजिटर', ovi-positer), जिस से वह दूसरे, अपने से बड़े, कीट के चर्ममांस मे छेद कर के, उसी नाली द्वारा, अपना अंडा रख देती है, और अंडा फूटने पर, भ्रूण, आस पास के उसी चर्ममांसादि को खा कर पुष्ट होता है, फिर निकल कर उड़ जाता है। एक चाल की टिड्डी होती है, ('सेवन्टीन-इयर लोकस्ट' seventeen-year locust), जिस के भ्रूण सत्रह वर्ष तक पृथ्वी के बिलों में, गुफाओं मे, पड़े रहते हैं, फिर एक दिन अनगिनत करोरों की तादाद मे निकल कर उड़ते फिरते हैं, और थोड़े ही दिनो मे हरियाली का भारी आहार संहार कर के, और नये अंडे दे के, नष्ट हो जाते हैं। एक ऐसा कीट है जिस का भ्रूण, घास पात के साथ, बकरी आदि के पेट मे हो कर, उस की आंत मे परिपुष्ट होता है, और तब पुरीष के साथ निकल कर अपना स्वतन्त्र अल्पकालिक जीवन बिताता है। एक प्रकार का मेढक दक्षिण अमेरिका मे होता है, जो मण्डूकी से निकले भ्रूणो को अपनी पीठ पर, अपने मुख के लसदार रस से, चपका कर, इधर उधर घूमता रहता है, जब तक वे पुष्ट और

स्वतन्त्र हो कर अलग न हो जायं। कोई कीट पतंग ऐसे होते हैं जिन मे केवल स्त्रीलिंग होता है, और उन्हीं से बच्चे होते हैं ('पार्थेनो-जेनेसिस' partheno-genesis); किन्हीं पशुओं को, यथा कुत्ती, शूकरी, आदि को, छः छः, आठ आठ, स्तन होते हैं, और एक एक प्रसव मे इतने इतने बच्चे भी होते हैं। इस सब के कारण भी खोजे गये हैं। विविध प्रकार की मछलियों, दंश, मशक, मक्षिकाओं, के गर्भाशयों और भ्रूणो और जन्म के बाद के रूप-परिवर्त्तनो की कथा नितान्त रोचक है। आर्ष उपनिषदों तक मे 'मधुकर-राजानं उत्पतंतं अनु उत्पतंति, निविशंतं अनु निविशंति, मधुमक्षिकाः', लिखा है। संभव है कि यह पंक्ति क्षेपक हो। योगभाष्यकार (व्यास-नामक) ने, इसी मूल की नकल करते हुए, अपने योग-सिद्धि-विषयक प्रमातृत्व, प्रामाणिकत्व, को शंका मे डाल दिया है। अर्वाचीन शारीरक-भाष्य कार शंकराचार्य आदि ने भी इसी पंक्ति की यदि नकल की तो क्या आश्चर्य है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने, सूक्ष्मेक्षक यंत्र ('मैक्रास्कोप', microscope) के अखंड्य बलवत्तम प्रत्यक्ष प्रमाण से, सिद्ध किया है कि, यहाँ 'मधुकर-राजानं' नहीं, 'मधुकर-राज्ञीं' कहना चाहिये। दूसरी बड़ी भूल जो सैकड़ों वर्ष की परम्परा से, वेदान्त-विषयक संस्कृत ग्रन्थों में, चली आ रही है, वह 'भृंगी-कीट-न्याय' की है। शंकर आदि ने लिख दिया है कि, जब भृंगी कीड़े को पकड़ कर, मिट्टी के खोंते मे रख कर, खोंते का मुंह मिट्टी से बन्द कर देती है, तब वह कीट, भृंगी का ध्यान करते करते तन्मय और तद्रूप हो जाता है, और फिर खोंते को फोड़ कर उड़ जाता है; और, ऐसे ही, जीवात्मा को, भक्ति ध्यान के बल, परमात्मरूप हो जाना चाहिये। यहां उपमेय तो शुद्ध है, पर उपमान अशुद्ध है। कीड़ा, भृंगी नहीं बन जाता; बल्कि, भृंगी के अंडे पहिले से उस खोंते मे दिये रहते हैं, और अंडों को फोड़ कर, निकल कर, उस के भ्रूण, उस कीड़े के शव को खा कर, पर (पंख) निकाल कर, खोंता तोड़ कर, उड़ जाते हैं। पाश्चात्य ग्रन्थों मे ऐसा पढ़ कर, मै ने स्वयं इस का प्रत्यक्ष अनुभव किया। एक बड़ी, चमकते हुए हरे रंग की, बिलनी को, एक लम्बा, रेंगने वाला, कीड़ा पकड़े हुए, उड़ती देख पड़ी; उस के पीछे पीछे, उस के मिट्टी के खोंते तक मै पहुँचा। जब खोंते मे उस कीड़े को ठूंस कर बिलनी उड़ गई, तब छुरी से खोंते को, सम्हाल कर, मै ने काटा, और उस मे चार

अंडे बहुत बारीक, छोटे चावल के ऐसे, बिना सूक्ष्मेक्षक यंत्र के भी आंखों से देख पड़ते हुए, देखे। शुद्ध उपमान यह है कि, कुछ प्रकार के कीड़े ('कैटर-पिलर') रेंगते रेंगते, किसी पेड़ के पत्ते पर पथरा जाते हैं; फिर फूलते हैं, आकार परिवर्तन कर के, चांदी ऐसे चमकते अंडे, जामुन के छोटे बीज के परिमाण के, हो जाते हैं, और, कुछ दिनों के बाद, अंडा फोड़ कर, उस मे से तितली के रूप मे उड़ जाते हैं। इस को भी मैं ने स्वयं, कई दिनो तक, ताक और अनुसंधान मे रह कर, देखा है। अंग्रेजी मे इन तीन अवस्थाओं को 'कैटर-पिलर—क्राइसेलिस—बटरफ्लाइ', caterpillar chrysalis butterfly, कहते हैं। ऐसे ही तीन रूप-परिवर्तन मच्छड़ के होते हैं, जिन को 'लार्वा प्यूपा–मास्किटो', larva–pupa–mosquito, कहते हैं। मच्छड़ के अंडे पानी पर दिये जाते हैं, और तेल की फांफी ऐसे, झुण्ड मे, तैरते रहते हैं, पानी को दूषित करते हैं, और बीमारी फैलाते हैं।

ऐसी गवेषणओं का खजाना, पाश्चात्य शरीर-विज्ञान-सम्बन्धी और वैद्यक-सम्बन्धी साहित्य मे भरा है। उस के बल से, पुराणो की कितनी ही अद्भूत बातें समझ मे आने लगती हैं और श्रद्धेय हो जाती हैं, जिन पर पहिले बुद्धि नहीं जमती थी। यथा, याज्ञिक चरु के भोजन से गर्भाधान; उपस्थेन्द्रियों के स्थान पर, कान से, आंख से, नाक से, मुंह से, बांह से, जांघ से, माथे से, चैतन्याधिष्ठित अहंताऽत्मक जीवऽविष्ट, अपने शरीर के एक खंड का, अपने शरीर से विसर्जन; या (जैसा महाभारत मे, उपरिचर-वसु की, और व्यास की माता सत्यवती के मछली के उदर से जन्म की, कथा मे) पुरुषवीर्य को, बिना साक्षात् स्त्री से संयोग के, दूर भेज कर गर्भाधान, इत्यादि। पश्चिम मे परीक्षा द्वारा सिद्ध किया गया है कि मनुष्यों मे भी, और पशुओं मे भी, नरवीर्य, कृत्रिम पिचकारी द्वारा, नारीगर्भाशय मे पहुँचा देने से भी गर्भाधान हो जाता है; इत्यादि। रूस देश मे, पशुओं की नस्ल को उत्कृष्ट करने के लिए, यह अंतिम प्रकार अधिकाधिक प्रयोग किया जा रहा है; उत्तम नर-पशुओं के वीर्य, दूर दूर तक, उत्तम नारी पशुओं के लिये भेजे जाते हैं।

सृष्टि करने वाली परमात्मा की माया के अकांड-तांडव, स्वच्छन्द-नृत्य, को, विनय, भक्ति, पूजा के भाव से देखने के लिए, और स्त्री-पुं-

संयोग, तथा गर्भाधानं, गर्भरक्षा, आदि को, केवल कामदृष्टि से नहीं, अपितु धर्मदृष्टि से भी, देखने के लिए, इस प्रकार के, इस विषय के, ज्ञान को प्रजा मे बढ़ाने फैलाने का प्रयोजन है। यों तो, विधेयैः क्रीडंत्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः; अनन्त प्रकार की लीला क्रीड़ा के लिये, असंख्य प्रकार के उपकरणो, साधनो, विधेयों की निरन्तर नित्य नई रचना करने वाली, सर्वप्रभु परमात्मा की शक्तियों का पूरा ज्ञान, कब किस को संभव है ?

(च) पारदारिक, और (छ) वैशिक—

"रोगो, रोगहेतुः, रोगहानं, रोगहानोपायः, इति चतुर्व्यूहं चिकित्सा-शास्त्रं;" रोग, रोग का हेतु, रोग से मुक्ति, रोग से छूटने का उपाय—चिकित्सा शास्त्र के ये चार अङ्ग हैं; इन चारों का सविशेष सविस्तर ज्ञान तो चिकित्सक वैद्य आयुर्वेदाचार्य को होना आवश्यक है; पर सभी स्वस्थ जनों को, अपने को और अपने आश्रितों को रोगों से बचाने के लिये, इन चार का सामान्य ज्ञान होना उपयुक्त है। एवं, यामिकों (पुलिस), सैनिकों, को, शस्त्र-अस्त्र चालन की तरकीबों का, और बदमाशों, चोरों, लुटेरों, दस्युओं, विविध प्रकार के पापियों और अपराधियों की चालों का, विशेष ज्ञान आवश्यक है; पर सभी साधु ('साहु') गृहस्थों को, अपने और आश्रितों के जान माल की रक्षा करने के लिये, उन तरकीबों और चालों का सामान्य ज्ञान उपयुक्त है। ऐसे ही, सद्-गृहस्थों को, अपने दारा-अपत्यों की रक्षा के लिये, दुराचारी, व्यभिचारी, समाजध्वंसकारी पारदारिकों और वेश्या-विटों के चरित्र का भी सामान्य ज्ञान अपेक्षित है। इस विषय के ज्ञान का भी, पाश्चात्यों ने, नयी खोज से, 'सैकालोजी आफ़ सेक्स', 'हिस्टरी आफ़ प्रास्टिटयूशन', 'सैकोपेथिया सेक्सुऐलिस', 'पैथालोजी आफ सेक्स', 'लाइफ आफ अवर टाइम',* आदि नाम के, महाभारत सदृश बृहदाकार, अथवा उस से भी बड़े, बहुतेरे ग्रंथों मे महासंग्रह किया है। वात्स्यायन ने जो इस विषय मे लिखा है उस की चर्चा आगे की जायगी।

---

* Psychology of Sex; History of Prostitution; Psychopathia Sexualis, Pathology of Sex; Life of Our Time; etc.

यहाँ पर यह चेतावनी दे देना आवश्यक है कि, पारदारिक, पारपुरुषिक, व्यभिचार के सम्वन्ध मे, स्त्रियों की ही निन्दा करने की अति-क्षुद्र, अति दुष्ट, अति अनार्य, प्रथा, इस देश मे प्रचलित है; तथा पश्चिम के देशों मे भी कुछ काल पहिले तक थी। इस का हेतु केवल इतना ही है, कि प्रायः पुरुषों के हाथ मे लेखनी रही है, और वे पुरुष, इस विषय मे, प्रायः क्षुद्र-वुद्धि रहे। प्रत्यक्षसिद्ध है कि अकेले स्त्री व्यभिचार नहीं कर सकती; जब व्यभिचार होगा, तो कम-से-कम एक स्त्री और एक पुरुष, दो मिल कर, व्यभिचार करेंगे। भीष्म के उदार वाक्य की चर्चा, इस सम्वन्ध मे, अन्यत्र की जा चुकी है।

एवं स्त्री नऽपराध्नोति, नर एवऽपराध्यति।
व्युच्चरंश्च महादोषं, नर एवऽपराध्यति;
नऽपराधोऽस्ति नारीणां, नर एवऽपराध्यति;
सर्वकार्यऽपराध्यत्वात् नऽपराध्यति चाऽङ्गना।
(शांति पर्व, अ० २७२)

'पुरुष ही अपराध करता है, स्त्री नहीं; पुरुष ही घोर महा दुष्ट व्यभिचार करता है; स्त्रियाँ तो सदा अपराध्य हैं. अपराधक नहीं; उन के ऊपर पुरुष अपराध करते हैं; पुरुष ही अपराधक हैं।'

शारीरक-भाष्य के कर्त्ता शङ्कराचार्य ने, अपनी माता को भूल कर, ('मोहमुद्गर' नाम की) 'प्रश्नोत्तरी' में लिख दिया, "द्वारं किं एकं नरकस्य? नारी!"; इस का अर्थ क्या लगाया जाय, कि उन की माता ने, उन के ऐसे 'क्षुद्रः नरः नर-कः' को जन्म दिया? भागवत के स्कं० ३, अ० ३१ मे, अपनी माता देवहूति को उपदेश देते हुए, कपिल महर्षि ने, दोनों पक्ष निष्पक्षता से कहे हैं; नर के लिये नारी, तो नारी के लिये नर, तुल्य रूप से, परमात्मकृत माया के वन्धन हैं;

यां मन्यते पतिं मोहात् मन्मायां ऋषभायतीं,
स्त्रीत्वं स्त्रीसंगतः प्राप्तो, वित्तऽपत्यगृहप्रदां,
तां आत्मनो विजानीयात्, पति अपत्य-गृहाऽत्मकं,
दैवोपसादितं मृत्युं, मृगयोः गायनं यथा।

'स्त्री का ध्यान करते करते, स्त्रीत्व को प्राप्त (जीव), पति का रूप धरे हुए मेरी माया को, घर-धन-संतान देने वाला सुखदायक पति

समझती है; यह नहीं समझती कि यह तो मेरी मृत्यु का, महा दुःख का, कारण है, जैसे व्याध, वहेलिया, मधुर संगीत से हरिण को लुभा कर, मार डालता है'। उक्त 'प्रश्नोत्तरी' मे यह पंक्ति बढ़ा देनी चाहिये,

द्वारं द्वितीयं खलु तस्य ना, वै।

('नृ' शब्द का, प्रथमा मे, एक वचन 'ना' होता है, जिसका अर्थ 'नरः' है)। इस 'प्रश्नोत्तरी' मे बहुत सी बातें अच्छी-अच्छी भी लिखी हैं; पर स्त्री के सम्बन्ध मे कई बार ऐकपाक्षिक अनुचित शब्द आये हैं, यथा—"संमोहयति एव सुरा इव का? स्त्री"; "किम्अत्र हेयं? कनकं च कान्ता"; "विज्ञात् महाविज्ञतमोऽस्ति को वा? नार्या पिशाच्या न च वंचितो यः"; "ज्ञातुं न शक्यं च किम्अस्ति सर्वैः? योषिन्मनो, यत् चरितं तदीयं"; "विश्वासपात्रं न किमस्ति? नारी"; "त्याज्यं सुखं किं? स्त्रिय-मेव सम्यक्"; "किं तद् विषं भाति सुधोपमं? स्त्री"; इत्यादि। पर एक बार, यह सब लिखते लिखते, शंकर को अपनी माता की याद आ ही गई; तब यह भी लिख दिया—"माता इव का या सुखदा? सुविद्या।" वराह मिहिर ने, 'बृहत्संहिता' के 'स्त्री प्रशंसा' नामक ७४ वें अध्याय मे लिखा है,

येऽपि अंगनानां प्रवदंति दोषान्, वैराग्यमार्गेण, गुणान् विहाय,
ते दुर्जनाः, मे मनसो वितर्कः; सद्भाववाक्यानि न तानि तेषां।
प्रब्रूत सत्यं, कतरोऽङ्गनानां दोषोऽस्ति यो नऽाचरितो मनुष्यैः?
धाष्टर्येन पुंभिः प्रमदाः, निरस्ताः; गुणाधिकाः ताः, मनुनाऽत्र च उक्तं,
सोमस्तासां अदात् शौचं, गंधर्वाः शिक्षितां गिरं,
अग्निश्च सर्वभक्षित्वं, तस्मान्निष्कसमाः (निःकल्मषाः) स्त्रियः;
ब्राह्मणाः पादतो मेध्याः, गावो मेध्यास्तु पृष्ठतः,
अजऽाश्वाः मुखतो मेध्याः, स्त्रियो मेध्यास्तु सर्वतः;
स्त्रियः पवित्रं अतुलं नैताः दुष्यंति कर्हिचित,
मासि मासि रजो यासां दुष्कृतानि अपकर्षति;
जामयो यानि गेहानि शपंति अप्रतिपूजिताः,
तानि, कृत्या-हतानि इव, विनश्यंति समन्ततः।*

---

* माधवकृत 'शंकर-दिग्-विजय' नाम के ग्रन्थ मे, शङ्कर और मंडन मिश्र के 'शास्त्रार्थ', वा 'विवाद', का वर्णन किया है। अभद्र शब्दों मे

'जो पुरुष, वैराग्य का रूप ला कर, स्त्रियों के गुणो को भूल, दोष ही दोष बताते हैं, वे दुर्जन हैं; स्त्रियों का कौन सा दोष है जो पुरुषों मे नहीं है ? यह तो पुरुषों की ढिठाई मात्र है, जो स्त्रियों का तिरस्कार करते हैं; हर तरह से स्त्रियाँ पुरुषों से अच्छी हैं; स्वयं मनु जी न कहा है, "चन्द्रमा ने स्त्रियों को शुचिता दी, गंधर्वों ने मीठी बोली, अग्नि

एक दूसरे को गालियां दी। तौ भी, मंडन की ही बातें अधिक जंचती हैं; मनु के अनुसार हैं। शंकर की उक्तियां बहुत कच्ची हैं, मनु के चातुराश्रम्य धर्म के सर्वथा विरुद्ध हैं। और जो आचरण शङ्कर ने स्वयं किया; मंडन मिश्र की भार्या शारदा से सत्रह दिन 'शास्त्रार्थ', विवाद, जल्प, वितंडा किया; उस के बाद, अमरु राजा के काय मे प्रवेश कर के उन की रानियों के साथ मैथुन किया; पीछे, 'मंत्रों से बांधकर' शारदा को ले जा कर, शारदा-मठ मे 'स्थापित' किया; (इन कथाओं का जो भी अर्थ लगाया जाय, उनके भक्त अनुयायियों ने तो इस को भी योग-विभूति योग-सिद्धि का ही रूप दे दिया है !); इस सब से, शंकर की उक्तियों की स्वतोव्याहतता, तथा 'मनसि अन्यद्, वचसि अन्यत्, कर्मणि अन्यत्', का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। कश्मीर के शारदापीठ मे, शङ्कर ने, 'सरस्वती देवी' के अभियोग पर, कि 'तुम दुराचारी व्यभिचारी हो', जो उत्तर दिया, वह भी उन वाक्यों के सर्वथा विपरीत है जो उन्होंने मंडन मिश्र से कहा। मंडन के आगे शंकर ने जब स्त्रियों की और गार्हस्थ्य की निन्दा की, तब मंडन ने कहा,

स्थितोऽसि योषितां गर्भे, ताभिरेव विवर्धितः,
अहो ? कृतघ्नता, मूर्ख !, कथं ताः एव निन्दसि।

'स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुए हो, स्त्रियों ने तुम को पाला पोसा है, उन्हीं की निन्दा करते हो ! कैसी मूर्खता, कैसी कृतघ्नता है !' यही बात, बहुत पहिले, वराह मिहिर ने कही थी। शङ्कर ने जो अभद्र, अश्लील, 'वितंडानिग्रहस्थान-छल-जाति-हेत्वाभास' आदि से पूर्ण उत्तर दिया, उस को भी, माधव का ही लिखा हुआ, देखिये—

यासां स्तन्यं त्वया पीतं, यासां जातोऽसि योनितः,
तासु, मूर्खतम ! स्त्रीषु पशुवद् रमसे कथं ?

ने सब पदार्थों को शुद्ध करने की शक्ति; इस लिए स्त्रियाँ (निष्क के) सोने के ऐसी निष्कलमष हैं। सच्चे ब्राह्मणों के पैर, मेध्य (मेधावर्धक) होते हैं, (प्रणाम से प्रसन्न होकर, द्विज, उत्तम सद्ज्ञान देते हैं); गाय का पिछला भाग (दूध देने से) मेध्य है; बकरे और घोड़े का मुख भाग शुद्ध है; सती स्त्री सर्वांग मेध्य हैं। स्त्रियों से यदि कोई दुष्कर्म हो भी जाय,

---

यह भी कोई उत्तर हुआ ? मंडन ने शङ्कर से यह नहीं कहा था कि 'तुम अपनी माता से ही विवाह कर लो !' मंडन से जो उत्तर, माधव ने, दिलवाया है, वह दृढ़ नहीं है; कैसे होता ? माधव तो शङ्कर के भक्त थे। स्यात् ठीक होता यदि यह उत्तर दिया जाता,

न अहं वदामि यद् , विद्वन् !, उद्वह स्वां तु मातरं;
भार्यायाश्च, जनन्याश्च, विवेकं कर्तुं अर्हसि ।
अन्यथाऽऽलिंग्यते कांता, अन्यथाऽऽश्लिष्यते सुता ।
न अरंस्यत भवन्मात्रा सार्धं यदि भवत्पिता,
न उदपत्स्यत वै जातु, भवान् एवं कुशाग्रधीः !

'पत्नी के साथ पति के वेद-विहित रमण की भी निन्दा करते हो, तो ज़रा विचारिये, यदि आप के पिता ने आप की माता के साथ रमण न किया होता, तो आप ऐसे कुशाग्र बुद्धि वाले पुरुष कैसे पैदा होते !' शङ्कर ने अच्छे भी ग्रन्थ लिखे, कुछ लोगों का विश्वास है कि कापालिक, वज्रयानिक, वाम-तांत्रिक, आदिकों का दमन करा के, 'जीविका-कर्मणा वर्णः' के अनुसार, वर्णाश्रम व्यवस्था का, भ्रष्ट अवस्था से, जीर्णोद्धार भी किया; यह सब कार्य अवश्य प्रशंसनीय है, पर जब अन्ध-भक्त लोग, श्रद्धा-जड़ हो कर, अपने 'इष्ट देव' के दोषों को भी गुण कहने लगते हैं, तब उन को रोकना आवश्यक होता है; अन्यथा, यशस्वी आदमी के दोष दिखाने से, किसी भले आदमी को सुख नहीं हो सकता।

सभा वा न प्रवेष्टव्या, वक्तव्यं वा समंजसं;
अब्रुवन् विब्रुवन् वाऽपि नरो भवति किल्बिषी । (मनु)

'सभा मे जा कर, प्रश्न के उठने पर, यदि मनुष्य चुप रह जाय, वा जान-बूझ कर अनुचित उत्तर दे, तो वह किल्बिषी होता है।' अन्धश्रद्धा फैलने देने से जनता की बड़ी हानि है।

तो (चंद्रमा के प्रभाव से) प्रति मास के आर्तव से वह धुल जाता है; जिस घर को पीड़ित स्त्रियां शाप देती हैं, वह मानो बिजली का मारा, तुरन्त नष्ट हो जाता है। (इन चार अनुष्टुप् श्लोकों मे से अन्तिम तो प्रचलित मनुस्मृति मे मिलता है; अन्य तीन, वराह मिहिर के समय की मनु की प्रति मे रहे होंगे; पीछे लुप्त हो गये; अत्रि स्मृति मे, कुछ पाठ भेद से, अब भी मिलते हैं)। मनु के उद्धरण के बाद, वराह मिहिर पुनः अपना मत लिखते हैं,

जाया वा, जनयित्री वा, संभवः स्त्रीकृतो नृणां;
हे कृतघ्नाः !, तयोर् निंदां कुर्वतां वः कुतः सुखं ?
दम्पत्योः व्युत्क्रमे दोषः समः शास्त्रे प्रतिष्ठितः ;
नराः न तं अवेक्षन्ते; तेन अत्र वरं अंगनाः ;
अहो धाष्टर्यं असाधूनां, निन्दतां अनघाः स्त्रियः,
मुष्णतां इव चौराणां, 'तिष्ठ चौर' इति जल्पतां।

'पत्नी रूप से, माता रूप से, स्त्री से ही पुरुषों का जन्म होता है; स्त्री की निन्दा जो पुरुष करते हैं, उन को कहीं सुख नहीं मिल सकता। सत् शास्त्र से सिद्ध है, और प्रत्यक्ष है, कि व्यभिचार मे स्त्री और पुरुष, दोनों ही तुल्य रूप से दोषी होते हैं; पुरुष अपना दोष तो देखते नहीं; स्त्रियों को ही दोष लगाते हैं: अहो धृष्टता इन की ! जैसे चोरी कर के भागता हुआ चोर पुकारता है, 'पकड़ो चोर !, भागा चोर !'।

मनुजी ने, ऊंचे-उदात्त शब्दों से, सती स्त्रियों की प्रशंसा की है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमन्ते तत्र देवताः,
यत्रैतास्तु न पूज्यंते, सर्वास्तत्र अफलाः क्रियाः।
पितृभिर्भ्रातृभिश्च एताः पतिभिर्देवरैस्तथा,
पूज्याः भूषयितव्याश्च, बहु कल्याणं इप्सुभिः।
प्रजनार्थं महाभागाः पूजाऽर्हाः गृहदीप्तयः ;
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन।
संतुष्टो भार्यया भर्त्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च,
यस्मिन्नेव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवं।

'जहाँ नारियों का आदर है, वहां देवता रमते हैं; जहां नहीं, वहाँ सब क्रिया, सब यत्न, सुख के लिये, निष्फल होते हैं। पिता,

भाई, पति, देवर, सब को इनकी पूजा करनी चाहिये, भूषण आच्छादन देना चाहिये; तभी सब कल्याण उन को मिलेंगे। गृह की दीप्ति, प्रकाश, रौशनी, चमक, शोभा, स्त्रियों से ही है; स्त्री मे और श्री मे कोई भेद नहीं; प्रजा का पैदा होना और पलना, सब तीनो ऋणों का शोधन, सब सुख, इन्हीं से है; जिस कुल मे भार्या-भर्त्ता परस्पर संतुष्ट हैं, वहाँ ही स्वर्ग है।'

देवल स्मृति, अत्रि संहिता, अत्रि स्मृति, बृहस्पति, वसिष्ठ, बौधायन, पराशर (माधव) आदि स्मृतियों मे, बलात्कार से दूषित स्त्रियों की शुद्धि के लिये, सरल प्रायश्चित लिखे हैं।

संस्कृत भाषा, इस अंश मे, अब अ-संस्कृत ही है, कि उस मे 'कुलटा' और 'पुंश्चली' ऐसे शब्द हैं, और 'कुलट:' और 'स्त्रीचल:' नहीं हैं; होने चाहियें। १९१५ ई० मे, मैं वृन्दावन गया था; एक विशेष सम्प्रदाय वाले वृद्धप्राय कृष्णभक्त 'गोशाईं' जी ने, राधा और कृष्ण के प्रेम की चर्चा उठाई; मैं ने पूछा, राधा का नाम तो, भक्तिग्रन्थों के चूड़ामणि-भूत ग्रन्थरत्न श्रीमद्विष्णुभागवत मे नहीं आता है, राधा-कृष्ण का जप गान क्यों होता है? रुक्मिणी ने क्या पाप किया है जो रुक्मिणी-कृष्ण का ध्यान मान नहीं होता? उन्हों ने कहा कि, प्रेम की परा काष्ठा जैसी पर-पुरुष से होती है वैसी स्वकीय से नहीं; मैं ने पूछा, तो फिर रुक्मिणी के ही साथ किसी पर-पुरुष का ध्यान आप क्यों नहीं करते हो? इस पर वे सज्जन, कानो पर हाथ रख कर, 'हरे' 'हरे' कहते हुए, चले गये। मद्रास प्रान्त मे तो प्राय: विष्णु की, वा लक्ष्मी-नारायण, की, उपासना होती है, कृष्ण की नहीं; महाराष्ट्र देश मे भी, कृष्ण और रुक्मिणी की पूजा है, राधा की नहीं। हां, राधा और कृष्ण को, बहिन भाई की, या बाल सखा-सखी की, दृष्टि से देखे तो उचित है; पर-पुरुष पर-स्त्री आदि भाव, अधार्मिक और निंद्य हैं। क्यों ऐसे अधार्मिक सम्बन्ध से प्रेम की 'परा काष्ठा' का आभास जान पड़ता है, क्यों वह मिथ्या और दोष-युक्त है, यह अन्यत्र ('दि सायंस आफ़ दि इमोशन्स' The Science of the Emotions मे) कहा गया है। इसी यात्रा मे, एक अन्य 'गोस्वामी' जी ने भी यही प्रसंग उठाया; संस्कृत के विद्वान् थे; मैं ने उन से भी वही प्रश्न किया। शुक ने, राजा परीक्षित् को जो उत्तर दिया था, वही उन्हों ने मुझ को सुनाया,

ईश्वराणां वचः सत्यं, तथैव आचरितं क्वचित् ;
तेजीयसां न दोषाय, वह्नेः सर्वभुजो यथा ।

तुलसीदास जी ने भी इस का अनुवाद कर दिया है,

समरथ को नहिं दोस, गुसाईं !,
रवि पावक सुर सरि की नाईं ।

'बड़े तेज वाले ईश्वर लोगों की आज्ञा, उपदेश, आदेश, सच्चा होता है, मानने योग्य होता है; उन का सब आचरण अनुकरणीय नहीं होता ।'

मैं ने गोस्वामी जी से कहा था कि, परीक्षित ने शंका की, कि रासलीला मे कृष्ण ने पराई स्त्रियों का स्पर्श किया, सो यह तो पाप किया; धर्म के संस्थापन के लिए अवतार लिया और स्वयं अधर्म किया,

स कथं धर्मसेतूनां कर्त्ता, गोप्ता, अभिरक्षिता,
जुगुप्सितं वै कृतवान् , परदाराभिमर्शनम् ?

परीक्षित ने निश्चयेन इस सब रासलीला आदि को अधर्म माना; और शुक ने जो उत्तर दिया, उस से स्वयं शुक को ही संतोष नहीं था, यह स्पष्ट जान पड़ता है; परीक्षित को कैसे होता ? ठीक उत्तर इस का पद्मपुराण मे विष्णु के मुख से ही कहलाया है,

ईश्वरैः अपि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभं ;
(आभीराः मत्स्त्रियो जह्रुः, यथाऽभीरीः अदूषयं ;
शापाः अपि अवतारेषु प्रायशः सन्ति कारणे) ।

ईश्वरों को भी अपने शुभ-अशुभ कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है, कृष्ण के शरीर छोड़ने के बाद उन की सोलह हज़ार स्त्रियों को आभीर उठा ले गये; इत्यादि । गोस्वामी जी यह सब सुन कर अप्रसन्न हुए, पर विचारने भी लगे । याद रखने की बात है, कि अवतारों का, अन्य कारणो के साथ साथ, एक कारण शाप भी अक्सर होता है । इसी यात्रा मे, एक वृद्ध चौबे जी ने; मुझे बहुत रोचक और शिक्षाप्रद इतिवृत्त सुनाया । अंग्रेजी अमलदारी जमने के पहिले, आगरा, मथुरा, वृन्दावन आदि प्रान्त मे, भरतपुर के जाट राजा का अधिकार रहा; राजा के पास शिकायत गई, कि वृन्दावन के एक धूर्त महन्त जी चीरहरण लीला के बहुत शौकीन हैं, और भक्तों की बहू बेटियों को भ्रष्ट करते हैं । राजा स्वयं वृन्दावन आये; महन्त जी को बुलाया; पूछा; उत्तर मिला 'हम तो कृष्ण-स्वरूप हैं; हम को इस का अधिकार है' । 'तो फिर गोवर्धन

लीला भी कीजिये'। आनाकानी करने लगे, 'इस समय आवश्यक अन्य कार्य है, फिर आऊंगा'। सिपाहियों को आज्ञा हुई, 'इन से गोवर्धन लीला अभी कराओ।' एक लकड़ी से बाँध कर, हाथ उठवा कर, महन्त जी खडे कर दिये गये, और पचीस मन की चट्टान उन के ऊपर चढ़ाई गई। इहलोक की सब लीला यहीं विस्तार कर महन्त जी परलोक चले गये। बहुत वर्षों तक उस प्रान्त मे चीरहरण लीला बंद रही।

वेश्याओं के विषय मे भी ऐसी ही तामसी विपरीत बुद्धि प्रवृत्त है; वेश्या ही को गाली दी जाती है। वेश्या की निन्दा करना तो ठीक ही है, पर विटों की निन्दा भी, और उस से अधिक, करनी चाहिये। पुरुष यदि वेश्याओं की खोज न करें, तो महाकुत्सित समाजभयकारी यह रोजगार पदा ही क्यों हो ? यदि यह ठीक है कि,

> वेश्या नाम महावह्निः, रूप-इन्धन-समऽाचिता,
> कामिभिर् यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च;

यो यह और भी ठीक है कि,

> विटाः नाम वृकाः घोराः, ये बालाः हरिणीर् इव,
> दन्तैर्विदार्य रुदतीर्, भक्षयन्ति सहस्रशः।

भर्तृहरि ने दोनो का समुच्चय किया है,

> कः चुम्बति कुलपुरुषः वेश्याऽधरपल्लवं, मनोज्ञम् अपि,
> चार-भट-चौर-चेटक-नट-विट-निष्ठीवन-शरावम् ?

'रूप के ईंधन से धधकती ज्वाला का नाम वेश्या है; कामुक अपना धन और यौवन उस मे स्वाहा करते हैं। विट हुँडार भेड़िये हैं, जो हरनी के ऐसी बालाओं को फाड़ कर खा जाते हैं। गोइन्दे, चोर, सिपाही, ख़िदमतगार, नट, विट आदि की पीकदानी के ऐसे, वेश्या के मुख को, कौन भला आदमी चूम सकता है ?' जो पुरुष स्वयं दुष्ट भ्रष्ट हैं, वे ही इन के पास जाते हैं। संचारी रोगों का भय ऊपर से।

कैसे-कैसे व्याघ्र-निष्ठुर उपायों से फुसला कर, बहँका कर, लुभा कर, झूठे इश्तिहारों विज्ञापनो द्वारा, नौकरी की आशा झूठी दिला कर, अबोध लड़कियाँ फँसाई जाती हैं; और तन-मन नष्ट कर के 'चकलों' की वेश्या वृत्ति की दहकती आग मे झोंक दी जाती हैं; इस का रोमाचकारी, हृत्कम्पकारी, वृत्तान्त, पश्चिम तथा पूर्व देशों के 'ह्वाइट स्लेव ट्राफिक', White Slave Traffic, के ग्रन्थों से, तथा विविध गवर्मेन्टों; और

'लीग आफ़ नेशन्स' League of Nations, की रिपोर्टों से जान पड़ता है। बम्बई के एक ऐसे 'चकले' की यमयातनाओं का हाल, लिखा जा चुका है (पृ० २१८-२२०)। जो हिंस्र पशु, दूसरे जीवों को मार कर खा जाते हैं, वे इन 'चकला' चलाने वालों के मुकाबिले दया की मूर्ति हैं। इस का वर्णन भी कामशास्त्र के सर्वाङ्ग ग्रन्थ मे होना चाहिये; जिस से सद्गृहस्थ को ऐसे कर्मों से भारी घृणा हो, और वह सावधान रहे कि स्यात् उस के नगर मे भी कोई ऐसा भयङ्कर कारखाना चल रहा हो। हे भाई! जो वेश्याओं की ओर मन उठाते हो! ज़रा इस को जानो कि वेश्या कैसे बनती हैं; और फिर इस तस्वीर को अपनी भीतरी आंखों के सामने लाओ, कि आप ही की बहिन-बेटी को कोई मनुष्य-रूपी अजगर, अपने फंदों मे लपेट कर, निगल जाने का यत्न कर रहा है।

स्वर्ग और नरक के बीच का पर्दा बहुत ही पतला है; प्रायः जितना ही बड़ा नगर होता है, उतने ही अधिक, ऐसे घोर, दारुण, 'भैरवी-चक्र' (चकले) वहां होते हैं। कोमल हृदय मे शूल गाड़ने वाले, इस सच्चे जीते दारुण करुणाजनक नाटक की ओर, जिस ने एक बार ध्यान किया, करुण रस के नाटक आदि की बनावटी कल्पना देखने की इच्छा उस की मर जाती है; 'मन-बहलाव' के लिए इन को देखना, यह उसकी समझ से बाहर हो जाता है। अन्य रसों के नाटक चाहे ठीक हों, पर करुण रस का नाटक' करना, यह तो जगन्माता जगत्त्राता करुणा देवी को बनावटी नटी और वेश्या बना डालना है। करुणा-शक्ति को सदा सच्चे दुःख के, सचमुच दूर करने मे, लगाना चाहिये; झूठे दृश्य देख कर 'करुणा' का 'स्वाद' लेना, और उस 'रसास्वादन' पर साहित्यिक नाज़-नखरे करना, यह चित्त का घोर दूषण, तामसीकरण, मल से लेपन है।

पुराणो मे रूपक है, कि ब्रह्मदेव को एक समय क्रोध हुआ, और उनकी आँखों से क्रोधाश्रु और शरीर से क्रोधस्वेद निकला, और ये अश्रु के और स्वेद के बिन्दु, एक एक, महा व्याधि हो गये; अब पाश्चात्य विज्ञान ने प्रत्यक्ष सिद्ध किया है, कि क्रोध, शोक, ईर्ष्या आदि दुष्ट पीड़ाकर भावों से, विविध प्रकार के रोगकारी 'विष', 'टाक्सिन्स', 'Loxins, शरीर मे पैदा हो जाते हैं। व्याभिचारिक-काम-सम्बन्धी विविध दुष्ट क्षोभों से अवश्य यही होता है; यहाँ तक कि बिना संक्रमण

के भी, स्वतः, व्यभिचार से पूर्व नीरोग भी; स्त्री-पुरुष के शरीरों मे, 'सिफ़िलिस', 'गोनार्हिया', गर्मी, सूजाक, आदि के विष-कीट उत्पन्न हो जाते हैं। पुराणो मे कथा है, अहल्या से व्यभिचार करने के बाद इन्द्र को सहस्र व्रण हो गये; इस रूपक से यह बात सूचित की गई है। इस लिये सब चतुर्वर्ण, चतुराश्रम, के अन्तर्गत सभी स्त्री-पुरुषों को सदा याद रखना चाहिये कि आदि प्रजापति भगवान् मनु ने यह चेतावनी दी है,

नहि ईदृशं अनायुष्यं लोके किंचन विद्यते,
यादृशं पुरुषस्य इह परदारोपसेवनम्। (मनु)

पारदारिक या पारपुरुषिक या वैशिक (वेश्या सम्बन्धी) व्यभिचार, जैसा प्राण-क्षय-कारक आयुः-क्षय-कारक, अनायुष्य, है, वैसा अन्य कोई कार्य नहीं। (वेशेन जीविकां करोति, इति वेश्या; वेश, भूषा, लुभावनी बना कर, जो जीविका कमावै वह वेश्या)।

मृगया, अक्षः, दिवा स्वप्नः, परिवादः, स्त्रियः, मदः,
तौर्यत्रिकम्, वृथाऽटया च, कामजो दशको गणः।
पैशुन्यं, साहसं; द्रोहः, ईर्ष्या, असूया, अर्थदूषणं,
वाग्-दंड-जं च पारुष्यं, क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः।
द्वयोर् अपि एतयोः मूलं, यं सर्वे कवयो विदुः,
तं यत्नेन जयेल् लोभं; तज्जौ एतौ उभौ गणौ।
(मनु, ७-४७, ४८, ४९)

'अति 'काम' से दस दोष उत्पन्न होते हैं, मृगया, द्यूत, दिन मे भी सोना, दूसरों का परिवाद (मिथ्या भी बुराई करना), व्यभिचार, मद्य, नाच, गाना, बाजा, व्यर्थ घूमना फिरना। दूसरों के मर्म का उद्घाटन, साहस के अनुचित कार्य, द्रोह, ईर्ष्या (दूसरों के गुणों की बात न सहना), असूया (दूसरों के गुणो मे भी दोष दिखाना), दूसरों के धन का अपहरण, वाक्-पारुष्य, दंड-पारुष्य, ये आठ दोष अति क्रोध से उत्पन्न होते हैं। आर्ष कवियों ने, अति लोभ को इन दोनों का मूल बताया है, विशेष कर राजा और शासनाधिकारी के लिये; जो लोभ को जीतैगा, वह प्रायः इन दोनो को भी जीतैगा'। यह मनु ने, विशेष कर राज-धर्म की दृष्टि से, राज-धर्म के प्रकरण मे कहा; सामान्य धर्म की दृष्टि से, काम-सामान्य ही सब विकारों का मूल है। आज-काल, 'सिनेमा' और 'थियेटर', व्यभिचार के शिक्षा-गृह हो रहे हैं। अति 'काम' से, 'काम' का निग्रह

न कर सकने से, मरण हो जाता है; वात्स्यायन ने कामसूत्र मे लिखा है,

"दश तु कामस्थानानि। चक्षुःप्रीतिः, मनःसङ्गः, सङ्कल्पोत्पत्तिः, निद्राच्छेदः, तनुता, विषयेभ्यो व्यावृत्तिः, लज्जाप्रणाशः, उन्मादः, मूर्च्छा, मरणं, इति तेषां लिंगानि" (पारदारिक अधिकरण, अ० १)।

'काम के दस स्थान (दर्जे, काष्ठा) हैं; आँख मिलना, मन लगना, संकल्प (निश्चित इच्छा) होना, निद्रा-भंग, शरीर सूखना, अन्य किसी व्यवहार मे मन न लगना, लज्जा का नाश, उन्माद, मूर्च्छा, मरण।'

पारदारिक व्यभिचार के सम्बन्ध मे यह चेतावनी विशेष लागू है, पर सब ही अनियंत्रित 'काम' इस के घेरे के भीतर आता है।

इतना लिख कर, कामशास्त्र के ज्ञानांग की रूप रेखा के उत्किरण को समाप्त करता हूं।

अब रसाङ्ग का उल्लेख किया जाता है।

रसाङ्ग

२—रसाङ्ग मे,

(क) वधू-वर के परस्पर आश्वासन विश्वासन, अनुरञ्जन, प्रणय-वर्धन, अनुकूलन, कामोद्दीपन, और शरीरसंयोग के उपायों और प्रकारों का वर्णन होना चाहिये। इस विषय मे भारतवर्ष को, पाश्चात्य ज्ञान से, कुछ लेने पाने की आवश्यकता प्रायः नहीं है। स्यात् पश्चिम को ही पूर्व से कुछ मिल सकता है। एकचारिणी पतिव्रता पत्नी की चर्या का जो कुछ वर्णन कामसूत्र में किया है, वह सब उत्तम और प्रायः निर्दोष है। उस के सदृश, और उसी मात्रा मे, एकचारी पत्नी-व्रत पति की चर्या का वर्णन नहीं है; होना चाहिये। बहुभार्यक गृहस्थों के विषय मे जो कामसूत्र मे लिखा है वह, सात्त्विक दृष्टि से, निन्दनीय ही है; और क्या, एक प्रकार का व्यभिचार ही है। बहुविवाह के दोष पहिले कहे जा चुके हैं। आदि काव्य रामायण में ही ये दोष चित्रित हैं; दशरथ के बहुविवाह के दोषों से ही राम जी को आपत्तियां झेलनी पड़ीं; उन का अनुभव कर के ही राम जी ने एक पत्नीव्रत का धारण किया। इन के दोषों के सम्बन्ध मे यहाँ अधिक लिखने का प्रयोजन नहीं।

मैथुन के अष्टाङ्ग, पृ० २७४ पर सूचित किये; स्मरण, कीर्त्तन, केलि, प्रेक्षण, छिपी बातचीत, सङ्कल्प, निश्चय, और शरीर-सम्मेलन;

अन्तिम के आठ अवांतर अङ्ग, काम-सूत्र मे कहे हैं—"आलिंगन-चुम्बन-नखच्छेद्य-दशनच्छेद्य-संवेशन-सीत्कृत-पुरुषायित-औपरिष्टकानां अष्टानां अष्टधा विकल्पभेदाद् अष्टौ अष्टकाः चतुःषष्टिः इति बाभ्रवीयाः," (२-२-५); इन आठ मे भी एक एक के आठ आठ भेद कर के, काम शास्त्र की एक और विशेष चौ-सट्ठी होती है, जो पहिले कही चतुःषष्टि कला वा विद्या से भिन्न है। इन मे अधिकांश राजस-तामस अनार्य हैं; उन की ओर न जाना ही अच्छा है। उदाहरणार्थ, 'सीत्कृत' मे अन्तर्गत 'प्रहरण' के सब प्रकार महा बीभत्स हैं; तथा, नखकर्म, दन्तकर्म, औपरिष्टक, मुख-मैथुन, प्रायः सभी; 'संवेशन' के अन्तर्गत 'चित्ररत' मे पशुओं की 'लीलाओं' और चेष्टाओं और आसनो का अनुकरण (—वृष, कुक्कुर, हरिण, मेढ़ा, बकरा, गर्दभ, विडाल, व्याघ्र, हस्ती, शूकर, घोटक, इत्यादि का उदाहरण, काम-सूत्र मे दिया है; यूथशः मैथुन भी कहा है-) महा घृणाऽस्पद हैं; ऐसे मैथुन से जो सन्तान होगी, वह भी प्रायः तत्तत् पशुवत् होगी। घोटक-मुख नामक ग्रन्थकार. जिन का नाम वात्स्यायन ने प्राचीन ग्रन्थकारों मे गिना है, स्यात् अपने माता पिता की 'घोटक लीला' के मैथुन से ही जन्मे होंगे। वात्स्यायन के बड़े दोषों मे एक प्रधान दोष यह है, कि ऐसी बीभत्स क्रियाओं के वर्णन के साथ, विधिलिङ् के शब्दों का प्रयोग किया है, यथा, "यत्र-यत्र योगोऽपूर्वः तत् तद् उपलक्षयेत्," "रंजयेयुः," "अनुतिष्ठेयुः", 'अपूर्व योगों का अनुभव करें', 'परस्पर रंजन करें',—'इन प्रकारों का अनुष्ठान करें'; इति प्रभृति। अ-योनि-मैथुन (गुदा-मैथुन, मुख-मैथुन), वि-योनि मैथुन (पशुओं के साथ मैथुन), तृतीया-प्रकृति-मैथुन, यूथ मैथुन-आदि की जो चर्चा वात्स्यायन ने की है, उस के सम्बन्ध मे भी यही घोर अपराध किया है; चाहिये था कि इनका तीव्र निन्दायुक्त वर्जन करते, पाठकों को मना करते, कि इन घृण्य क्रियाओं को मत करना; अन्यथा, मूत्रपान और विष्ठाभोजन भी 'अपूर्व योगों' के अनुभव के लिये करने की सलाह देते; जैसा 'अघोरी पन्थ' के महापतित जीव करते ही हैं।

जैसे मैथुन के अष्टाङ्ग के सर्वथा विपरीत, प्रकार मे भी और फल मे भी, योग के आठ अङ्ग हैं; वैसे ही, योग के 'आसन' नामक अङ्ग के अवांतर भेद, ८४, जिन मे अधिकांश पशुओं के अनुकरण हैं, प्रकार और फल मे विपरीत और भिन्न हैं; मैथुन के आसनो मे दो की, स्त्री और

पुरुष की, आवश्यकता है; योग के आसनो मे, एकाकिता की; एक का फल है पशुभाव की पुष्टि; दूसरे का, दिव्य भावों की तुष्टि। मैथुन के अष्टांग और योग के अष्टांग के बीच में, नवधा भक्ति के, नवांग, नौ अंग पड़ते हैं;

श्रवणं, कीर्तनं, (विष्णोः) स्मरणं, पाद-सेवनम्,
अर्चनं, वंदनं, दास्यं, सख्यं आत्मनिवेदनम्।

श्रवण को स्मरण के अंतर्गत समझें तो भक्ति भी अष्टाङ्ग हो जाती है ; ऐसी ही सात्त्विक भक्ति (प्रीति, अनुराग, प्रियता, हार्द) का अंश, सात्त्विक पति-पत्नी की मिथुनता मे, जोड़े मे, अधिक होना चाहिये।

अष्टांग मैथुन के सम्बन्ध मे, कामसूत्र मे भी, अष्टम अंग के कुछ अवांतर भेदों के विषय मे कहा है, कि यह अनार्य हैं; विगीत निन्दित हैं; प्रामाणिक ग्रन्थ मे इस विषय पर कुछ विस्तार होना चाहिये; यह बताना चाहिये कि ये-ये प्रयोग सात्त्विक हैं, ये राजस, ये तामस।

कामचेष्टा सभी तामस हैं, आध्यात्मिक दृष्टि से;

तमसो लक्षणं कामः; रजसस्तु अर्थः उच्यते;
सत्त्वस्य लक्षण धर्मः, श्रैष्ठ्यं एषां यथोत्तरम्।
सत्त्वं ज्ञानं, तमोऽज्ञानं, रागद्वेषौ रजः स्मृतम्;
एतद् व्याप्तिमद् एतेषां सर्वभूतऽाश्रितं वपुः। (मनु)

इन शब्दो के अर्थ का, और तीनो गुणो के तात्त्विक स्वरूप का, तथा नित्य अनुभव मे आते हुये आकारों का, विवेचन, विस्तार से, अन्यत्र किया गया है;* यहां इतना कहना पर्याप्त है कि तीनो में किट्टांश और प्रसादांश दोनो हैं; तथा स्वतः कोई गुण किसी दूसरे से भला या बुरा नहीं है; तीनो का एक दूसरे से सदा अभेद्य सम्बन्ध और परस्पर आश्रय है। सुप्रयोग से प्रसादांश, दुष्प्रयोग से किट्टांश, देख पड़ता है। शिव-शिवा तमःप्रधान, विष्णु-सरस्वती सत्त्वप्रधान, ब्रह्मा-लक्ष्मी रजः-प्रधान देवता हैं। शिव-शिवा अर्ध नारीश्वर, विष्णु-लक्ष्मी भिन्न लिंग, और गिरा-द्रुहिण निर्लिंग, विवाहित जोड़े, ("गिरामाहुर्देवीं द्रुहिण-गृहिणीम् आगमविदो"), कैसे हुए, इस की कथा, तथा रूपकों के रहस्यार्थ का सूचन, देवी-भागवत मे हैं। एवं, काम यद्यपि तामस है, तो भी इस

---

* 'दि सायंस आफ पीस', The Science of Peace. मे।

मे, अवान्तर भेद से, सात्विक काम, राजस काम, तामस काम होते हैं। साहित्य-शास्त्र मे नायक नायिका के जो स्वभाव-भेद कहे हैं, वे इस स्थान पर भी उपयुक्त हैं। धीर, उदात्त, ललित, मधुर, गम्भीर, उदार आदि सात्विक गुणो से विभूषित जो नायक-नायिका पति-पत्नी हैं, उन के प्रयोग भी, सम्भोग के अवसर मे, 'चुम्बन', 'आलिंगन' आदि, तदनुकूल होंगे। जो प्रचण्ड, दृप्त, उद्धत, राजस हैं, उन के 'दन्त-नख-आदि' कर्म राजस होंगे। जो मायावी, शठ, ग्राम्य, अनार्य, तामस हैं, उन के 'प्रहणन' 'औपरिष्टक' आदि तामस। 'जैसे भाव, स्त्री-पुरुष के चित्त मे, काम-क्रीड़ा के समय मे, रहेंगे, वे ही अपत्य के चित्त मे प्रधान हो जायेंगे;

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद् दोषः उत्कटः,
प्रकृतिः जायते तेन, (अपत्यस्य; अनुगमो हि अयं)।
(सुश्रुत, शारीरस्थान)।

गीता मे कहा है,

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजति अंते कलेवरं,
तं तं एव एति, कौंतेय, सदा तद्भावभावितः।

'अंतकाल मे, शरीर को छोड़ कर, इस लोक से परलोक को जाने के समय, जो भाव जीव के चित्त मे, अधिक रहता है, वही, दूसरे जन्म मे, उस का प्रधान भाव होता है। तथा, जिस भाव का, नित्य नित्य, सच्चे हृदय से, आवाहन और अभ्यास किया है, वही भाव प्रायः अंत समय प्रबल होगा। एवं, संयोग के समय पति-पत्नी का भाव जैसा होता है, उसी भाव को रखने वाला जीव, उस गर्भाधान मे, परलोक से इस लोक मे आता है। तथा, वह जीव भी, कर्मवश, उन संयुज्यमान स्त्री-पुरुष के चित्त मे, अपने चित्त-बल से, अव्यक्त रूप से, अपने अनुरूप भाव को प्रबल करने का यत्न करता है। यह सब आध्यात्मिक, आधिदैविक, शास्त्र के रहस्यप्राय सिद्धान्त हैं।

शुक्र, और शोणित के संयोग के, अर्थात् गर्भाधान के, समय, पैत्तिक, वातिक, वा श्लैष्मिक, अर्थात् सात्विक, राजस, वा तामस, जो भाव स्त्री-पुरुष मे बलवान् हों, उन्हीं के अनुरूप गर्भ की प्रकृति होगी; इस हेतु से, बहुत प्रकार की मानव प्रकृतियों का वर्णन, सुश्रुत, चरक, आदि मे किया है। ज्योतिष के जातक ग्रन्थों मे भी यही अर्थ दूसरे संकेतो से दिखाया है अर्थात् गर्भाधान के मुहूर्त्त मे जो ग्रह बलवान् होंगे, उन के अनुसार,

संतान का स्वभाव, वर्ण, आदि होगा। बृहदारण्यक उपनिषद् मे भी कहा है कि, प्रसंग के समय जैसी वासना स्त्री-पुरुष की हो वैसी संतति होगी; पुराणो मे यही अर्थ ऐतिहासिक उदाहरणो से प्रकट किया है।

हे वर-वधू !, यदि अच्छे जीव को अपने कुल मे बुलाना चाहते हो, और कुल का उत्कर्ष करना चाहते हो, तो सात्त्विक भाव से ही, ऊंची उदार प्रेम-प्रीति से ही, परस्पर स्पर्श करो; नीच, भदेस, पशुवत्, अश्लील, अश्लील, 'होली' के राजस-तामस भावों से नहीं। संस्कृत मे दो धातु हैं, भज और जभ्; इन का बाह्य रूप भी एक दूसरे के विपरीत हैं, और आंतर अर्थ भी; भजन, भक्ति, का अर्थ प्रसिद्ध है। जभन का अर्थ, पशुवत् मैथुन-कर्म।

पाश्चात्य देशों, मे, विविध द्वंद्वों के प्रत्येक अवयव का अनुभव, अत्यन्त ('एक्स्ट्रीम', extreme) हो रहा है; एक ओर यह पुकार हो रही है, कि आबादी बहुत बढ़ती जाती है, संतान का निरोध करो; दूसरी ओर, यह भय दिखाया जा रहा है कि संतान का अति निरोध, विशेष कर शिक्षित शिष्ट दलों मे, हो रहा है; जिस से वार्षिक संख्या, प्रसवों की, सभ्य राष्ट्रों मे, प्रतिवर्ष, गतवर्ष की अपेक्षा से, कम होती जाती है; और यदि ह्रास, इसी अनुपात से, होता रहा, तो कुछ दशकों विंशतिकों मे, नहीं तो कुछ शतकों मे, राष्ट्र, मनुष्य से शून्य हो जायंगे। दोनो आत्यंतिक कोटियों के मध्य का कृत्य, निष्कर्षभूत, वही है जो पहिले कहा; एक जोड़ा दम्पती को एक जोड़ा उत्तम सन्तान हो। पाश्चात्य ग्रन्थों और दैनिक आदि पत्र-पत्रिकाओं के लेखों मे, 'वान्टेड चिल्ड्रेन', (Wanted children, अभिलषित संतति, और 'अन्-वान्टेड चिल्ड्रेन्', unwanted children, अन्-अभिलषित संतति, का विवेक कर के, इस विषय पर बहुत कुछ लिखा पढ़ा जा रहा है। भारत मे जल्दी ब्याह, जल्दी बच्चे, जल्दी मौत — यही नियम सा हो रहा है।

जब (१८९८-१९१४ ई०) काशी के सेन्ट्रल हिन्दू कालिज का मै अवैतनिक सेक्रेटरी था, अक्सर लोग, अपने लड़कों को ले कर, मेरे पास आते थे और कहते थे, 'यह लड़का आप ही का है, इस को खिलाने-पिलाने पढ़ाने-लिखाने रोजगार लगाने का प्रबन्ध कर दीजिये, आप ही इस के पिता हैं;' मै दुःख से उन से पूछता था, 'भाई ! पैदा करने के

लिए आप पिता, और पालने-पोसने के लिए मै पिता, यह कैसी बात करते हो ?; उत्तर मिलता था, 'यह तो ईश्वर के देन हैं'; विवश हो कर मै प्रत्युत्तर देता, 'यदि दम्पती को, संतान, ईश्वर के देन है, तो उन की रक्षा-शिक्षा भरण-पोषण का कृत्यधर्म भी उसी दम्पती को, ईश्वर का देन है।' अभागे भारत मे, धर्माभासों के प्रचारकों के दम्भ से, अपना बोझ, दूसरे के सिर लाद देने की प्रवृत्ति अत्यन्त हो गई है। प्राचीन काल मे, इस मिथ्या धर्म, तामस भाव, के विपरीत, सत्य धर्म, सात्त्विक भाव, का प्रचार बहुत था। पुराण-इतिहास मे सैकड़ों उपाख्यान हैं, जिनमे कहा है, कि इन दम्पती ने, ऐसी ऐसी भारी तपस्या की, इस वासिते (वास्ते) कि हमे ऐसी ऐसी उत्तम संतान हो, और अपने इष्ट-देवता-रूप-धारी जगदात्मा अन्तरात्मा से वैसी अभिलषित संतति का वर पाया;

> उपवासैः, तपस्याभिः, विविधैश्च व्रतैरपि,
> लभन्ते मातरो गर्भान् मासांश्च दश बिभ्रति। (म० भा०, शां०)

'बहुत व्रत, उपवास, तपस्या, मान-मनौती कर के, स्त्रियाँ गर्भ प्राप्त करती हैं; और दस महीने तक, अपने शरीर के भीतर ही, उस का धारण पोषण करती हैं'। तथा, अन्य उपाख्यानो मे यह दिखाया है कि, राजस तामस भावों से जब मैथुन हुआ, तब अभिलषित दैत्य, राक्षस, आदि उत्पन्न हुए। बृहदारण्यक उपनिषद् मे, मनुस्मृति मे गर्भाधान-संस्कार की पद्धति मे, वर-वधू को स्पष्ट शिक्षा दी है कि, इस प्रकार के सात्त्विक भावों और उत्कृष्ट सन्तान की प्रार्थनाओं के साथ, संगम करना चाहिये; तथा यह भी, कि पुं-संतान के लिये ऐसा उपाय, स्त्री-सन्तान के वासिते ऐसा, ब्राह्मण-प्रकृति वा क्षत्रिय-प्रकृति वा वैश्य-प्रकृति की संतति के लिए ऐसा, उपाय, भोजन आदि, करना चाहिये।

मैथुन के अष्टांग, पृ० २७४ पर कहे; तथा क्रिया निष्पत्ति के, (जिस को संप्रयोग, सुरत, रत, इत्यादि भी कहते हैं), उस के अवांतर अंग अभी ऊपर (पृ० २६६) कहे। इस के विपरीत, योग के अष्टांग, "यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयः" भी, पृ० २७४ पर, कहे। योग-समाधि के अवांतर भेद, चार संप्रज्ञात और दो असम्प्रज्ञात (सबीज और निर्बीज वा कैवल्य) कहे जाते हैं। इन दोनो के बीच मे, जभन (रति, रत) के विपरीत, भजन, भक्ति, सात्त्विक प्रीति,

के आठ अंग अभी, पृ० ३५९ पर कहे। पाठक सज्जन इन अष्टकों के अंगों के सामानाधिकरण्य ('कारेसपांडेंस', correspondence) और सादृश्य वैदृश्य पर विचार करैं।

एक अन्य बात की ओर भी, इस सम्बन्ध मे, ध्यान दिलाना उचित है। वधू-वर को, चित्त मिलने से पहिले, शरीर मिलाने की अति त्वरा नहीं करना चाहिये। कुमारियों को 'हिस्टीरिया', hysteria; योषाऽपस्मार; कुमारों को 'एपिलेप्सी', epilepsy, पुरुषऽापस्मार; तथा अन्य प्रकार के रोग, heart-disease 'हृद्रोग'; 'न्यूरैस्थीनिया', neurasthenia, दिमाग की कमजोरी, नाडीदौर्बल्य; 'स्पर्माटोर्हिया' spermatorrhea, शुक्रमेह; ल्यूकार्हिया, leucorrhea, योनि-द्रव-स्राव; कन्वल्शन्स', convulsions, आक्षेपकं; आदि, अतित्वरा-कृत, वा बलात्कार-जनित, साध्वस से, हो जाया करते हैं। पुरुषों द्वारा कन्यादूषण, स्त्रियों द्वारा कुमारदूषण, यों भी महापातक होते हुए, इस कारण से और भी घोर हो जाते हैं। वात्स्यायन ने भी इस विषय मे चेतावनी की है, और पवित्र प्राचीन वैदिक विधि का हवाला दिया है, कि नव-विवाहित वधू-वर तीन रात्रि तक ब्रह्मचर्य न छोडैं, परस्पर मन ही मिलावैं, फिर तन मिलावैं।

वात्स्यायन कामसूत्र (अधिकरण ५, प्रकरण २५) मे लिखा है, "कुसुमसधर्माणो हि योषितः (कन्याः, नवविवाहिताः), सुकुमारोपक्रमा ; ···प्रसभं उपक्रम्यमाणाः सम्प्रयोगद्वेषिण्यो भवति; (अतः) न प्रसह्य किंचिद् आचरेत्"। 'स्त्रियों की प्रकृति, फूलों सी कोमल होती है; यदि पति हठ और बल से मैथुन मे अतित्वरा करै, तो, यदि रोग नहीं तो, वधू के चित्त मे, सदा के लिये, मैथुन क्रिया की ओर घृणा और द्वेष हो जाता है।

(ख) तृतीया प्रकृति—इस की चर्चा स्यात् ज्ञानांग मे होना चाहिये था। अथवा, अष्टांग मैथुन से इस का सम्बन्ध है, इसलिये रसांग मे भी होना अनुचित नहीं। यों तो सब विषयों का सब से सम्बन्ध है। तृतीया प्रकृति की चर्चा पृ० २२७-२२८ पर की जा चुकी है।

'तृतीया प्रकृति' शब्द का प्रयोग वात्स्यायन ने कामसूत्र मे किया है, और एक अध्याय मे इस विषय पर बीभत्स 'औपरिष्टक' मैथुन के सम्बन्ध मे लिखा है। शब्द का अक्षरार्थ तो यही है कि, स्त्री-प्रकृति पुरुष-प्रकृति दोनो से भिन्न और अन्य, तीसरी प्रकृति; अंग्रेजी लेखकों ने

भी 'थर्ड सेक्स' third sex, 'इंटर्मीडियेट सेक्स', intermediate sex, शब्दों का प्रयोग किया है। इस के कई अवांतर प्रकार कहे जा सकते हैं। एक तो, जो न स्त्री और न पुरुष, अर्थात् जिस मे विशेषक व्यावर्त्तक स्त्री चिह्न या पुरुष चिह्न व्यक्त न हो, मूत्र स्थान का छिद्र मात्र हो। इसी के लिए नपुंसक शब्द ठीक होगा। दूसरा अवांतर भेद, पुरुष स्वभाव वाली स्त्री, 'पोटा' जिस मे स्त्री का मुख्य चिह्न तो स्पष्ट हो, पर स्तन नितम्बादि पूर्ण रूप से विकसित न हो, और कुछ पुरुष चिह्न, जैसे श्मश्रु-रेखा कूर्च-रेखा आदि देख पड़ैं। तीसरा भेद, स्त्री स्वभाव वाला पुरुष, भ्रुकुंस, जिस मे पुरुष का मुख्य चिह्न स्पष्ट हो, पर श्मश्रु कूर्च आदि का प्रायः अभाव हो, हड्डियां पतली, पेशियां कोमल, स्वर स्त्रीवत्, इत्यादि हो। चौथा भेद, ऐसे भी पुरुष देखे गये हैं, जिन मे लिंग भी है और भग (छिद्र) भी; तथा, पांचवां भेद, ऐसी स्त्री भी, जिन मे भगछिद्र भी है, और लिंग भी; (सभी स्त्रियों को भग के मुख के ऊपरी भाग, छत, मे, एक लम्बी पतली मांस की गांठ सी होती है; अंग्रेजी मे इसे 'क्लिटोरिस', clitoris, कहते हैं; हिन्दी मे, 'हमारे शरीर की रचना' नामक ग्रन्थ मे, डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा ने, इस को 'भगनासा वा भगांकुर' का नाम दिया है; कामोद्वेग से, इस मे रुधिर भरता है, और यह फूलती है, जैसे पुरुष का शिश्न; किसी-किसी स्त्री मे यह भग नासा बहुत बड़ी और लम्बी होती है, यहां तक कि भग के मुख के बाहर लटकती है, पुरुष-लिंग सी) ऐसी स्त्रियों को लिंगिनी कहा है।* शारीर विज्ञान के पाश्चात्य विशेषज्ञो ने लिखा है कि, पूर्ण रूप से विकसित स्त्री और पुरुष शरीरों मे, सिर से पैर तक प्रत्येक अंश मे भेद देख पड़ता है। यदि एक 'दक्षिण' है तो दूसरी 'वाम'। स्त्री का नाम 'वामा' अर्थपूर्ण है। पृथ्वी पर, जीव-सृष्टि के आदि काल के युगों मे, अलिंग और उभय-लिंग सृष्टियों की चर्चा पृ० २८६-२८७ पर की गई है। यह भी कहा गया है कि मानव जाति मे, स्त्री मे पुरुष के, पुरुष मे स्त्री के, चिह्न भी, अव्यक्त रूप से, अभी भी पड़े हैं। ये उभयलिंग सृष्टि के स्मारक हैं। और क्या, प्रत्येक व्यक्ततर शरीर

---

* वात्स्यायन-काम-सूत्र की टीका मे जो अर्थ इस शब्द का किया है, वह ठीक नहीं है।

के भी, दक्षिण और वाम अर्ध मे कुछ न कुछ असमानता रहती ही है। स्यात् ही कोई स्त्री या कोई पुरुष हो, जिस के चेहरे के दाहिने और बायें अर्ध, ठीक-ठीक एक-दूसरे के बिम्ब प्रतिबिम्ब हों। यह सब प्रकृति के हृदय मे बसी हुई द्वंद्वता का कार्य है, जो अव्यक्ति, अर्ध-व्यक्ति से, सृष्टि मे नये नये भेद पैदा करती हैं। तृतीया प्रकृति, और उस के अवांतर भेदों, मे भी यही कारण है।

समय-समय पर, वार्त्ता-पत्रों मे, विशेष कर पाश्चात्य आयुर्वेद के 'मेगजीनों', 'जर्नलों', साप्ताहिक मासिक पत्रों मे, खबर देख पड़ती है कि, अमुक देश मे, अमुक स्त्री को, यौवन प्रवेश के समय, पुरुष चिह्न विकसित होने लगे, तथा अमुक पुरुष को स्त्री चिह्न; तथा तिर्यग्योनियों मे, जो पहिले कुक्कुट था वह कुक्कुटी हो गई; या कुक्कुटी, कुक्कुट हो गया; इत्यादि। पुराणो की इला-सुद्युम्न, ऋक्षरजा, शिखंडी आदि के लिंग-परिवर्तनो की कथा, इस प्रसंग मे स्मरणीय है। पुंसवन संस्कार का भी आधिदैविक-आधिभौतिक रहस्य, इन्हीं विचारों और तथ्यों की सहायता से, समझ मे आ सकता है।

पश्चिम मे इस विषय पर भी, बड़ी खोज कर के, बड़ा साहित्य बन गया है। और ऐसी प्रकृति के लोगों के स्नेह-काम' आदि का संग्राहक नाम 'होमो-सेक्सुऐलिटी', homo-sexuality, रख दिया गया है; जैसे भिन्न-लिंग जनो के 'स्नेह-काम' आदि का नाम 'हेटरो-सेक्सुऐलिटी', hetero-sexuality, रक्खा है। 'हेटरो' ग्रीक शब्द है, यह तथा अंग्रेजी 'अदर', other, संस्कृत 'इतर' के रूपांतर हैं। एवं, 'होमो', 'सेम', same, सम, समान, के। 'होमो-सेक्सुऐलिटी' का ठीक अक्षरार्थ तो 'सम', स्त्री स्त्री का, पुरुष-पुरुष का, 'स्नेह काम' है। पर तृतीया प्रकृति के सभी अवांतर भेदों का संग्राहक हो रहा है।

जर्मन भाषा मे, पुरुष-'होमो-सेक्सुअल' को 'अर्निङ्', urning, और स्त्री-'होमो सेक्सुअल' को 'अर्निन्डे' urninde, कहते हैं।

प्रायः सभ्य कहलाने वाले सभी देशों मे, इधर बहुत वर्षों से, 'होमो-सेक्सुऐलिटी' के प्रकार, लज्जास्पद, घृणास्पद, निन्दनीय, समझे जाते हैं। इन के अन्तिम, आभ्यन्तर, प्रकार, (गुदा मे लिंग-प्रवेशन) दण्डनीय भी समझे जाते हैं, और अक्सर देशों के दण्ड-विधानो ('पीनल कोड', penal

code) मे दर्ज्य हैं। गवेषकों के लेखों से जान पड़ता है कि, 'समान लिंगों' के सख्य मं, 'सम्प्रयोग' के अष्टाङ्ग में से जो बाह्य अंग या उपचार हैं प्रायः उन्हीं से लोग संतोष कर लेते हैं; अन्तिम अंगों की नौबत कम आती है। कचहरियों मे मुकद्दमे भी कम होते हैं, यद्यपि इस के अन्य कारण भी हैं, जिनका जिक्र पहिले किया गया है। (पृ० २२०-२२६)

'धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः', 'महाजनो येन गतः स पन्थाः', जिस मार्ग पर 'महाजन', जनता का भूयसीय, महान् अंश, अधिकतर भाग, चलै, वही धर्म मार्ग हो जाता है* जिसको वह निंद्य माने, वही अधर्म हो जाता है। जनता के, 'महाजन' के, हृदय की प्रेरणा करने वाली, "वासना वासुदेवस्य, वासितं सकलं जगत्", वासुदेव की, जगद्वासी व्यापक अन्तरात्मा की, वासना होती है। वह जिस को चाहे अधर्म, जिस को चाहे धर्म बना सकती है, और बना देती है। विवाहों के विविध प्रकारों का उल्लेख ऊपर हुआ है। (पृ० २८८-३०२)। अपने-अपने देश काल मे वे धार्मिक रहे हैं, अन्य देश काल में अधार्मिक। इस समय, तृतीया प्रकृति के कामिक व्यापार, सभ्य देशों मे, 'अप्राकृतिक' ('अन्नैचुरल आफ़ेन्स्' unnatural offence) समझे जाते हैं; किन्तु पश्चिम के देशों मे, इस विषय मे भी, लोकमत मे परिवर्तन हो रहा है; जैसा विवाह और स्वच्छन्दता के, संताननिरोध के, परिग्रह और साम्यवाद आदि के, विषयों मे। पहिले समझा जाता था कि तृतीया प्रकृति के मानव बहुत कम होते हैं; अब वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि, यथा एक ही देश, जर्मनी, मे, (तीस चालीस वर्ष पहिले) प्रायः सात करोर की आबादी मं, प्रायः बीस लाख इस प्रकृति के थे; तथा अन्य देशों मे भी कुछ ऐसे ही अनुपातों

---

* "न राज्ञां महामात्राणां वा परभवनप्रवेशो विद्यते, महाजनेन हि चरितं एषां दृश्यते, ऽनुविधीयते च"—इस (५-५-१) सूत्र से स्पष्ट है कि वात्स्यायन ने भी 'महाजन' शब्द से जनसमूह समझा है। अर्थ, सूत्र का, यह है, कि राजाओं और महामंत्रियों को पारदारिक व्यभिचार के लिये, पराये घरों मे प्रवेश नहीं करना चाहिये; क्योंकि महा-जन, जन-समूह, इनके चरितों को देखता रहता है, और उन का अनुकरण करता है।'

से हैं;* और, लोग कहने लगे हैं कि, आखिर ये भी प्रकृति देवता की संतान हैं; इन का स्वभाव ऐसा ही निसर्ग से है; तो ये लोग अपनी वासना के, अपनी विशेष प्रकृति के, अनुसार, अपना जीवन क्यों न बिताने पावें? बीच-बीच मे, इस विषय पर कानून मे परिवर्त्तन कराने की चर्चा भी उठती रहती है; हाँ, किसी कुमार, कुमारी, या युवा, युवती, पर कोई बलात्कार करै, या उस को साध्वस पहुँचावै, या प्रलोभन कर के उस का दूषण करै, या व्यभिचार या अपहरण करै, तो अवश्य उस को उग्र दण्ड दिया जाय। कुछ लोग तो, मानव-संख्या-वृद्धि के निरोध का, इस प्रकार के कामीय सख्य को, एक उपाय बताने लगे हैं। दूसरी ओर, लोग कहते हैं कि, यह सब बात समाज को भ्रष्ट करने वाली हैं; यदि कानून का भय ऐसे सम्बन्धों से हटा लिया गया, तो, संचारी रोग के ऐसी, यह दूषित प्रथा फैलेगी; इत्यादि। प्राचीन काल मे, ग्रीस, ईरान, आदि देशों मे, तथा यूरोप की 'अर्ध सभ्य' जातियों मे, मध्य काल मे मुसल्मानी राज्यों मे, यह प्रथा, कानून से, निर्दोष समझी जाती थी और खुली थी। तथा अब भी कुछ नव्वाबी रियासतों मे ऐसा है; यहाँ तक सुनने मे आता है कि, किन्हीं नव्वाबी रियासतों मे पुरुष-पुरुष का 'विवाह' भी, क़ाजी के सामने, किया जा सकता है। पर निष्कर्ष यह जान पड़ता है कि, सब प्रकार का बलात्कार, धोखा देना, प्रलोभन करना, उग्र दण्ड से दण्डनीय है; तथा, साधारण रीति से, 'महाजन' की दृष्टि मे, 'होमोसेक्सुऐलिटी' निन्दनीय है, पर दंडनीय नहीं। किन्तु स्कूलों, मद्रसों, पाठशालाओं मे, अबोध सुकुमार बालकों की, दुष्ट अध्यापकों तथा सयाने छात्रों से, रक्षा का प्रबन्ध होना आवश्यक है; पृ० १८३-२९०, २२०-२२६, पर, इस की चर्चा की गई है; सोलह वर्ष से कम वयस् के साथ अप्राकृतिक अपराध, जिस सयाने पुरुष पर कचहरी मे साबित हो, उस को उग्र दंड देना आवश्यक है।

रसाङ्ग की रूप रेखा को यहाँ समाप्त कर, क्रियांग का विचार करना चाहिये।

---

* १८९५ ई० मे, लंडन नगर मे, आस्कर वाइल्ड नाम के एक प्रसिद्ध कवि और आख्यायिका लेखक को, ऐसे ही 'अन्नैचुरल ओफेन्स' के जुर्म के लिये, दो वर्ष कारावास का दंड मिला; उस मुकद्दमे मे और भी कई उच्चपदस्थ पुरुषों के नाम लिये गये थे।

क्रियाङ्ग

क्रियांग मे—

(क) गृह की सामग्री का वर्णन, अल्प, मध्यम, और वहु वित्त के गार्हस्थ्य के अनुसार, सर्वोपयोगी सामान्य रूपों से, होना चाहिये।

(ख) एवं चतुःषष्टि कलाओं का, और उन की सामग्री का भी। देश के सर्वाङ्गीण शील के ह्रास के हेतु से, ब्रह्म और क्षत्र, ज्ञान और साहस, सरस्वती और दुर्गा, भारत से, हट गई; अतः, 'काम' की माता लक्ष्मी, और उन की चौसठ अनुगामिनी परिचारिका कला-देवियाँ भी हट गईं, अव तो, एक होली के दिन, 'चौसट्ठी' देवी की मूर्ति पर फूल पत्ता पानी फेंकना, पैसा चढ़ाना, भांग पीना, अश्लील भदेस वकना— यही 'चतुः षष्टि' कलाओं की पूजा के स्थान मे रह गया है; काशी मे तो यही देख पड़ता है। यदि गीत-वाद्य-कला की कुछ चर्चा है, तो प्रायः नितांत निरक्षर लोगों के हाथ मे है, जो यह नहीं जानते पहिचानते, कि उत्तम सङ्गीत के लिए, न केवल उत्तम स्वर, अपितु उत्तम शब्द, उत्तम रसमय अर्थ, ('हस्त', 'क्रिया') उत्तम हाव, उत्तम भाव, सभी आवश्यक हैं। इधर वहुत वर्षों से, कुलपुत्रियों कुलवधुओं को गाना वजाना सिखाना, दोष समझा जाता रहा है। पुराण कथा मे सुनते हुए भी नहीं सुना जाता रहा है, कि सरस्वती देवता और नारद ऋषि वीणा मे प्रवीण हैं, कृष्णावतार वंशी मे, स्वयं शिव तांडव मे। महाभारत मे कथा है कि गंगा देवी, मनोहर हाव, लास्य, नृत्य गीत से, अपने पति शांतनु महाराज की प्रीत का नित्य वर्धन करती थीं; तथा अर्जुन ने, वृहन्नड़ा के प्रच्छन्न रूप मे, विराट की पुत्री उत्तरा को नृत्य, गीत, सिखाया, और पीछे अपने पुत्र अभिमन्यु से व्याहा। भारत के दक्षिण प्रान्तों मे, तथा पूर्व प्रांत वंग मे, भाग्यवशात् इस विषय मे अभी भी वुद्धि मलिन नहीं है। वहाँ कौटुम्विक जन, यथाशक्ति, गीत वाद्य सीखते हैं, और एक दूसरे का मन, घर के भीतर ही, वहलाते हैं। वेश्या के पीछे दौड़ने मे एक विशेष हेतु यह होता है, कि घर के भीतर ही पुरुषों को, ये सव, ललितकलाओं से जन्य, सुख नहीं मिलते। पर न मिलने का दोष उन्हीं का है, कि वे अपने वालक वालिकाओं को, विशेष कर वालिकाओं को, इस विषय की शिक्षा देने का प्रवन्ध नहीं करते।

चतुःषष्टि कलाओं की पांच मुख्य राशियां, पंच ज्ञानेन्द्रियों के अनुसार, करना उचित होगा: जो बच जायँ उनका गौण राशियां, उपयोगिता के अनुसार। इन मे तीन राशि प्रधान होंगी; १–सुस्वादु और हितकारक भोजन बनाने क; २–"सूत्र-वान-सूची-कर्म,…कार्पासस्य कर्त्तनं, वानं, च" (कामसूत्र, १-३-१६, ४-१-३३), अच्छा सूत कातने, कपड़ा बीनने और सीने की; ३–ऐसी कन्दुक आदि की क्रीड़ाओं की, जिन से व्यायाम का काम निकलै। यहाँ आयुर्वेद का आदेश, 'अर्ध-प्राणेन व्यायच्छेत्,' याद रखना उचित है, अर्थात् 'कसरत्' मे आधी शक्ति लगावै, अपने को सर्वथा न थका डालै, सब शक्ति का व्यय न कर दे। इस रीति से, इन तीन प्रधान कलाराशियों की शिक्षा पा कर, गृह-पत्नी, गृह की (१) अन्नपूर्णा (२) वस्त्रपूर्णा, (३) प्राणपूर्णा, सभी, जैसा चाहिये वैसी होंगी। गृहपतियों के लिये भी, कला-कौशल कुछ न कुछ सीखना इष्ट तो अवश्य है; पर प्रकृति के भेद से, तथा कर्त्तव्य के भेद से, स्त्रियों के हिस्से मे घर के भीतर के कृत्य और कला, और पुरुषों के हिस्से मे घर के बाहर के जीविका-साधक और बल-साध्य कृत्य, पड़े हैं। जब रोज़गारी कार्यों से थका गृहपति घर मे आवै, तो गृहकर्म से थकी गृहपत्नी और बच्चा और अन्य कुटुम्बी जनों के साथ बैठ कर, पत्नी के कला कौशल से, और सब के परस्पर प्रेममय वार्तालाप से, सब को आनन्द आवै, और सब की थकावट दूर हो जाय—यही उत्तम गार्हस्थ्य का फल है।

(ग) औपनिषदिक अधिकरण—इस में, असाधारण अवस्थाओं के लिये, उपयोगी उपकरणों और दवाओं का वर्णन होना चाहिये।

क्रियाङ्ग के सभी विषयों मे भारतवर्ष के पास सामग्री अच्छी है; परन्तु जीर्णोद्धार की बहुत आवश्यकता है। पाश्चात्य ज्ञान से, अपनी सामग्री को अधिक सम्पन्न करने के लिये, नये आविष्कारों का लाभ उठाने के लिए, यदि कुछ लेवे, तो पश्चिम के देशों को कुछ दे भी सकता है।

पुराणों की कई कथा इस प्रसङ्ग मे लिखने योग्य हैं। च्यवन ऋषि को, अश्विनी कुमार ने, जलाशय मे स्नान करा के, और औषध खिला के, वृद्ध से पुनः तरुण बना दिया, आज तक एक विशेष

प्रसिद्ध औषध योग का नाम 'च्यवन-प्राश' ही है। ययाति ने अपने वेटे पुरु से वार्धक्य और यौवन का विनिमय कर लिया। अहल्या से व्यभिचार करने के बाद इन्द्र को सहस्र व्रण हो गये, और उन के दोनों अंडकोष सड़ कर गिर गये; ऋषि के प्रसाद से व्रण अच्छे हुये, और जो दाग रहे वे नेत्राकार हो गये, तथा देववैद्य अश्विनीकुमारों ने मेष के वृषण उन को लगा दिये, जिससे वे 'मेष-वृषणः' कहलाने लगे। द्रौपदी के पांच विवाह हुए, प्रत्येक बार पति से प्रसंग के बाद, पुनः कन्या हो गई। तथा कुन्ती, सूर्य से कर्ण को जन्म देने के बाद, पुनः कन्या हो गई। 'कन्या' शब्द का निर्वचन, आज काल, 'कन्यते, काम्यते, इति', किया जाता है, (भानु दीक्षित की 'अमर कोष' की 'रामाश्रमी टीका'); पर इस अर्थ से, पुराण की कथा सार्थ नहीं होती। विचारने की बात है, कि 'अक्षत-योनि' कन्या की योनि के, अर्थात् गर्भाशय को जाने वाले मार्ग, भग, के मुख पर, एक झिल्ली का पर्दा रहता है जो उस मार्ग को बन्द किये रहता है; कभी बहुत पतला होता है, कभी इतना मोटा कि 'आपरेशन,' (शस्त्र कर्म) से चीर देना पड़ता है; किसी को नहीं भी रहता, जब रहता है, तब पहिले प्रसङ्ग मे 'क्षत' होता है, 'पर्दा फट जाता है:' अब कुछ लेखक, जो इन विषयों पर हिन्दी मे लिखते हैं, इस झिल्ली को 'कुमारी-छद', 'भगच्छद', कहने लगे हैं, अंग्रेजी नाम 'हाइमेन' ('मेडन-हेड', भी) है।* अंग्रेजी शारीर शास्त्र (एनाटोमी') के ग्रन्थों मे लिखा है कि, इसके न रहने से, यह सिद्ध नहीं जानना चाहिये, कि स्त्री 'क्षतयोनि' है, अक्सर, शुद्ध कुमारियों को भी यह झिल्ली नहीं रहती। विचारने की बात है कि, 'कनी' या 'कनि' शब्द का, प्राचीन काल मे इस 'कुमारी-छन्द' के अर्थ मे प्रयोग होता था, या नहीं। यदि होता था, तो पुराण की आख्यायिका सार्थ हो जाती है; कोई विशेष उपाय उस काल मे विशेषज्ञों को विदित रहा होगा, जिस से फटी झिल्ली पुनः पूर्ववत् हो जाती हो; लैटिन भाषा मे, 'कीन'† शब्द का अर्थ, कुछ भगच्छद सा ही जान पड़ता है।

इसी सम्बन्ध मे, कर्ण-वेध' शब्द का अर्थ भी विचारणीय है। आज काल, इस का अर्थ प्रसिद्ध ही है, दोनों कानों की लहरों मे सूक्ष्म छिद्र

---

* Surgieal operation; hymen; maidenhead; anatomy.
† Cunni.

बना देना, कुण्डल आदि पहिनने के लिये, आभूषणार्थ; विचारना यह है कि, भारत मे भी, किसी पुराकाल मे, इस का अर्थ 'सर्कम्सिशन'* था, या नहीं। अंग्रेजी के इस शब्द का अर्थ यह है जिस को मुसलमान 'ख़तना' कहते हैं; यहूदियों और मुसलमानों मे, हर एक लड़के का यह संस्कार (रस्म. सुन्नत) किया जाता है; अर्थात् 'प्रीप्यूस, फोरस्किन', 'लिंग मणि-च्छद', का अगला टोंका काट दिया जाता है:‡ 'धार्मिक अदृष्ट', पुण्य भी, इस मे मानते हैं, और ऐहिक 'दृष्ट' लाभ यह मानते हैं, कि स्त्री-प्रसङ्ग मे, इस से अधिक सौकर्य भी, और मैथुन की चिरस्थायिता भी, होती है। याद रहे कि, कई 'अर्ध-सभ्य' जातियों मे, तथा 'हिन्दुओं' का भी कुछ जातियों मे, (विशेष कर दक्षिण प्रान्तों मे), कुमारियों के भग-च्छद का भी पाटन, (फाड़ना) संस्कारवत्, पत्थर वा धातु के बने इन्द्रियऽकार 'शिव-लिंग' पर 'अर्पण' कर के, बलेन 'बैठा' कर के, कर देते हैं; अथवा सम्प्रदाय के जीवत् और बलिष्ठ 'गुरु' को अर्पण कर के, उस के द्वारा करा देते हैं; अथवा, अंगुलि-प्रक्षेप से ही; विवाह के अनन्तर मैथुन की सुकरता के लिये। अक्सर बालकों का लिंग-च्छद इतना कसा रहता है, कि मणि पर से पीछे नहीं सरकता; मा और धाय, तेल डाल कर, धीरे धीरे, सरकाने का अभ्यास करा देती हैं; इस से भी वही प्रयोजन, अंशतः, सिद्ध होता है जो 'ख़तने' से। ख़तने की रस्म, बहुत देशों, बहुत जातियों, मे फैली थी और है; ईसाइयों ने छोड़ दिया है। यह सब देख कर, मन मे यह शंका उठती है कि, क्या पूर्व काल मे, भारत मे 'कर्ण' शब्द का अर्थ 'लिंग-च्छद' भी, और 'कर्ण-वेध' का अर्थ उस का 'छेदन', तो नहीं था ?; जैसे स्यात् ग्रीक और लैटिन भाषाओं मे, जो संस्कृत भाषा के परिवार मे निकट से अन्तर्गत हैं, 'कनी' या 'कनि', शब्द का अर्थ, किसी समय मे, 'कुमारीछद' ही था; यह विशेषज्ञो के लिये अन्वेषण योग्य है। लिंग-मणि-च्छद के विषय मे विचारणीय है कि, वात्स्यायन-काम-सूत्र (अधिकरण ७, प्रकरण ६२) मे लिखा है, "दाक्षिणात्यानां लिंगस्य, कर्णयोर् इव, व्यधनं, बालस्य; युवा तु, शस्त्रेण छेदयित्वा, यावद् रुधिरस्य

---

* Circumcision.

‡ Prepuce; foreskin.

आगमनं, तावद् उदके तिष्ठेत्"; इत्यादि। 'दाक्षिणात्य लोग, बालक का जैसे कर्ण-वेध करते हैं, वैसे लिंग व्याध भी; युवा तो, अधिक मांस को स्वयं काट कर, तब तक पानी में बैठा रहे जब तक रुधिर बन्द न हो जाय।' सूत्र का अर्थ यह नहीं है, कि, जैसे कान का लहर मे, वैसे आर पार नोकीली सूई या तार से छेद कर दिया जाय; मणि या दंडिका का निर्देश न करने से ही यह सिद्ध होता है कि सूत्र का ऐसा आशय नहीं है; न किसी जाति मे ऐसी क्रिया होती है, (सिवा कुछ 'अलख-पन्थी' आदि 'साधुओं' मे); जो लिंग मे लोहे का कड़ा डाले रहने का ढोंग करते हैं। सूत्र का आशय है कि जैसे बाल्यावस्था मे, कर्णवेध किया जाता है, क्योंकि उस समय क्लेश कम होता है, वैसे ही लिंगमणिच्छद का व्यधन भी बाल्यावस्था मे कर देना चाहिये; अनवधान से रह जाय, और बाद मे बीमारी हो, या, विवाहानन्तर, मैथुन मे विघ्न हो, तब युवाऽवस्था मे भी किया जाय। रुधिर का आगमन, लहू का आना अर्थात् बहना, रोकने के लिये, पानी में बैठाने के बदले, अब तो दूसरे उपायों का, औषधों के लोगों का, प्रयोग करते हैं। किसी किसी बच्चे के मणिच्छद का मुख इतना छोटा रहता है, और सम्पूर्ण छद इतना कसा रहता है, कि मूल निकलना कठिन हो जाता है; तब, शस्त्रकर्म के सिवा दूसरा चारा नहीं। जिन बालकों का मणिच्छद इतना छोटा नहीं है, पर कुछ कसा है, उन को भी, यदि माता वा धाय लापर्वाई करैं, तो भीतर भीतर सफ़ेद सफ़ेद मैल जमा हो जाती है, और छद मे शोथ (सूजन, 'सोज़') हो जाता है; (अंग्रेजी मे इस रोग को 'फाइमोसिस', कहते हैं।* यह शोथ तो, अक्सर, घरेलू दवाओं (यथा घिसी सुपारी के लेप) से ही अच्छा हो जाता है; अधिक बिगड़ जाने पर शस्त्रकर्म की शरण लेना पड़ता है। स्त्रियों का मूत्र-छिद्र, भाग-छिद्र से भिन्न होता है; इस लिये, किसी बालिका का भग-छद बहुत मोटा और निश्छिद्र भी हो, तो भी, बाल्यास्था मे मूत्र का अवरोध नहीं करता; हां, रजो-रुधिर की प्रवृत्ति को, यौवनारम्भ मे, रोकता है, जिस से रोग उत्पन्न होते हैं; उस समय शस्त्रकर्म की आवश्यकता होती है; एवं, विवाहानन्तर, मैथुन मे रुकावट होने से भी। इन सब विषयों पर, विविध जातियों के विविध

---

* Phimosis.

आचारों का, पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने बहुत अन्वेषण और वर्णन किया है। इत्यादि।*

---

* 'वैद्यरत्न' कविराज श्री प्रतापसिंह जी, भारतीय आयुर्वेद के तो विशेषज्ञ हैं ही; आप ने पाश्चात्य शारीर-शास्त्र का भी, मेडिकल कालेज मे, अंग्रेजी ग्रन्थों से, तथा शल्य-शालाक्य आदि शस्त्र-कर्म का प्रयोगशाला मे, पर्याप्त अध्ययन किया है; १८-१९ वर्ष से काशी विश्व-विद्यालय के आयुर्वेद विद्यालय व औषधशाला के अध्यापक और अध्यक्ष हैं; हाल मे दो वर्ष का अवकाश ले कर आप नयी दिल्ली मे रहते थे; वहां एक आर्य औषध भांडार और बृहत् आयुर्वेद पाठशाला को चला देने के लिये। उन से, मैंने, 'कन्या', कर्ण-वेध, आदि के विषय मे, पत्र-व्यवहार किया। उन के उत्तरों मे से उपयुक्त अंश नीचे देता हूँ।

"मै आप के विचारों से प्रायः सहमत हूँ; पर मेरा शास्त्रीय ज्ञान और व्यवहार ज्ञान इस विषय मे ऐसा है; कि कुन्ती और द्रौपदी राज-महिषी थीं; राजाओं के यहां, प्रसव के बाद, स्त्री की जननेन्द्रिय को कन्यावत् बनाने के लिए, अनेक उपचार किये जाते हैं, कि स्तन और जननेन्द्रिय मे शैथिल्य न आने पावे, और पति-पत्नी को पूर्ववत् सुरत सुख मिलता रहे। इस के लिए अनेक, औषधोपचार, आज दिन भी व्यवहार मे आ रहे हैं।"

(पाश्चात्य प्रसूति-चिकित्सा मे, 'अर्गाट', ergot, नामक औषधि आदि का प्रयोग होता है; तथा शराब मे अल्प काल के लिए स्त्री के जघन को रखने का; योनि-संकोचन के लिए; पर गृहस्थ को, बिना विशेषज्ञ डाक्टर या 'मिड वाइफ' mid-wife, के परामर्श के, ऐसे किसी प्रकार का, अपने मन से, प्रयोग नहीं करना चाहिये)।

"कुन्ती आदि का पुनः कन्या हो जाना, इसी रूप से संभव है। अन्यथा, कुमारीछद का, एक बार फट जाने पर, शारीर-शास्त्र की दृष्टि से, फिर जुड़ जाना संभव नहीं। छेदन के बाद, छद का मांस, भगोष्ठ के भीतरी भाग मे संकुचित हो जाता है; वहां से, पुनः प्रसारित हो कर जुड़ना सम्भव नहीं। अदृढ़-लिंग पुरुषों को, कन्या-स्त्रियों के भगच्छद के छेदन का विधान, प्राचीन रस-शास्त्रों मे है। इस क्रिया के लिये जो यंत्र बनाते हैं उसे 'जलौका' कहते हैं; और पारद के संस्कार मे इस का

आज काल, पश्चिम मे, शरीर के सभी अवयवों की सामान्यतः पुष्टि के लिये, और विशेषतः क्षीण मैथुन-शक्ति के पुनः सम्पादनके लिये, 'इलेक्ट्रिक बाथ.', eiectric-bath. देते हैं। चीन और भारत से, पाश्चात्यों ने, रहस्य औषध भी कुछ सीखे हैं; पर अभी वैसे 'रस' नहीं बना सकते। नये नये, 'योहिम्बिन', yohimbin, 'कोकेन', cocaine,

---

उल्लेख है। इस के निर्माण मे, पारद, स्वर्ण, नाग ('लेड', सीसा), व अनेक वनस्पतियों की भावना और पुट के विधान हैं। "बाल्ये च अष्टांगुला योज्या, यौवने च दशांगुलां, द्वादशैव प्रगल्भानां, जलौका त्रिविधा मता", इस की दीर्घत्व-सूचक मात्रा भी लिखी है।

"पुरुषों मे लिङ्गच्छद का छेदन जैसा वात्स्यायन ने लिखा है, वैसा हिन्दुओं मे प्रचलित इधर नहीं है; किन्तु चतुर माताएँ, बालक के लिंगच्छद को, तैलादि लगा कर, जलधारा से मृदु क्रिया द्वारा, ऊपर चढ़ाने का यत्न सर्वत्र करती हैं। इस छद को चढ़ता उतरता रखना, आनन्द की दृष्टि से आवश्यक है। मुसल्मानो मे, इसके अग्रभाग को काट कर पृथक् कर देनेसे, लिङ्ग-मणि का स्पर्श ज्ञान, रूखे वस्त्रादि के स्पर्श से, न्यून हो जाता है, इस लिये उन मे बालिका-मैथुन और बाल-गुद-मैथुन प्रचलित है। मै ने, अनेक रोगियों को इस छद को, दिन मे कई बार ऊपर चढ़ा कर रखने का अभ्यास कराया, जिस से शीघ्र वीर्यपात का कष्ट दूर हो गया, और स्तम्भन अधिक होने लगा, तथा उन की स्त्रियों को भी अधिक आनन्द आने लगा। मेरा खयाल है कि, सुशिक्षितों मे, शौच के उद्देश्य से भी, मूत्रोत्सर्ग के पश्चात् जो लिंग-प्रक्षालन प्रचलित है, वह भी इस मे हितकारक है।

"गोरखपुर के जिले मे, अनेक रोगी मै ने देखे हैं, जिनका मणिच्छद सदा ऊपर चढा ही रहता है। अनेक बालकों की भी यही दशा देखी। अन्वेषण किया तो पता लगा कि, वहां माताएँ शिशुओं की जननेन्द्रिय मे; इस को प्रारम्भिक अवस्था ही मे चढा देती हैं; जिस से सहजावस्था मे उनका लिंगाग्रभाग सुदृढ हो जाता है, और किसी प्रकार के छेदन की आवश्यकता नहीं रहती। इस उपयोगी क्रिया का अभ्यास, यदि हिन्दू परिवारों मे उचित रीति से हो, तो प्रायः भला ही हो।"

इस पत्र के पाने पर, मै ने श्री प्रतापसिंह जी से दर्याफ़्त किया, कि भगच्छद के छेदन के लिए, इतने आयास के प्रकार से, और इतनी

आदि का, अमेरिका देश की प्राचीन जातियों से सीख कर, कामोद्दीपन, वीर्य-स्तम्भन, 'इम्साक', आदि के लिये, प्रयोग करते हैं। ऐसे ही अति 'काम' के वेग के शामक द्रव्यों का। उत्तेजक द्रव्य 'आफ्रोसिडीसियाक', aphrodisiac, शामक, 'ऐन-आफ्रोडीसियाक' anaphrodisiac, कहलाते हैं। डाक्टर वोरोनाफ़ के प्रकार की चर्चा की जा चुकी है। अब, पश्चिम मे, और उपाय भी निकाले गये।

यह सब, विज्ञान के विशेष रहस्यों की लीला है। पर साधारण सद्-गृहस्थ का सौभाग्य इसी मे है, कि ऐसे प्रयोगों की आवश्यकता ही उस को न हो, और इन का मुह उस को देखना न पड़े; तथा यह कि, यदि पूर्व पाप-कर्म से कोई खंडितता उस के जीवन मे आ ही जाय, तो सिर झुका कर उस को सह ले, 'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः' के नियम को हृदय मे रख कर संतोष कर ले। 'संतोषाद् अनुत्तमसुखलाभः', यह योगसूत्र है। इस का यह अर्थ नहीं है कि साध्य रोगों को चिकित्सा न करै यह नहीं, बल्कि यह कि कायिक सुख की हिर्स-हवस के मारे, असाध्यप्राय अवस्थाओं को दूर करने का व्यर्थप्राय महा-आयास न करै। तथा यह बात सब के याद रखने की है, कि आयुर्वेद का भी सिद्धान्त यही है, कि सब से उत्तम वृष्य, वाजीकरण, सुभगं-करण, पति-पत्नी का परस्पर स्नेह है।

और विविध लम्बाइयों की 'जलौका' की आवश्यकता क्यों, जब पाश्चात्य प्रकार मे तो एक अच्छे इस्पात (कृष्णायस, 'स्टील') की, छोटी ही, तीक्ष्ण छुरिका से यह शस्त्रकर्म ('आपरेशन') कर दिया जाता है? इस के उत्तर मे उन्हों ने लिखा कि "मुझे प्रश्न पर विचार करना पड़ा। अनेक रस-ग्रन्थों के पर्यालोचन से इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि 'जलौका' यंत्र, केवल भगच्छद का छेदन ही नहीं करता है, किन्तु स्त्री को विषय-सुख का अनुभव भी कराता है। इस के स्पर्श से योनि मे उत्तेजना पैदा होती है, और गर्भाशय के मुख तक प्रवेश पा कर, रति-सुख का प्रदान करता है। संभवतः, भग-मार्गों के भिन्न परिमाणों के अनुसार, इस की दीर्घता की मात्रा भिन्न करनी पड़ी हो। पुरुष लिंग को भी सुदृढ बनाने के लिए 'वलय' बनाने की चिकित्सा-व्यवस्था किसी जमाने मे यहां प्रचलित थी, जिस के भी श्लोक मिलते हैं।"

वाजीकरणं अग्र्यं तु व्यूढा (विवाहिता) स्त्री या प्रहर्षिणी ।
इष्टा हि एकैकशोऽपि अर्थाः परं प्रीतिकराः स्मृताः,
किं पुनः स्त्रीशरीरे ये संघातेन प्रतिष्ठिताः ?
स्त्री-आश्रयो हि इन्द्रियार्थो यः सः प्रीतिजननोऽधिकः;
स्त्रीषु प्रीतिः विशेषेण, स्त्रीषु अपत्यं प्रतिष्ठितं,
धर्मार्थौ स्त्रीषु, लक्ष्मीश्च, स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
सुरूपा, यौवनस्था या, लक्षणैः या विभूषिता,
या वश्या, शिक्षिता या च, सा स्त्री वृष्यतमा मता ।
वयो-रूप-वचो-हावैः, या यस्य परमाऽङ्गना
प्रविशति आशु हृदयं; दैवाद् वा, कर्मणोऽपि वा,
हृदय-उत्सव-रूपा या; या समान-मनःशया;
समान सत्वा; या वश्या; या यस्य प्रीयते; प्रियैः
या पाशभूता, सर्वेषां इंद्रियाणां परैः गुणैः;
यया वियुक्तो, निस्त्रीकं, अरतिः, मन्यते जगत् ;
यस्याः ऋते शरीरं ना (नरः) धत्ते शून्यं इव इन्द्रियैः;
शोक-उद्वेग-अरति-भयैः यां दृष्ट्वा नाभिभूयते;
याति, यां प्राप्य, विश्रम्भं; दृष्ट्वा हृष्यति अतीव यां;
अपूर्वां इव यां वेत्ति नित्यं, हर्षातिवेगतः;
दृष्ट्वा स्पृष्ट्वापि बहुशो यां, तृप्तिं नावगच्छति;
सा स्त्री वृष्यतमा तस्य; (स्व-स्व-रुचि-अनुसारतः;
लोको भिन्नरुचिः यस्मात्); नानाभावाः हि मानवाः ।
अतुल्यगोत्रां वृष्यां च, प्रहृष्टां, निरुपद्रवां,
शुद्धस्नातां व्रजेत् पत्नीं अपत्यार्थी, निरामयः ।

(चरक, चिकित्सास्था०, अ० २, पा० १)

'एक एक इंद्रिय का विषय अलग अलग भी प्रिय होता है, स्त्री और पुरुष के लिये, एक दूसरे के शरीर मे, सभी विषय एकत्र हैं, क्यों न परस्पर अत्यन्त प्रिय हों; प्रीति, रति, संतति, धर्म, अर्थ, लक्ष्मी, सभी, एक दूसरे से प्राप्य हैं। पुरुष के लिये, जो स्त्री सुरूप, युवती, शुभ लक्षणों से सम्पन्न, वश्य, शिक्षित है, वही वृष्य-तमा है; जो हृदय मे घुस जाय, हृदय को उत्फुल्ल उत्सवमय कर दे, सत्त्व मे और मनःशय अर्थात् 'काम' मे समान हो, अत्यन्त प्रीति करै, अपने परम प्रिय गुणों से पति को मानो

पाशों से, फंदों से, बांध ले; जिस से वियुक्त, अलग, होने पर, पति समस्त जगत् को शून्य मानता है, अपने शरीर को चेतन रहित जानता है; जिस को देख कर शोक-उद्वेग-अरति-भय देने वाले पदार्थों से लड़ने का उत्साह (हिम्मत) बांधता है, धैर्य, विश्रंभ, अपनी शक्ति पर भरोसा, करता है; जिस को नित्य अपूर्व, नई, जानता है, बहुत बेर भी जिस का दर्शन-स्पर्शन कर के, तृप्त नहीं होता; ऐसी स्त्री, पति के लिये, वृष्यतमा, सब पदार्थों से बढ़ कर 'वृष्या', 'वाजीकरणी', है। ऐसे ही गुण वाला पति अपनी पत्नी के लिये 'काम' का उद्दीपक ('धेन्ध्य-तम', 'वाजिनी-करण-तम') है।* याद रहै कि प्रकृतियां भिन्न होती हैं; जो वस्तु, जो गुण, जो रूप-रंग, जो हाव-भाव, आहार-विहार, एक को प्रिय है, वह दूसरे को अप्रिय हो सकता है; "यद् यस्य रोचते, तस्मै, तद् एव अस्ति इह सुन्दरं"; जो जिस को रुचै, वही उस के लिये सुन्दर। जिन को सात्विक उत्तम अपत्य की इच्छा हो, वह दम्पती परस्पर प्रसंग तब करैं, जब पत्नी, मासिक ऋतु से शुद्ध हो कर स्नान कर चुकी हो, दोनो निरामय

* 'वृष' की व्युत्पत्ति 'वृष' धातु से है; 'वर्षति' जो वर्षा करै, बरसै। साण्ड वीर्य की वर्षा करता है, इस लिये उस को भी, रूढ़ि से, वृष कहते हैं। 'वाज' का अर्थ पंख भी, और वीर्य भी, वीर्यवान् घोड़े को, जो पंख वाले पक्षी ऐसे शीघ्र दौड़े, उस को वाजी कहते हैं। ऐसी ही घोड़ी को वाजिनी। और बहुत दूध देने वाली सुन्दर गाय को धेनु। जो औषध पुरुष को वीर्यवान् बना दे, उस को वृष्य, वाजीकरण, शुक्रल, आदि नाम से कहते हैं। स्त्री के 'काम' की उत्तेजक, उस के 'रजस', वा 'शोणित', के वर्धक औषध के लिये कोई प्रसिद्ध शब्द नहीं है, 'सुभगां-करण' शब्द का अर्थ तो, प्रायः, प्रसव आदि के पीछे भग-संकोचक औषध होता है, पर अधिक विस्तृत अर्थ मे भी उस का प्रयोग करना अनुचित न होगा, क्योंकि 'भग' शब्द के कई अर्थ हैं, वीर्य, यशस्, ऐश्वर्य, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि। 'धेन्ध्य-तम', 'वाजिनी-करण', 'धेनू-करण' आदि शब्द काम मे लाये जा सकते हैं। ऐसे औषधों का प्रयोग तभी करना चाहिये, जब किसी रोग आदि के कारण शरीर क्षीण हो रहा हो। अन्यथा, जैसा ऊपर कहा, पति-पत्नी का परस्पर घना प्रेम ही सब से बढ़ कर पुष्टि करने वाला है।

नीरोग हों, परस्पर वृष्य और प्रसन्न हों। वृष्, वर्षणे, से वृष शब्द बना है, साधारण अर्थ, साण्ड है; और भी अनेक अर्थ हैं; वृष, वीर्य की वर्षा करता है, वर्षा से जीव-जन्तु बहुत उपजते हैं, इसी से वीर्य बढ़ाने वाले पदार्थ को 'वृष्य' कहते हैं। 'वाज' शब्द के बहुत अर्थ हैं, अन्न, जल, घृत, उस से उत्पन्न बल, वीर्य, वेग, अर्थात् स्फूर्ति, वेग-साधक पक्ष पंख, धन, यज्ञ, आदि; कामशास्त्र के लिये वाज का मुख्य अर्थ बल और वीर्य हैं; जो पदार्थ बल-वीर्य बढ़ावे, वह वाजीकरण। वाजी का अर्थ घोड़ा भी हो गया है; बल-वीर्य-वेग-वान् होता है; राजस दृष्टि से, जो पदार्थ, मनुष्य को घोड़े के ऐसा बना दे, वह वाजीकरण; सात्त्विक दृष्टि से, जो पदार्थ, शुद्ध शरीर मे, 'यज्ञ' के, परोपकारी कर्म के, उपयोगी बल-वीर्य-वुद्धि-स्फूर्त्ति की वृद्धि करै। इस स्थान पर याद रखने की बात है कि, द्वंद्वमय प्रकृति का अखंडनीय अनुल्लंघनीय नियम है कि, प्रत्येक सुख के साथ एक प्रतियोगी दुःख, और प्रत्येक दुःख के साथ एक सुख भी, अवश्य बंधा रहता है। जो पुरुष, वृषता और वाजिता का लाभ और सुख, वृष्य और वाजीकरण योगों द्वारा चाहेंगे, उन को तत्प्रतिरूप वैसी ही कोई हानि और दुःख भी सहना ही पड़ेगा, और उसी मात्रा मे मनुष्यता के सुख से वंचित होंगे; तथा जिस समाज मे पुरुष साण्ड और घोड़ा बनना चाहेंगे, उस मे स्त्रियां भी वृषस्यन्ती (वृष, बली-वर्द, बर्दा, बर्धा चाहने वाली, बर्दाने वाली) गौ, सांड़-नी, वड़वा (घोड़ी), और हस्तिनी (हथनी) अवश्य बनैंगी, और पशुता और व्यभिचार की वृद्धि, तथा आर्य मनुष्यता और सदाचार का ह्रास अवश्य होगा।

इतने से सर्वांगीण कामशास्त्र की रूपरेखा, अध्यात्म-दृष्टि के अनुसार समाप्त होती है।

पर याद रहै कि, "सर्वं सर्वेण सम्बद्धं", सभी पदार्थ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं; किसी एक विषय के शास्त्र का ग्रन्थ लिखने के लिये, अवान्तर विषयों का विवेचन, पृथक्करण, राशीकरण, पूर्वापर-समावेशन, सन्दर्भण, अपनी दृष्टि और सुविधा और उद्देश्य के अनुसार, ग्रन्थकर्त्ता करता है। इस ग्रन्थ मे (अर्थात् 'कामाध्यात्म' नामक अध्याय मे), कामशास्त्र के नीवीभूत आध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही मुख्य लक्ष्य रहा है।

वात्स्यायन के काम सूत्र के प्रकार को भी अब देख लेना चाहिये।

वात्स्यायनकृत कामसूत्र

कामशास्त्र का इतिहास

काम सूत्र के प्रथमाध्याय मे, वात्स्यायन ने स्वयं काम-शास्त्र का इतिहास, बहुत संक्षेप से, लिखा है। 'प्रजापति ब्रह्मा ने मानव प्रजा को उत्पन्न कर के, उन की व्यवस्थिति के लिए, धर्म-अर्थ-काम तीनो पुरुषार्थों के साधन के उपाय, एक लाख अध्यायों मे कहा। उस के धर्म-विषयक अंश को मनु ने अलग कहा; अर्थ-विषयक को बृहस्पति ने; महादेव के अनुचर नन्दी ने एक सहस्र अध्यायों मे काम-सूत्र कहा; पांच सौ अध्यायों मे, उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने, उसी का संक्षेप किया। पंचाल* देश के वासी, बाभ्रव्य ने, एक सौ पचास अध्यायों मे, औद्दालकि के ग्रन्थ का पुनः संक्षेप किया, और सात अधिकरणो मे उसे बांटा, (१) साधारण, (२) साम्प्रयोगिक, (३) कन्या-सम्प्रयुक्तक, (४) भार्याऽधिकारिक, (५) पारदारिक, (६) वैशिक, (७) औपनिषदिक। पाटलिपुत्र (पटना) की वेश्याओं के अनुरोध से, दत्तक ने, वैशिक अधिकरण को अलग कहा; चारायण ने साधारण को; सुवर्णनाभ ने सांप्रयोगिक; घोटकमुख ने कन्या-सम्प्रयुक्तक; गोनर्दीय† ने भार्याऽधिकारिक; गोणिकापुत्र ने पारदारिक; कुचुमार ने औपनिषदिक (उपनिषद्, रहस्य-विद्या, औषधों तांत्रिक-मांत्रिक प्रयोगों, के विषय में)। बाभ्रव्य के ग्रन्थ की विशालता और दुरध्येयता, तथा उक्त अन्य सात ग्रन्थों का पृथक् पृथक् एक-देशिता और अपर्याप्तता, के कारण, इन सब का सम्पूर्ण अर्थ, वात्स्यायन ने अपने रचे कामसूत्र मे, बहुत संक्षेप से, एकत्र कर दिया। इस मे, उक्त ७ अधिकरण (मुख्य विषय) और ६४ प्रकरण (उन के अवान्तर विभाग और विषय) हैं, और ये ३६ अध्यायों

---

* हरद्वार-दिल्ली प्रान्त, महाभारत काल मे, पंचाल कहलाता था; उत्तर भाग, उत्तर पंचाल; दक्षिण भाग (जिस के राजा, उक्त काल मे, द्रुपद थे) दक्षिण पंचाल।

† व्याकरण-महाभाष्य-कार पतंजलि का भी एक नाम गोनर्दीय है, क्योंकि पंजाब के उत्तर-पश्छिम मे गोनर्दीय प्रान्त मे उन का जन्म हुआ; पर यह निश्चित नहीं, कि दो गोनर्दीय है, या एक ही।

मे बांटे हैं; संपूर्ण ग्रन्थ की संख्या १२५० श्लोक है (अर्थात् ३२-३२ अक्षरों के अनुष्टुप् छन्द के १२५० श्लोकों के परिमाण के तुल्य है)।'

वात्स्यायन ने अपने सूत्रों मे, बाभ्रव्य और उन के पीछे के सात ग्रन्थकारों का अनेक स्थलों पर हवाला दिया है, जिस से निश्चय होता है कि ये ग्रन्थ वात्स्यायन को उपलब्ध थे, और उस समय मे इन का प्रचार था, पर अब नहीं मिलते।

काम-सूत्र का हिन्दी अनुवाद

इस काम-सूत्र के अनुवाद, अंग्रेजी आदि कई यूरोपीय भाषाओं मे, छपे हैं; पहिले गुप्त रूप से, पीछे धीरे-धीरे, प्रकट रूप से छपे। हिन्दी अनुवाद भी अब मिलता है, (जिस की चर्चा पहले की गई है), इस लिये, उस के आशय को यहां दुहराने का प्रयोजन नहीं; यथासंभव, संक्षेप से, कामसूत्र के, तथा अनुवाद के, गुण-दोषों की समीक्षा-परीक्षा कर देना प्रसंगोचित होगा। अनुवादक ने सूत्रों को ७ मंजरी (अधिकरण-स्थानीय) और ४२ परागों (अध्याय-स्थानीय) मे बांटा है; पहिली ६ मंजरियों और उन के परागों मे, मूल के क्रम से ही सूत्र रक्खे हैं; पर सातवीं मे औपनिषदिक अधिकरण के सूत्रक्रम मे कुछ व्यत्यास (उलट-पलट) किया है, कुछ सूत्र छोड़ दिये हैं, तथा कुछ अन्य वृष्य और वाजीकरण के योग (नुसखे, उपाय), आयुर्वेद के ग्रन्थों से ले कर, रख दिये हैं, और मूल के अ० १ सू० १३-२४ को (जो वेश्या की कन्या की शिक्षा और विवाह आदि के विषय में हैं, और वृष्य योगों से कोई दृश्यमान सम्बन्ध नहीं रखते) छठवीं मंजरी (वेश्या-अधिकरण) के अन्त मे रख दिया है; यह उचित ही किया है। वेश्याओं के विवाहित हो जाने की भी चर्चा, सूत्र और टीका मे आई है; कौटलीय अर्थशास्त्र मे भी है; मनु आदि स्मृतियों मे भी, पुनर्भू पत्नी और पौनर्भव, सहोढ़, आदि बहुविध पुत्रों के सम्बन्ध मे। अनुवाद, अधिकांश का, ठीक है; कहीं कहीं, मूल (और जयमंगला टीका) का आशय ठीक ठीक नहीं समझा गया है; आश्चर्य नहीं। मूल मे (और टीका मे, मूलोक्त से अन्य भी) सांकेतिक शब्द अनेक हैं; लिखने की शैली बहुत कसी (सूत्रों की संक्षिप्तता तो प्रसिद्ध ही है, टीका की भी लिखाई बहुत गँठी) है; पठन-पाठन की परम्परा उच्छिन्न; खोजने पूछने से भी अर्थ का निश्चय, कहीं कहीं, नहीं होता।

मुझे तो पाश्चात्य पुस्तकों मे मिली बातों से, और उन के जीवत् ज्ञान से, ऐसे संदिग्ध स्थलों पर कई वेर प्रकाश मिला। कम उमर के अनुवादक (श्री विजय बहादुर जी) ने, जितना इस 'लोपित गोपित' विषय पर परिश्रम किया. और, दुष्ट-कामीय आचार के विरुद्ध चेतावनी लिख कर, वात्स्यायन की एक भारी न्यूनता के पूरण का, वल्कि यों कहना चाहिये कि वड़े दोष के मार्जन का, यत्न किया, वह प्रशंसा के योग्य है। वात्स्यायन ने भी, ऐसे घृण्य (घृणा-योग्य) प्रकारों से आवर्जन (चेतावनी, ख़बरदारी, मना, बरजना) की सूचना की है; पर १२५० श्लोकों मे, मुश्किल से १०–१२ श्लोक ऐसी सूचना के होंगे; मानो दस सेर प्रलोभन के पश्चात् एक माशा वर्जन। मै ने काम-सूत्र और 'कामकुञ्ज' की (जो अनुवाद ग्रन्थ का नाम रक्खा गया है) निजी प्रतियों के पत्रों के मर्म (हाशियों) पर बहुत सी टिप्पणियां उक्त बातों पर लिखी हैं; पर उन सब की चर्चा यहां असम्भव है, पचासों पृष्ठ और वढ जायँगे, जिस का अवसर नहीं। स्त्री-सौन्दर्य तत्त्व पर, अनुवादक ने, अन्य ग्रन्थों से लेकर कुछ लिखा है; स्त्री शरीर के "चार भाग उज्ज्वल वर्ण,...चार कृष्ण,...चार रक्त, ..चार भाग गोल...चार लम्बे,...चार मोटे...चार विशाल", होने चाहियें, ('कामकुंज', पृ० ४३५); किस ग्रन्थ से उद्धरण किया, यह नहीं लिखा; इस विषय पर मूल-सूत्र वा टीका मे मुझे कुछ नहीं मिला; किन्तु पुरुष-सौन्दर्य-तत्व पर, न मूल मे, न टीका मे, न 'कामकुंज' ही मे, कुछ लिखा है; दोनों पर लिखना आवश्यक था; वाल्मीकि ने राम जी का भी और सीता देवी का भी 'आपादतल-चूड़ान्त', नख-सिख (पैर के नखों से सिर की शिखा तक), वर्णन किया है। अशोक-वनिका मे हनूमान् सीता देवी के पास गये, कहा 'मै राम जी का दूत हूँ'; सीता ने पूछा 'कैसे जानें? राम जी के रूप का वर्णन करो'; हनुमान् ने कहा 'बहुत अच्छा—त्रि-स्थिरः, त्रि-प्रलम्बश्च, त्रि-समः, त्रिषु चोन्नतः, त्रि-ताम्रः, त्रिषु च स्निग्धो, गम्भीरः त्रिषु नित्यशः, विपुलांसो, महाबाहुः, कम्बुग्रीवः, शुभाननः। इत्यादि (सुन्दर कांड, अ० ३५) तथा सीता देवी के शरीर का वर्णन, युद्धकांड, सर्ग ४८, मे किया है। भारतीय अर्वाचीनो ने, पुरुष की ही दृष्टि से इस समग्र विषय को देखा; पुरुष ही स्वामी, भोक्ता, परिग्रही है, स्त्री केवल गुलाम है, भोग्य है, द्रव्य है—यही भाव दिन दिन

बढ़ते गये; इसी से उन मे यह महा दोष आ गया। प्राचीनो ने स्त्री को भी स्वामिनी, तुल्याधिकारिणी, सह-धर्म-चारिणी जाना माना। ढाई हजार वर्ष हो गये, ग्रीस देश मे आरंभ कर के आज तक, यूरोप मे, स्त्री और पुरुष दोनों ही के, तुल्य रूप से, सुन्दर चित्र, तथा सुन्दर मूर्त्तियां, प्रतिमायें, बनाई जाती रही हैं।

काम-सूत्र के गुण-दोष

वात्स्यायन के काम-सूत्र मे बहुत गुण है, वड़े भारी दोष भी हैं; जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। पर-दार-गमन और वेश्या-गमन के सम्वन्ध मे, वात्स्यायन ने ऐसे शब्दों का बहुधा प्रयोग किया है—यथा '(सुराम्) पाययेयुः अनुपिवेयुः', 'पर-परिग्रहान् अभ्युपगच्छेत्', 'दूत्या साधयेत्' 'विद्वेषं ग्राहयेत्', 'वर्णयेत्', 'दर्शयेत्', 'श्रावयेत्', 'योजयेत्', 'विसृजेत्', 'प्रेषयेत्', 'प्रवेशयेत्', 'कुर्यात्', 'आह्वयेत्', 'संसृज्येत', 'आचरेत्', 'बुध्येत', 'यतेत', 'प्रणिदध्यात्', 'विट पुरो-गां प्रीतिं योजयेत्', 'आनयेत्', 'रंजयेत्', 'सारद्रव्याणि हस्ते कुर्वीत', 'असारं अपवाहयेत्', 'निष्पीडितार्थं' 'उत्सृजेत्', 'निष्कासयेत्', 'परित्यजेत्', इत्यादि। अर्थात् 'वेश्याओं के साथ शराब पीयै पिलावै, दूसरों की पत्नियों (परिग्रहों) से प्रसंग करै, दूती (कुट्टनी) के द्वारा साधै, द्वेष (कलह) करा दे, ऐसा ऐसा काम अपना मतलव साधने के लिये करै, विटों (वेश्याओं के दलालों, कुट्टनो) के द्वारा प्रीति के संदेश भेजै, वेश्या इस प्रकार से धनवान् मूर्ख को अपने वश मे करै, उस के सव सारे धन को स्वयं हथिया ले (अपने हस्तगत कर ले), जब वह निस्सार निष्पीडित हो जाय, निचुड़ जाय, तव उस को इस प्रकार से निकाल दे', इत्यादि*। वात्स्यायन के ये शब्द विधि वाचक हैं, मानो उपदेश देते हैं कि ऐसा करना उचित है, और करना चाहिये। यह तो जैसे अन्धे को कूए का रास्ता बताना, और कहना कि इधर जाओ और कूए मे गिरो; अ-योनि मैथुन, वि-योनि-मैथुन, यूथ-मैथुन, ('गोष्ठी-परिग्रह') आदि के सम्बन्ध मे भी वात्स्यायन ने ऐसे ही दुष्ट पापिष्ठ शब्द कहे हैं। उचित प्रकार कहने का यह था और है कि, 'एवं दुष्टाः, असाधवः, अनार्याः, अदूर-

---

* काशी की वेश्याओं से पूछ कर, वेश्या-शास्त्र का ग्रन्थ, 'कुट्टनी-मतं', काश्मीर की वेश्याओं के लिए, आठ नौ सौ वर्ष हुए, लिखा गया।

र्दशिनः, महापातकिनः, नरकगामिनः, कुर्वंति', 'इस इस रीति से दुर्बुद्धि असाधु अनार्य अदूरदर्शी दुष्ट, महापापी, घृण्य, स्वयं नरक मे गिरने वाले और दूसरों को गिराने वाले, स्त्री और पुरुष करते हैं; भले आदमी को ऐसों से सदा सावधान रहना चाहिये'। बहुभार्यक बहु-(पत्नी) चारी के वृत्त के सम्बन्ध मे भी, वात्स्यायन के सूत्र मे कुछ ऐसा दोष है; पर उस की मात्रा इतनी घोर नहीं कही जा सकती; क्योंकि, उस समय मे, ऐसा बहु विवाह, समाज मे, सद् आचार के विरुद्ध नहीं समझा जाता था; किन्तु पर दार-गमन, उस युग मे भी, अति पातक, और वेश्या-गमन भी अनुचित, अधर्म, निन्दनीय, मुख से तो कहा ही जाता था।

काम-सूत्र के उक्त घोर दोष का कारण प्रायः यही होगा कि वात्स्यायन, महासाम्राज्य के महाबुद्धिमान् महापण्डित महामन्त्री होते हुए, महाकुटिल भी थे, और उन के भाव और विचार और कृतियां, बहुत अंशों मे साम्प्रत-कालिक (माडर्न, modern) पाश्चात्य राष्ट्रनायकों की सी थीं। इस विषय मे इतिहास-विशेषज्ञों मे मतभेद है, कि अर्थ–शास्त्र नामक अद्भुत ग्रन्थ के रचयिता 'कौटल्य-चाणक्य', और काम-सूत्र के 'वात्स्यायन', एक ही थे या नहीं।* श्री श्याम शास्त्री ने, जिन्हों ने लुप्त 'अर्थ-'शास्त्र' का पहिले पता लगाया, मुद्रण कराया, अंग्रेजी मे अनुवाद किया, अपने उपोद्घात मे, इस विषय को, विस्तृत विचार कर के, प्रायः संशयित ही छोड़ दिया; किन्तु प्रथा यही है कि अर्थशास्त्र-कार, कामसूत्र-कार, पंचतंत्र-कार, चाणक्यनीति-कार, और गौतमीय न्यायसूत्र के (वात्स्यायन-नामक) भाष्य-कार भी, एक ही हैं। कलियुग-व्यास कहलाने वाले हेमचन्द्र-आचार्य

---

* विभिन्न शास्त्रों पर एक ही विद्वान् उत्तम ग्रन्थ लिखै, यह असंभव नहीं; हाँ, ऐसे विशिष्ट बुद्धिमान् विरले होते हैं; आजकाल भी यूरोप मे ऐसे बहुशास्त्री अग्रगण्य ग्रन्थकार विद्यमान हैं। तथा यह भी याद रखने की बात है कि, वात्स्यायन-चाणक्य के नाम से जो ग्रंथ कहे जाते हैं, वे प्रायः, प्राक्तन सामग्री के संग्रह रूप, वा संक्षेप रूप, हैं, वा आशयानुवाद हैं; यद्यपि ऐसे कार्य को भी उत्तम प्रकार से करने के लिए विशिष्ट मेधा चाहिये। तथा यह भी याद रहे कि विशाल साम्राज्य के प्रधान मंत्री को अच्छे योग्य सहायकों की कमी नहीं।

जैन ने, १२ वीं शती ई० मे, अपने कोष, "हैम", मे, उन के आठ नाम लिखे हैं,

वात्स्यायनः, मल्लनागः, कौटिल्यश्, चणकात्मजः,
द्रामिलः, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्तो,ऽङ्गुलश् च सः ।

वात्स्यायन के नाम से 'काम-सूत्र' (और न्याय-भाष्य), कौटिल्य-चाणक्य के नाम से 'अर्थ-शास्त्र', विष्णुगुप्त के नाम से 'पंच-तंत्र' ग्रन्थ विख्यात हैं; अन्य नामों से लिखे ग्रन्थों का, वा नामों के कारणो का, पता मुझे नहीं है । 'दश-कुमार-चरितं' मे दण्डी कवि ने, विष्णुगुप्त और चाणक्य नाम के एक ही व्यक्ति के बनाये 'अर्थशास्त्र' से उद्धरण किया है, और एक धूर्त के मुख से उस का उपहास कराया है ।

'अर्थ-शास्त्र' की 'कुटिल' नीति प्रसिद्ध है । मै ने अपने ज्येष्ठ भ्राता, श्री गोविन्ददास जी से, जिन का ज्ञान, प्राचीन अर्वाचीन संस्कृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के विषय मे बहुत विस्तृत था, सुना, कि शुद्ध शब्द 'कौटल्य' क्योंकि विष्णुगुप्त-चाणक्य के पूर्वज का नाम 'कुटल' था;* पर उन की कुटिल-नीति के कारण 'कौटल्य' के स्थान पर 'कौटिल्य' को, सहस्र मुख वाली जनता ने, सिद्ध कर दिया; पारदारिक, वैशिक, प्रभृति विषयों मे जो कुटिल नीति कामसूत्र मे मिलती है, वैसी ही राजनीतिक

---

* श्री गोविन्ददास जी के प्रोत्साहन से, और उन्हीं की दी हुई काम-सूत्र और जयमंगला टीका की प्रतियों से, (जिन प्रतियों को उन्हों ने दक्षिण देश मे पाया था), काशी मे, प्रथम वार, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ मे, इस लुप्तप्राय प्राचीन ग्रन्थ का सकलांग मुद्रण हुआ । द्वितीय संस्करण के लिए उन्हों ने और बहुत सी सामग्री एकत्र की थी, एतद्विषयक पाश्चात्य साहित्य की भी, और, प्रतिवर्ष के अपने भारत देशाटन मे, भारतीय ग्रन्थों की, तथा वर्त्तमान काल के कामीय व्यवहारों और रीतियों की भी; पर श्वास रोग से बहुत पीड़ित रहने, और ६० वर्ष की उमर मे शरीर छूट जाने, से, द्वितीय संस्करण की उन की इच्छा पूरी न हो सकी। भारत के कितने ही छापाखानों मे छपे, विविध शास्त्रों के पचासों संस्कृत ग्रन्थों की भूमिकाओं मे, सम्पादकों ने, उन से सहायता पाने के लिए, कृतज्ञता प्रकाश किया है ।

व्यवहारों के लिये अर्थशास्त्र मे भी है। पंडित-मंडलों मे ऐसा प्रायोवाद है कि, इस कुटिलता के हेतु से ही 'अर्थशास्त्र' का पठन पाठन और व्यवहरण, (व्यवहार मे प्रयोजन, प्रयोग करना, काम मे लाना), उच्छिन्न हो गया। उस के पीछे के अन्य ग्रन्थों मे कहीं कहीं छोटे मोटे उद्धरणो से उस की स्मृति बनी रही है। परन्तु वह प्रतीति, दृढ़मूल नहीं जान पड़ती; क्योंकि समाज के जीवन मे धार्मिकता बढ़ी नहीं, राजनीतिक व्यवहारों में कुटिलता घटी नहीं; प्रत्युत, पांचवीं छठवीं शती ई० के पश्चात्, कामीय दुश्चरित्र, आभिजात्य-मद, जाति-विद्वेष, धर्माभास, छल, कपट, द्वैधीभाव, विश्वासघात, परस्पर कलह, और युद्ध, भारत मे बढ़ते ही गये। अन्य कारण जो कुछ हो, मुख्य कारण, 'अर्थ-शास्त्र' की नीतियों के अन्-अनुष्ठान का, और ग्रन्थ के उच्छेद का, यह जान पड़ता है कि, जिस प्रकार के साम्राज्य और समाज की व्यवस्था के लिये, और जिस के बीच, वह लिखा गया, वह प्रकार ही, काल के प्रवाह से, अर्थात् कालकृत इतिवृत्तों से, विदेशी आक्रमणो से, स्वदेशी शीलभ्रंश से, बदल गया; न वह सामाज्य रहा, न वह समाज का रूप; व्यास जी ने कृष्ण के मुख से कहा है, "ज्ञानानि अल्पी-भविष्यन्ति, दिवं याते पितामहे", 'जब पितामह भीष्म परलोक को चले जायंगे, तब पृथ्वी पर ज्ञान अल्प हो जायंगे, इन के ऐसा कोई 'वेद-पार-ग' न रह जायगा'; सो, भीष्म के बाद, ढाई हजार वर्ष तक, शस्त्र-बल, धन-बल, श्रम-बलों का, सब का, ह्रास ही होता रहा; फिर बौद्धकाल मे, वैदिक और बौद्ध दोनों साहित्यों और ज्ञानो ने, तथा राष्ट्रीय शक्ति ने, परस्परस्पर्धा से, प्रायः एक हजार वर्ष तक, अपना जीर्णोद्धार किया; और उस के पीछे, पुनः सब प्रकार का ह्रास ही होता गया, समाज का रूप भी अधिकाधिक विकृत हो गया।

काम-सूत्र मे एक और दोष है, जो उस मे आदि से अन्त तक भरा है; विक्रम शाका के प्रायः सभी साहित्य मे यह व्याप्त है; इस दोष की चर्चा कई बेर पहिले की गई है; अर्थात्, स्त्री भोग्य और पुरुष भोक्ता, स्त्री परिग्रह (मिल्कीयत) और पुरुष परिग्रही (मालिक); यह मिथ्या भाव रूपी दोष; यह दोष कामसूत्र मे आद्योपान्त भरा है, इस से, सूत्रों का अच्छा अंश भी कलुषित हो रहा है।

गुण भी इस मे बहुत हैं; 'सूचनात् सूचीवद् विषयग्रन्थनात् च, सूत्रं', जो विषयों का सूचन करै, और जैसे सूई कपड़ों का, वैसे उन का परस्पर ग्रन्थन करै, उन को एक दूसरे के साथ सी दे, वह सूत्र; इस लक्षण

को यह ग्रन्थ चरितार्थ करता है। बहुत स्वल्प शब्दों मे बहुत बातें कह दी हैं। 'सैकालोजी आफ सेक्स', Psychology of Sex, का सार इस मे सब आ गया है। पाश्चात्य ग्रन्थ, उदाहरणो और टीकाओं का काम देंगे, कामिक मानस वृत्तियों और शारीर चेष्टाओं के सम्बन्ध मे। अष्टाङ्ग मैथुन और एकचारिणीवृत्त के सम्बन्ध मे इस के गुण की (तथा त्रुटियों की भी) चर्चा की जा चुकी है; एक-(पत्नी)-चारी पति के वृत्त का भी, तथा बहु-(पति)-चारिणी 'पत्नी' का भी, हाल लिखना चाहता था। देहरादून, कमाऊं, गढ़वाल आदि पहाड़ी प्रदेशों मे, अब भी, एक स्त्री का, कई भाइयों से, एक साथ विवाह, कहीं कहीं, हो जाता है, जैसा द्रौपदी का पांडवों से; तिब्बत मे, तथा सीलोन आदि देशों मे भी, यह प्रथा मिलती है। काम-सूत्र के पीछे जो ग्रन्थ संस्कृत मे कामशास्त्र के लिखे गये, वे सब प्रायः इसी का अनुकरण करते हैं, कोई नई बात नहीं लिखते। अनुमान होता है कि भारत का शास्त्रीय ह्रास, वात्स्यायन के समय से थोड़े ही समय बाद शुरू हो गया। बुद्धदेव के समय से स्कन्दगुप्त और शशांकगुप्त के समय तक, हजार बारह सौ वर्ष का युग, भारतवर्ष के उन्नति और समृद्धि का था; पर किन्ही पहलुओं (पक्षों, अंशों) मे, ह्रास का भी; बुद्ध से दो सौ वर्ष पीछे चन्द्रगुप्त और चाणक्य हुए; स्यात् वैसा साम्राज्य, उस समय, पृथ्वीतल पर अन्य किसी देश मे नहीं था; यद्यपि साम्राज्य (एम्पायर' empire), प्रतापी भी, इस के समकालीन, पृथ्वी पर कई थे, चीन मे, ईरान मे, ग्रीस मे, और रोम मे। चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक के समय मे साम्राज्य ने और भी विस्तार पाया और उन्नति किया। पाणिनि आदि, विष्णुगुप्त चाणक्य-वात्स्यायन से बहुत पहिले के नहीं होंगे; इन के सम्बन्ध मे रोचक कहानियां (कथानक) 'कथा-सरित्-सागर' नामक वृहत् काव्य के आरम्भ मे कहीं हैं। पंच-तन्त्र मे विष्णुगुप्त ने लिखा है,

> सिंहो व्याकरणस्य कर्त्तुर् अहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः,
> मीमांसाकृतं उन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिं,
> छंदोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिंगलं;
> हिंस्राणां हि तमोविमूढमनसां कोऽर्थः तिरश्चां गुणैः।

'व्याकरण-सूत्र-कार पाणिनि को सिंह ने, मीमांसा-सूत्र-कार जैमिनि को हाथी ने छंदः-सूत्र-कार पिंगल को मगर ने मार डाला; हिंस्र पशुओं

को गुणो से क्या मतलब ?' इस से जान पड़ता है कि पंचतंत्रकार से बहुत पुरानी बात यह सब न होगी। कामसूत्र से ग्रंथकार की बहुश्रुतता प्रतिपद जान पड़ती है; रेल, तार, छापा आदि न होते हुए भी, भारत के विभिन्न प्रांतों के विशेष विशेष कामीय वृत्त और आचार व्यवहार लिखे हैं ; यथा, 'प्रहणन' के दुष्ट प्रकारों से चोल देश के राजा ने चित्रसेना गणिका के प्राण ही ले लिये; शा(सा?) तवाहन शातकर्णि ने भी महादेवी मलयवती को यों मार ही डाला ; पांड्यराज के सेनापति नरदेव ने एक नटी को कानी कर दिया ; गूर्जरात (गुजरात) देश मे, कोट्ट के राजा आभीर ने, जब श्रेष्ठी (सेठ) वसुमित्र के घर मे, उस की भार्या के साथ व्यभिचार करने के लिये प्रवेश किया, तब राजा के छोटे भाई ने, जो स्वयं राजा बनना चाहता था, एक रजक (धोबी) के द्वारा, आभीर को, वहीं, वसुमित्र के घर मे, मरवा डाला ; काशिराज जयत्सेन, जब अपने अश्वाध्यक्ष के घर मे, उस की भार्या से व्यभिचार के लिये, घुसा, तब अश्वाध्यक्ष ने स्वयं उसे वहीं मार दिया ; इत्यादि । लाट देश (मालव से पश्चिम), आन्ध्र, मध्यदेश, वाह्लीक, अवन्ती, मालव, आभीर देश (कुरुक्षेत्र आदि), पंचनद, सिन्धु, अपरान्त (पश्चिम समुद्र के पास), स्त्री राज्य (दक्षिण मे, पश्चिम समुद्र के तीर), कोशल, महाराष्ट्र, पाटलिपुत्र, द्रविड़ देश, कोंकण से पूर्व वनवास देश, गौड़ देश, अहिच्छत्रा, साकेत, शौरसेन देश (कोशाम्बी के दक्षिण), वत्सगुल्म-देश, विदर्भ, हिमवद् देश, अंग, वंग, कलिंग, आदि मे इस इस प्रकार के मैथुनीय व्यवहार होते हैं—ऐसे वर्णनों से वात्स्यायन की बहुश्रुतता और विविध-देश वार्त्ता-संग्राहकता सिद्ध होती है । आधुनिक पाश्चात्यों मे ये गुण परा काष्ठा को पहुंचे हैं। जो वैज्ञानिक साधन इन्हों ने अपने बुद्धिबल से उपलब्ध किये हैं, वे वात्स्यायन को स्वप्न मे भी प्राप्य नहीं थे; इन के बल से, इन पाश्चात्यों ने, समग्र पृथ्वीतल को, भूगर्भ को, समुद्र के उदर को, वायु मंडल को भी, छान डाला है; अब नये भारतीय भी उन का अनुकरण करने लगे हैं। ऐसे उपकरणो के अभाव मे भी चाणक्य-वात्स्यायन आदि ने जो किया, वह बहुत किया ।

कामसूत्र मे, आज काल के यूरोप अमेरिका की सी ऐतिहासिक बुद्धि, समीक्षा दृष्टि, गवेषणा-रुचि, और वैज्ञानिक तर्कशीलता और वास्तविकता

(वस्तुस्थिति की जांच) दिखाई देती है ; इन्हीं हेतुओं से वह युग, शास्त्रोत्कर्ष का युग भी था ; इधर, सैंकड़ों वर्ष से, नई खोज किसी शास्त्र के विषय मे, नहीं देख पड़ती (स्यात् , कुछ अल्प मात्रा मे, वैद्यक को छोड़ कर); पुराने शब्दों पर ही 'पंडित' लोग धन्यम्मन्य रहते हैं, 'शास्त्र, शास्त्र, शास्त्र' की रट चारो ओर संस्कृतज्ञो मे होती है; नये उपज्ञान की सहायता से शास्त्र-संस्कार, शास्त्र-संशोधन, नूतन-शास्त्र-प्रवर्त्तन का यत्न नहीं, शक्ति नहीं; इसी से, उत्कर्ष के स्थान मे अपकर्ष। पाश्चात्य देश से, नवीन बुद्धि, नवीन उत्साह, नवीन तर्कशक्ति, नवीन प्रश्नोत्तर-रुचि, नवीन गवेषणा सामर्थ्य, का नवीन मत्स्यावतार, इस देश मे जगदात्मा ने भेजा है; यदि परस्पर आदर और गुणग्रहण का भाव अधिक बलवान् , और दोष-ग्रहण और तिरस्कार और द्वेष का भाव कम, हो, तो पूर्व और पश्चिम दोनो देशों मे, पुनरपि 'वेदों' का, ज्ञानो का, शास्त्रों का, शांतिस्थापक, प्रीतिकारक, समृद्धिवर्धक उद्धार और विकास होगा। अस्तु । एवं अस्तु ।

काम-सूत्र, विशेषतः उस का गुणवान् अंश, सब गृहस्थों को पढ़ना जानना उचित है; प्रतिपद चेतावनियों के साथ साथ; दोषवान् अंश के सहित समग्र ग्रन्थ, प्रौढ़ों के ही पढ़ने योग्य है । सब अंश इस के, सब छोटी बड़ी उमर वालों के पढ़ने के योग्य नहीं हैं; कोमल चित्त वाले अल्प-वयस्कों को इस से साध्वस और अति क्षोभ हो सकता है ।

समाज के सब अंगों के उपकार के लिये आवश्यक है कि, कामशास्त्र पर एक श्रेणी, छोटे बड़े ग्रन्थों की, तयार की जाय, जैसी पश्चिम देश मे, समाजहितैषियों ने, तयार किया है । १८९७ ई० मे पादरी सिल्वेनस स्टाल (Rev. Sylvanus Stall) ने, एक श्रेणी, 'सेक्स एण्ड सेल्फ़ सीरीज़' के नाम से छापी; उस मे (१) 'बालक को क्या जानना चाहिये', (२) 'बालिका को क्या', (३) 'युवा को क्या', (४) 'युवती को क्या', (५) 'विवाहित को क्या', (६) 'विवाहिता को क्या', (७) 'वृद्ध को क्या', (८) वृद्धा को क्या जानना चाहिये', ऐसी आठ पुस्तकें हैं; बहुत अच्छे लेख हैं; पादरी 'सद्ब्राह्मण' थे; शुद्ध लोकोपकार के हेतु, उस समय की दृष्टि से बहुत सामाजिक निन्दा की जोखिम उठा कर, उन्हो ने यह उत्तम कार्य किया ।

भारत समाज के लिये ऐसी ही श्रेणी, स्वदेशी भाषा मे, पाश्चात्य नवीनतम ज्ञान से उपोद्द्वलित, बनाना चाहिये। पादरी श्री स्टाल के ग्रन्थ (अब. १९४६ ई० से) चालीस पचास वर्ष पहिले लिखे गये, पर वे आज भी नये हैं, और बहुत उपयोगी हैं। इधर हाल मे, दस पन्द्रह वर्ष के भीतर, जननेद्रियों की बनावट, उन के अवयवों के रूप, कार्य, निस्स्यन्द आदि के, तथा गर्भाधान-निरोध आदि के प्रकारों के, विषय मे नये ज्ञान और उप-ज्ञान, नये आविष्कार, बहुत हुए हैं, और इन विषयों पर बहुत ग्रन्थ लिखे गये हैं। सर्व-साधारण के उपयोग की बातें, डाक्टर मेरी स्टोप्स (Dr. Marie Stopes) के ग्रन्थों मे अच्छी नीयत से लिखी गई हैं, यद्यपि उन का भाव उतना ऊंचा सात्विक नहीं है जैसा पादरी स्टाल का।* "बच्चों के प्रश्न लेख मे लिख आये हैं कि बच्चे, अक्सर, माता, पिता, अन्य गुरुजनो, वा अधिक उमर बालों से पूछते हैं, 'नया बच्चा कहां से आया, कैसे आया', (जोड़ा-लगते हुए पशुओं पक्षियों को देख कर) 'यह क्या कर रहे हैं', इत्यादि; वृद्ध लोग प्रायः हँस कर टाल देते हैं, या बहकाने वाले मिथ्या-प्राय उत्तर दे देते हैं, या (अति अनुचित) धमका देते हैं और ऐसे प्रश्न पूछने को मना कर देते हैं; अपनी बाल्यावस्था के ऐसे ही कुतूहल को, और उचित उत्तर न पाने से जो चित्त मे अशांति हुई, और इस का अपने अनुभव मे जो फल हुआ था, उस सब को, दुर्भाग्य से, भूल जाते हैं; फल प्रायः यही हुआ और होता है, कि बच्चे दूसरे सयानों से पूछते हैं, जो उन के हितचिंतक नहीं, जो निर्लज्ज हैं, अथ च जो अपनी कामिक वासनाओं को इन अभागे भोले बच्चों पर ही निकालते हैं, उन को दुष्ट उपदेश देते हैं, दिखा कर समझाने के बहाने ऐसे पाप तक भी कर डालते हैं जिन से उन बच्चों के शरीर और चित्त सदा के लिये दूषित और रोगी हो जाते हैं, और सारा जीवन विष से सिक्त हो जाता है। ऐसे घोर दुष्फलों का प्रतिपादन, 'सैको-ऐनालिसिस', Psycho-analysis, नामक उपशास्त्र के पाश्चात्य ग्रन्थकारों ने बहुत और अच्छा किया है।

---

* "मनु के आदर्श दम्पती" लेख मे अन्य ग्रन्थों की चर्चा की गई है; उन मे, डाक्टर स्टोन और डाक्टर इक्स्नर के ग्रन्थ बहुत अच्छे और अधिक उपयोगी हैं।

चेतावनी

ऊपर सूचना की गई कि, वात्स्यायन ने प्रलोभन और अधःपतन की सामग्री बहुत, और उन से बचाने वाली चेतावनी के शब्दों की मात्रा, नहीं के बराबर, पाठक के सामने रक्खी है; मानो एक पंसेरी के सामने एक रत्ती। जो चेतावनी उन्हों ने ग्रन्थ के अन्त मे रक्खी है, वह आदि मे रखना उचित था। धर्म-अर्थ-काम को वात्स्यायन ने प्रथम सूत्र मे नमस्कार कर के, आगे धर्म और अर्थ का लक्षण कह दिया; काम का तो सारे ग्रन्थ ही मे अधिकार है; पर मोक्ष का, दूसरे अध्याय के चौथे सूत्र मे नाम मात्र लिख के, और यह कह के कि, उस की चिंता वृद्धावस्था मे करनी चाहिये, उपेक्षा ही की है; यह भी ठीक नहीं किया। चारो पुरुषार्थों का, साक्षात् वा परम्परया सम्बन्ध है ही; इस को ध्यान मे रख कर, मोक्षशास्त्र के अन्तर्गत 'अध्यात्म'-शास्त्र का प्रकाश, प्रतिपद, कामशास्त्र पर डालते रहना उचित है; इसी का यत्न यहां 'कामाध्यात्म' मे किया गया है। जो थोड़ी सी चेतावनी वात्स्यायन ने की है, उस का संग्रह यहां कर देता हूँ।

औपरिष्टक आदि के सम्बन्ध मे कहा है कि सज्जन, विशेष कर के राजा, मंत्री, वा अन्य विद्वान्, जिस के ऊपर जनता विश्वास किया करती है, वह ऐसे निकृष्ट काम न करैं करावैं,

> न शास्त्रं अस्ति इति एतावत् प्रयोगे कारणं भवेत्;
> शास्त्रार्थान् व्यापिनो विद्यात्, प्रयोगांस तु एकदेशिकान्;
> रसवीर्यविपाकादि, श्वमांसस्य अपि, वैद्यके
> कीर्तिताः; इति तत् किं स्याद् भक्षणीयं विचक्षणैः ?
> संति एव पुरुषाः केचित्, संति देशास् तथाविधाः,
> संति कालाश्च, येषु एते योगाः न स्युर् निरर्थकाः।

'शास्त्र की पोथी मे बात लिखी है, इतने ही से उस का प्रयोग नहीं कर डालना चाहिये; शास्त्र मे अनुगमात्मक व्यापक बातें प्रायः लिखी जाती हैं, प्रयोग तो किसी किसी का विशेष विशेष अवस्था मे किया जाता है; जो एक रोगी के लिये चर्या लिखी है, वह सब प्रकार के सब रोगों के सब रोगियों को तो नहीं करना चाहिये; न स्वस्थ ही को; कुत्ते के मांस के भी रस, वीर्य, विपाक आदि का वैद्यक मे वर्णन किया है, इस लिये क्या उसको खा ही लेना चाहिये ? किसी विशेष व्यक्ति के लिये,

विशेष देश काल मे, वे उपयोगी हो सकते हैं।' प्रहणन आदि, "कष्टं अनार्यवृत्तं अनादृत्यं", अनार्यों के आचरण, तिरस्कार के योग्य, हैं।

बहुभार्यता के सम्बन्ध मे,

वरं वश्यो दरिद्रोऽपि निर्गुणोऽपि आत्मधारणः;
गुणैर युक्तोऽपि न तु एवं बहु-साधारणः पतिः।

'वही पति अच्छा है जो अपनी अकेली पत्नी से प्रीति करता है, जो उस का वश्य है, जिस की वह पत्नी वश्य है, चाहे वह पति दरिद्र भी हो, चाहे निर्गुण भी हो, केवल अपने कुटुम्ब मात्र का किसी तरह से पालन कर लेता हो। वह पति अच्छा नहीं जिस की बहुत सी पत्नियां हों, चाहे उस मे कई गुण भी हों, और वह धनाढ्य भी हो।'

पारदारिक के विषय मे,

एभ्य; एव च कारणेभ्यः स्वदारान् रक्षयेत्।
संदृश्य शास्त्रतो योगान्, पारदारिक-लक्षितान्,
न याति छलनां कश्चित् स्वदारान् प्रति शास्त्रतः।
पाक्षिकत्वात् प्रयोगाणां, अपायानां च दर्शनात्,
धर्मार्थयोश् च वैलोम्यात्, नऽाचरेत् पारदारिकं;
तद् एतद् दारगुप्त्यर्थं आरब्धं, श्रेयसे नृणां;
प्रजानां दूषणाय एव न विज्ञेयो हि अयं विधिः।
न राज्ञां महामात्राणां वा परभवनप्रवेशो विद्यते;
महाजनेन हि चरितं एषां दृश्यते, अनुविधीयते च।
न तु एव पर-भवनं ईश्वरः प्रविशेत्।
न तु एव एतान् प्रयुंजीत राजा, लोकहिते रतः;
निगृहीतारिषड्वर्गः तथा विजयते महीं।

'पारदारिक व्यभिचारियों के छलों को जान कर, उन से सज्जन अपनी पत्नी को रक्षा करैं; व्यभिचार के महा दोषों को पहिचान कर, और उस के अपायों, अनर्थ की परम्पराओं, को देख कर, धर्म और अर्थ दोनों का उन से नाश जान कर, स्वयं सज्जन ऐसे दुष्कर्म से अपने को और दूसरों को बचाता ही रहै; काम-सूत्र मे, पारदारिक मनुष्यों, तथा वेश्याओं, कुट्टनियों, विटों, के, कपटों, ठगने के प्रकारों, और अति नीच, अति कमीने, आचरणों, का वर्णन किया है; इसी लिये किया है कि, भले

आदमी, इन को जान कर, सावधान रहैं; अपनी, और पत्नी, पुत्र, पुत्री, तथा अन्य कुटुम्बी जन और बन्धु बान्धव की, रक्षा कर सकैं।* यह सब इस लिये नहीं वर्णन किया है कि इस से प्रजा को, दुराचार करा के, नरक मे गिराया जाय। विशेष कर के राजा और राजमन्त्री आदि श्रेष्ठ अधिकारियों को ऐसे दुराचरण से परहेज करना चाहिये; क्योंकि महा-जन, जन-समूह, सब प्रजा, इन के आचरित को देखती है, और उस का

---

* दूसरों की दाराओं के पीछे पड़ कर, वा वेश्याओं के फंदों में फंस कर, मनुष्य जो मुसीबतें भुगतते हैं, वह तो, चारों ओर थोड़ा भी आंख घुमाने से, थोड़ा भी विचार करने वाले को, तत्काल मालूम हो जाती हैं; पर, मनुष्यों में विचारशीलता की अभी बहुत ही कमी है, इस लिये, पुनः पुनः याद दिलाना पड़ता है। अवध के एक तालुक़दार राजा, सन्, १९४२ ई० मे चौदह वर्ष की कैद की सजा भुगत रहे थे; उन की राजमाता, विधवा, को भी वही कारावास दंड हुआ था। क्यों? दोनो ने मिल कर, राजा ने अपनी रानी, राजमाता ने अपनी पतोहू, की हत्या का यत्न किया; उस पर पिस्तौल से गोली चलवाई, उस के एक बांह मे गोली लगी, जान बच गई। क्यों यह हत्या का यत्न किया? राजा एक अन्य स्त्री पर आसक्त थे; वह, विवाह के द्वारा इन को वश किये बिना, इन के साथ नहीं रहना चाहती थी, न सपत्नी को ही बर्दाश्त कर सकती थी; इस लिये, राजा ने, पहिली पत्नी को मार कर, उस दूसरी पत्नी से विवाह करना चाहा था; और माता ने, इस 'शुभ कार्य' मे, उन का साथ दिया; अपनी पुत्रवधू से अन्यथा भी अप्रसन्न थीं; हिन्दू घरों मे, सास पतोहू से अनबन हुआ ही करती है; अंग्रेजी घरों मे तो दोनों एक साथ रहती ही नहीं। यह भी लिख देना चाहिये कि, मुकद्दमे के दौरान मे, राजा की ओर से, रानी के ऊपर भी दुश्चरित्र का आक्षेप किया गया था। दूसरे उदाहरण देखिये; बहुत वर्ष नहीं हुए, काशी के दो सम्पन्न घरों के दो युवा लड़कों ने, आत्महत्या कर ली; एक ने फांसी लगा कर, एक ने विष खा कर। क्यों? उन के पिताओं पर दो वेश्याओं का ऐसा जादू चढ़ गया था, कि उन वेश्याओं को अपने घर मे ला कर, अपने पत्नियों के सिर पर बिठा दिया था। लड़कों से माताओं की दुर्दशा, और अपनी तिरस्कृति, सही न गई।

अनुविधान, अनुकरण, करती है। जो राजा अपना भला और प्रजा का भला चाहता है, वह काम क्रोध आदि अपने आभ्यंतर छः रिपुओं को अपने वश मे लाता है; और तब सब जनता उस के वश मे स्वयं आ जाती है।'

अन्त मे वात्स्यायन ने लिखा है,

बाभ्रवीयांश् च शास्त्रार्थान् आगमय्य विमृश्य च,
वात्स्यायनश् चकार इदं कामसूत्रं यथाविधि ;
पूर्वशास्त्राणि संदृश्य, प्रयोगान् अनुसृत्य च,
कामसूत्रं इदं यत्नात् संक्षेपेण निवेदितं ।
धर्मं, अर्थं च, कामं च, प्रत्ययं, लोकं एव च,
पश्यति एतस्य तत्त्वज्ञो, न च रागात् प्रवर्त्तते ।
अधिकारवशात् उक्ताः ये चित्राः रागवर्धनाः,
तदनन्तरं अत्र एव ते यत्नाद् विनिवर्त्तिताः ।
तद् एतद् ब्रह्मचर्येण, परेण च समाधिना,
विहितं लोकयात्रार्थं; न रागार्थोऽस्य संविधिः ।
रक्षन् धर्मार्थकामानां स्थितिं स्वां, लोकवर्त्तिनीं,
अस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञो भवति एव जितेन्द्रियः ;
तद् एतत् कुशलो विद्वान् , धर्मार्थौ अवलोकयन् ,
नातिरागऽात्मकः कामी प्रयुञ्जानः प्रसिद्ध्यति ।

'बाभ्रवीय शास्त्र को पढ़ कर, और उस का अच्छी तरह विमर्श कर के, तथा पूर्व मे लिखे अन्य शास्त्र-ग्रन्थों को देख कर, और लोक मे प्रवर्त्तमान प्रयोगों आचरणों का भी पता लगा कर, उन का अनु-सरण अनु-एषण अनु-संधान करके, वात्स्यायन ने बहुत संक्षेप से यह कामसूत्र कहा। इस के तत्त्व को समझ लेता है, वह धर्म-अर्थ-काम को, लोक मे प्रत्यय (प्रतीति, विश्वास्यता) पाने के मर्म को, तथा लोक के आचरण को तत्त्वतः जान जाता है, और फिर कभी अति-राग से अन्ध नहीं होता। अधिकार-प्राप्त, प्रसंग-प्राप्त, होने से, जिन राग बढ़ाने वाले योगों प्रकारों का यहां वर्णन किया, उन का विनिवर्त्तन, आवर्जन, अवधीरण, भी, अनन्तर ही यहां कर दिया है। यह सब ग्रन्थ, ब्रह्मचर्य का पालन कर के समाधिपूर्वक, एकाग्र चित्त हो कर, वात्स्यायन ने इस

उद्देश्य से लिखा, कि जनता की लोक-यात्रा, अधिक सुख और कम दुःख के साथ, सरलता से निबहै; ऐसे ही ब्रह्मचर्य और समाधि से इस ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिए; तभी अध्ययन सुफल होगा। राग बढ़ाने के लिये यहाँ विधान नहीं किया है। धर्म और अर्थ (और मोक्ष) को जो सदा ध्यान से रखता है, काम से अन्धा नहीं हो जाता, उचित मात्रा मे, जितेंद्रिय हो कर शास्त्र के तत्त्व को समझ कर, धर्मानुकूल प्रकारों से ही, सात्त्विक काम का सेवन करता है, वह धर्म-अर्थ-काम तीनो की सिद्धि प्राप्त करता है'। इति।

समापन

सर्वांगीण कामशास्त्र की रूपरेखा जो ऊपर खींची है, निश्चयेन उस मे बहुत संशोधन परिष्करण की आवश्यकता है। पाठक को, उस से, केवल स्थूल रूप से विदित हो जायगा कि कामशास्त्र मे क्या बातें होनी चाहिएं। कामाध्यात्म को समाप्त करता हुआ, पुनरपि भारत जनता को ध्यान दिलाता हूँ, कि बहुविध आपत्तियों से नई पुश्त को बचाने के लिये, ऐसे कामशास्त्रीय, लघु, मध्य, बृहद् ग्रन्थों की श्रेणी, आर्ष, वत्सल, लोकोपकारक भाव से लिखी हुई, समाज को अत्यंत अपेक्षित हैं, जिन ग्रन्थों को माता, पिता, अध्यापक, वा अन्य गुरुजन, अपने बच्चों, पुत्र-पुत्रियों, पौत्र–पौत्रियों, नप्ता–नप्त्रियों, शिष्य-शिष्याओं, युवक-युवतियों, वर-वधुओं के हाथ मे, यथासमय, निःसंकोच, इस पूर्ण विश्वास के साथ दे सकैं कि, इन के पाठ से उन का भला ही होगा।

ॐ

(परमात्म-स्वभावोऽयं, काम–संकल्पना-मयः,
'अहम्-एतत्' प्रवृत्यै यत्; 'एतत्-न' च निवृत्तये।)
संकल्पाभिरुचिः कामः सनातनतमोऽभवत्;
सनातनो हि संकल्पः काम इति अभिधीयते।
जगत्पतिर्, अनिर्देश्यः, सर्वगः, सर्वभावनः,
हृच्छयः सर्वभूतानां, ज्येष्ठो रुद्राद् अपि प्रभुः;
(म० भा०, अनु०, अ० १३१)।
कामः सर्वमयः पुंसा स्व-संकल्प-समुद्भवः;
कामात् सर्वे प्रवर्त्तंते, लीयंते वृद्धिं आगताः;
(शिव पु०, धर्म सं० अ० ८)।

केचिद् कर्म वदंति एन, स्वभावं अपरे जनाः,
एके कालं, परे दैवं, पुंसः कामं उत अपरे ;
एष भूतानि, भूतात्मा, भूतेशो, भूतभावनः,
स्वशक्त्या मायया युक्तः, सृजति, अत्ति च, पाति च ;

(भाग०, स्कं ४, अ० ११) ।

(कामाय मायाबीजाय, सर्वसंसारकारिणे,
परमात्मस्वरूपाय, दैवीप्रकृतये नमः ।)
ज्ञानिनां अपि चेतांसि, देवी भगवती हि सा,
बलाद् आकृष्य मोहाय, महामाया प्रयच्छति ।
दैवी हिं एषा गुणमयी साऽात्ममाया दुरत्यया,
प्रपद्यंते ये आत्मानं एव, ते संतरन्ति तां ।
सर्वः स्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु,
सर्वः सद्बुद्धि आप्नोतु; सर्वः सर्वत्र नन्दतु ।

ॐ

काम-अध्यात्म—परिशिष्ट*

बच्चों की शिक्षा।

दादा जी और पौत्र-पौत्रियों की प्रश्नोत्तरी।

पौ० दादा जी, नये बच्चे कहाँ से आते हैं?

दा० बच्चा, जैसे पेड़ मे फल लगते हैं, वैसे माता के पेट के भीतर नये बच्चे होते हैं।

---

* देहात मे, कामीय बातों पर अवरण (पर्दा) कम रक्खा जाता है। स्त्री-पुरुष, अनावृत (खुले) शब्दों मे, जनन-इन्द्रियों का नाम लेते हैं, और उन की बातें करते हैं। गाय-बैल, भैंस-भैंसे, बकरी-बकरे, भेड़-मेढ़े, गधी-गधे, मुर्गी-मुर्गे आदि पाले जाते हैं; समय-समय पर, ये पशु स्वयं भी जोड़ा लगते हैं: और पालकों द्वारा लगाये जाते भी हैं; लड़की-लड़के, बिना रोक-टोक देखते हैं; ऐसों को, इस विषय पर, सयानो से पूछने की आवश्यकता नहीं रह जाती; पर उन को भी, शिक्षा और चेतावनी की आवश्यकता है, जिस मे वे, कच्ची उमर मे, विवाह से पहिले, आपस मे, खेल की ही बुद्धि से, इन पशुओं की नकल करने की चेष्टा न करैं और भ्रष्ट न हो जावें। जो लड़की-लड़के ऐसे घरों और अवस्थाओं मे पतले हैं, विशेष कर नगरों मे, जहाँ इन बातों पर कुछ न कुछ पर्दा डाला जाता है, उन के लिये स्यात् यह प्रश्नोत्तरी कुछ उपयोगी हो सकती है, (पृ० २११-२१२,४१७, ४२२,४२३ पर इस की आवश्यकता की चर्चा की गई है)। नगरों के ऐसे लड़की-लड़कों को, उस विषय मे, उत्कट कुतूहल होता है; यदि माता-पिता, जिन का ही यह विशेष रूप से कर्तव्य है, उस कुतूहल को, उचित शिक्षा दे कर, शांत न करैं, तो वे दूसरे सयानो से पूछते हैं; ये सयाने अक्सर दुष्ट उत्तर देते हैं, दिखा कर सिखाने के बहाने अपनी गुह्य इन्द्रिय का स्पर्श कराते हैं, और यहां तक पापिष्ठ आचरण करते हैं कि उन के साथ अंगुलिक्षेपण, गुदामैथुन, कन्यादूषण तक कर डालते हैं। मुझ से एक प्रतिष्ठित कुल के मित्र ने कहा कि उन के लड़के को उस के

पौ० पिता के पेट मे भी होते हैं ?

दा० नहीं ।

मामा ने ही इस तरह से दूषित किया; और इस घोर दुराचार का ऐसा असर हुआ कि लड़के की प्रकृति मे शाश्वतिक विकार आ गया; युवा हो कर, विवाह कर के, गवर्मेंटी ऊँची नौकरी पा कर के भी, भीतर-भीतर ऐसा विक्षिप्त सा क्षुब्ध रहता था कि एक दिन उस ने, बिना किसी व्यक्त कारण के, आत्मघात कर लिया । दूसरे मित्र ने कहा कि उन की रिश्तादार एक कन्या को, उस की बड़ी बहिन के पति ने, उस बहिन को ही साध कर, कुट्टनी बना कर, कन्या को भ्रष्ट किया, जब वह कन्या, बहिन के घर मे, कुछ दिनो रही थी । ब्रिटेन मे, विवाहिता स्त्रियों की अविवाहिता बहिनो का, उन के पतियों द्वारा, भ्रंशन दूषण अधिक होने के कारण, वहां एक कानून भी बनाया गया, इस प्रकार के दुराचार को रोकने के लिये । ऐसे हेतुओं से, नादान कुतूहली बालक बालिकाओं को, उन के पूछने बिना ही, उचित समय से, उचित शिक्षा दे देना चाहिये । यह चेतावनी तो सब को, क्या ग्राम क्या नगर के, सब बालक बालिकाओं को, दे देना चाहिए, कि वे विवाह से पहिले, जननेन्द्रियों से खेलैं नहीं, और इन के विषय मे हँसी-ठट्ठा कभी न करैं, इन के बारे मे बातैं भी, माता पिता के, या, जब ये न हों, तो जो कोई उन को पालता हो उस के, सिवा, दूसरों से न करैं ।

यह प्रश्नोत्तरी, सूचना मात्र, रूपरेखा मात्र है; अपनी अपनी देश काल की अवस्था और आवश्यकता के अनुसार, सज्जन इस मे घटाव-बढ़ाव कर लेंगे ।

भीतरी विक्षिप्तता का एक उदाहरण और लिखता हूँ, प्रायः ६० वर्ष हुए, युक्तप्रान्त के एक पूर्वी जिले के एक बड़े जमीदार रईस, जिन का काशी मे एक बाग था, यहां आ कर अक्सर रहा करते थे; उन की पत्नी व्यभिचारिणी ख्यातप्राय थी; रईस के चित्त मे इतना बल नहीं कि उस को घर से निकाल दें; यह भी मन मे भय रहा होगा कि, यदि ऐसा करैं, तो जो बदनामी अभी छिप कर होती है, वह खुल कर होने लगेगी; इस आभ्यन्तर द्वन्द्व से अकेले मे बहुत ही विषण्ण, मग़मूस, ग़म मे, विषाद से भरे रहा करते थे; स्यात् स्वयं

पौ० क्यों ?

दा० परमात्मा की ऐसी इच्छा है। देखो, तुम्हारे चारों ओर अनन्त अचरज फैले हैं; भूमि, आकाश, सूर्य, चन्द्र, तारे, हवा, आग, पानी,

---

नपुंसक थे; पर, जब मित्र लोग आ बैठते थे, तो सब से अधिक जोर से हँसी ठट्ठा करने, कहकहा लगाने, का यत्न करते; भीतरी दुःख को छिपाने के लिये। जल्दी ही मर गये। व्यभिचारिणी स्त्री ने भी स्यात् बारह-चौदह बेर गर्भ-स्राव कराया, और जल्दी ही मर गई। उन जमींदार का ऐसा भाग्य नहीं था, ऐसी सात्त्विक बुद्धि नहीं थी, कि व्यभिचारिणी को अन्न-वस्त्र के लिए पर्याप्त 'पिंशन' दे कर, (जैसी सूचना स्मृतियों मे की है), अलग मकान मे रखवा देते, और स्वयं कोई अच्छे सार्वजनिक काम मे तन, मन, धन से लग जाते। पच्छिम मे, प्रायः अच्छे स्त्री वा पुरुष, जिन का गार्हस्थ्य-जीवन, किसी भी कारण से बिगड़ गया है, ऐसे सार्वजनिक कार्यों मे अपने को लीन कर देते रहे हैं। भारत की जनता के लिये, श्री एनी बिसेंट का उज्ज्वल उदाहरण ताजा है; पति के अतिमात्र 'हाकिमाना', 'मालिकाना', स्वामीवत्, प्रभुवत्, बर्त्ताव से उद्विग्न हो कर, प्रायः ३० वर्ष की उमर मे, अदालती 'जुडिशल सेपरेशन' की विधि से, न्यायाधिकारी की अनुमति से, पति से अलग हो गईं। 'डाइवोर्स', विवाह-विच्छेद, सम्बन्ध का सर्वथा तोड़ देना, नहीं चाहा, न हुआ। इस के बाद, ब्रिटेन मे, दरिद्रों के, विशेष कर मजदूरी करने वाली स्त्रियों के, कष्टों को कम करने के उपायों मे कई वर्ष लगी रहीं। फिर, थियोसाफिकल सोसायटी ('ब्रह्मविद्या सभा') मे आ कर, मानव जगत् मे, 'विश्व-धर्म' 'ब्रह्म-धर्म', 'आत्म-विद्या-धर्म' के प्रचार के कार्यों मे, ५० वर्ष तक पृथ्वी के सब देशों मे अनवरत प्रव्रजन करती रहीं; १८९३ ई० मे भारत आईं; काशी मे 'सेन्ट्रल हिन्दू कालिज' और 'हिन्दू गर्ल्स स्कूल' की स्थापना किया; जब काशी आतीं तब, प्रायः जाड़े के दिनो मे, महीनो तक 'शांति कुंज' नामक स्थान मे रहा करतीं; १९३३ ई० मे, ८६ वर्ष की उमर मे, आद्यार (मद्रास) मे शरीर छोड़ा; उन की इच्छा के अनुसार, 'फूल' (राख और अस्थि-शेष) काशी मे, गंगा मे, मैने प्रवाह किया, भारत मे, ऐसे लोग, जिन की गिरस्ती बिगड़ी,

बादल, बिजली, पहाड़, समुद्र, नदी, जंगल, सहस्रों प्रकार के पेड़, पौधे, लता, लाखों प्रकार के जीव जन्तु, पशु, पक्षी, कछुए, मछली, साँप, कीड़े, मकोड़े, आदि। इन सब को परमात्मा ने सिरजा है, और सब के लिये नियम बना दिये हैं, जिन के अनुसार, बँधे समय पर, बँधे स्थान मे, वे अपना अपना काम करते हैं।

प्रायः किसी भक्ति या वैराग्य पंथ मे चले जाते रहे; २००० वर्ष पहिले उज्जयिनी के महाराज भर्तृहरि की कथा प्रसिद्ध है, अपनी रानी के व्यभिचार का हाल जान कर संसार की निस्सारता सहसा उन के मन मे व्यापी; चरणाद्रि मे, गंगा के तट पर, शेष आयु व्यतीत किया; राज्य, छोटे भाई विक्रम को सौंप दिया। विक्रम ने, चरणाद्रि (चरनार, चुनार) का प्रसिद्ध दुर्ग बनवाया। भर्तृहरि ने, संन्यास की अवस्था मे, 'शतक-त्रय' (निति-श्रृङ्गार-वैराग्य) लिखा, जो आज तक परम प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि उन्हीं ने, व्याकरण का एक बड़ा भारी, सवा लाख श्लोक का, ग्रन्थ, 'हरिकारिका', भी लिखा, जिस का एक बहुत थोड़ा अंश, 'वाक्य पदीय' ही, अब मिलता है। ऐसी ही कथा, अब से प्रायः ३५० वर्ष पहिले के महात्मा तुलसीदास जी की प्रसिद्ध है; वर्षा की अँधेरी रात मे, पौंड़ कर गंगा को पार कर के, श्वशुरालय मे अपनी पत्नी से मिलने को पहुंचे; सती, स्नेहवती, पर शर्माई, पत्नी ने उन की लानत मलामत की; कहा, 'मेरे थोथे हाड़ मास से जितनी प्रीति आप करते हो; उतनी राम जी पर करते, तो क्या न पाते'; हृदय को ऐसा धक्का लगा, मन ऐसा पलटा, कि समस्त संसार से बिलकुल हटा, और राम और सीता के अनुपम रूप मे जा सटा; जिस का बहुत मीठा फल यह हुआ, कि 'रामायण', तथा अन्य भक्तिमय काव्य, लिखे गये; कहीं कहीं अति-भक्तिमय। भर्तृहरि का वैराग्य, ज्ञानप्रधान था; तुलसीदास का, भक्तिप्रधान; कारणो मे भेद होने से; भर्तृहरि को, दुश्चरित्रा पत्नी से और समस्त संसार से तीव्र वैराग्य हो गया था; तुलसीदास को, सती पत्नी से वैराग्य नहीं हुआ, न संसार से ही, अपि तु अपनी ही निर्लज्जता और सामाजिक मर्यादा के उल्लंघन पर ग्लानि हुई; स्त्री-पुरुष के शुद्ध स्नेह का स्वाद, सीता-राम के रूप मे लेते रहे। कबीर का, नानक का भी, वैराग्य, ज्ञानप्रधान था।

पौ० दादा जी, परमात्मा आप किस को कहते हैं ? आप ने उन को देखा है ?

दा० बच्चा, जिस अनन्त अपार शक्ति ने यह सब अचरज रचा है, जो उस को चला रही है, उसी को परमात्मा कहते हैं। चमड़े की आँख से वह नहीं देखा जाता है, सब के भीतर काम कर रहा है, जैसे वायु। आँख बन्द कर के, मन को चारो ओर से बटोर कर के, ध्यान करने से, 'मै हूँ', 'मै हूँ', ऐसा आत्मा, मन को मिलता है; उसी महाशक्ति को, भारत मे परमात्मा, परमेश्वर, भगवान् आदि नामो से कहते हैं; दूसरे देशों मे दूसरे नामो से पुकारते हैं।

पौ० तो उसी एक परमात्मा ने सब कुछ बनाया है ?

दा० हाँ; वह सब के भीतर भी है, बाहर भी, जैसे आकाश। सब काल, सब देश, सब वस्तु मे वह व्याप्त है, वायु मे भी वह भरा है; जहां वायु की गति नहीं है, वहां भी वह है।

पौ० तो मेरे भीतर भी परमात्मा है ?

बाल-दूषण कन्या-दूषण के विषय मे, बहुत वर्ष हुए, मैने स्वयं, दो बूढ़े, 'पिंशन' पाये, ऊँचे दर्जे के गवर्मेंटी नौकरों को, एक जल्से मे, एक दूसरे के साथ हँसी करते हुए, पुरानी करतूतों की याद दिलाते हुए, आंखें मटका कर यह कहते सुना, कि 'दाग़ लगा दिया', 'जूठा कर दिया'; तथा बहुत वर्ष नहीं हुए, एक 'मिडल स्कूल' के 'मास्टर' को, कई मास्टरो के बीच, यह कहते सुना कि 'सैंकड़ों लड़कों को (ऐसा ऐसा कर के) छोड़ दिया'; स्कूल के एहाते की दीवार के पास ये लोग खड़े थे, मै बगल की सड़क से टहलता हुआ जा रहा था। और भी ऐसे मौके आये। ऐसी बातें सुन कर मेरे मन मे बहुत उद्वेग होता था; यही भाव उठता था कि ऐसे वानर-प्रकृति के पशुओं को तो, विष्ठा के कुंड मे कुछ देर के लिये डाल देना, उचित दंड होगा। किसी भी अधिकार के, वा अध्यापकी के, स्थान पर, ऐसे आदमियों को, जिन के मन से ऐसे पापिष्ठ भाव भरे हों, एक क्षण भी न रहने देना चाहिये। मनु ने, ऐसे घोर अपराधियों के लिये, इन्द्रिय का काट डालना, वा जलती हुई लोहे की प्रतिमा (सूर्मी) से बांध कर मार डालना, दण्ड लिखा है।

दा० ज़रूर है; जब तुम्हारा शरीर अच्छा हो, कोई बीमारी न हो, चित्त स्वस्थ हो, उस समय, आँख बन्द कर के ध्यान करो, तो तुम को अपने भीतर हल्की अच्छी रौशनी, प्रकाश, सा, जान पड़ेगा, और 'मै हूँ', 'मै हूँ', ऐसा भाव, ऐसी चेतना, ऐसा होश भी जान पड़ेगा; वह, परमात्मा का ही आभास है।

पौ० अच्छा, तो परमात्मा ने जीव जन्तुओं, पेड़ पौधों, के लियें क्या नियम बनाये हैं ?

दा० इन के लिये, परमात्मा की ऐसी आज्ञा है कि, ये पैदा होते हैं, कुछ काल जीते हैं, अपने समान नये बच्चे पैदा करते हैं, फिर मर जाते हैं। यों ही, पीढ़ी पर पीढ़ी, प्रत्येक जाति के पेड़ पौधों, जीव जन्तुओं, की जाति बनी रहती है। नई पीढ़ी पैदा करने के लिये, परमेश्वर ने कई प्रकार के नियम बना दिये हैं। कुछ पौधे तो ऐसे हैं कि, उन की एक टहनी काट कर पृथ्वी मे गाड़ दी जाय, तो वह जड़ पकड़ लेती है, और उस से नया पौधा तैयार हो जाता है। बहुतेरे पेड़ पौधों मे फूल लगते हैं; फूल के बीच मे दो चाल के छोटे छोटे सूत होते हैं; एक के माथे पर धूल ऐसा 'पराग' होता है; दूसरों के माथों पर बारीक छेद; पराग, झड़ कर, छिद्रों मे जाता है, और सूत्र की नाली मे से नीचे उतर कर, एक बारीक थैली मे ठहर जाता है; उस थैली मे एक विशेष प्रकार का मीठा मधुर मधु (शहद) होता है; उस से मिल कर, धीरे धीरे, रूप बदलता हुआ, बीज बन जाता है, जब फूल सूखता है, तब बीज, धरती, (धरित्री, सर्व-धारिणी) पृथ्वी पर, गिर कर धंस जाता है, और वर्षा ऋतु मे जड़ निकाल कर, क्रमशः अपने मा-बाप पेड़ पौधे के रूप का बन जाता है। यह दो प्रकार, टहनी से, और पराग-मधु से, नयी 'पुश्त' का पैदा होना, 'अ-चर', अर्थात् 'स्थावर', चेतना का है। अ-चर, स्थावर, वे जीव हैं, जो चलते फिरते नहीं, एक ही जगह स्थित रहते हैं, यद्यपि 'जीव', अर्थात् व्यापक परमात्मा की चेतना का सूक्ष्म अंश, उन मे भी है ही।

पौ० दादा जी, क्या चलते फिरते जीवों की नई पुश्त के पैदा होने का प्रकार दूसरा है ?

दा० हाँ, बच्चा। 'चर' जीवों मे, जिन को 'जंगम' भी कहते हैं, स्त्री और पुरुष, मा और बाप, को, भगवान् ने अलग करदिया है। स्त्री के शरीर

मे, पेट के भीतर, एक थैली मे; 'मधु-रस' बनता है, जिस को 'रजस्' 'रज' कहते हैं; यह थैली (पुट, आशय) पेट के भीतर की दूसरी थैलियों से भिन्न है, और पुरुष के शरीर मे नहीं होती; अन्य थैलियां, जैसी स्त्री की, वैसी ही पुरुष की भी होती हैं। एक मे खाया पीया अन्न-जल पहिले जाता है, फिर उस मे रस बनता है, फिर उस मे से निकल कर, क्रम से, रुधिर बनता हुआ नसों के द्वारा, शरीर मे चारो ओर घूमता है, और नीचे को उतरता जाता है; अन्त मे, उसका खराब अंश, मल मूत्र के रूप मे, दूसरी थैलियों नालियों, आंतों (अन्त्र) मे जमा हो कर, बाहर निकल जाता है। पुरुष के शरीर मे, अण्डकोष के दोनों अण्डों, गोलियों, में, एक प्रकार का 'पराग' बनता है, जिस को 'वीर्य' वा 'शुक्र' कहते हैं; गांव के लोग, इस 'वीर्य' को बीज ही कहते हैं, (फारसी मे 'नुतफा', उर्दू मे 'मनी' भी)। जब स्त्री और पुरुष का, बड़े होने पर व्याह होता है, और दोनों एक साथ सोते हैं, तब पुरुष के शरीर मे से, मूत्रेन्द्रिय द्वारा, निकल कर, वीर्य, स्त्री के शरीर मे, स्त्री की मूत्रेन्द्रिय के द्वारा, थैली मे जाता है, उस थैली को 'गर्भाशय', वा 'कमल' वा 'पद्म' भी कहते हैं, वहां प्रायः नौ महीने तक, माता के पेट के भीतर रहता है और बढ़ता है, फिर उसी मूत्रेन्द्रिय द्वारा बाहर आता है; और 'नया बच्चा' कहलाता है।

(यहां, गौरा और गौरैया का उदाहरण दिया जा सकता है, जो भारत मे हर घर मे रहती हैं, यथा), गौरा और गौरैया जब जोड़ा लगते हैं, तब गौरा के मूत्रेन्द्रिय मे से वीर्य निकल कर गौरैया के मूत्रेन्द्रिय द्वारा उस के गर्भाशय मे जाता है; वहां, कुछ दिनों मे अण्डा बनता है; फिर बाहर निकलता है; गौरैया उस पर बैठ बैठ कर, उस को 'सेती' (सेवती, सेवा करती) है, अर्थात् अपने शरीर की गर्मी उसको पहुंचाती है; फिर वह अंडा, कुछ दिनो बाद, फूटता है, उस के भीतर बच्चे के बढ़ जाने के कारण; तब उस मे से 'गदेला' निकलता है, और पाँच सात दिनों मे ही, कुछ कुछ उड़ने लगता है।

पौ० दादा जी, गौरा के अण्ड-कोष तो देख नहीं पड़ते हैं ?

दा० नहीं, बच्चा; सभी चिड़ियों के, तथा सभी अण्डा देने वाली जाति, जैसे कछुआ, छिपकिली, मगर, घड़ियाल, साँप आदि, के नरों के, अण्डकोष, पेट के भीतर ही रहते हैं, जोड़ा लगने के समय, केवल दंडिका,

रुधिर से भर जाने के कारण बाहर निकल आती है, और उस से, उन उन जातियों की स्त्री जन्तुओं के मूत्रेन्द्रिय के भीतर, वीर्य का निषेचन हो जाता है।

पौ० तो मैं भी ऐसी ही पैदा हुआ ?

दा० निश्चय ही। तुम्हारे शरीर का आधा भाग, अति सूक्ष्म 'वीर्य' रूप मे, तुम्हारे पिता के शरीर के भीतर बना, और आधा, अति सूक्ष्म 'रजस्' के रूप मे माता के भीतर; फिर पिता का भाग, माता के उदर मे गया, नौ महीने तक तुम्हारी माता ने तरह तरह के क्लेश सह कर, तुम को अपने पेट के भीतर पाला पोसा बढ़ाया; फिर बड़ा भारी कष्ट सह कर, छोटे मूत्रद्वार को फैला कर, तुम को बाहर लाई; और उस के बाद भी, अपने रुधिर को, स्तनो मे, दूध बना कर, तुम को एक बरस, या दो तीन बरस तक भी, पिलाया और बलवान् किया।

पौ० दादा जी, माता के पेट मे से मेरे बाहर आने के समय, माता को कष्ट क्यों हुआ ?

दा० बच्चा, नौ महीने पहिले, जब तुम ने माता के उदर मे प्रवेश किया, तब तुम इतने छोटे, सूई के नोक से भी छोटे, थे, कि आँख से देख नहीं पड़ते थे; नौ महीने मे इतने बढ़ गये, कि कई सेर के हो गये; इस से, माता के शरीर को, ज्यों ज्यों महीने बीतते थे, त्यों त्यों क्लेश अधिक होता रहा, और तुम्हारे बाहर आने के समय तो बहुत ही हुआ। कितनी ही स्त्रियां तो इस प्रसूति की घोर वेदना से मर ही जाती हैं; पर जिन स्त्रियों का जीवन शुद्ध और शरीर बलवान् होता है, उन को कष्ट कम होता है, तुम्हारे बाहर आने के बाद, नित्य नित्य, बड़े प्यार, बड़े स्नेह, से, और विशेष कर तुम्हारी बीमारियों में, और दांत निकलने के समय में, माता ने, और पिता ने भी, रात रात भर जाग कर, अपने खाने पीने सोने की फिक्र छोड़ कर, दौड़ धूप कर, वैद्य डाक्टरों अस्पतालों से दवा ले ले कर, तुम को अच्छा किया, खिलाया पिलाया, कपड़ा पहिनाया, जाड़ा गर्मी पशु पक्षी कीड़े मकोड़े से तुम्हारी रक्षा की। जिस दया से और असीम अथाह शक्ति से परमात्मा सब प्राणियों का भला करता है, उस दया और शक्ति का एक अणु प्रतिबिम्ब, उस ने सब माता-पिताओं के हृदय मे, उनके बच्चों के लिये, रख दिया है, जिसी के बल से वे उन का

पालन पोषण करते हैं; न केवल मनुष्य माता-पिता के हृदयों मे, बल्कि पशु पक्षियों के भी; यहाँ तक कि जो हिंस्र पशु, दूसरे अहिंस्र पशुओं को मार कर खा जाते हैं, जैसे सिंह, व्याघ्र, तेंदुआ, हुँडार, साँप, मगर, आदि, वे भी अपने अपने बच्चों का वैसा ही प्यार, वैसी ही रक्षा, करते हैं. जैसे तुम्हारे माता-पिता तुम्हारी। इस लिये तुम, सबसे पहिले, इस सर्व-शक्तिमान् परमात्मा परमेश्वर भगवान् की पूजा और प्रार्थना अपने हृदय के भीतर करो; हृदय के भीतर; क्योंकि बाहर की आँखों से वह देखा नहीं जाता; और उस की प्रार्थना कर लेने के बाद, अपने माता पिता का, विशेष कर अपनी माता का, आदर, नमस्कार, और स्नेह करो, सबेरे उठ कर प्रतिदिन उन की वंदना करो। जो लड़की लड़के अपनी माता, अपने पिता का स्नेह सदा मन मे रखते हैं, वे सैकड़ों आपत्तियों से, दुष्टों लुच्चों के छल कपटों, प्रलोभनो बँहकानो, दुष्कर्मों से बचते हैं; ऐसे लुच्चे उनके पास जल्दी नहीं आते, बल्कि इन से डरते हैं, सच्ची मातृ-पितृ-भक्ति के धार्मिक भाव मे ऐसा ही प्रभाव, ऐसा ही तेज, है।

पौ० दादा जी, क्या सब जीव जन्तु अपनी मा के पेट के भीतर नौ महीने रहते हैं ?

दा० नहीं, बच्चा। इस बारे मे, जीवों मे बहुत फर्क होता है। चूहा अपनी मां के पेट के भीतर बीस दिन ही रहता है, खरगोश (खरहा) एक महीना, मनुष्य और गौ नौ महीना, घोड़ा ग्यारह महीना, हाथी बीस महीना। जब तुम बड़े हो जाओगे, और अच्छी तरह पढ़ लिख लोगे, तब इस विषय पर लिखी बड़ी बड़ी पुस्तकें पढ़ सकोगे, जिन मे ऐसी बातों का विस्तार से वर्णन किया है। मछलियों के प्रकार दूसरे हैं, पतिंगों के दूसरे, रेंगने वाले जंतुओं के दूसरे, पेड़ पौधों के दूसरे।

पौ० दादा जी, बहिन और भाई का ब्याह एक दूसरे से अपने घर के भीतर ही क्यों नहीं होता ?

दा० परमात्मा ने मनुष्यों के हृदय के भीतर ऐसी आज्ञा दे रक्खी है कि ऐसा ब्याह नहीं होना चाहिये। पहिले तो, भाई बहिन को एक दूसरे से ब्याह करने की इच्छा ही नहीं होती; दूसरे, यदि ऐसा ब्याह किया जाय, तो सन्तान या तो नहीं होती, या कुरूप, दुर्बल, रोगी होती है; पशुओं मे भी देखा गया है कि यदि एक ही मा-बाप की सन्तान मे 'ब्याह' हुआ, तो उन की सन्तान कम अच्छी होती है। सब मनुष्यों

मे, सारी पृथ्वी पर, भाई-बहिन, तथा अन्य बहुत पास के बान्धवों का (एक 'गोत्र' वालों का) विवाह बड़ा पाप समझा जाता है, और मना किया जाता है ।

पौ० ब्याह ऐसे गाजे-बाजे धूम-धाम से क्यों होता है ?

दा० जिस मे सब लोग जान जायँ कि इस युवा और इस युवती का परस्पर विवाह हो गया है, दूसरा कोई इन से विवाह करने की इच्छा न करे; ये दोनों एक साथ एक घर मे परमात्मा के बनाये नियम के अनुसार धर्म से रहेंगे, गृहस्थी के कामो मे एक दूसरे की सहायता करेंगे, प्रेम प्रीति से सन्तान उत्पन्न करेंगे; और वही संतान इन के धन को पावेगी; यह पुरुष दूसरी स्त्री का स्पर्श नहीं करेगा, और यह स्त्री दूसरे पुरुष का स्पर्श नहीं करेगी । तुम्हारे माता-पिता का ऐसे ही विवाह हुआ, और उन्हों ने तुम को प्रेम-प्रीति से उत्पन्न किया, और गर्भ के भीतर और बाहर पाला पोसा ।

पौ० दादा जी, बिना ब्याह किये, स्त्री पुरुष एक साथ रहैं तो क्या दोष ?

दा० ऐसों की प्रेम-प्रीति बहुत दिन टिकती नहीं, एक दूसरे को छोड़ देते हैं; यदि संतान हुई, तो उस की बड़ी दुर्दशा होती है, उस की फिक्र कोई नहीं करता; स्त्री दूसरे पुरुष के, और पुरुष दूसरी स्त्री के, साथ, बिना ब्याह किये, रहना चाहते हैं, इस से उन दूसरों के घर वालों से बहुत लड़ाई होती है, और मरने मारने की नौबत आती है । सब गृहस्थी और सब समाज का प्रबन्ध गड़बड़ हो जाय, बिगड़ जाय, यदि स्त्री और पुरुष नित्य नये मन-माने संग साथ किया करें; खेती-बारी, घर-द्वार, धन-दौलत, राज-काज, पढ़ाई-लिखाई, सब अस्त-व्यस्त हो जाय; क्यों कि नये बच्चों की देख-भाल, रक्षा, शिक्षा, वा भक्षा (भिक्षा, खिलाना पिलाना) कोई न करे ।

पौ० दादा जी, पशुओं मे तो इस चाल का ब्याह नहीं होता ?

दा० बच्चा, पशु तो पशु ही हैं । मनुष्य मे और पशु मे तो भेद होता है न ? पशुओं के बच्चे, पैदा होते ही, या एक दो दिन या अठवारे (सप्ताह) पखवारे (शुक्ल पक्ष, कृष्ण-पक्ष) मे चलने फिरने, चुगने चरने, लगते हैं; तुम तो कई महीने तक पीठ के बल पड़े ही रहते थे,

अपने से करवट भी नहीं ले सकते थे, महीनों बाद, उलट जाने, और पेट के बल जरा-जरा रेंगने, लगे थे। मनुष्य का बच्चा, दसियों, पंद्रहियों, बीसियों बरस तक, मा-बाप के सहारे से ही जीता है। कुत्ता, बिल्ली, चूहा, खरहा, को, चार-चार, छः-छः, आठ-आठ, और शूकरी को चौदह-चौदह तक, पिल्ले एक साथ होते हैं; उन को दूध पिलाने के लिये, इन पशुस्त्रियों को, परमेश्वर ने छः छः आठ आठ स्तन भी दिये हैं; मनुष्यस्त्री को दो ही। पशुओं के पिल्लों के मा-बाप बहुत थोड़े दिनो तक उन की फिक्र कर के निश्चिन्त हो जाते हैं, और उन को छोड़ देते हैं; तुम तो अब कई बरस के हो गये, पर तुम्हारे माता-पिता तुम्हारी चिन्ता अब भी दिन-रात करते हैं, और अभी पंद्रह बीस बरस तक और करते रहेंगे। मनुष्य-माता को, प्रायः एक बेर मे एक ही बच्चा होता है, कभी कदाचित् , दो; और भी कम, तीन; और भी कम, चार, एक साथ होते हैं। थोड़े दिन हुए, अमेरिका मे, कैनाडा नाम के देश मे, एक स्त्री को पांच बच्चियाँ एक साथ हुई, सो बड़ा अचरज माना गया; अन्य सब देशों के अखबारों मे उस का हाल छपा. और, एक-एक दो-दो महीने पर, पाँचों की तस्वीर, एक साथ, एक या दो बरस तक छपती रही; यह दिखाने को कि सब जीवित और पुष्ट हैं; क्यों कि जोडुआँ (युग्म) बच्चे भी दुर्बल होते हैं, और बहुधा मर जाते हैं, फिर पाँच का जीते रहना और पुष्ट होना तो, उनके एक साथ पैदा होने से भी, बहुत अधिक आश्चर्य की बात है। उन की माता को, वहाँ की सरकार की ओर से विशेष पारितोषिक, इनाम, भी दिया गया। यदि मनुष्य माता को, कुत्ती, बिल्ली, शूकरी के इतने बहुत बहुत बच्चे एक साथ, हर बेर, होने लगें, तो बीस-बीस बरस तक सब कैसे पाले जा सकें? कुत्ता, बिल्ली आदि के बच्चे बहुतेरे मर ही जाते हैं, सूकरी के बच्चों को तो, जैसे भेड़-बकरी के बच्चों को, मांसाहारी मनुष्य ही खा जाते हैं। और भी देखो, भगवान् ने मनुष्य को बुद्धि दी है, जैसी पशु को नहीं दी। मनुष्य तरह-तरह के कपड़े बनाते और पहनते हैं, बड़े-बड़े भवन, नगर, सड़क, गाड़ी, विविध प्रकार की कलों के कारखाने, बनाते और काम में लाते हैं; पशु तो नहीं। परमात्मा ने मनुष्यों के उत्तम जीवन के लिये अलग नियम बना कर उन के हृदय मे बैठा दिये हैं; पशुओं के जीवन के नियम अलग हैं। परमेश्वर के बनाये नियमों

का जो स्त्री-पुरुष उल्लंघन करते हैं, उन को इस लोक मे, और मरने के वाद परलोक मे, घोर कष्ट भोगना पड़ता है।

पौ० दादा जी, कुछ लड़के लड़की अपनी मल-मूत्र की इन्द्रियों के साथ खेलते हैं, यह ठीक है या नहीं ?

दा० यह ठीक नहीं है, वहुत बुरा है। हाँ, नहाने धोने के समय, सावधानी से, जैसे और अंगों की, वैसी उन की, स्वच्छता सफाई कर लेना चाहिये, कि कहीं भी मल जरा भी न रह जाय। पर इन के साथ खेलना, इन को गुदगुदाना, वहुत बुरा है; इस से रोग हो जाते हैं, शरीर और बुद्धि दोनो दुर्बल और क्षीण हो जाते हैं, तेज घट जाता है। उचित समय से पहिले कोई काम न करना चाहिये। नया बच्चा, केवल दूध ही पी सकता है, यदि उस को पहिले ही अन्न खिला दिया जाय, तो, अपच हो कर, मर जाय; जब बडा हो जाता है, तब सेरों अन्न पचा लेता है। चार-पाँच वरस के लड़के के सिर पर वीस-पचीस सेर का वोझ रख दिया जाय, तो वह दब कर गिर पड़ैगा; वही, बड़ा होने पर, कई मन का भी वोझ उठा लेगा, यदि शुद्ध अन्न सें, सुचाल से, उचित व्यायाम से, उस ने अपना शरीर पुष्ट और वलवान् किया है। जिन लड़कों को मल मूत्र की इन्द्रियों से खेल करते देखो, उन को मना करो; तुम्हारी उमर के, लड़के या सयाने, तुम्हारे साथ ऐसा खेल करना चाहैं, उन को डाँट दो, 'ख़बरदार, ऐसा मत करो' और कहो कि 'मैं अपने माता-पिता से तुम्हारा हाल कहूँगा, और तुम्हारे माता-पिता से कहलाऊँगा'। स्वयं अपना मन और तन शुद्ध रक्खो, और अपने आचरण, उदाहरण, उपदेश से, अपने चारों ओर की हवा को, घर मे, पड़ोस मे, पाठशाला मे, शुद्ध और पवित्र बनाओ। विद्यार्थी की ब्रह्मचारी अवस्था मे, शरीर को शुद्ध आहार और उचित व्यायाम से, और बुद्धि को अच्छी वातों के सीखने से, बलिष्ठ बनाओ; आजकल बुरी-बुरी किताबें, जिन मे भदेस वातों की चर्चा, और नंगी भद्दी तस्वीरें भी, रहती हैं, बहुत छपने लगी हैं, इन किताबों को पढ़ने से लड़के-लड़कियों, युवा-युवतियों का मन मैला होता है. और उन के शरीर पर भी खराब असर पड़ता है; इन को न पढ़ना चाहिये।

पौ० दादा जी, बिना पढ़े कैसे जान पड़े कि किताब अच्छी है या खराब ?

दा० बच्चा, अपने माता-पिता से पूछ लेना चाहिये कि यह किताब अच्छी है, पढ़ने योग्य है, या नहीं। ऐसी कोई बात मत करो जिस को अपने माता-पिता से छिपाना चाहो, जिस को उन के सामने न कर सको, जिस से तुम्हारे मन मे आप शंका और लज्जा होती हो। इस एक नियम को यदि सदा याद रक्खोगे, तो तुम से कभी कोई भूल, कोई बुरा काम, न होगा। सर्वोपरि, यह सदा याद रक्खो, कि यदि माता-पिता से, वा अन्य किसी मनुष्य से, अपना कोई काम छिपा भी लोगे, तो सर्वव्यापी भगवान्, परमेश्वर, परमात्मा से तो कभी भी छिपा नहीं सकोगे, वह तो सब के भीतर सदा बैठा है, तुम्हारे हृदय के भीतर भी, और सब कुछ सर्वदा देखता जानता रहता है, और कभी न कभी, देर मे या जल्दी ही, अच्छे कार्यों के लिए इनाम, और खराब के लिए दण्ड, देता है।

पौ० दादा जी, यदि और कोई बात पूछने को जी चाहेगा, तो आप से पूछने आऊंगा, न ?

दा० जरूर! बच्चा, तुम तो जानते ही हो, कि मैं तुम को बहुत प्यार करता हूँ, जो जो पूछोगे, वह तुम को बताने का जतन करूँगा, यदि मुझे मालूम हो, और तुम्हारे समझने लायक़ हो। जब विद्यार्थी अवस्था समाप्त कर के, गृहस्थी मे पैर रखने के लिए विवाह करोगे, तब तुम्हारी अवस्था दूसरी होगी, और उस के लिये अधिक ज्ञान और विशेष नियमो की आवश्यकता होगी, उन को तुम अभी समझ न सकोगे; उचित समय पर वे सब तुम को विदित हो जायंगे, वृद्धों के बतलाने से, और इन सब विषयों पर अच्छी पुस्तकों के पढ़ने से, जिन को अच्छे ज्ञानी आदमिओं ने जनता मे सच्चा ज्ञान फैलाने के लिये, लिखा है, और जो अब मिलने लगी हैं; अभी से उन को जानने की इच्छा मत करो; जैसा पहिले कहा, छोटा बच्चा दूध ही पचा सकता है, भारी अन्न नहीं।

प्यारे बच्चो! इन बातों को ध्यान मे रक्खो। इस प्रकार से तुम अपना, अपने घर वालों का, और पड़ोसियों का, तथा जिन से जिन से तुम्हारा संग साथ, संसार के काम काज मे, हो, उन का कल्याण करोगे।

परमात्मा तुम को और मनुष्य मात्र को सद्बुद्धि दे, और सब का कल्याण करै, बूढ़े दादा के हृदय मे सतत यही प्रार्थना रहती है।

ॐ

काम-अध्यात्म–परिशिष्ट २

नव-विवाहित वर-वधू के लिये दो शब्द

प्यारे वर-वधू ! १८८४ ई० मे, साठ वर्ष से अधिक हुए, मेरा विवाह हुआ; मेरे बड़े सौभाग्य से, पत्नी, सच्ची सह-धर्म-चारिणी, स्वभाव की नितान्त सरला, अभी तक मेरा साथ, इस लोक मे, दे रही हैं; अब उनकी आयु ७२ की है, मेरी ७८; इस ६२ वर्ष के विवाहित जीवन और गार्हस्थ्य मे, वच्चों, और उन के बच्चों, को पालने पोसने, पढ़ाने लिखाने, ब्याहने, रोजगार मे लगाने, उन की बीमारियों, प्रसूतियों, आदि मे फ़िक्र करने, के सुखों और दुःखों का जो अनुभव हुआ, उस के भरोसे, मैं ने, यह 'कामाध्यात्म', तुम्हारे ही उपयोग के लिये लिखा है। यदि इस से तुमको कुछ भी सहायता मिलै तो अपना सौभाग्य समझूँगा। यहाँ लिखी बातों के सिवा बहुतेरी बातैं, अच्छे प्रामाणिक चुने हुए पाश्चात्य और अब भारत मे भी लिखे जाते हुए ग्रन्थों को, स्वयं पढ़ कर, तुम जान सकते हो। यदि ध्यान से पढ़ोगे तो तुम्हे अवश्य जान पड़ेगा कि, सात्त्विक काम और राजस-तामस काम का जो विवेक, 'कामाध्यात्म' मे जोर दे कर किया है, वह विवेक प्रायः अन्य ग्रन्थों मे नहीं किया जा रहा है; यद्यपि यह विवेक सच्चे कामशास्त्र का प्राण ही है, हृदय ही है।

वर-वधू ! एक दूसरे पर दिल खोल कर रीझो ! परस्पर स्नेह-प्रीति करो ! विवाह से पहिले यदि कोई भूल हुई है, तो उस को भूल जाओ; फिर ऐसी भूल न होगी, और अपने बच्चों को ऐसी भूलों से बचावैंगे— यही दृढ़ निश्चय मन मे रक्खो। एक दूसरे का मन सदा लिये रहो; 'अति परिचयाद् अवज्ञा*' परस्पर, एक दूसरे के लिये, कभी मत होने दो; दूसरे की आँख से अपने को देखो, अपनी ही आँख से उस को नहीं; उस की आवश्यकताओं और उचित इच्छाओं का सदा ध्यान रक्खो, अपनी ही का नहीं। सह-धर्म-चारिता शब्द का अर्थ मन मे

---

* अति परिचय, हर वक्त, बहुत अधिक, संग साथ रहने से मन ऊब जाता है, गुणो की जगह एक दूसरे के दोष देख पड़ने लगते हैं, एक दूसरे की अवज्ञा, तिरस्कार, होने लगता है; 'फैमिलिआरिटी ब्रीड्स कान्‌टेम्प्ट', familiarity breeds contempt.

अच्छी तरह बैठा लो। अब, जब विवाह हो गया है, एक दूसरे की कमियों, न्यूनताओं, त्रुटियों, को मत देखो ; खूबियों को, गुणों को, ही अधिक देखो, और समय-समय पर उन की सराहना करो; इससे गुण बढ़ेंगे, और न्यूनताएँ दूर हो जायंगी। गार्हस्थ्य से कुछ स्वार्थ सुख तो मिलना ही चाहिये, पर कर्त्तव्य-पालन और परार्थ-सुख कुछ अधिक होना चाहिये। परस्पर मीठे शब्दों का मीठे स्वर से प्रयोग करो, कटु शब्द और रूखे स्वर का नहीं। घर के आय-व्यय पर, प्रत्येक वर्ष के 'वजेट' (अनुष्ठान-पत्र, अनुमानपत्र) पर, दोनों मिल कर, विचार और निर्णय करो। समान-शील-व्यसन के, और तज्जन्य-सुख के, वर्धन के लिये, कोई अच्छी 'कला' का, जिस मे दोनो का मन लगता हो, बहलता हो, एक साथ परिशीलन करो; यथासम्भव प्रतिदिन, इस कार्य के लिये, कुछ थोड़ा समय नियत कर लो; अच्छे भजनों वा गीतों का गाना, घरेलू उपकरणो को ही सज कर रखना, अच्छी पुस्तक उच्च स्वर से पढ़ना, जिस से पति और पत्नी, तथा सन्तति और अन्य बन्धु बांधव मित्र भी जो उपस्थित हों, सुनैं—यह प्रायः अल्पवित्त गृहस्थों को भी साध्य है। अपनी अपनी 'कर्त्तव्य' सम्बन्धी (जीविका-कर्म और गृह-कर्म की) 'चिन्ताओं', तकलीफों, झंझटों, की बातों को प्रायः अपने ही तक रक्खो, स्वयं ही सम्हालो झेलो, दूसरे को (पति पत्नी को और पत्नी पति को, सुना कर, उसके चित्त का बोझ और भारी मत करो; हाँ, जब विशेष परामर्श वा सहायता की आवश्यकता हो, तब तो कहना ही चाहिये। कर्जा कभी मत काढ़ना; कम खाना, कम पहिनना, पर ऋण नहीं लेना ; यदि सम्भव हो तो आमदनी मे से कुछ, कितना भी छोटा, अंश, अड़े आड़े समय के लिये बचा रखना। जैसा जीविका-कर्म, जैसी गृहस्थी, तुम्हारे भाग्य ने दिया हो, उसी से संतोष करना, चाहे यथेष्ट न भी हो, रोज उस की बुराई मत करते रहना; नहीं तो जिन्दगी और भी खट्टी हो जायगी; हां, उन्नति के लिये यत्न तो, सौम्य, शांत, दृढ़ व्यवसायवान् मन से, करते ही रहना चाहिये। यह सदा याद रखना कि 'जिह्वा और उपस्थ', ये दोनो, मनुष्य के परम मित्र भी हैं, और परम शत्रु भी; सद् उपगोग से सुख के मूल, दुरुपयोग से दुःख के। सन्तान उतने ही उत्पन्न करना जितने अच्छी तरह पाल, पढ़ा, रोज़गार मे लगा सको। दिन-चर्या, रात्रि-चर्या, ऋतु-चर्या, आहार-चिकित्सा, पाक-शास्त्र,

व्यायामशास्त्र के अच्छे चुने ग्रन्थों का परिशीलन करना; अपने शरीर को और वस्त्र को स्वच्छ रखना, जिसमे सह-धर्म-चार-चारिणी को उस से कुरुचि न हो; मुख की स्वच्छता का विशेष ध्यान रखना, और दांतों को सदा साफ रखना; भोजन के पहिले भी और पीछे भी साफ कर लेना; उन मे भोजन का लेप लगा रह जाने से, सड़ायँध और दुर्गन्ध उत्पन्न होते हैं; कभी-कभी तो इतनी तीव्र दुर्गन्ध, कि ऐसे मनुष्य के पास वैठना असंभव हो जाता है, और स्वयं उस मनुष्य के मसूड़े सड़ जाते हैं, उन मे मवाद, पूय (पीव), भर जाता है, पेट मे जाता है, तीव्र रोग उत्पन्न करता है।* पति-पत्नी के मुख यदि दुर्गन्धित हों, तो रति भी, प्रीति भी बहुत विघ्नित हो, जायगी; एक दूसरे का चुम्बन, तथा बच्चों का मुख चूमना, यह तो पहिली सात्त्विक कामीय चेष्टा है; मेरा निज का अनुभव यह है कि जब तक दांत मजबूत थे, तब तक तो नीम, या मौसरी, या बबूल की दाँतन (दन्तवन, दन्त-काष्ठ) से सवेरे दांत साफ करता था; कभी कभी शुद्ध लकड़ी के, या बादाम के छिलके के, कोयले का 'मंजन' भी, लेता था। अब, जब दांत कमजोर हो गये, और दारुण काल के और शासकों के प्रभाव से, तथा आबादी के अति बढ़ाव से, दन्तकाष्ठ मिलना भी कठिन हो रहा है, तो प्रायः दस बारह वर्षों से, पच्छिम के बने 'ब्रश' का प्रयोग करता हूँ, शुद्ध पानी के साथ; इसका प्रयोग दिन मे जब चाहे तब सहज मे हो सकता है। बहुत से बिलायती 'मंजनों' का इश्तिहार बहुत रहता है; ये सब दुर्गुण ही करते हैं, 'ब्रश' मे लगे रह जाते हैं, और उसी मे सूक्ष्म कीड़ियां पैदा कर देते हैं, जिनके दांतों मे, सफाई की जगह और भी सड़ायँध उत्पन होती हैं; अब, 'सिथेटिक' (synthetic) सूत्रों (कड़े बालों के ऐसे सूतों) के 'ब्रश' बनने लगे हैं, जैसे 'नाइलोन' nylon, जो दृढ़ भी हैं और 'पवित्र' भी, और बहुत दिनों तक काम देते हैं।

स्त्रियों को अपना शरीर भी और हृदय भी दृढ़ बनाना चाहिए; जैसा समय आया है, इस मे, स्त्री का नाम 'अबला' न रह जाना चाहिए, 'स-बला' होना चाहिए; दुष्ट मनुष्यों से आत्मरक्षा की शक्ति उन मे होनी

---

* अंग्रेजी मे इस रोग को 'पायोर्हीया', pyorrhea, कहते हैं; ग्रीक भाषा के 'पायीन', पूय, और 'र्हीन', बहना, से बना है।

चाहिए। ममाचार पत्रों मे कभी-कभी पढ़ने मे अब आने लगा है कि इस इस स्थान पर, कुमारी ने वा विविहिता ने, छेड़ने वा आक्रमण करने वाले मनुष्य को इस इस प्रकार से खूब पीटा; विना इस के, इस समय मे गति नहीं। युक्तप्रान्त के एक उत्तरी ज़िले के अच्छे कुटुम्ब की एक वेटी ने मुझ से कहा कि एक दिन, अपने घर के लोगों के साथ, नहर के किनारे टहल रही थी; कुछ दूर पर, उसी सड़क पर, एक लम्बी जाट स्त्री, सिर पर घास का भारी बोझ रक्खे, जा रही थी; सामने से तीन गोरे फौजी आये; एक ने उस स्त्री से छेड़-छाड़ की, स्त्री ने सिर का वोझा नीचे गिरा दिया, वायें हाथ से उस गोरे फौजी का हाथ पकड़ लिया, दाहिने से उसके मुँह पर जोर का थप्पड़ लगाया; 'फिर ऐसा करेगा?' कह कर उस का हाथ छोड़ दिया; गोरा फौजी अपने हाथ से अपना गाल मलता हुआ, 'वेरी स्ट्राङ लेडी, वेरी स्ट्राङ लेडी', (वड़ी जवरदस्त औरत) कहता हुआ भागा। अब तो भारतवर्ष को ऐसी स्त्रियों की अधिकाधिक संख्या मे आवश्यकता है। किंतु इस से यह अर्थ नहीं निकालना, कि भारत की स्त्रियाँ सब सर्वदा चंडिका बनी रहें; आदर्श स्त्री, आत्मरक्षा और अपत्यरक्षा के लिये तो सिंह-वाहनी दुर्गा-देवी, और अपने कुटुम्ब के लिये गौरी-अन्नपूर्णा गृहलक्ष्मी, और बच्चों के लिये तो दूध बहाती गौ-माता ही होती है।

ॐ सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेण अतिरिच्यते ॐ

ॐ मातर ! वन्दे ॐ

ॐ मेधाऽसि देवी विदित-ऽखिल-शास्त्र-सारा,
दुर्गाऽसि दुर्ग-भव-सागर नौर् असंगा,
श्रीः कैटभ-ऽरि-हृदय-एक-कृत-ऽधिवासा,
गौरी त्वं एव शशि-मौलि-कृत-प्रतिष्ठा।
ते सम्मताः जनपदेषु, धनानि तेषां,
तेषां यशांसि, न च सीदति बंधुवर्गः,
धन्याः ते एव, निभृतऽात्मज-भृत्य-दाराः,
येषां सदाऽभ्युदयदा भवती प्रसन्ना। ॐ

ॐ

काम-महिमा

हिर्दय मे वह राग पुरानी, निर्दय, जग के जागि रही—
प्रकृति-पुरुष, योषा-पुमान, की चाह सनातन दाह (डाह) गही,
शिव-मति हू, जेहि हालाहल बल, अमृतमयी, मद-मत्त भयी,
स्नेह-राग अरु द्रोह-आग की ज्योति-धूम तें छाइ गयो ।
ज्ञान-विराग-नेत्र नीलर तें, कोमल काम जराइ दियौ,
स्मर के वश मे, पर फिरि परि कै, उम-हिं देह मे धारि लियौ ।
शिव-मतिहू, वा मादक कारन, ज्ञान छांडि उन्माद गही,
प्रकृति-पुरुप की अनँत वासना घटैं बढै, पर मिटैं नहीं ।
वाम-काम जरि मरि जीयत पुनि, रति अरु प्रीतिहिं ब्याही लियौ,
ह्वै अनङ्ग, छायौ अँग-अङ्गन, देह तज्यो, जग ब्यापि गयौ ।
क्रोध, लोभ, मद, मोह, असूया, की सब सेना संग लयी,
ऋतु वैरनि, उन्माद, मूरछा, मरन, सखिन सौ लगनि भयी,
शिव-मति हू विक्षिप्त करी जिन, अरु विमोह मे डारि दयी,
माया-मोहिनि के पाछे, सब लाज तजे, कहुं भाजि गयी,
आपु विष्णु भगवान हु जा बस लयी मोहिनी-छवी नयी ।
स्पृहा, ग्लानि, उत्कंठ निराशा, गयी, नयी आसक्ति भयी,
क्रोध, खेद, असहिष्णु असूया, दया, भक्ति, सब देह छयी,
हिर्दय मे वह ध्वनी पुरातन, संतत, सब के गूंजि रही,
शिव-मति, जेहि विप-धारण कारण, शांति छांडि कै भ्रांति गही ।
प्रेम-पियास, दुरास, हतासा, सुधा-सिंधु विष-कूप ढही;
हर्ष-विषाद अथाह अपार तरंगन मे लहराइ बही,
चित्त समुद्र झकोर हलोरनि, शांति देवि अब डूबि चही ।
तेरी माया, तू ही वारै, तो हू कौ भरमाइ रही !
शिव मति जेहि माया की मारी, भयी महा अज्ञानमयी,
विष पीये जेहिं, अति अकुलानी, दया त्यागि अति घोर भयी;
सती चेतना हू, शरीर तजि, जा बस, दूजी देह लयी ।
विष्णुदेव हू की, जेहि लोभन, विशद बुद्धि अति मलिन भयी,
लोक जनक, जग-सिर्जनहार कि (की) नारिरूप पर जाइ गिरी,
वृन्दा विरह-विकल, वृन्दावन उपवन मे अति भूलि फिरी,

पर की सती, अछूत, छूइकै, तुलसी करि, उर-मौलि धरी।
हिर्दय मे वह राग पुरानी, निर्दय, जग के, जागि रही,
पुरुष-प्रकृति, योषः-पुमान, की चाह निरन्तर, दाह गही।

(समुद्र-मंथन मे, पहिले, हालाहल विष निकला; उस को शिव ने अपने कंठ मे रख लिया; तव देव और असुर जी सके, और समुद्र मे से अमृत और रत्न भी और वारुणी सुरा भी निकाल पाये। जव चेतन-पुरुष परमात्मा, जड़ प्रकृति को अपनाता है, तभी दैवी और आसुरी प्रकृतियों, भव-सागर के सुख-दुःखों, पुण्य-पापों, का संभव होता है। यही 'अपनाना', आदि-काम, मूल-वासना, जगत् की निर्मात्री है। शिव ने (ज्ञान-वैराग्य रूपी) तृतीय नेत्र से काम को जला दिया, और फिर 'अनंग' हो कर 'काम' जीया, रति-प्रीति से व्याह किया, और शिव ने उमा को अर्धांगिनी वनाया—यह सव कथा प्रसिद्ध है। उ मा = या-मा = मा-या, जो 'नहीं' (थी, और) 'है', (थी); वही मूल प्रकृति जिस को परम पुरुष ने, 'अहम्-एतत्-न' के अखंड एकाकार अनवरत ध्यान से अपनाया है, अपने मे रक्खा हैं। ('ऋतु वौरनि" फल के पेड़ो में 'वौर' लगने का, बँवर' आने का, 'वौराने' का, मस्त, पागल, होने का भी, ऋतु, वसंत, जो कामदेव का परम मित्र है। समुद्र-मंथन के वाद, विष्णु ने, शिव के अभ्यर्थन से, जिस 'मोहिनी' रूप से असुरों को वहकाया था, उस को फिर धारण किया; तो शिव भी उन्मत्त हो कर उस के पीछे दौड़ते फिरे—यह पौराणिक रूपक है। जालंधर दैत्य को वर-दान मिला था कि जब तक उस की पत्नी वृन्दा का पतिव्रत सतीत्व भ्रष्ट न होगा, तव तक जालन्धर की मृत्यु न होगी; विष्णु ने जालन्धर का रूप धर कर वृन्दा से व्यभिचार किया, तब जालन्धर मारा गया, पर विष्णु को भी पाप का फल भोगना पड़ा; वृन्दा, परम पवित्र, उत्तम, औषध रूप तुलसी बन गयी, जिस को विष्णु आज तक सिर पर रखते हैं—यह पौराणिक रूपक है; पातिव्रत्य और सतीत्व भी, बाह्य रूपों मे ही अँटकाया जायगा, अध्यात्म-तत्त्व को नहीं पहिचानेगा, तो कभी न कभी धोखा खायगा; क्िन्तु सद्भाव भी निरर्थक नहीं हो सकता; धोखा खा कर, जीव चेतेगा, सद्गति पावैगा, और जगत् का कल्याण करैगा।

मत्सर-महिमा

हिर्दय बाढी पीर घनी।

दरस परस की तरसी पियासी, चिन्ता मे नित बुद्धि सनी,
सर्बस सुख-सम्पदा बनेहू, बर्बस अस अनबनी बनी,
थोथी लाज, अकाज-असूया-भय, तें खाई अनी कनी,
पर ईरखा (ईर्ष्या) दुखन, निज सुख तजि, प्रेम आपने प्रान हनी।
हिर्दय बाढी पीर घनी।

बसि अथाह जल भीतर हू, नहिं सलिल बूंद सुख एक गनी,
प्रेम रूप सब एक चेतना, तबहु भेद की डाह ठनी,
प्रेम पियासा जगत उदासा, जदपि प्रेम तें सृष्टि बनी,
प्रीति चहत अरु रीति न जानत, करत द्रोह सहि परि घनी।

हिर्दय बाढी पीर घनी।

सज्जन-बलिदान

यौवन की शोभा गलै, तरुणाई मुरझाय;
सुन्दर मुख तें अखरहु सुन्दर ही न सुनाय;
भरो सरोवर, पर कमल कली खिली न खलाय;
शशि की सुषमा हू, भये दिन, फीकी परि जाय;
प्रभु पालै परिजन नहीं, धन पर अतिहिं लुभाय;
नृप कौ आंगन, दुर्जनन तें ही नित्य भराय;
सज्जन संतत दुःख ही पावत इहां दिखाय;
भरथरि के हिय सात यह कांटा सदा सलाय।

प्रेम-महिमा

प्रेम उठायौ प्रान की बीना अपने हाथ,
सब तारन कौ साधि कै झनकार्‌यौ इक साथ,
स्वारथ के जो तार पर परी अंगुरी जाय,
डरपत कांपत भाजतो टूट्यौ गयौ लुकाय।
(अंग्रेज़ कवि टेनिसन के एक पद्य का अनुवाद)

स्वार्थत्याग-महिमा

ईसा जौ सहस बार जनम 'बिथलहम' मे
लेवै, पर तिरे हिय मांहि नाहिं जनमै,
तेरे घर नेक हू खुशाली नाहिं होवै, अरु
सूनो चित ही तू नित इतै उतै भरमै;

'गोलगुथा' की सलीब पर तू मत आशा लाउ,
वा तैं तो तिहारो काज नेक हू न सरि है,
अपने हिय को बनाउ सूली, वा पै चढ़ाउ
आपा कौ, तब ही तू सब ही दुख तरिहै।

(जर्मन, परमार्थ–भक्त, ईसाई, वेदान्ती-सूफी- मिस्टिक् कवि, शेफ्लर की, ईसा-मसीह के स्वार्थ-त्याग मय जीवन पर एक पद्य का अनुवाद। 'बिथ्लहम', ईसा का जन्म-ग्राम; 'गोलगुथा', उस वध्य स्थान का नाम, जहां ईसा सूली चढ़े)।

परम-पुरुषार्थ का लाभ

नहीं ओट वा द्वार पर, सदा प्रकासत चंद,
हे प्रिय !, तू निज स्वार्थ के अंधियारे मे बंद;
नामन कौ ही भेद है, तुम हम सब हैं एक,
जलधिन अरु बुद्बुदन मे, एक ही जल की टेक;
हिया, भक्ति की ज्वाल मे, जस जस जरतो जाय,
अति अचरज !, वा मांस तें उतनी रस निसराय;
यदि वह है सर्वज्ञ, तौ हम उपजावत ज्ञान,
है पोथिन तें अधिक यह हिय ही ज्ञान-निधान;
स्वारथ कौ त्याग्यौ नहीं, परमारथ कस पाउ ?
उमिरि ढरी, बिरधा भये, सपनहि देखत जाउ !
तोहिं बाहर जे खोजते, नहि पावन की ताब,
तुही पिकन मधु बोलनी, तु ही सुगन्ध गुलाब;
बिन तेरी करुणा, दया, तोहि पावै अस कौन ?
बड़े बड़े भटकत फिरैं, मै तो बपुरा मौन।

(स्वारथ जो हिय त्याग किय, परदा दियौ हटाय,
वा मे तू सूरज सदृश सदा प्रकाश दिखाय ।)

(क़रीं नाम के परमात्म-भक्त सूफी क़वि की एक उर्दू कविता का अनुवाद)

(क़रीं के मूल उर्दू शब्द)

न कोई पर्दा है उस के दर पर, न रूयि-रौशन नक़ाब मे है,
तू आप अपनी ख़ुदी से, ऐ दिल ! हिजाब मे है, हिजाब मे है;
फ़क़त तफ़ावत है नाम ही का, दर अस्ल सब एक ही हैं, यारो !
जो आबि साफ़ी कि मौज मे है, उसी का जल्वा हबाब मे है;
हो अपना दिल जिस क़दर बरिश्ता, उसी क़दर ज़ायक़ा हो पैदा,
जले ये जितना, है लुत्फ़ उतना, अजब मज़ा इस कबाब मे है;
जो इल्मो हिक्मत का वो है दाना, तो इल्मो हिक्मत के हम हैं मूजिद
है अपने सीने मे उस से ज़ायद, जो बात वायज़ किताब मे है;
ख़ुदी को छोड़ा न तू ने अब तक, ख़ुदा को पावेगा कह तू क्यों कर ?
जवानी गुज़री, बुढ़ापा आया, अभी तक, ऐ दिल ! तु ख्वाब मे है;
तु ही है मत्लूबि जुम्ला तालिब, तु ही हैं मक्सूदि जुम्ला आलम,
तुझी से नग्मा है बुल्बुलों मे, तुझी से खुशबू गुलाब मे है;
बग़ैर तेरी मदद के तुझ तक जो कोइ पहुंचै ये ताब क्या है,
बड़े बड़ों का गुजर नहीं है, क़रीं भला किस हिसाब मे है !

(फारसी मे निर्गुणोपासक को अह्लि-ज़ात, और सगुण-भक्त को अह्लि-सिफ़ात कहते हैं ।)

भक्ति-महिमा

(निर्गुण-प्रेमी सूफी सिराज (सूर्य) की एक गजल)

खबरे तहय्युरि हुस्न सुन, न जुनूं रहा, न परी रही,
न तो तू रहा, न तो मै रहा, जो रही सो बेखबरी रही;
शहे बे-खुदी ने अता किया मुझे जब लिबासि बरहनगी,
न खिरद की बखियागरी रही, न जुनूं की पर्दा-दरी रही;
वो जो अक्लो होशो हवास थे, तेरी यक निगह ने उड़ा दिये,

व शराबि सद्कइ आरजू खुमे दिल मे थी सो भरी रही;
चली सिम्ति गैब से यक हवा, कि चमन गुरूर का जल गया,
वले शमअ खाना जला के सब, गुले सुर्ख साही बनी रही;
वो अजब घड़ी थी कि जिस घड़ी लिया दर्स नुस्खइ इश्क का,
कि किताब अक्ल की ताक पर जो धरी सो यूंही धरी रही;
तेरे जोशो हैरति हुस्न का असर इस कदर से यहां हुआ,
न तो आइने मे जिलौ रही, न परी मे जल्वा-गरी रही;
किया खाक आतशि इश्क ने, दिले बे नवाये सिराज को,
न हजर रहा, न खतर रहा, जो रही सो बेखतरी रही।
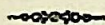
(सगुण-निर्गुण भक्त नजीर की एक नज्म)

जिस सिम्त नजर कर देखे है, उस दिलवर की फुलवारी है,
कहीं सब्जी है, हरियाली है, कहीं फूलों की गुलकारी है;
दिन रात मगन खुश बैठे हैं, औ आस उसी की भारी है,
बस आपहि वह भंडारी है, औ आप हि वह दातारी है;
हर आन खुशी, हर आन हंसी, हर वक्त अमीरी है, बाबा !
जब आशिक मस्त फकीर हुए, फिर क्या दिलगीरी है, बाबा !

: ५ :

विवाह और वर्ण

चतुःपुरुषार्थसाधक वर्णऽाश्रम धर्म मे अंतर्वर्ण-('अ-स-वर्ण')-विवाह का स्थान।

बिगड़ी प्रथा के शोधन के लिये नये विधान की आवश्यकता।

(भारत की केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा मे, अन्तर्वर्ण' वा 'अ-स-वर्ण' विवाह सम्बन्धी विधान का उपन्यास, १९३५ ई० मे मैं ने किया। उस की ओर, भारत जनता का, समग्र देश मे, ध्यान आकर्षित करने के लिये, सात अंग्रेजी लेखों की एक लेखमाला, सब प्रान्तों के मुख्य मुख्य दैनिक पत्रों मे प्रकाश कराई और उस का हिन्दी मे आशयानुवाद, काशी के 'आज' पत्र मे, १९३६ ई० मे, छपा। उसी का, पुनर्दृष्ट, शोधित, कहीं संक्षिप्त कहीं उपबृंहित, रूप, यह अध्याय है। इसी आशय का व्याख्यान, मैं ने, दो दिन, ता० २८ जनवरी, १९३७, और ४ फरवरी, १९३७ को, केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा मे किया; परन्तु कार्यसिद्धि वहाँ नहीं हुई; उपन्यस्त विधान को क़ानून का रूप नहीं मिला।)

उपन्यस्त विधान

२६ सितम्बर १९३५ को, भारत की केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा (लेजिस्लेटिव असेम्बली) मे, हिन्दू अन्तर्वर्ण-विवाह-सम्बन्धी एक विधान का प्रस्ताव मैं ने किया; १७ अप्रैल सन् १९३६ को सभा मे निश्चय किया गया कि, १५ जुलाई तक उस पर लोकमत संग्रह करने के लिए, वह प्रकाशित किया जाय। प्रस्तावित विधान के अंग्रेजी शब्दों का आशय यह है—

"यह आवश्यक है कि उन उद्देश्यों की सिद्धि के लिये, जिन की आगे चर्चा की जायगी, हिन्दुओं के भिन्न-भिन्न लोकोक्त वर्णों मे परस्पर विवाह, कानूनी (धर्मसंगत, स-मर्याद, अनिंद्य, वैध, जायज, प्रामाणिक, 'लाफुल', 'वैलिड', सत्) समझा जाय; इस लिये निम्नलिखित विधान बनाया जाता है।

१—इस विधान का नाम 'दि हिन्दू मैरेज वैलिडिटी ऐक्ट' (हिन्दू-विवाह-मर्यादन-विधान) होगा।

२—हिन्दुओं का कोई भी विवाह, केवल इस कारण से गैर-कानूनी न समझा जायगा, कि विवाहित स्त्री और पुरुष एक ही लोकोक्त वर्ण के नहीं हैं; चाहे इस के खिलाफ़ भी कोई रिवाज हो, या हिन्दुओं के कानून का अर्थ इस के विपरीत लगाया गया हो।"

यह विधान अक्षरशः वही है जो सन् १९१८ मे श्री विट्ठलभाई पटेल ने सभा मे पेश किया था, पर जिस पर वोट लेने की नौवत नहीं आयी।

शान्ति के साथ विचार की आवश्यकता

इस विषय पर हिन्दुओं के सभी समुदायों को सावधानी से विचार करना, और इस के पक्ष और विपक्ष की सब बातों पर ध्यान करना, उचित है; विना रोष आवेश के, विना कटुता के, सौमनस्य से, शान्ति से, बहस करें, और जो बात कह रहा हूँ उन पर ध्यान दें।

परस्पर का वैमनस्य उसी समय दूर हो सकेगा, जब एक पक्ष दूसरे पक्ष के सम्बन्ध मे यह विश्वास करेगा, कि वह भी हिन्दू समाज और भारतीय जनता की भलाई और उन्नति का चाहने वाला है।

अच्छी तरह जानता हूँ कि हिंदू समाज के कितने ही प्रभावशाली अंग इस विधान को नापसन्द करते हैं। इन्हें हम संमान पूर्वक, विना किसी प्रकार के लेशमात्र भी अनादर की सूचना के, 'अपरिवर्ती' 'ऑर्थोडाक्स' 'वह पुरुष जो प्रचलित मत को ही ठीक मानता है और उस मे परिवर्तन नहीं चाहता है', कह सकते हैं। उन की इस इच्छा का पूरी तरह सत्कार करता हूँ कि वे अपना जीवन अपने अभ्यस्त प्रकार से बिता सकें, अर्थात् जिस प्रकार से वे अब तक रहते आये हैं उसी प्रकार से रहते-जायँ; और उन के सामाजिक प्रवंध और कार्यक्रम मे किसी प्रकार की बाधा न होने पावे। उन की इस आकांक्षा मे, इस विधान से किसी प्रकार का विघ्न न होगा।

आरम्भ मे ही, ऐसे सब लोगों को, जो इस विधान के विरुद्ध हैं, सानुनय विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि किसी की हानि नहीं चाहता, प्रत्युत सब की सेवा करना चाहता हूँ। प्रायः ४० वर्षों से, परमात्मा की दी हुई अल्प बुद्धि के अनुसार, हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म की सेवा करने

का यत्न किया है, और साथ ही इस बात का भी यत्न करता रहा हूँ, कि इस देश मे वसने वाले अन्य धर्म वालों के साथ हिन्दुओं का सौमनस्य वढ़े। यदि मैं ने भूल की हो, या फिर करूँ, सेवा के वदले अपकार किया हो, या फिर करूँ, तो यह मेरी इच्छा या नीयत के दोष से नहीं हुआ है और न होगा, वल्कि समझ और विचार के दोष से हुआ है और आगे हो सकता है।

'विल' (प्रस्तावित कानून) के विरोधी सज्जन यदि केवल इतना भी मान लेंगे, कि श्री विट्ठलभाई पटेल नेकनीयती से, हिन्दू समाज की सेवा करने की सच्ची अभिलाषा से, प्रेरित थे, तथा मेरा भी भाव वैसा ही है, तो इस विधान पर सार्वजनिक चर्चा और वहस, कटुता से रहित होगी, और सत् परामर्श तथा गुणदोषसमीक्षा के सच्चे भाव से प्रेरित होगी, जो ही सच्चे लोकोपकारी कार्यों के साधन का एकमात्र उपाय है।

जैसा गीता मे कहा है,

> प्रसन्नचेतसो हि आशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते,
> प्रसादे सर्वदुःखानां हानिर् अस्य उपजायते।

जव चित्त प्रसादयुक्त, प्रसन्न, शान्त होता है, तव बुद्धि सुस्थिर हो जाती है, उस मे से चंचलता हट जाती है, और तभी वह उन सत्यों, तथ्यों, उपायों को निश्चित रूप से देखती है, जिन के द्वारा मनुष्य के सब दुःख दूर होते हैं।

इस भूमिका के वाद, जिस का यह उद्देश्य है कि शान्ति का वातावरण वँध जाय, अपनी दलीलों को पेश करता हूँ।

हिन्दूधर्म की विशेषता

यद्यपि मेरा यह निश्चिय मत है कि मूल वर्णधर्म मे, अर्थात् शास्त्रों द्वारा विहित जीविका-कर्म के अनुसार, समाज को चार वर्णो मे, विभक्त किया जाय और यह आवश्यक नहीं था, (जैसा आगे दिखलाऊँगा), कि वर्ण अथवा उपवर्ण के भीतर ही विवाह सीमित रहे; तथापि यह मानने को तैयार हूँ कि सम्भव है कि इस रीति से, जिस की कड़ाई को यह विधान कम करना चाहता है, पूर्व काल मे कुछ लाभ हुआ हो, जब देश की परिस्थिति दूसरी थी। यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि इस प्रकार का, वर्ण-नाम के भीतर अवच्छिन्न अवरुद्ध विवाह, सदा सर्वदा स्वभा-

वतः हानिकर ही था और है। परन्तु यह कहने का अवश्य साहस करता हूँ, कि किसी चीज की भी 'अति' करना खराव है। सुप्रसिद्ध संस्कृत कहावत है, "आश्रयेत् मध्यमां वृत्ति, अति सर्वत्र वर्जयेत्।" बुद्धदेव ने अपने मार्ग का नाम ही 'मध्यम-परिपाटी' रक्खा। पैगम्बर मुहम्मद की भी एक हदीस है, 'खैर-उल-उमूरे औसातोहा', वे ही सब काम अच्छे होते हैं जो बीच का रास्ता पकड़ते हैं।

साथ ही, संस्कृत शास्त्रों का तो स्पष्ट कहना है कि, कानून और रिवाज को देश, काल, और स्थिति के अनुसार, बदलते रहना चाहिये। मनुष्य की कोई कार्यप्रणाली ऐसी नहीं हो सकती जिस से सब को लाभ ही हो, और जिस का परिणाम सब अच्छा ही हो। अत एव, जब किसी विशेष आचार के बुरे परिणाम, अच्छे परिणामों को दबाने लगते हैं, तो दूसरे आचार-धर्म बनाने पड़ते हैं। ये नये कानून, इसी तरह से, आगे चल कर, देश-काल-अवस्था के परिवर्तन से, हानिकर होने लगते हैं, और उन्हें फिर बदलना पड़ता है। कोई अपरिवर्तनीयता, कहीं भी, किसी कानून मे नहीं है। इस लिये आचारों मे भेद चारों ओर हम देखते हैं।

देश-काल-निमित्तानाम् भेदैर् धर्मो विभिद्यते;
नहि सर्वहितः कश्चिद् आचारः सम्प्रवर्तते;
तस्माद् अन्यः प्रभवति, सोऽपरम् बाधते पुनः,
आचाराणां अनैकाग्रयम् तस्मात् सर्वत्र लक्ष्यते।
(महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६६,३१४)

इस प्रकार से हिन्दू धर्मशास्त्रों मे धर्मव्यवस्थापन के सिद्धान्त को स्पष्ट कर दिया है, और उस मे देश-काल-अवस्था के अनुसार परिवर्तन, और विरोधी भावों के समन्वय, समझौते, आदि की पूरी गुंजाइश रक्खी है। मानव-संसार की सब से पुरानी कानून की जीवित पुस्तक मनुस्मृति है; उस मे स्पष्ट रूप से कहा है कि धर्म, कानून, अर्थात् अधिकार और कर्तव्य को परस्पर बाँधने वाले नियम, मनुष्य जाति की अवस्था के अनुसार बदलते रहते हैं; सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग, मे, मनुष्यों के धर्म दूसरे दूसरे होते हैं।

अन्ये कृतयुगे धर्माः, त्रेतायाम्, द्वापरे,ऽपरे,
अन्ये कलियुगे, नृणाम्, युग-ह्रासऽनुरूपतः
(मनु०, १, ८५)

'नाम्ना' सवर्ण-विवाह के नियम को कड़ाई से पालन करने से, दूसरी स्थिति मे, चाहे कुछ ही फायदा हुआ हो, अब तो, हिन्दू समाज मे इस की 'अति' हो गयी है, और इस से बहुत हानि ही हो रही है। बहुत से लोगों का निश्चय मत हो रहा है, और ये लोग ऐसे हैं जो किसी प्रकार से अविवेकी, जल्दबाज, अथवा अपरिपक्व बुद्धि वाले, नहीं कहे जा सकते।

दिवंगत पण्डित मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु चित्तरंजन दास, और जीवत् महात्मा गांधी, श्री राजगोपालाचारी, आदि जैसे बड़े-बड़े देशभक्त और नेता—जिन की उदार बुद्धि, और आत्मत्याग, मे किसी को सन्देह नहीं हो सकता, और जिन्हों ने भारतीयों के उद्धार के लिये, और साथ ही साथ, हिन्दू धर्म मे तत्वतः जो सत्य-प्रिय-हित-कर बातें हैं, उन की रक्षा के लिये, इतना कार्य किया है—सब की यही राय है कि इस प्रकार से सख्ती के साथ 'नाम मात्र के सवर्ण विवाह' का प्रकार उचित नहीं है; और उन्हों ने यह मत ही नहीं प्रकाश किया, बल्कि, जैसा कि सच्चे नेताओं के लिये योग्य है, इस विचार के अनुसार आचार भी किया, और बड़े अच्छे उदाहरण देश के सामने उपस्थित किये। नागरिकों की अन्य श्रेणियों में भी ऐसे विवाह समय-समय पर होते आ रहे हैं, और अब अधिकाधिक संख्या मे होने लगे हैं। अतः इस विधान को उन सब लोगों का आशीर्वाद प्राप्त होने की आशा हो सकती है, जो यह मानते हैं कि सत्य सिद्धान्त का अनुसरण भी और कुशल भी सदा इसी मे है कि मध्यमा वृत्ति का अवलम्बन किया जाय, और 'अति' का आश्रय लेने मे भूल तथा भय सदा रहता है।

'अति', ज्यादती, सौ बुराइयों की एक बुराई है, और (नाममात्र) सवर्ण विवाह का कठोर नियम, वर्तमान काल मे, निश्चय ही, इस दोष से दूषित है। अच्छी प्रथायें भी अति की ओर जा कर दूषित हो जाती हैं। तब, मनुष्यों के भीतर बैठा हुआ अन्तरात्मा, नयी व्यवस्थाओं की सृष्टि करा के, अपने नियमो का पालन कराता है। जीवन के सभी विभागों मे इतिहास की यही शिक्षा मालूम होती है।

अन्याय और अपराध करने वाले को रोकने के लिये, किसी प्रकार के शासन का, किसी दण्ड के प्रबन्ध का, किसी कानून और व्यवस्था का,

किसी नियम कायदे का, और शासन करने और दण्ड देने के किसी अधिकारी का, होना, आवश्यक है। परन्तु 'नौकरशाही', यानी जनता के हर विभाग पर अहलकारों की निरंकुश और मनमानी हुकूमत, आज्ञा आदेश निकालने, कानून कायदा बनाने, लोगों को बाध्य विवश करने, के अधिकार का 'अति' अधिक प्रयोग, 'दफ़्तरतंत्रता', वहुत ही अनिष्टकर है; विरोध, विद्रोह, विप्लव, उस के अनिवार्य परिणाम हैं।

इसी तरह, कुछ निजी रुपया पैसा, कुछ निजी सम्पत्ति, कुछ निजी जगह जमीन, तथा रहन-सहन के ढंग और दरजे मे कुछ अन्तर, जो औचित्य की सीमा के अन्दर हो, मनुष्य की भोग्य वस्तुओं के विनिमय की सुविधा के लिये, क्रयविक्रय की सुकरता के लिये, तथा जीवन को रोचक बनाने के लिए, उपयोगी है, अनिवार्य है। पर 'पूंजीवाद' और 'थैलीशाही' और चल अचल सम्पत्ति पर 'इजारों', 'ठेकों' की (एकसत्ताकता, मोनोपोली', mono-poly, की) 'अति', धनिकतन्त्रता', अति हानिकारक है, और व्यापक असन्तोष तथा विप्लव की सृष्टि करता है।

इसी तरह, देश की रक्षा के उद्देश्य से खड़ी की गई सेना, और जुटाये गये हरवा हथियार, अस्त्र शस्त्र, उचित सीमा का 'अति'-क्रमण करने पर उद्वेगकारी लाठीशाही' और विध्वंसकारी 'सैनिकतन्त्र' का रूप प्राप्त कर लेते हैं, और सदा मार-काट मची रहने का कारण होते हैं।

इसी तरह, चित्त को शांति देने के लिये ऋषियों की खोज से निश्चित की हुई पारलौकिक विद्या भी, 'अति' का आश्रय लेने पर, 'पोथीशाही' 'पुरोहित राज्य' का और लोकविनाशक पुरोहिती स्वार्थ के साधन का, 'पादरी-तंत्रता का, रूप ग्रहण करती है; मूढ़ग्राहों, धर्माभासों और ठगाइयों को बढ़ाती है, और साम्प्रदायिक दङ्गों, धर्म के नाम पर होने वाले अमानुषिक अत्याचारों, 'जेहादी' लड़ाइयों, और अन्त मे उग्र दण्ड-साधित सुधारों का कारण बनती है।*

---

* इन चार 'अतियों' के अन्य नाम—ब्राह्मण राज्य, क्षत्रिय राज्य, वैश्य राज्य, शूद्र राज्य; समताऽवस्था का नाम मानव राज्य। अंग्रेजी मे, 'थीयोक्रैटिज्म', ('ब्यूरोक्रैटिज्म' और) 'मिलिटरिज्म', 'कैपिटलिज्म', 'प्रोलिटेरियनिज्म', तथा 'डेमो-क्रैटिज्म' (वा एरिस्टो-डेमो-क्रैटिज्म)। Theocratism, (Bureaucratism and) Militarism, Capita-

हिन्दू रूढ़ियां, और सामाजिक जीवन के नियम, 'अति' की ओर, बहुत चले गये हैं। जिन लक्ष्यों के लिये उनकी सृष्टि हुई थी, ठीक उन के उलटे परिणाम वे उत्पन्न कर रहे हैं। आरंभ मे, उन की सृष्टि, समाज व्यवस्था की एक सम्पूर्ण योजना के अंग के रूप मे, हुई थी। काम और दाम का न्यायोचित बँटवारा कराके, जीविका के उपार्जन मे होने वाली अव्यवस्थित और उच्छृङ्खल प्रतिस्पर्धा की बुराइयों को घटाना; समाज के सब अंगों को परस्पर बाँध कर, एक सम्पूर्ण शरीर की रचना करना, जिस के सब भाग एक दूसरे पर आश्रित हों; ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करना जिस मे समान-शील-व्यसन के स्त्री पुरुषों मे, जहाँ तक संभव हो, सुखमय और सफल विवाह-सम्बन्ध होने मे सुविधा हो; ऐसा वातावरण उत्पन्न करना जिसके द्वारा कुटुम्बों के, और कुटुम्बों के द्वारा सारे समाज के, हित और सुख की वृद्धि हो सके—यह उस समाज-व्यवस्था का विशद और उदार उद्देश्य था।

कुटुम्ब और समाज

इस देश के पुराने विचार मे, कुटुम्ब को ही मानव समाज का आधार और आरंभिक 'अणु' (यूनिट', Unit) मानते हैं।

एतावान् एव पुरुषः यज् जाया आत्मा प्रजा इति ह। (मनु,९,४५)

अकेला पुरुष, पुरुष नहीं है, किन्तु पुरुष, स्त्री और सन्तति, तीनो मिल कर संपूर्ण पुरुष अथवा मनुष्य बनता है।

आज काल की प्रवृत्ति, 'व्यक्ति' को समाज का आधार और आरंभक 'यूनिट' मानने की ओर है। एक हद पर व्यक्तिवाद और दूसरी हद पर राष्ट्रवाद, यही आधुनिक काल का आदर्श है। कुटुम्बवाद एक कोटि, और सर्वमानववाद दूसरी कोटि, यह प्राचीन आदर्श है। जब समाज रूपी जंजीर को बनाने वाली कड़ी, कुटुम्ब माना जाता है, माता, पिता, तथा सन्तति, सदा के लिये एक दूसरे से जुड़े हुए समझे जाते हैं, तब

---

lism (or Plutocratism), Proletarianism, और Homocratism (Aristodemocratism)। हिन्दी-संस्कृत मे, तथा अंग्रेजी मे, और भी कई पर्याय-चतुष्क बनाये जा सकते हैं, जो मेरे अन्य ग्रन्थों मे लिखे हैं।

मातृपितृसम्बन्ध के अनन्त विस्तार का, (अर्थात् माता के पिता-माता, पिता के पिता-माता, फिर इन चार मे से प्रत्येक के पिता-माता, फिर उन आठ के सोलह, इत्यादि का), स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि सम्पूर्ण समाज, न केवल मानसिक दृष्टि से, किन्तु शारीरिक दृष्टि से भी, परस्पर सम्बद्ध, संयुक्त, दिखाई देता है; और उसका आधार, परस्पर का सहयोग हो जाता है। इस प्रकार से सभी लोग एक ही शरीर और एक ही आत्मा के अङ्ग वास्तव मे हो जाते हैं।

रोटी-बेटी का सम्बन्ध, अन्न सम्बन्ध और यौन-सम्बन्ध, ये ही प्राणसम्बन्ध हैं। पर, जब प्रत्येक व्यक्ति ही समाज का स्वतंत्र अङ्ग समझा जाता है, तब, जिस समुदाय मे वह रहता है, उस के साथ उस का सम्बन्ध मनमाना और प्रतिस्पर्धा-मूलक हो जाता है; और इस कारण से, वह समाज मजबूत होने के बदले और कमजोर हो जाता है। यही कारण है जो आज हम, व्यक्तियों के, और ऐसे व्यक्तियों से निर्मित राष्ट्रों के, बीच, इतना उग्र द्वेष-भाव देख रहे हैं, जिस से आज सारा मानव-वायु-मण्डल व्याप्त हो रहा है। न केवल राष्ट्र-राष्ट्र मे संघर्ष हो रहा है, बल्कि प्रत्येक राष्ट्र के भीतर भी, अमीर और गरीब मे, शासक और शसित मे, बलवान् और दुर्बल मे, और—संघर्ष की परा काष्ठा—स्त्री और पुरुष मे, पिता और पुत्र मे, बूढ़े और जवान मे, पुरानी पुश्त और नई पुश्त मे, संघर्ष बढ़ रहा है।

कठोरता ही ह्रास का कारण

भारतीय रस्म-रिवाज भी, यद्यपि आरम्भ मे वे सम्यक् सामाजिक संघटन के वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आश्रित थे, धीरे-धीरे, कुछ अंगों पर बहुत ज्यादा जोर दिये जाने, और दूसरे अंगों की उपेक्षा होने, से, वर्तमान जातिभेद मे परिवर्तित हो गये। इस व्यवस्था की अत्यधिक कठोरता, हिन्दूधर्म तथा भारतीय जनता के हिन्दू अंश के स्पष्ट ह्रास का, और फलतः अप्रत्यक्ष रूप से, परम्परया, अन्य अंशों के भी ह्रास का, मुख्य कारण है; क्योंकि आज जैसी अवस्था है उस मे सब की गर्दने एक ही डोरी मे बधी हैं; गिरेंगे तो सब साथ ही, और उठेंगे भी तो सब साथ ही। इस कहने पर उस आदमी को आपत्ति हो सकती है जो केवल इस स्थूल बात को देखता है, कि कुछ अन्य सम्प्रदाय, (यथा मुस्लिम),

संख्या मे तेजी से बढ़ रहे हैं; पर उस आदमी को आपत्ति न होगी जो यह समझता है कि वह सम्प्रदाय, अपने ही अन्तर्गत साधारण लोगों के हित और भलाई की दृष्टि से कोई उन्नति नहीं कर रहे हैं, बल्कि परायों से पाये हुए कृत्रिम संरक्षण सहायन पर अधिकाधिक अवलम्बित होते जा रहे हैं, और उन की संख्या मे वृद्धि, केवल हिन्दुओं की ही 'जात-बाहर' करने की मूढ़ प्रथा से हो रही है।

ये कड़ाइयाँ उस उद्देश्य को सर्वथा व्यर्थ किये दे रही हैं, जिस के लिये इस जाति के बुजुर्गों ने, सुदूर अतीत मे, वर्णव्यवस्था की स्थापना की थी। इस व्यवस्था को तो 'वृत्ति-विभाग', वा 'वृत्ति-व्यवस्था', वा, संग्राहक शब्द मे, 'समाज व्यवस्था' कहना अधिक उचित होगा। वह उद्देश्य था, परस्पर सहायक अङ्गों से युक्त संग्रथित समाज की रचना, सच्चे समाजरूपी देह की रचना, जो जीवित मानव शरीर की भाँति ही सिर, हाथ, धड़, और पैर रखता हो। पर इस की जगह आज हम समाज के इन विविध अंगों मे परस्पर सहायकता के स्थान मे भेद, फूट, ईर्ष्या, तीव्र द्वेष तक, देख रहे हैं। जो वर्णव्यवस्था सब को आपस मे बांधे रखने की, एक केन्द्र की ओर खींचे रखने वाली, शक्ति थी, वह आज सब को अलग अलग करने की, और केन्द्र से दूर फेंक देने वाली, शक्ति बन गई है। सब मे मेल कराने के बदले, वह सब को सब का विरोधी वैरी बना रही है।

हिन्दू 'भूयसीयता', कहानी-मात्र

हिन्दुओं के जिस 'मोजारिटी,' majority, बहुतायत, या बहुसंख्यता की इतनी चर्चा है, वह नितान्त मिथ्या कल्पनामात्र है। वास्तव मे हिन्दू समाज, आपस मे लड़ते हुए अल्पसंख्यक समुदायों का, कोई तीन हजार जातियों और उपजातियों का, जो सब भोजन और विवाह के विषय मे एक दूसरे को अछूत अस्पृश्य समझती हैं, प्रतिक्षण विशीर्यमाण एक 'ढेर' मात्र है; सच्चे वर्णधर्म का स्वांग है; जिसे बाहरी आलोचक, विस्मय और तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं।

यदि ठीक दवा समय से न दी गयी, तो इन रूढ़ियों और रिवाजों की दिन-दिन बढ़ती जाने वाली कठोरता, हिन्दू समाज-शरीर की मृत्यु का कारण होगी, जैसे कोमल सप्राण तन्तुओं का कड़ा पड़ जाना, धीरे धीरे,

कुछ काल मे, व्यक्ति-शरीर के जीवन का अन्त कर देता है। अवश्य ही, जो मानव समुदाय इस समम 'हिंदू'-समाज के नाम से पुकारा जाता है, वह और उस की संतति-प्रसंतति, यदि हिंदू धर्म (ईश्वर न करे) मिट भी जाय, तो भी नष्ट न होगी; पर आध्यात्मिक संस्कृति, तथा सभ्यता के कुछ बहुमूल्य तत्व, समाज-संघटन के उत्तम सिद्धान्त, बहुत दिनो के लिये लुप्त हो जायँगे, जिस से सारी मानव जाति की भारी क्षति होगी।

प्राचीन वर्ण-व्यवस्था के वैज्ञानिक आधार

वर्ण-व्यवस्था के नाम से प्रसिद्ध, मनुष्य समाज के व्यूहन का आध्यात्मिक तत्व, वास्तविक रूप, और व्यावहारिक उद्देश्य, जब ध्यान मे लाया जायगा, तब यह स्पष्ट होगा कि, प्रचलित नाम-मात्र सवर्ण विवाह की रीति का बहुत कड़ाई से पालन करना, उस व्यवस्था के सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं है। आरम्भ मे, मानव समाज की सांगोपांग व्यवस्था ही वर्ण व्यवस्था थी। इसे पच्छिम मे 'सोशल आर्गेनिजेशन' कहते हैं। इस मे चार परस्पर सम्बद्ध व्यूह थे, (१) शिक्षा-व्यूह, ('एड्यूकेशनल आर्गेनिजेशन', 'लर्नेड प्रोफेशन्स'), जिस के अवयव, तपस्वी विद्वान् ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण वर्ण वा वर्ग के शिक्षक और ब्रह्मचारी आश्रम के विद्यार्थी, थे; (२) रक्षा व्यूह, राजनीतिक प्रबन्ध, ('प्रोटेक्टिव आर्गेनिजेशन', 'एक्सेक्यूटिव प्रोफेशन्स'), जिस मे साहसी, निर्बलों के रक्षक, 'क्षतात् त्राता', क्षत्रिय वर्ग वा वर्ण, और (साधारण दृष्टि से) वानप्रस्थ आश्रम, के लोग थे; (३) जीविका व्यूह, आर्थिक संघटन, ('इकोनोमिक आर्गेनिजेशन', 'कोमर्शल प्रोफेशन्स'), जिस मे कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्य-व्यापार वाले वैश्य वर्ग वा वर्ण, और (सामान्यतः) गृहस्थाश्रम, के लोग थे, और (४) सेवा-व्यूह, सहायता-व्यूह, श्रमजीवी संघटन, (इंडस्ट्रियल आर्गेनिजेशन' 'लेबर प्रोफेशन्स',) जिस मे शूद्र वर्ग वा वर्ण के शारीरिक सेवक, और संन्यासी आश्रम के आध्यात्मिक सेवक थे।*

---

* Social organisation; Educational organisation, Learned professions; Protective organisation, Executive professions; Economic organisation, Commercial pro. fessions, Industrial organisation, Labor professions

इस चतुर्विध सामाजिक सग्रथन के आधारभूत, कुछ मौलिक और व्यापक सिद्धान्त, विविध शास्त्रों के, थे; यथा शरीर-शास्त्र, चित्त-शास्त्र, अर्थ शास्त्र, समाज-शास्त्र, शिक्षा-शास्त्र, भोजन शास्त्र, विवाह-शास्त्र, राज-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र आदि। 'आगम' की परम्परा से 'आगत' शब्दों मे, इन सब शास्त्रों का चतुर्विध राशीकरण चार पुरुषार्थों के चार शास्त्रों मे किया है, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, काम-शास्त्र, और मोक्षशास्त्र। आर्य जाति के बुजुर्गों ने, ऋषियों ने, पूर्व काल मे, ज्ञानचक्षु से, इन सब तत्त्वों का प्रत्यक्ष कर के, उन की नीव पर, मानव जाति के हित के लिये, इस समाजव्यवस्था का निर्माण किया था; इस लक्ष्य से, कि इसमे भारत की बहुसंख्य जातियाँ ही नहीं, अपितु समस्त पृथ्वीतल के रहने वाले मनुष्य मात्र, उचित वर्ण मे समाविष्ट हों, और जो ही इसके सम्पर्क मे आवे वह 'आर्य' हो जाय, चाहे उस की जीविका, व्यसन, मनोवृत्ति, आचार-विचार, रीति रस्म, आदि कुछ ही क्यों न रहा हो।

देश-धर्मान् , जाति-धर्मान् , कुल-धर्मांश्च शाश्वतान् ,
पाषण्डगण-धर्मांश्च, शास्त्रेऽस्मिन् उक्तवान् मनुः।
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मनः,
स्वं स्वं चरित्रं शिचेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।
ब्राह्मणः, क्षत्रियो, वैश्यः, त्रयो वर्णाः द्विजातयः,
चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रोः नास्ति तु पञ्चमः।
(मनु, अ० १, श्लो० ११८; अ० २ श्लो० २०; अ० १०, श्लो० ४)
कृण्वन्तो विश्वम् आर्यम्। (ऋग्वेद)

'शरीर शास्त्र' (आयुर्वेद) का सिद्धान्त यह है कि देहधारी जंतुओं की पारम्परिक पीढ़ियों की उत्पत्ति मे दो नियम सदा कार्य करते रहते हैं। (१) पितृ-क्रम-ऽगम नियम, पितृ-परम्परा नियम, जन्मना-सिद्ध-स्वभाव नियम, आनुवंशिकता; (२) स्वतो-विशेषण नियम, नव-उन्मेष नियम, कर्मणासाधित (व्यक्तीकृत, व्यंजित) स्वभाव नियम, वैयक्तिक विशेषता। आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक, (१) को 'ला आफ हेरेडिटी', (२) को 'ला आफ स्पान्टेनियस वेरियेशन' या 'म्युटेशन' कहते हैं। अर्थात्* (१) कुछ गुण तो जन्म से ही, माता-पिता द्वारा, प्राप्त होते

* Law of Heredity, Law of Spontaneous Variation or Mutation.

हैं, और (२) कुछ का स्वतः व्यक्ति-विशेष मे प्रादुर्भाव होता है। इन का फल यह होता है कि (१) एक ही मा-बाप की सन्तति, शरीर और बुद्धि मे, अपने मा-बाप के सदृश और एक दूसरे के सदृश, कुछ अंश मे होते हैं, और (२) साथ ही, दूसरे अंशों मे, उन मे विलक्षणता भी होती है। पुराने शब्दों मे, इन्हें 'जन्मसिद्ध गुण' और 'कर्मसिद्ध गुण', अथवा 'योनि कृत गुण' और 'तपः-श्रुत-कृत' गुण, कह सकते हैं। इन परस्पर भेदी नियमो का मूल कारण, ब्रह्मविद्या से मिलता है। परमात्मा की 'एकता' ही, संसार मे जो कुछ एकता, समता, स्थिरता, सन्तत भाव, अविच्छिन्न परम्परा, देख पड़ती है, उस की हेतु है; और परमात्मा की स्व-भाव-रूप प्रकृति की 'अनेकता' ही, संसार मे जो कुछ बहुता, विचित्रता, विभिन्नता, और परिवर्तन-शीलता है, उस की कारण है।
बुद्धिः (शक्तिः) नव-नव उन्मेष शालिनी प्रतिभा (प्रतृतिः) मता। (शैवागम)

'अन्तःकरण शास्त्र, चित्तशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र' का सिद्धान्त यह है कि चित्त के तीन गुण-हैं, जिन मे से प्रत्येक व्यक्ति मे, एक का प्राधान्य होता है; और 'द्विज' अर्थात् सुशिक्षित, सुसंस्कृत, व्यक्ति, जो द्वितीय बार, आत्मज्ञान मे, जन्म पा चुके हैं, वे इसी हेतु से, तीन प्रकार के होते हैं – (१) ज्ञान-प्रधान, (२) क्रिया-प्रधान, तथा (३) इच्छा-प्रधान; और बाकी लोग चतुर्थ प्रकार की श्रेणी के हैं, जो अव्यक्तबुद्धि बालकबुद्धि के हैं, और ऊँची शिक्षा ग्रहण करने की शक्ति नहीं रखते शारीरिक श्रम का ही काम अधिकतर कर सकते हैं। ज्ञानप्रधान मनुष्य के लिए हृदय का आप्यायन और सत्कार्य का प्रेरक, विशेष कर प्रेमपूर्ण सम्मान ही होता है, और इसी को वह अधिक चाहता है 'मानो हि माहतां धनम्'। क्रियाप्रधान पुरुष, आज्ञा-शक्ति, ऐश्वर्य, 'ईश्वर-भाव' अधिकार, को अधिक चाहता है,

आज्ञाभंगो नरेन्द्राणां अ शस्त्र-त्रधः उच्यते। (शुक्रनीति)

इच्छा-प्रधान पुरुष, धनधान्य को अधिक चाहता है, और श्रमजीवी मनुष्य खेल तमाशा, क्रीड़ा-विनोद, को अधिक पसन्द करता है। यह अच्छी तरह से स्मरण रखना चाहिये कि चार सहोदर भाई, एक ही मा-बाप के चार लड़के, भिन्न-भिन्न श्रेणी, वर्ग, राशि, प्रकृति, आकृति, मनोवृत्ति के हो सकते हैं, और अक्सर होते हैं। यह विभिन्नता उन मे स्वतः

उत्पन्न होती है। तथा यह भी ठीक है कि परम्परागत प्रकृति के कारण वे प्रायः, स्वल्प भेद से, एक ही श्रेणी, एक आकार प्रकार और, स्वभाव के, भी वहुधा होते हैं।

न विशेषोऽस्ति वर्णानाम् सर्वं ब्राह्मम् इदं जगत्,
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टम् हि, कर्मभिः वर्णतां गतम्,
(म० भा०शांति० अ०१८६)

वेदों मे उपमा दी है, 'चारों वर्ण एक ही स्रष्टा के शरीर से उत्पन्न हुए हैं, इस कारण सब सगे भाई हैं, किन्तु प्रकृति और जीविका के भेद के कारण भिन्न-भिन्न वर्णो मे विभक्त हो गये हैं। अथ च, विभक्त हो कर भी प्रत्येक मे अन्य तीनो की शक्तियों के बीज बने ही रहते हैं, और विशेष अवस्था मे उद्बुद्ध अंकुरित हो सकते हैं और होते हैं,

न तदस्ति पृथिव्यां वा, दिवि देवेषु वा पुनः,
सत्त्वं प्रकृतिजैः मुक्तं यत् स्याद् एभिस् त्रिभिर्गुणैः। (गी०)

'अन्तःकरण शास्त्र' का दूसरा सिद्धांत यह है कि, स्त्री-पुरुष की राजस-तामस काम-वासना जो होती है, वह सात्विक स्नेह प्रीति, स्वार्थ त्याग, उत्तरदायित्व संवेदन, और कर्तव्य परायणता, के भाव मे परिवर्तित हो जाती है, जब उन्हें संतति उत्पन्न होती है। पर, जैसे अन्य बातों मे, वैसे संतति मे भी, 'अति' से बहुत दुःख पैदा होता है। जब इतनी सन्तति हो कि माता-पिता उनका उचित रूप से पालन-पोषण न कर सकें, तो अनर्थ हो जाता है। साथ ही, यदि जान बूझ कर सर्वथा सन्तति का निरोध किया जाय, एक दो अपत्य भी न हों, इस लिये कि सब प्रकार की कष्टदायी जिम्मेदारियों से, उत्तरदायित्व से, मियां-बीबी बचे रहें, और केवल अपने ही इन्द्रिय-मुख की लालसा को तृप्त करें, तो ऐसी केवल कामवासना से स्वार्थ अधिकाधिक प्रज्वलित होता है, थोड़े ही समय मे सभी इंद्रियां कुण्ठ हो जाती हैं, परस्पर ग्लानि हो जाती है, सब वैवाहिक प्रेम और सुख नष्ट हो जाता है, हर प्रकार के व्यभिचार, पाप, और अपराध, अधिक होने लगते हैं, और नाना प्रकार के सामाजिक दोष और रोग बढ़ जाते हैं। अतः स्मृतिकारों ने गृहस्थऽाश्रम को ही सर्वश्रेष्ठ मान कर उस की प्रशंसा की है। क्योंकि उसी से अन्य आश्रमो का पोषण होता है। साथ ही साथ बहुत सन्तति की भी निन्दा की है, यहां तक कि एक

पहिले पुत्र को ही 'धर्म-ज' कहा है, और दूसरों को 'काम-ज'। (मनु, अ० ३, श्लो० ७७, ७८; अ० ६, श्लो० ८९, ९०; अ० ९, श्लो० १०७)

'अर्थ शास्त्र' का सिद्धान्त, वर्ण-धर्म-ऽात्मक समाज-व्यवस्था की जड़, बुनियाद मे, यह लक्ष्य है कि, जीविकोपार्जन मे अनियमित विनाशकारी प्रतिद्वंद्विता दूर की जाय, या उस की खराबियां यथा-सम्भव कम की जायं। इस लिये, चार वर्णों के लिये, चार, भिन्न-भिन्न प्रकार की, जीविका–वृत्तियाँ नियत कर दीं। जो लोग अपनी शारीरिक और मानसिक प्रकृति के कारण पैतृक जीविका के योग्य हों, वे निश्चयेन उसी का अवलम्बन करें। पर जब किसी व्यक्ति मे दूसरे प्रकार का स्वभाव पाया जाय, तो उस को यह इजाजत रहे कि वह अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल जीविका का कार्य उठा सकें, पर, धनोपार्जन के लिए, किसी दूसरे वर्ण के लिये निर्धारित जीविकोपाय का कार्य करने न पावे। इस प्रकार से प्रत्येक मनुष्य, अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार, सारे समाज की सेवा के लिये कार्य कर सकेगा, और समाज की तरफ से उसे उपयुक्त पुरस्कार और जीविकोपार्जन का साधन मिलेगा, और काम, दाम, और आराम का न्यायोचित विभाजन हो सकेगा; क्यों कि कोई भी व्यक्ति जीविका के लिये, स्व-वर्ण-उचित कार्य के सिवा, दूसरा काम न कर सकेगा। शौक के लिये भले ही करे, पर उस से अर्थोपार्जन न करे। कृष्ण ने नारद महर्षि देवर्षि को संगीत की शिक्षा दी, और आज, पाँच हजार वर्ष से, चारों वर्णों को, वेद-वेदान्त-सार-भूत गीता की शिक्षा दे रहे हैं, पर अपने को क्षत्रिय ही कहते हैं, क्यों कि जीविका उन की क्षत्रियवृत्ति से रही; यदि अध्यापन-वृत्ति से जीविका करते तो ब्राह्मण कहलाते; एवं तुलाधार वैश्य और धर्मव्याध शूद्र ने ब्राह्मण ऋषियों को शिक्षा दी, पर वृत्ति के कारण वैश्य और शूद्र ही अपने को कहते रहे; एवं जनक आदि।

'समाज शास्त्र' का सिद्धान्त यह है कि जिस प्रकार से व्यक्ति के शरीर मे सिर, हाथ, धड़, और सर्वधारक पैर होते हैं, और जिस तरह प्रत्येक व्यक्ति के चित्त मे ज्ञान, इच्छा, और क्रिया का संग्रह रहता है, तथा सर्वधारिणी चेतना-शक्ति रहती है, उसी प्रकार सामाजिक संघटन मे, अर्थात् प्रत्येक सर्वाङ्ग-पुष्ट, सुविकसित, उन्नत, और सभ्य समाज मे, चार ऐसी श्रेणियाँ होती हैं, जो स्थूल रूप से, जीविका की दृष्टि से, एक दूसरे

से विभक्त की जा सकती हैं—(१) विद्योपजीवी वर्ग, (२) (शासनात्मक) अधिकारोपजीवी वर्ग, (३) व्यापारोपजीवी वर्ग, तथा (४) शारीरिक-श्रमोपजीवी वर्ग। इन चारों श्रेणियों मे, चार प्रकृतियों के अनुरूप, अधिकार (हक़) और कर्तव्य (फ़र्ज़), कार्य और जीविका, परिश्रम और पुरस्कार, मिहनत और उज्रत, काम और दाम, श्रम और आराम, का उचित बँटवारा होना चाहिये। तथा, किसी को किसी दूसरे के क्षेत्र पर (विशेष कर जीविका के साधन पर) आघात करने का कोई अवसर न मिलना चाहिये, न किसी वर्ग या व्यक्ति को दो या तीन या चारो प्रकार से जीविका उपार्जन कर सकने की इजाजत होनी चाहिये। अवश्य ही जीविका, रिज़्क़, के चार प्रधान तरीकों मे प्रत्येक के अन्तर्गत वहुत से उप-प्रकार हैं। इस सिद्धान्त की जड़ मे यह वैज्ञानिक और प्राज्ञानिक ('सायंटिफिक' व 'मेटाफिजिकल्') तथ्य है कि मनुष्यमात्र का परस्पर सम्वन्ध, शारीर ('बायोलोजिकल्') और चेतनीय (चेतनात्मक, 'स्पिरिचुअल') भी है। जैसा बाइबल मे कहा है, "वी आर् आल् फ्लेश आफ् दि सेम् फ्लेश, ऐण्ड स्पिरिट आफ दि सेम स्पिरिट," सब प्राणियों मे एक ही भौतिक तत्व है, और सब जीवों मे एक ही चेतन तत्व है, सब उसी एक ही के अनन्त रूप हैं। इस को सदा याद रखने से सदा परस्पर स्नेहभाव सहायताभाव बढ़ता है। साम्प्रत काल मे, 'व्यक्ति' ही को, 'समाज' का आरम्भक 'अणु' मानने की प्रवृत्ति बढ़ी हुई है; इस का फल यह है कि 'बायोलोजिकल् वोण्ड' ('अन्न-सम्बन्ध,' 'यौन-सम्बन्ध', 'वार्त्ता-सम्बन्ध', अर्थात् 'कोन्न्युबियम्' 'कोम्मेन्सम्,' 'कोम्मर्सम्', के 'प्राण-सम्बन्ध') मे शुचिता और स्थिरता रखने की उपयोगिता का, और 'स्पिरिट' (आत्मा) मे विश्वास का, आदर कम हो गया है; 'वैयक्तिक' स्वार्थ की पूर्त्ति का ही आग्रह अधिक रहता है; परस्पर संघर्ष बढ़ता है; दारुण विश्वयुद्ध होते हैं।*

दूसरा 'सामाजिक सिद्धांत,' जिस का प्रभाव बहुत ही व्यापक है, और जो पुरातन सामाजिक व्यवस्था मे अनुस्यूत था, यह है कि व्यक्ति

---

* Scientific; Metaphysical; Biological; Spiritual. "We are all flesh of the same flesh and Spirit of the same Spirit. Con-nubium, Com-mensum, Com-mercum.

नहीं, अपितु, बल्कि, कुल वा कुटुम्ब, समाज का आरम्भक अवयव ('यूनिट') है। इस विषय पर पहिले कहा जा चुका है।

'समाज शास्त्र' का एक और बहुत गौरव-पूर्ण सिद्धान्त, वर्णधर्म मे गुथा हुआ, यह भी है, कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का मोटे तौर से चार विभाग होना चाहिये; पहिला भाग, अध्ययन मे; दूसरा, गार्हस्थ्य और जीविकोपार्जन मे, तथा सन्तति के पालन-पोषण मे; तीसरा, बिना किसी वेतन या प्रतिफल या कीमत के, सार्वजनिक सेवा मे; और चौथा, आध्यात्मिक ध्यान और मोक्षसाधन मे; व्यतीत होना चाहिये। स्वार्थ-प्रधान वैयक्तिक भावों और वासनाओं का नियंत्रित नियमित सेवन; प्रथम दो विभागों मे होने देना चाहिये, और परार्थप्रधान लोकोपकारी भाव और शुभेच्छा का अधिकाधिक, प्रतिदिन वर्धमान, मात्रा मे सेवन, अन्तिम दो विभागों मे होना चाहिये। 'आश्रम धर्म' के नाम से प्रसिद्ध व्यवस्था का यह मूल सिद्धांत है, जिस से 'वैयक्तिक' जीवन का प्रबन्ध किया गया है। इसका अटूट सम्बन्ध वर्णधर्म से है, जिसके द्वारा 'सामाजिक' जीवन का प्रबन्ध किया गया है। इन दोनों का, वर्णधर्म और आश्रमधर्म का, वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कपड़े मे ताने और बाने का।

तीसरे आश्रम मे ऐसे लोग बहुतायत से मिलने चाहियें, जो प्रति-द्वंद्विता द्वारा जीविकोपार्जन करने से निवृत्त हो चुके हों; जो परिपक्व बुद्धि वाले, दुनिया को देखे, बोझ उठाए, धक्के खाए, सुख–दुःख भोगे, तजुर्बेकार, अनुभवी हों; जो अब प्रेम और शान्ति की ही आंखों से मानव जगत् को देखते हों; जो नयी पुश्त पर विशेष अनुकम्पा रखते हों; जो वास्तव मे सम्मान के योग्य और अधिकांश जनता के सम्मानित श्रद्धित हों; और जो बिना पुरस्कार के, निर्वाचित समितियों, बोर्डों, व्यवस्थापक सभाओं के, तथा अन्य सार्वजनिक, कार्यों को, लियाकत से, योग्यता से, कर सकें। वर्त्तमान समय (जमाने, युग) से लिये, 'यज्ञ' अर्थात् 'परार्थ कर्म' के रूप ये ही हैं। यदि इस तीसरे आश्रम का, और ऐसे लोगों का, पुनः संघटन हो सके, तो नीच प्रकार के स्वार्थ, दम्भ, ईर्ष्या-मत्सर, और तरह तरह की बेईमानी, जो इस समय, केवल वेतनभोगी अहलकारों मे ही नहीं, बल्कि निर्वाचित और अवैतनिक सार्वजनिक कार्यकर्ताओं मे भी, बहुत कुछ फैल गई है, वह, यदि पूरी तरह से हटाई न भी जा सके, तो भी बहुत कम जरूर की जा सकती है।

'राजनीति शास्त्र' (धर्म-शास्त्र के अन्तर्गत) का सिद्धान्त जो इस वर्णव्यवस्था मे ओत-प्रोत है, वह यह है कि, चारों जीविकाओं के अनुसार विभक्त श्रेणियों का पृथक-पृथक्, परन्तु परस्पर अवलम्बित, व्यूहन हो। उन-मे आपस मे शक्ति का उचित बंटवारा रहे, और शास्त्र शक्ति (ज्ञान-बल) शस्त्र-शक्ति (सेना-बल), अन्न-शक्ति (धन-बल), और सेवा-शक्ति (श्रम-बल), सब के सब, किसी एक समुदाय अथवा व्यक्ति मे केन्द्रीभूत न हो सकें; क्योंकि एक ही हाथ मे कई शक्तियों के आने का ख्वाह-म-ख्वाह यह नतीजा होता है कि अहंकार, अभिमान, दर्प, गर्व, मद, उच्छृङ्खलत्व, निर्मर्यादता, अवश्यमेव उभरते हैं; प्रजा के शिक्षण, रक्षण, पालन के सौम्यभाव दब जाते हैं, और अनियन्त्रित अधिकार का दुरुपयोग करके दूसरों को पीड़ा देने का भाव, अपने भोग विलास के लिये, हुकूमत ऐश्वर्य का रस चखने के लिये, निश्चयेन बढ़ता है। पुराणो मे, नहुष, रावण, आदि के घोर अत्याचारों के वर्णन के आरम्भ मे कहा है, "स सर्वेषां एव देवानां अधिकारान् स्वयम् एव अधितष्ठे"; अलग-अलग देवताओं के जो अलग-अलग अधिकार थे, उन सबका छीन कर अकेले अपने ही हाथ मे उसने कर लिया। शिक्षक, रक्षक, पालक और सहायक, इन सब को, अपने-अपने दायरे मे, परिधि के भीतर, काम करना चाहिये; इस लिये, कि किसी वर्ण या वर्ग को किसी दूसरे वर्ण या वर्ग पर अनि-यन्त्रित अधिकार रखने की, अथवा उस को पैर के नीचे दबाने की, इच्छा करने का अवसर न मिले।

'शिक्षा-शास्त्र (धर्मशास्त्र के अंतर्गत) का सिद्धांत यह है कि, प्रत्येक बच्चे को, जो जरा भी शिक्षा पाने योग्य है, सांस्कृतिक ('कल्चरल') शिक्षा के साथ साथ उस प्रकार की व्यावहारिक ('वोकेशनल'), अर्थ-करी, जीविका-साधनी, विशेष शिक्षा दी जाय, जिसके प्रति उस की स्वभाव से रुचि और प्रवृत्ति हो।* और इस प्रवृत्ति को समझने, पहिचानने, के लिये उस के शिक्षकों को, विशेष प्रकार से अध्यात्मवेदी होकर, ध्यान देना और यत्न करना चाहिये।

'स्वास्थ्य शास्त्र और विवाह शास्त्र (आयुर्वेद और कामशास्त्र)' का सिद्धांत यह है कि भोजन और विवाह के बारे मे सब प्रकार की सावधानी रखनी चाहिये, हर तरह की शुचिता, सफाई, की फिक्र करनी

* Cultural; Vocational.

चाहिये, और ऐसे ही लोगों के साथ भोजन और विवाह करना चाहिये जो समान शील और व्यसन वाले हों, जिनका स्वभाव मिलता हो। ऐसा-ही करने से व्यक्ति जीवन मे, कुटुम्ब जीवन मे, और जाति-जीवन मे, स्वास्थ्य और सुख की वृद्धि हो सकती है।

इन सिद्धान्तों के आधार पर पुरातन सामाजिक व्यूहन किया गया था। उस मे, प्रत्येक व्यक्ति, अवश्य ही, चार मे से किसी न किसी एक वर्ग वा वर्ण मे, जीविकानुसार, स्थान पावेगा; और इसका निर्णय, पैतृक क्रम से नहीं, परन्तु उसी की प्रकृति और आकांक्षा के अनुसार, निश्चित किया जायगा; अर्थात्, जिस पेशे को वह अपनी रुचि और योग्यता से उठा सके, उसी के 'वर्ण' मे वह रक्खा जायगा। इन चार प्रधान 'वर्णों' अर्थात् पेशों के अन्तर्गत, मोटे तौर से, वे सब अनन्त पेशे हैं जो मनुष्य कर रहे हैं; उन सब का राशीकरण इन चार के नीचे हो सकता है, और प्रत्येक व्यष्टि (व्यक्ति), अनायास, इस सामाजिक समष्टि मे अपना स्थान पा सकता है, उसके अनुरूप कार्य कर सकता है, और समाज पर बोझ हुए विना, समुचित जीविका का उपार्जन कर सकता है।

यह मौलिक वर्णाश्रम व्यवस्था थी। पूर्व काल मे, इसी मे भारत की हजारों जातियाँ अधिकाधिक संख्या मे समाविष्ट हो कर, संघटित होती और सभ्य बनती रहीं। इस मे वह शक्ति थी कि, भारत के इतिहास की आरम्भिक शताब्दियों मे, बिना अपना सम्प्रदाय, या जाति, या विशेष रीति-नीति-रस्मरिवाज, या मातृभाषा, छोड़े, कितनी ही जाति के, राष्ट्र के, देश के, सम्प्रदाय के, लोग, इस के भीतर आकर, संगमित संगृहीत हुए और इस मे मिल गये। वर्ण-आश्रम-समाज-व्यवस्था तो एक संयान, सञ्चिका, साँचा, ढाँचा, चार कोष्ठों खानों का है, जिस मे सब प्रकार के मनुष्य, अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव-गुण-(जीविका)-कर्म, के अनुसार, सहज मे ढाले जा सकते हैं, और ढाले जाते थे। आज भी यह प्रत्यक्ष देख पड़ता है कि हमारे बीच मे पंजाबी, मारवाड़ी, अवधी, मध्यदेशी, बंगाली, मद्रासी, मराठे, गुजराती और बाली द्वीप के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मौजूद हैं, और इनके प्रत्येक दल (गरोह) मे ऐसे लोग हैं, जो अपने को वैष्णव वा शाक्त वा शैव वा सैकड़ों अन्य सम्प्रदायों मे से किसी एक सम्प्रदाय के विशेष नाम से पुकारते हैं, और विविध भाषाएँ बोलते हैं।

प्राचीन व्यवस्था के मौलिक सिद्धान्तों के अनुमार, कोई कारण नहीं है कि संसार मे वसने वाले सभी लोग—चीनी, जापानी, ईरानी, अरबी, फरासीसी, जर्मन, अंग्रेज, चाहे वे ईसाई, मुस्लिम, यहूदी, या और कोई मजहब के हों, इन्हीं चार जीविकानुसार गरोहों या पेशों मे विभक्त न किये जायँ। प्रत्युत बहुत से ऐसे कारण हैं जिन से ऐसा करना ही उचित है। वास्तव मे सब सभ्य जातियों मे स्थूल रीति से ये चार वर्ण अथवा श्रेणियाँ अथवा पेशे मौजूद हैं, यद्यपि वे प्रकट रूप से इस प्रकर के माने नहीं गये हैं, न इस प्रकार से नियमित रूा से संघटित किये गये हैं, जिस से काम, दाम, श्रम, आराम का, बुद्धिपूर्वक विभाग हो सके, जैसा प्राचीन भारत मे किया गया था।

रूस के सोवियट राज्य प्रवन्ध ने भी अपना नाम 'किसानों (वैश्य), सैनिकों (क्षत्रिय), श्रमजीवियों (अर्थात् मानसिक श्रमजीवियों या 'ब्राह्मणो', तथा शारीरिक श्रमजीवियों या शूद्रों) का सोवियट संघराज्य' ('पेजेन्ट्स, सोल्जर्स, ऐण्ड वर्कर्स सोवियट रिपब्लिक', प्रजातन्त्र राज), आरम्भ मे रक्खा।* इङ्गलैण्ड मे भी राष्ट्र के चार अंग हैं, अर्थात् 'क्लर्जी' (ब्राह्मण) 'नोबिलिटी' (क्षत्रिय), 'कामन्स' (वैश्य), 'लेबर' (शूद्र)।† कुरान मे भी उल्-उल् इल्म (ब्राह्मण), उल्-उल्-अम्र (हुकूमत करने वाले, आमिर, अमीर, क्षत्रिय), ज़ुर्रा (जिराअत, खेती, करने वाले), तीन तबीयत के आदमियों का ज़िक्र है, और चौथी श्रेणी मे मजदूर (उल् उल् मिह्न) अध्याहार्य हैं, समझे जा सकते हैं।

वाहरी अन्वेषकों ने लिखा है कि यह कहना असम्भव है कि हिन्दू धर्म है क्या ? वास्तव मे एक भी ऐसा विश्वास, ऐसा विचार, ऐसा आचार, ऐसा कर्म, ऐसा संस्कार नहीं है, जिस के सम्बन्ध मे यह कहा जा सके कि यह हिंदू धर्म अथवा हिंदू मनुष्य का विशेषक, व्यावर्त्तक, अपरिवर्त्ती, अनुवर्त्ती, अव्यभिचारी लक्षण है। अवश्य ही हिन्दूधर्म भी, मनुष्य के अन्य बड़े बड़े धर्मों की तरह, विश्वव्यापी धर्म के प्रधान तत्त्वों को स्वीकार करता है; पर इन के अतिरिक्त, हिन्दुओं के किसी-न-किसी गरोह मे वे सब रस्म-रिवाज, विश्वास, आचार, पाये जायँगे, (चाहे वे सु–

---

* Peasants, Soldiers, and Workers Soviet Republic.

† Clergy, Nobility Commons, Labor.

संस्कृत हों, चाहे नितान्त विकृत अधम; नीच, और घोर), जो संसार के किसी भी अन्य प्रदेश मे पाये जा सकते हैं। परमात्मवादी भी हिंदू हैं, देहात्मवादी भी; परम साधु, विरक्त, तपस्वी, पवित्रऽाहारी, लोकोपकारी भी हिन्दू हैं, तथा 'ठग साधु' 'अघोरपन्थी', 'वाममार्गी', मुर्दा और विष्ठा तक खाने वाले भी, और नर-बलि देने वाले भी। 'सनातनी' हिन्दुओं मे भी, बालक और संन्यासी, शिखा और यज्ञोपवीत सूत्र नहीं रखते; बहुतेरे क्षत्रिय, वैश्य, और सभी शूद्र, सूत्र नहीं रखते; चर्मकार हिन्दू, गोमांस खाते हैं; जैन हिन्दू, बौद्ध हिन्दू, सिख हिन्दू, वेदों को नहीं मानते; 'आर्य' हिन्दू, मूर्त्तियों को नहीं मानते; इत्यादि। ईसाई धर्म मे सैकड़ों भेद हैं, परन्तु सब को ही ईसा मसीह मे विश्वास करना आवश्यक है। इस्लाम मे बीसों भेद हैं, पर सब को मुहम्मद पैगम्बर मे विश्वास करना जरूरी है। हिन्दू के लिये किसी पुरुष मे, किसी एक अवतार मे, किसी एक देव देवी मे, परमात्मा के किसी एक नाम या रूप मे, विश्वास रखना आवश्यक नहीं है। हिन्दू की विशेषता यदि कोई है, तो यही कही जा सकती है कि वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, जान कर अथवा बिना जाने, स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से, यह मानता है कि एक समाज-व्यवस्था मे, वर्णाश्रम योजना मे, वह सम्मिलित है, और अपने को 'हिन्दू' कहता है। वास्तव मे, पुरानी पुस्तकों मे 'हिन्दू' शब्द नहीं मिलता। धर्म-शास्त्र मे 'मनुज', 'मनुष्य', 'मानव', 'नर', ये नाम मिलते हैं, जिन का अर्थ केवल मनुष्य, आदमी, ही है। शब्दों का मूल धातु, अंग्रेज़ी शब्द 'मैन' का मूल धातु, और मनुष्य, मानव 'मन्', 'मनस्' एक ही है। यह सत्य है कि एक तरफ 'आर्य' शब्द, और दूसरी तरफ उस के विरोधी भावों को दिखाने वाले 'अनार्य', 'वृषल', 'म्लेच्छ', और 'दस्यु' शब्द भी धर्मशास्त्रों मे आते हैं। पर आर्य का अर्थ 'सभ्य', और अनार्य आदि का 'असंस्कृत, असभ्य, पतित, बर्बर,' है, जाति-विशेष नहीं है। वर्त्तमान अर्थ मे 'हिन्दू' शब्द की उत्पत्ति उसी समय हुई है जिस समय से उस 'अस्पर्श'-रोग का आरम्भ हुआ, जो धीरे धीरे, और अब तीव्रता से, उस समाज को जर्जर करने लगा, और अब मुमूर्षु कर रहा है, जिस समाज का अब यह नाम है। इस शब्द का अर्थ पहिले 'हिन्दी' अर्थात् 'हिन्द' का रहने वाला था, और यही उचित भी है। प्राचीन ईरानियों ('आर्याना'-वासियों) ने यह नाम रक्खा था,

और पीछे यूनानियों ने, इस का नाम, सिन्धु नदी (सिन्ध, हिंध, इंड, इंडस) के आधार पर, 'इण्डिया' कर दिया। 'ईरानी', जो 'आर्यों' की ही एक शाखा थे, 'स' को 'ह' कहते थे। भारतीय मुस्लिम, जो निकट पश्चिम के इस्लामी देशों मे भ्रमण करते हैं, वहाँ 'हिन्दी' या 'हिन्दू' नाम से ही पुकारे जाते हैं।

वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति के विषय मे आजकाल चार पांच प्रकार के मत प्रचलित हैं। कोई गोरे, लाल, पीले, काले रंग पर जोर देते, कोई जाति पर, कोई सम्प्रदाय पर, कोई पेशे पर। ऊपर कहे प्रकार से देखने से, इन सब मतों का समन्वय हो जाता है; साथ ही इस के, इस व्यवस्था की बड़ी वैज्ञानिकता, और व्यवहार के क्षेत्र मे उपयोगिता भी, मालूम हो जाती है, क्योंकि इस दृष्टि मे जीविका-अनुसारी 'वर्णों' मे और शरीर-परम्परा-अनुसारी 'जातियों' मे भेद किया जाता है, और प्रत्येक व्यक्ति, चाहे किसी जाति का हो, जीविकोपार्जन-सम्बन्धी स्वभाव और वास्तविक पेशे के अनुसार, विशेष वर्ण मे रक्खा जाता है। 'जाति' और 'वर्ण' शब्दों के अर्थों मे भेद है। 'जाति' (जन् धातु से) जन्मना है, जैसे अंग्रेज, जर्मन, रूसी, अरबी, ईरानी, चीनी, जापानी, बंगाली, मद्रासी, आदि 'जातियाँ'। 'वर्ण' (वृञ् वा वर्ण धातु से) कर्मणा है।

जीविका के साधनों का पृथक्करण

जीविका के साधनो के पृथक्करण पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये। जिस प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति को, शिक्षकों (या विद्वानों), रक्षकों, व्यापारियों, और श्रमजीवियों के चार बड़े बड़े व्यूहों मे से किसी एक मे, उस के स्वभाव और पेशे के अनुसार, रख दिया जाता था, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति से यह भी आशा की जाती थी, कि वह अपनी जीविका का उपार्जन उसी प्रकार से करेगा जो उस के वर्ण के अनुकूल हो। उस को यह इजाजत नहीं थी, कि किसी दूसरे वर्ण के कार्य से वह अपनी जीविका चलावे। इस प्रकार से धन का उचित बटवारा होता था, और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उचित आकांक्षाओं और अभिलाषाओं को पूरा करने का भी मौका मिलता था। अन्य बातों मे भी, उपर्युक्त थोड़े से आवश्यक मौलिक सिद्धान्तों के अनुसार चलने से, यह सम्भव होता था कि मनुष्य की स्वार्थ और परार्थ भावनाओं का समुचित समन्वय हो सके;

व्यष्टिवाद और समाजवाद मे, प्रातिस्विकवाद और सार्वस्विकवाद मे, वैषम्यवाद और साम्यवाद मे, व्यक्तिवाद और समाजवाद मे, 'अहं'-वाद और 'वयं'-वाद मे, 'इण्डिविजुएलिज्म' और 'सोशलिज्म' मे 'सोशलिज्म' और 'कॉम्यूनिज्म' मे, बुद्धिसंगत समझौता हो सके; और वे सब समस्याएं व्यवहार्य रूप से पूरी की जा सकें जो सदा मनुष्यों के सामने आती रहती हैं।*

वर्ण-व्यवस्था के मौलिक सिद्धान्तों की ओर लापरवाही करने, उस के अर्थ का अनर्थ करने, उस के कुछ अंशों पर अत्यधिक जोर देने और दूसरे अंशों को भुला देने, से, बलवानो और चालाकों का सब अधिकारों को पकड़ने और कर्तव्यों से परहेज करने, से ही, जीविकानुसार विभाजित वर्ण-व्यवस्था बिगड़ गई, और आज उस का स्वांग मात्र रह गया है; तथा अन्य बहुत-सी खराबियों के साथ, विवाह सम्बन्धी वे खराबियां उत्पन्न हो गयी हैं, जिन को दूर करने के लिये नये कानून को बनवाने की परम आवश्यकता है।

नये विधान से कई लाभ

उपन्यस्त-विधान का अभिप्राय केवल इतना ही है कि, यदि कोई चाहे तो 'अन्तर्वर्ण' विवाह कर सकता है; और ऐसा विवाह जायज, धर्म्य, शिष्ट, समझा जायगा; नाजायज, खिलाफ कानून, अधर्म्य, अशिष्ट नहीं होगा। विधान; अनुज्ञा (अनुमति) ही देता है, आज्ञा नहीं; यदि चाहो तो कर सकते हो, यह नहीं कि जरूर करो। इस का सिद्धान्त सीधा, और लक्ष्य उपयुक्त, यही है, कि हम दूसरों को जीने दें और दूसरे हमे जीने दें, हम दूसरों के जीवन मे बाधा न डालें, और दूसरे हमारे जीवन मे बाधा न डालें। यदि यह विधान पक्का हो कर, धर्म-परिषत् (असेम्बली) मे स्वीकृत हो कर, कानून का रूप ग्रहण कर ले, तो हिन्दू समाज मे जो अत्यन्त भेदभाव का आंतरिक दोष आ गया है, जिस के कारण वह नितांत जर्जर हो रहा है, वह दूर हो सकेगा। भीतर और बाहर, हर तरह से, एक दूसरे से, आग्रहपूर्वक दुराव बराव करने का जो दुर्भाव इस समय हिन्दू समाज का सब से तीव्र और भयावह रोग है, उस का वेग कम हो जायगा; अन्य समुदायों से प्रेम-

---

* Individualism, Socialism, Communism.

सम्बन्ध हो सकेगा, सारे हिन्दू धर्म का सब भाव मृदु और सुन्दर हो जायगा; विवाह सम्बन्धी वातचीत मे जो वहुत सी मक्कारी और बेईमानी और परस्पर धोखा देने की बुद्धि भरी रहती है, वह दूर हो जायगी, क्योंकि इस की आवश्यकता ही न रह जायगी। सब को मालूम है, कि विवाह के योग्य लड़कियों और औरतों को भारत के कितने ही प्रदेशों में भगाया और वेचा जाता है; इस लिये कि ऐसी उपजातियों को स्त्रियां मिलें, जिन मे, किन्हीं कारणो से, स्त्रियों की कमी है; और वेचने के समय, स्त्री का 'वर्ण' नाम असल मे दूसरा भी हो तो भी, खदीददार की रुचि के अनुसार वता दिया जाता है। स्त्रियों की उक्त कमी का एक कारण यह भी है कि कई उपजातियों मे लड़कियां पैदा होते ही मार डाली जाती हैं। अव ऐसा शायद कम होता है, पर यह जुर्म इस प्रकार का है, और ऐसी सरलता से किया जा सकता है, कि यह कहना संभव नहीं है कि बिलकुल वंद हो गया है। इस नये विधान से, इस अपराध के बन्द होने मे भी, अप्रत्यक्ष रूप से सहायता मिलेगी। तथा यह सम्भव होगा कि अन्ध विश्वास के ही आधार पर विवाह सम्बन्ध न किया जाय, जैसा इस समय हो रहा है, (कि बिना विचार किये, 'धर्माभास', 'मिथ्या धर्म', 'मूढ़ग्राह' का अनुसरण करते हुए, विश्वास किया जाता है कि पैत्रिक वर्ण नाम मात्र मे कोई अलौकिक शक्ति है); प्रत्युत इस के, वैज्ञानिक सहेतुक सद्धर्म के आधार पर विवाह-सम्बन्ध किया जायगा; वैदिक धर्म, वैज्ञानिक धर्म, आयुर्वेद, और काम-शास्त्र, गार्हस्थ्यशास्त्र, के अनुसार, स्त्री और पुरुष का शरीर और मानस सच्ची स-वर्णता, समान-शील-व्यसनता, परस्परानुकूलता, देख कर विवाह-सम्बन्ध किया जायगा।

> हेतुभिर्धर्ममन्विच्छेन्, न लोकं विरसं चरेत्; (म० भा०)
> यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः; (मनु)
> अनिंदितैः स्त्रीविवाहैरनिंद्या भवति प्रजा; (मनु)
>
> विशिष्टायाः विशिष्टेन संगमो गुणवान् भवेत्; (म० भा०, नलो०)

इस विधान से किसी को विवश नहीं किया जाता है, कि वह अपने वर्ण अथवा उपवर्ण के बाहर विवाह करे; परन्तु, यह, ऐसा करने वालों की, 'जातिच्युत' किये जाने से, केवल रक्षा करेगा। किसी के लिये यह भी लाजिमी न होगा कि ऐसे किसी व्यक्ति के साथ वह सामाजिक संबंध

रक्खे, जिस ने इस प्रकार का विवाह किया हो; पर यदि कोई प्रकट रूप से, खुले तौर पर, यह घोषणा करे, कि अन्तर्वर्ण विवाह करने के कारण कोई स्त्री या पुरुष 'जातिच्युत' हो गया, और सम्बन्ध रखने योग्य नहीं है, तो उस पर मानहानि का मुक़द्दमा चल सकेगा और वह अदालत मे अपराधी और दण्डनीय समझा जायगा।

इस विधान से कुछ और लाभ भी होंगे। (१) युवा और युवती की साथ साथ पढ़ाई का कालिजों में जो प्रचार अब चला है, और देश मे बढ़ता ही जा रहा है, (यद्यपि इस प्रथा मे दोष बहुत हैं), उस से बहुत से सुखदायी विवाह हो सकेंगे; और अनाचार की घृणाजनक भूलें, मन और शरीर को गन्दा करने वाले, आजीवन हृदय मे चोर और शोक-शंकु बैठा देने वाले, कार्य न होंगे; तरह तरह की बीमारियां, विशेष कर युवतियों को, न भोगनी पड़ेंगी; यदि इस 'सह-अध्ययन', को-एड्युकेशन',* के साथ, कुछ आवश्यक मर्यादाएँ बाँध दो जायँ, और यह शिक्षा भी विशेष रूप से दी जाय, कि अविवाहित मैथुन के अनुबन्ध (फल) बहुधा इस इस तरह के, बड़े दारुण हुआ करते हैं। (२) युवतियों की आत्म-हत्याएं और दूसरी खराबियां, जो अब शादी के समय बड़े बड़े दहेज (यौतुक) मांगने के कारण हो रहीं हैं, वे कम हो जांयगी; शिक्षित युवा और युवती, स्वतन्त्र रूप से अपना स्वयंवरण कर सकेंगे, और वर्ण के नाम मात्र से, अनुचित रूप से, बंध न जायंगे। याद रहे कि बहुत दहेज मागने की प्रथा, कुछ तो आर्थिक संकट के कारण, और कुछ आधुनिक सभ्यता की धनलोलुपता के भाव के कारण, हुई है। कहीं कन्या खरीदी जाती है, कहीं वर खरीदा जाता है।

सद्धर्म के किसी आवश्यक सिद्धान्त का, अथवा धर्म शास्त्र के किसी मौलिक आदेश का, विरोध किये बिना यह विधान, उस समाज को, सामाजिक जीवन और संघटन के बहुमूल्य सिद्धान्तों से पुनः अनुप्राणित कर सकेगा, जिसे अब 'हिन्दू' समाज कहते हैं, जिसे वास्तव मे 'मानव' समाज कहना चाहिए, पर जिस ने इन सिद्धान्तों को काल के प्रवाह मे धीरे धीरे बहा और भुला दिया है।

---

* Co-education.

शास्त्र इस के पक्ष मे हैं।

जो लोग धर्मशास्त्र के शब्दों को बहुत मानते हैं, वे भी 'अन्तर्वर्ण' विवाह का समर्थन, प्राचीन ग्रन्थों मे, विशेष कर पुराणो मे, पावेंगे। मैं भी, बहुत विनीत भाव से, धर्मशास्त्र के शब्दों का आदर करता हूँ; यदि शास्त्र वास्तव मे प्राचीन हों, और ऐसे समय के हों जब भारतवर्ष स्वाधीन स्वतन्त्र था और ऋषिजन शास्त्रकार थे, तथा उन के शब्दों का अर्थ, धर्मशास्त्र के मुख्य अंग निरुक्त और मीमांसा के अनुसार, ठीक तरह से लगाया जाय। जो लोग बुद्धिवादी, और साधारण समझदारी पर भरोसा-करने वाले, हैं, उन के लिये तो धर्मशास्त्र-सम्बन्धी किसी दलील की आवश्यकता ही नहीं है।

विधान किसी को विवश नहीं करता

यह बात विशेष प्रकार से याद रखने की है कि, उपन्यस्त विधान के अनुसार कोई भी अन्तर्वर्ण विवाह करने के लिये मजबूर नहीं किया जाता है। प्रस्तावित विधान केवल यही व्यवस्था करना चाहता है कि, जो कोई इस प्रकार का विवाह करे, उस की सामाजिक अवस्था, और हिन्दू की हैसियत से उस के धार्मिक और कानूनी अधिकार और कर्तव्य, पहिले की तरह सुरक्षित रहें, उसका सम्बन्ध ऐसे सब मित्रों और रिश्तेदारों से बना रहे जो उस से सम्बन्ध रखना चाहते हों; और समाज उन की सेवा से वंचित न हो, जो सेवा समय पर बहुत उपयोगी हो सकती है।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे विवाह बहुत नहीं होंगे।

अधिकतर लोग अपने ही परिचित और परम्परागत समुदायों मे रिश्तेदारी खोजेंगे। अन्तर्वर्ण विवाह अपवादरूप ही रहेगा, उत्सर्गरूप नहीं; गैरमामूली मुस्तस्नियात मे दाखिल होगा, मामूल मे नहीं; पर ऐसा अपवाद, इस्तिस्ना, लाभदायक और वांछनीय होगा।

'वर्ण' शब्द मे 'उपवर्ण' सम्मिलित है

वर्ण शब्द के अन्तर्गत 'उपवर्ण' भी सुतरां है। हिंदी मे 'जात' 'जाति' शब्दों मे उपजातियां भी अन्तर्गत हैं। वर्तमान प्रथा के अनुसार, कुछ अपवादों को छोड़ कर, दो वर्णो मे भी, और दो उपवर्णो मे भी, परस्पर विवाह, दोनो ही, एक ही तरह से, 'असवर्ण' विवाह माना जाता है,

और अदालतों मे गैरकानूनी समझा जाता रहा है। पर संस्कृत के पण्डित, धर्म-शास्त्र के शब्दों के आधार पर, यह कदापि नहीं कह सकते, कि प्रधान वर्ण के दो उपवर्णो का परस्पर विवाह धर्म के विरुद्ध है। सच तो यह है कि इतने उपवर्णो मे से अधिकतर के अस्तित्व के ही औचित्य का, वे समर्थन नहीं कर सकते। प्राचीन पुस्तकों मे तो उन के नाम ही नहीं मिलते। ऐसे वर्ण जिन्हें वास्तव मे उपवर्ण मानना चाहिए, उन्हें भी हिन्दू जनता आज व्यवहार मे स्वतन्त्र वर्ण के ऐसा मान रही है।

रीतियों की व्यामोहक भिन्नता और असंख्यता

उपवर्णो के सम्बन्ध मे यह विचार करने योग्य बात है कि, रस्म-रिवाज मे, पदे पदे अन्तर पाया जाता है। उदाहरणार्थ, उत्तर भारत मे ब्राह्मणो के उपवर्णो मे परस्पर विवाह नहीं होता। वैश्यों मे भी यही प्रथा है। प्रत्येक उपवर्ण अपने मे ही, गोत्र बचा कर, विवाह करता है। पर क्षत्रियों के उपवर्ण अपने बाहर विवाह करते हैं। अपने ही उपवर्ण मे कोई क्षत्रिय विवाह नहीं कर सकता पूरे पूरे उपवर्ण को ही एक गोत्र जैसा मानते हैं। संयुक्त प्रान्त के कायस्थों की उपजातियों मे भी, गोत्र बचा कर. अपने मे ही विवाह होता है। मसलन्, कायस्थ वर्ण मे, संयुक्तप्रान्त मे, श्रीवास्तव उप वर्ण मे, दो उप-उप-वर्ण हैं, अर्थात् 'दूसरे' और 'खरे', और ये दोनो परस्पर विवाह नहीं कर सकते। दक्षिण भारत मे, पंचद्राविड़ ब्राह्मणो के उपवर्णो मे भी, उपवर्ण के भीतर ही विवाह होता है। संयुक्तप्रान्त मे कहावत है, 'सात कनौजिया नौ चूल्हा'; पर गुजराती कहावत है, 'तेरह गुजराती तेंत्रीश चूल्हा'। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण वर्ण के, पंचद्राविड़ उप-वर्ण के, गुजराती उप-उप-वर्ण के, नागर उप-उप-उप-वर्ण के तीन उप-उप-उप-उप-वर्ण हैं, वड़नगरा, विशनगरा, सिपहनगरा, और हर एक, अन्य दोनो से अपने को ऊँचा जानता है, और तीनो मे परस्पर विवाह नहीं हो सकता। बङ्गाल के ब्राह्मणो और कायस्थों के उपवर्ण, अपने (उपवर्ण) के बाहर विवाह करते हैं, क्षत्रियों के ऐसा सारे उपवर्ण को एक गोत्र सा मानते हैं। शूद्र नाम से कहे जा सकने वाले उपवर्ण भी, हिन्दुस्तान भर मे, प्रायः अपने भीतर ही शादी करते हैं।

और देखिये। स्मृतियों मे आठ प्रकार के विवाहों की चर्चा है, और दाय की दृष्टि से बारह या उस से भी अधिक प्रकार के पुत्र माने जाते

हैं। और आज भी हम देखते हैं कि बहुत से अन्य प्रकार के विवाह के तरीके भी जारी हैं। उदाहरणार्थ, जाटों मे श्वशुर का, विधवा पतोहू से, विवाह होना, एक हाईकोर्ट द्वारा, हाल मे, जायज ठहराया गया है। मुझ से यह भी कहा गया है कि, जाटों मे एक स्त्री के कई पति एक ही समय मे होना भी जायज माना जाता है, और कभी-कभी दो तीन भाइयों के बीच एक ही विवाहिता स्त्री होती है। कुछ समुदायों मे विधवा सास के साथ दामाद का विवाह होना जायज है। किन्हीं-किन्हीं पहाड़ी हिन्दू जातियों मे पत्नियों का विनिमय भी होता है, तथा एक स्त्री का कई पुरुषों से एक समय में ही विवाह होता है। यह, एक ओर, हद से गुजरे 'अति' के उदाहरण हैं। साथ ही इस के, दूसरी ओर, उच्च जातियों मे दूसरे प्रकार की 'अति' मिलती है। मुझ से दो मित्रों ने कहा है, जो ब्राह्मण वर्ण के पंचगौड़ उपवर्ण के सरयूपारी उप-उप-वर्ण के द्विवेदी और त्रिपाठी उप उप-उप वर्ण थे (एक तो काशी के प्रसिद्ध परम विद्वान् स्वामी मनीषानन्द, उपनाम हरिनाथ स्वामी, थे), कि उनमे और भी पवित्रतम दल हैं जो 'पंक्तिपावन' कहलाते हैं, और जो अवध के कुछ जिलों मे रहते हैं, जिन मे, अति क्षुद्र निस्सार हेतुओं से, इतने लोग जाति-च्युत कर दिये गये हैं, और विवाह सम्बन्ध के योग्य इतने थोड़े रह गये हैं, कि अब विवाह स-गोत्र मे होने लगा है, 'केवल दूध का बराव किया जाता है', अर्थात् एक माता का दूध पीने वाले भाई बहिन का ब्याह आपस मे नहीं किया जाता है। मुसलमानों मे मैं ने दोस्तों से सुना है कि इसी तरह से, कुरैशी, मिलकी, और सय्यद समुदाय हैं, जो भी यथासंभव यही प्रयत्न करते हैं कि अपने समुदाय के भीतर ही विवाह करें। दक्षिण मे, मालावार समुद्रतट के प्रदेश मे, मातृ-परम्परा से दाय का अधिकार मिलता है, और वहाँ के उच्च श्रेणी के ब्राह्मणो के विवाह संबंधी नियमो मे, उत्तर के ब्राह्मणो के नियमो से, बहुत अन्तर है; और उन मे भी, नाम्बुदिरि ब्राह्मणो की ही दो प्रकार की सन्तान होती हैं; एक तो नाम्बुदिरि ही कहलाते हैं, दूसरे, नायर, और इन दोनों मे परस्पर विवाह नहीं हो सकता।

रस्मो की यह अनन्त विभिन्नता, जो बुद्धि को चकरा देती है, प्रस्तावित विधान से उन लोगों के लिये बहुत सरल हो जायगी जो इस से लाभ

उठाना चाहेंगे। जो ऐसा नहीं करना चाहते, वे बिना रोक-टोक के अपनी विशेष रीति के अनुसार कार्य करने और कौटुम्बिक जीवन का निर्वाह करने के लिये स्वतन्त्र रहेंगे।

'वर्ण' का अर्थ 'पेशा' है

जो लोग 'वर्ण' का मौलिक अर्थ 'जीविका', 'पेशा', मानते हैं, जिस से मनुष्य का 'वर्णन' होता है, 'वर्णयति इति वर्णः'; जिस से यह जाना जाता है कि व्यक्ति विशेष का समाज मे क्या स्थान और समाज से क्या संबंध है; ऐसे लोगों को यह समझने मे कोई दिक्कत न होगी, कि स्त्री के 'वर्ण' का नाम वही है जो उस के विवाहित पति का है, चाहे उस के पिता का वर्ण अथवा पेशा कुछ ही क्यों न रहा हो। उचित ही है कि ऐसा हो, क्योंकि स्त्री अपने पति के घर की स्वामिनी होती है, उस की सुव्यवस्था करती है, अपने पति की जीवन-यात्रा मे और जीविका-उपार्जन मे सहायक होती है; अत एव, प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से, उसी जीविका की उपार्जक, उसी पेशे की करने वाली, वह भी हो जाती है। धर्मशास्त्र मे पति और पत्नी एक माने गये हैं,

यो भर्ता सा स्मृता अङ्गना। (मनु, ९, ४५)

ईसाइयों के वेद अर्थात् बाइबिल मे भी ऐसा ही कहा हुआ है।

अदालतों मे गवाह से पहिले पूछा जाता है, नाम क्या है? फिर पिता का नाम, उम्र, वासस्थान, मजहब; अन्त मे, 'पेशा' क्या है? जब वह अपना पेशा, अर्थात् अपना 'वर्ण वतला देता है; अपने जीविकोपार्जन का उपाय प्रकट कर देता है, तब उस का 'वर्णन', उसका 'पता', पूरा हो जाता है, तब यह ठीक-ठीक मालूम हो जाता है कि वह किस प्रकार से समाज का अंग है, किस प्रकार से समाज के साथ बंधा है, समाज के व्यूहन संग्रन्थन मे उस का क्या विशेष स्थान है।

वर्ण का परिवर्तन, गोत्र के परिवर्तन की तरह है

पर, कुछ लोग ऐसे हैं जिन का विश्वास है, कि गोत्र की तरह वर्ण भी जन्म से चलता है। रोमन लोगों मे जैसे 'जेन्स' होते थे; जैसे स्काट लोगों मे 'क्लान, अरब लोगों मे 'कबीला', और अफगानों मे 'खेल' या 'जई' होते हैं, वैसे ही हिन्दुओं के गोत्र हैं।* ऐसे लोगों के गण, जो

* Gens : Clan.

किसी एक पौराणिक पूर्व-पुरुष की सन्तति माने जायँ, एक गोत्र के नाम से कहे जाते हैं। पर हम देखते हैं कि कन्या का गोत्र, विवाह होने पर, बदल जाता है; जो उस के पति का गोत्र, वही उस का भी गोत्र हो जाता है। यदि गोत्र को, जो निर्विवाद जन्मना प्राप्त होता है, कन्या बदल सकती है, तो वर्ण को क्यों नहीं बदल सकती, जिस की जन्म-परम्परा उतनी स्पष्ट नहीं है ? यह भी स्पष्ट है कि तीनो ही 'द्विज' वर्णो मे कई गोत्र एक ही हैं, जिसका अर्थ यह होता है कि तीन भिन्न वर्णों के पुरुष एक ही पूर्वपुरुष से उत्पन्न हुए हैं, और भिन्न-भिन्न जीविका-कर्मों को, वृत्तियों को, उठा लेने के कारण भिन्न भिन्न वर्णों के हो गये। "कर्मभिर्वर्णतां गताः"। जो लोग वर्ण को जन्मना मानते हैं, वे इन बातों पर विचार करें, और साथ ही, इस पर भी ध्यान रखें कि, वेद और पुराण स्पष्ट रूप से कहते और दिखाते हैं, कि एक ही कुटुम्ब के कई मनुष्य कई वर्ण के हुए हैं। पुराणों मे ऐसे उदाहरण बहुत मिलते हैं कि, एक व्यक्ति, या एक समग्र कुल, एक वर्ण छोड़ कर दूसरे वर्ण का हो गया है। बहुत से छोटे-छोटे समुदाय, जो पहिले शूद्र समझे जाते थे, वे अब, आज काल, अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, या वैश्य कहने लगे हैं। वास्तव मे यह वही भाव है जिसे पाश्चात्य देशों मे, 'सामाजिक दर्जे मे उन्नति करना' ('राइजिङ् इन दि सोशल स्केल') कहा जाता है।* १९३१ ई० की मनुष्य-गणना के विवरण मे, कई कई छोटी उपजातियों के एक मे मिल जाने की, कई के लुप्त हो जाने की, कई की नयी उत्पत्ति की, तथा अन्य प्रकार के परिवर्तनो की, चर्चा की गई है। यह जाति-परिवर्तन या वर्णोपवर्ण-परिवर्त्तन, लगातार, सब काल मे होता रहा है, अब भी जारी ही है, और इसके कारण, उपजातियों का ठीक ठीक गिनती करना इतना जटिल हो गया, कि मनुष्यगणना करने वाले अधिकारियों ने इस उपजाति गणना को, सन् १९३१ ई० और १९४१ ई० की गणना मे, छोड़ ही दिया।

वर्ण-नाम-परिवर्तन के प्रवर्त्तमान प्रयत्न

हाल की कुछ घटनाओं से यह विदित होता है कि वर्ण को, अर्थात् वर्ण-नाम को, किस तरह, व्यापक रूप से, कई समुदायों से, बदलने का

---

* Rising in the social scale; स्वाभाविक लोकैषणा।

यत्न हो रहा है। संयुक्तप्रांत मे कायस्थ समुदाय के कितने ही पढ़े लिखे लोग यज्ञोपवीत पहिनने लगे हैं, जो द्विजत्व का चिह्न हैं, और अपने को क्षत्रियों का एक उच्च वर्ण मानते हैं। ऐसे ही, वैश्यों की कई जातियों ने, जिन मे यज्ञोपवीत लुप्त हो गया था, अब उस का धारण पुनः आरम्भ किया है। मराठा 'प्रभु' जाति की भी ऐसी ही स्थिति प्रतीत होती है; वे भी पहिले एक प्रकार के कायस्थ वर्ण के समझे जाते थे; अब अपने को क्षत्रिय कहने लगे हैं। बम्बई के 'भाटिया' समुदाय के कुछ लोगों को मैंने कहते सुना है कि वे 'लोहाना क्षत्रिय' हैं, यद्यपि उनकी गणना अबतक वैश्यों मे होती रही है। संयुक्त प्रान्त के कुर्मी और अहीर अब अपने को क्रमशः कूर्मांचलीय और यादव क्षत्रिय पुकारने लगे हैं; कोई तो अपने को कूर्मांचलीय ब्राह्मण भी कहते हैं। 'जायसवाल' जाति का पहिले उपवर्ण नाम 'कलवार' था, जो अधिकतर शराब बनाने का पेशा करते थे; किन्तु अब उन मे, बहुत से जमीदार, वकील, प्रोफेसर आदि हो गये हैं; कुछ महाजनी अर्थात् लेन-देन का व्यापार करते हैं; और कुछ, अन्य रोजगार और पेशे उठाये हुए हैं; अब उन मे यह यत्न हो रहा है, कि सब के सब जायसवाल, 'हैहय क्षत्रिय' पुकारे जायं; कुछ पंडित विद्वानो ने उन को इस ओर उत्साहित किया है, और पर्याप्त 'वकालती फीस' पर, पुराणो के कुछ ऐसे अध्यायों का पता लगाया' है जो 'खो' गये थे, और जिन मे से उपयोगी 'नजीर' (निदर्शन) और 'प्रमाण' मिल सकते हैं। संयुक्त प्रांत का एक समुदाय अथवा वर्ण, जो अपने को तीस चालीस वर्ष पहिले 'धूसर बनिया' पुकारता था, अब अपने को 'भार्गव ब्राह्मण' कहने लगा है। मद्रास प्रांत मे सुनारों का एक समुदाय, जो पहिले अपने को शूद्र मानता था, अब अपने को 'स्वर्ण-वणिक्' कहने लगा है, अर्थात् वैश्यों का एक उपवर्ण हो गया है। यह भी जानने योग्य बात है कि, मद्रास के ब्राह्मण पण्डितों का, अहंकारवश, यह कहना है कि कलियुग मे केवल दो ही वर्ण रह गये हैं, अर्थात् ब्राह्मण और शूद्र, कोई क्षत्रिय या वैश्य बचा ही नहीं है, और भारत के किसी प्रांत मे जो अपने को क्षत्रिय या वैश्य कहते हैं, वे वास्तव मे शूद्र ही हैं। १९३१ ई० की 'सेन्सस-रिपोर्ट' (मनुष्य-गणना-विवरण) से मालूम होता है कि 'अहीर', 'ग्वाला', 'गोप', आदि उपजातियों के पशु-पालक सभी अब अपने को 'यादव' कहने लगे हैं। कुछ 'सोनारों' ने, १९२१ ई० मे, अपने को

क्षत्रिय या राजपूत लिखवाया, १९३१ मे, ब्राह्मण या वैश्य। कुछ 'नाई' ('नापित, हज्जाम) लोगों ने (संयुक्तप्रांत मे) १९२१ मे अपने को 'ठाकुर', १९३१ मे 'ब्राह्मण' लिखाया। (तथा 'नापितों' ने (वंगाल मे) १९२१ मे 'वैश्य', १९३१ मे 'ब्राह्मण'। कुछ 'कहारों' ने १९२१ मे 'वैश्य', १९३१ मे 'क्षत्रिय'; कुछ 'सूत्रधारों' सुताड़ों ने, (वंगाल मे) १९११ मे, 'ब्राह्मण'; इत्यादि।

सामाजिक श्रेणियों का, अपनी उन्नति के लिये, यत्न करना उचित ही है। तथापि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि जो यत्न हो रहा है, वह किसी बुद्धिसंगत वैज्ञानिक सिद्धान्त का अनुसारी नहीं है। यथा, 'जायसवालों' के समग्र समुदाय का एक साथ 'हैहय क्षत्रिय' बन जाने मे कोई मतलब नहीं मालूम पड़ता। पौराणिक समय मे, 'हैहय' जाति के क्षत्रियों मे बड़े शक्तिशाली कुल हुए; नर्मदा नदी के तटों पर उनका राज्य था; माहिष्मती नाम की राजधानी थी; कार्तवीर्य नाम के इनके सबसे अधिक प्रतापी राजा हो गये हैं; आरंभ मे ये बड़े धर्मात्मा प्रजापालक थे; धीरे धीरे, ऐश्वर्य के मादक मद से, निरंकुश प्रजापीड़क हो गये; जमदग्नि आदि तपस्वी ऋषियों की 'कामधेनु' अर्थात् भूमि छीनने लगे; ब्राह्मण-ऋषियों ने भी, आवश्यकता से बहुत अधिक भूमि का परिग्रह कर लिया था; जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने ब्राह्मणो, वैश्यों, और शूद्रों की सेना बना कर, घोर संग्राम करके, इन्हें मार डाला। स्यात् कार्तवीर्य के सैनिकों को मदिरा अधिक प्रिय थी; सैनिकों को तो साधारणतः मद्यपान बहुत पसन्द होता ही है; स्यात् यही कारण है कि जायसवालों को इस पौराणिक क्षत्रिय कुल से विशेष कर नाता जोड़ने का विचार हुआ। पाश्चात्य देशों मे भी; राजवंशों के, और अन्य उच्च कुलों के, लोगों की यही इच्छा रहा करती थी, कि 'हेरल्ड' (चारण) गण, उन की कुल परम्परा को' 'आदम और हौआ' तक पहुँचा देवें। मै ने एक छपा कुर्सीनामा, 'वंशवृक्ष', ,देखा है, जिस मे मनुष्य जाति के उस 'आदिम' जोड़े से, ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया, १०८ वीं पीढ़ी मे दिखाई गई थीं। परन्तु सब जायसवालों को अपने को 'हैहय क्षत्रिय' के नाम से पुकारने से, न तो हृदय का ही, न बुद्धि का ही, कोई विशेष संतोष देख पड़ता है। हां, दोनो ही का संतोष हो, यदि उन मे जो लोग महाविद्वान् पुरातत्ववेत्ता या वकील या अध्यापक आदि

'विद्योपजीवी' हैं, वे अपने को 'ब्राह्मण' पुकारें; जो जमीदार या शासन विभाग मे गवर्मेंटी अहल्कार आदि 'शासनोपजीवी' हैं, वे अपने को 'क्षत्रिय' पुकारें; जो कृषक या दूकानदार या व्यापारी ताजिर आदि 'वार्त्तोपजीवी' हैं, वे अपने को 'वैश्य' कहें; और जो लोग 'सेवोपजीवी' 'भृति-उपजीवी' हों, वे अपने को सत्-'शूद्र' कहें; तथा जो अब भी शराब बनाते हों, वे अपने को असत्-'शूद्र' समझें, ('असत्' इस कारण से कि शराब बनाना और बेचना निकृष्ट काम समझा जाता है; यद्यपि, सामाजिक जीवन के विचित्र असंगत विचारों के अनुसार, 'शराब पीना, क्षत्रियवृत्ति के लोगों के लिये भी, उचित माना जाता है)। यदि उन्हें 'जायसवाल' शब्द से विशेष प्रेम हो तो वे 'ब्राह्मण' 'क्षत्रिय' आदि के पहिले, विशेषण के रूप मे यह शब्द भी जोड़ ले सकते हैं, यथा जायसवाल ब्राह्मण, जायसवाल क्षत्रिय, आदि। पर उचित तो यह है कि वे इस नाम को ही, सद्यः नहीं तो धीरे धीरे, छोड़ दें, क्योंकि अब उस मे कुछ अर्थ नहीं रह गया है। संभव है कि आरम्भ मे इस उपजाति के पूर्वपुरुष संयुक्त-प्रान्त मे, 'जायस' नाम के उस शहर के (या उस के आसपास के प्रदेशों के) बाशिन्दे रहे हों, जो किसी समय मे बहुत प्रसिद्ध था, अब एक गांव रह गया है, और मलिक मुहम्मद 'जायसी' के 'पद्मावत' काव्य के कारण अब भी प्रसिद्ध है।

"जायस नगर धरम अस्थानू। जहाँ जाय कवि किन्ह बखानू" ॥

यही एक प्रकार है, जिस से हिन्दू-समाज, अपने जातियों और श्रेणियों का आधार, परंपरागत वर्ण के नाममात्र को न मान कर, बल्कि वास्तविक पेशे को अर्थात् जीविकोपार्जन के प्रकार को आधार बना कर, अपने को वैज्ञानिक रूप से पुनः सु-धारित, सुव्यवस्थित, सुव्यूढ़, और सुख-समृद्धि शान्ति-शाली कर सकता है।

इस स्थान पर एक व्यावहारिक प्रश्न का उत्तर देना चाहिये। बीच-बीच मे मुझ से पूछा गया है कि 'एक वर्ण की स्त्री जब दूसरे वर्ण के पुरुष से विवाह करेगी, तो विवाह के बाद उस का, तथा उस के लड़कों का, वर्ण क्या होगा ?'। सीधा और स्पष्ट उत्तर इस का वही है जो पहिले कहा गया, कि, जिस तरह वह अपना 'गोत्र' बदल कर पति के गोत्र की हो जायगी, उसी तरह वह अपना 'वर्ण' भी बदल कर पति के वर्ण की

हो जायगी, और लड़के भी पिता के ही वर्ण के होंगे, तथा व्यवहार-धर्म-सम्बन्धी कानूनी अधिकार और कर्तव्य के लिये, उसी वर्ण के माने जायंगे; जब तक वे, स्वतंत्र जीविका-कर्म (पेशा) उठा कर, अपना वर्ण-नाम स्वयं वदल न लें।

हर तरह से ऐसा मानना उचित और आवश्यक होगा। स्त्रियों की प्रतिभात्मक शीघ्रगामिनी बुद्धि, और पुरुषों की अनुमानात्मक शनैश्चरंती बुद्धि, दोनो ही इस उत्तर की समर्थक हैं। जिस तरह पाश्चात्य देशों मे 'किङ्ग' की पत्नी 'क्वीन', 'एम्परर' की 'एम्प्रेस', 'ड्यूक' की 'डचेस', इत्यादि, विवाह होनें के साथ ही हो जाती है, चाहे वह किसान, या पादरी, या सैनिक की वेटी हो; जिस तरह 'मिस कार्टर' ('छकड़ावाल') मिस्टर पोर्टर ('मोटिया') के साथ विवाह कर के तत्काल 'मिसेज पोर्टर' हो जाती है, और 'कुमारी शकटवाल' नहीं रह जाती; जिस तरह 'मिस टेलर' (दर्जी), मिसेज स्मिथ ('लोहार') हो जाती है;* उसी तरह (कम से कम संयुक्तप्रान्त मे), स्त्रियां, तहसीलदार की पत्नी को तहसीलदारिन, कोतवाल की कोतवालिन, सेठ की सेठानी, राजा की रानी, पण्डित की पण्डितानी, ठाकुर की ठकुरानी, पण्डे की पण्डाइन, डाक्टर की डाक्टरनी, सूवेदार की सूवेदारिन, रिसालदार की रिसालदारिन, जमादार की जमादारिन, हीरातराश की हीरातराशिन, चूड़ीहारे की पत्नी को चूड़ीहारिन पुकारती हैं। पुरातन धर्मव्यवस्थापक मनु ने भी यही कहा है, "यो भर्त्ता सा स्मृताङ्गना" जो पति है वही पत्नी भी है। इस प्रमाण से, जो वर्ण पुरुष का है वही वर्ण उस स्त्री का भी हो जायगा, जो उस के साथ विवाह करेगी और जिस से वह विवाह करेगा। यह ध्यान मे रखने की बात है कि 'कार्टर', 'पोर्टर', 'टेलर', 'स्मिथ' आदि, इंग्लिस्तान मे, कुलों के नाम हो गये है; जैसे यहां 'लोहार', 'माली', 'सोनार', 'कोंहार', आदि, उपजाति या उपवर्ण के, तथा, लोहारिन, मालिन, सोनारिन, कोंहारिन।

जान वूझ कर, ऊपर, उदाहरणार्थ, तहसीलदारिन आदि, ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जो ऐसे प्रसिद्ध वर्णों अथवा उपवर्णों के नाम नहीं

---

* King; Queen; Emperor; Empress; Duke; Duchess; Miss Carter; Mr. porter; Mrs. porter; Miss Taylor; Mrs. Smith.

हैं, जिन के स्त्रीवाचक और पुरुषवाचक नाम पहिले से मौजूद हैं, जैसे वैश्य वैश्या, क्षत्रिय क्षत्रिया, ब्राह्मण ब्राह्मणी। इन उदाहरणो से यह भी सूचित होता है कि कितने ही पुराने शब्द, जो अब वर्ण-उपवर्ण-सूचक हैं, आरम्भ मे जीविकासूचक, वृत्तिसूचक, 'पेशा-गो' थे। कुछ ऐसे भी हैं जो उस प्रदेश की सूचना देते हैं, जहां आरम्भ मे कोई समुदाय-विशेष बसा था, जैसे सारस्वत, कान्यकुब्ज, सरयूपारीण, चूरूवाल, ओसवाल, और कुछ, पौराणिक वंश-प्रवर्त्तक पूर्वपुरुष के सूचक हैं, जैसे रघुवंशी, यदुवंशी, सोमवंशी आदि। फरांसीसी भाषा मे स्त्री 'वैद्य' (लेडी डाक्टर) को 'डाक्ट्रेस' कहते हैं। मैं नहीं कह सकता कि वहां 'वकीलिनें' 'बारिस्ट्रेसें' भी होती हैं या नहीं, पर 'प्रासीक्यूट्रिक्स' तो मालूम हुआ है कि होती हैं।* जो कुछ हो, सच्ची पुरानी भारती परम्परा यही जान पड़ती है, कि जिस पुरुष से स्त्री विवाह करे, उस का वर्ण भी उसी तरह से उठा ले, जिस तरह से गोत्र ले लेती है।

पुरातन परिपाटी का पुनरुद्धार

इस विधान से कोई नया तरीका चलाने का प्रयत्न नहीं होता। उस परिपाटी का पुनरुद्धार ही होता है जो सातवीं शती ई० के पहिले इस देश मे वास्तव मे जारी थी, जब भारतीय जानता का जीवन अधिक सुखी, सप्राण, सबल, स्वाधीन, स्वराज्यवान् था।

ऐसी पुरानी परिपाटी की तरफ फिर घूमना स्वाभाविक है। यह आवर्तन, सांसारिक प्रकृति के सभी अंगों मे, चारो ओर देख पड़ता है। 'नये' प्रकार जिन से परमात्मा अपनी प्रकृति रूपिणी वासना को पूरी करता रहता है, वे वास्तव मे और भी पुराने प्रकार हैं जिन पर घूम घूम कर वह वापस आता रहता है। हां, युगों के आवर्त्तन मे पुराने प्रकार जब पुनर्वार आते हैं, तो अपना रूप कुछ थोड़ा नया कर लेते हैं, कुछ उत्कृष्ट अवस्था मे देख पड़ते हैं। हर प्रश्न के दो पहलू (पक्ष) और केवल दो ही पहलू होते हैं; मनुष्य समाज सदा एक 'अति' की कोटि से दूसरी 'अति' की कोटि तक, आगे-पीछे, लगातार चलता रहता है, ("उभयकोटिस्पर्शिनी प्रकृतिः, अमध्यस्था") लेकिन हर चक्कर मे कुछ आगे

* Lady doctor, Doctress; Barristress; prosecutrix.

बढ़ता है; पृथिवी देवी इस नियम की प्रत्यक्ष उदाहरण हैं, चक्कर खाती लुड़कती भी हैं और आगे भी बढ़ती जाती हैं; दौड़ते चलते हुए सभी गेंदों, गोलों की यही हालत है। इस 'द्वंद्वमयी' अवस्था को अंग्रेजी मे 'एम्बी-वालेन्स' कहने लगे हैं। 'डयूआ-लिटी', 'पोलारिटी', भी कहते हैं।* प्रकृति मे स्थिरता, मध्य-स्थता, किसी बीच के स्थान पर चिर काल तक ठहरना, नहीं होता। वह सदा एक तरफ की अति से दूसरी तरफ की अति की ओर दौड़ती रहती है। किन्तु ("पुरुषः मध्यस्थः") पुरुष का काम है कि बीच का रास्ता पकड़े, 'अति' बचावे; इस दोहरी खींचातानी का ही फल 'आवर्त', संसार—'चक्र' होता है। भवसागर के मंथन मे, 'वासुकि' (वासु, प्राण,) की रस्सी से लपेट कर, 'मन्दर' (स्वतः 'मन्द' निश्चेष्ट) पर्वत को, एक ओर देव पक्ष (शुभवासना) दूसरी ओर दैत्य पक्ष 'अशुभ वासना', जब खींचता है, तब 'मन्दर' मे और 'सागर' मे 'भ्रम', 'भ्रमि, चक्र, उत्पन्न होते हैं, और विष भी और अमृत भी निकलता है।

'नया' आविष्कार करने वाले लोग यह समझते हैं कि हम सचमुच 'नया' उपज्ञान कर रहे हैं, 'नया' प्रकार निकाल रहे हैं, 'नये' मार्ग पर चल रहे हैं, जिसे किसी ने पहिले नहीं जाना था। दूसरे लोग, पुरातन-वादी अपरिवर्ती की हैसियत से, और इतिहास के पूर्वापर को, आगे पीछे को, दूरदर्शिता बहुदर्शिता से ग्रहण न कर के, ऐसे नये मार्ग को वास्तव मे नया समझ कर, उस का जोर से विरोध करते हैं। पर इति-हास यह बतलाता है कि नयी पीढ़ियां, नयी जातियां, नये समाज, नयी सभ्यताएं उन्हीं रास्तों से गुजरती हैं जिन से पुराने जा चुके हैं। हाँ, बाहरी नाम, रूप, भाषा आदि मे अवश्य अन्तर होता रहता है, पर मूल-भूत द्वन्द्वमयी वासना, प्रेरक-हेतु, प्रयोजन, राग-द्वेष, स्वार्थ-परार्थ, विचार के प्रकार, आवश्यकताएं (आहार की, वित्त की, घर-द्वार दारा सुत की) एषणा-आकांक्षा, सब भीतर भीतर, सदा वही होती हैं।

पेड़ अपने पत्तों को झाड़ देते हैं, कोई अपनी छाल भी गिरा देते

---

* Ambivalence, duality, polarity.

हैं, नये पत्ते और छाल पैदा करते हैं, जो भी काल पा कर क्रमशः पुरानो की तरह फिर हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के जन्तु भी अपने चमड़े, सीप, सींघ, पर, आदि, प्रतिवर्ष गिरा देते हैं और नये उत्पन्न करते हैं, जो पुरानों की ही तरह, आगे चल कर, हो जाते हैं। यदि बड़े परिमाण से, विस्तारग्राही नेत्रों से, स्फार-दृष्टि से, इतिहास देखा जाय, तो मनुष्यों मे भी आचार विचारों, रीति रस्मों, की यही गति देख पड़ती है।

दोनो का समन्वय कैसे हो

मनुष्य जीवन के सब अंगों मे सदा एक ही समस्या रहती है। स्वार्थ, परार्थ; एक व्यक्ति की इच्छा, अन्य सब की आवश्यकताएं, जरूरतें; अराजकता, और निरंकुश एक-राजकता; प्रत्येक व्यक्ति अपने मन-माना करे, सब व्यक्ति एक व्यक्ति के गुलाम हो जायं; ऐसे विरोधी विचारों का समन्वय कैसे किया जाय ?। स्त्री पुरुष की परस्पर कामना और विवाह के संबंध मे, विगत तीस-चालीस वर्षों मे, पाश्चात्य देशों मे, इतने छोटे लेख और बड़े ग्रंथ निकले हैं, कि ऐसा प्रतीत होता है कि कोई भारी आमूल उलट-पलट हो रही है। पर ध्यान से देखने से स्पष्ट मालूम हो जाता है, कि इस सब अनंत लिखाई मे, एक ही प्रश्न के दो परस्पर विरोधी उत्तरों मे से, एक का या दूसरे का प्रतिपादन किया जा रहा है; वह एकमात्र प्रश्न यह है, (१) एक तरफ स्वार्थी शारीरिक काम-वासना, अनियंत्रित स्वच्छंदता, यथेच्छाचार, इन्द्रिय-लौल्य, परिवर्तनशील राजस तामस आसक्तियां और विरक्तियां; और (२) दूसरी तरफ परार्थी, परोपकारी, स्थायी, सात्विक, पति-पत्नी-प्रीति के भाव, जिन के विना 'गृह' 'कुल', 'कुटुम्ब' आदि शब्द अर्थ-शून्य हो जाते हैं, और नयी पुश्त का पालन-पोषण असम्भव हो जाता है, और समाज मे से स्थिरता, बद्धमूलता, प्रति-ष्ठा (प्रकर्षेण स्थानं), व्यव-स्था (विधिपूर्वक स्थिति, विशिष्ट उत्तम रीति से स्थिति) सब लुप्त हो जाती हैं—इन दो विरुद्ध, मानव-प्रकृति मे विद्यमान, अशुभ और शुभ वासनाओं का समन्वय कैसे किया जाय; किस प्रकार से, स्वार्थपूर्ण आनन्द का, और कर्तव्य-परायणता पर आश्रित परार्थ-पूर्ण सन्तान-पालन का, समन्वय हो; किस प्रकार से दम्पति-रति का और संतति-प्रीति का अ-विरोध हो ?। एक समुदाय, स्वार्थ-वासनाओं की तृप्ति पर ही बल देता है; दूसरा परार्थ-वासनाओं की ही पूर्ति पर।

अभीष्ट मध्यम मार्ग

दूरदर्शिता, बुद्धिमानी, राष्ट्र-नायकत्व-योग्यता, राजशास्त्रज्ञता, इसी मे है, कि वैयक्तिक जीवन के, तथा सामाजिक, सामूहिक, राष्ट्रीय जीवन के, सभी अंगों की क्रियाओं को, बीच के रास्ते पर रक्खा जाय, और दोनो ओर से 'अति-कोटि' बचाई जाय; यदि घड़ी का लंगर, दोला (झलुआ), एक ओर बहुत ज्यादा दौड़ जाय, तो सारा यन्त्र उलट पड़े और टूट जाय। याद रखना चाहिये कि, सामाजिक राष्ट्रीय जीवन के सभी अंगों का हृदय-स्थानीय, केन्द्रभूत, गार्हस्थ्य ही है। सब 'गृह' सम्पन्न हों, सब 'गृहस्थ' सब कुटुम्ब, सुखी हों, यही समग्र राष्ट्रप्रबन्ध का एकमात्र लक्ष्य है। प्रजा के हित के लिये, प्रजा को सुखी रखने के लिये, राजा बनाया जाता है, अपने मन-माना ऐश आराम करने के लिये नहीं; राजा के ऐश के लिये प्रजा नहीं बनाई जाती है। हिताय राजा क्रियते, न काम करणाय तु। (म० भा०)

पाश्चात्य देशों मे विवाह की प्रथा का अद्भुत परिवर्त्तन हो रहा है। काम-विषयक, मिथुनता-विषयक 'सेक्सुअल', स्त्री-पुरुष-आचारविषयक मर्य्यादा-विषयक 'मारल', विचारों मे विप्लव, परिवर्त्तन, अधरोत्तर, 'रिवोल्युशन' हो रहा है। इस के साथ साथ, समाज की अन्य चिर-कालीन संस्थाओं और प्रथाओं मे भी परिवर्त्तन हो रहे हैं। जो संस्था और प्रथा 'इंस्टिटयूशन्स', समाज की स्तम्भ और आधार मानी जाती थीं, और जिन का इस विवाह-सम्बन्धी 'डोमेस्टिक', 'फैमिली', गार्हस्थ्य-सम्बन्धी* विचारों के परिवर्त्तन से सम्बन्ध, कारण और कार्य के रूप से, है, अर्थात् 'ईकोनोमिक', आर्थिक, व्यावसायिक, 'पोलिटिकल', राजनीतिक, 'रिलिजस' धार्मिक, और 'एडुकेशनल', आध्यापनिक, सभी प्रथाओं मे परिवर्त्तन हो रहा है। राजनीति की जड़, आर्थिक है; अर्थनीति की जड़ गृहस्थी और मानव शील-स्वभाव है; गार्हस्थ्य नीति की और मानव शील और प्रवृत्ति की एक बड़ी जड़, शिक्षा है। सदा से परस्पर के विरोधी एतत्संबंधी अतिवादी विचारों के गुण दोष, छपी हुई अनन्त पुस्तकों मे पेश किये जा रहे हैं; बड़े परिश्रम से नए-नए शब्द और वाक्य गढ़े जा

---

* Sexual; moral; revolution; institutions; domestic; family; Economic; political; religious; educational.

रहे हैं, नये नये 'दृष्टिकोण' और 'प्रस्थान' खोजे और बनाये जा रहे हैं, बड़े आटोप और आडम्बर वाले और कोई कोई सुन्दर भी, ग्रन्थ और लेख और व्याख्यान निकलते चले आ रहे हैं; पर जड़-मूल मे जो विचार-भेद का द्वन्द्व है, वह वैसे का वैसा ही रह जाता है। यह सब वाग्जाल उसी बहुरूपिये द्वन्द्व के अनन्त वेशों का फैलाव है।

सोवियट रूस भी, जिस ने इतिहास की सब से बड़ी 'क्रान्ति' ('विप्लव', पर्याप्लाव) किया है, जिस ने इतना घोर कष्ट और रक्तपात सहा है, वह भी बीस वर्षों के साहसपूर्ण प्रयोगों, 'योग्याओं', आज्मा-इशों, 'एक्सपेरिमेंट्स', के बाद, निर्भयता और 'सत्यवीरता' से अपनी भूलों को भी स्वीकार करता हुआ, फिर (जैसा यात्रियों के वर्णनो से मालूम हो रहा है) कुछ पुराने रास्ते पर वापस आ रहा है। 'साम्य' के आग्रह को छोड़ कर, व्यक्तिगत कम-वेश ('विषम') सम्पत्ति, परिग्रह ('प्रापर्टी') को मानने लगा है; पर इस का उचित नियमन कर रहा है, जिसमे 'कम' और 'वेश' मे बहुत अधिक 'अति' अन्तर न होने पावे। तथा धार्मिक विचारों की तरफ अब सहिष्णुता, सम्मर्षण, रवादारी, ('टालरेन्स'), दिखा रहा है, पर पुरोहितशाही ('प्रीस्ट-क्राफ्ट') का अनन्याधिकार नहीं होने देता। तथा पति-पत्नी के संबंध को स्थायी बनाने की व्यवस्था कर रहा है, लेकिन एक का दूसरे को गुलाम नहीं बनने देता।*

भारत मे अन्तर्वर्णविवाह को रुकावट की कड़ाई, 'अति' को पहुँच गयी है; इस हेतु से, शिक्षित, प्रभावशाली, कार्यपरायण समुदायों मे, इस के विरुद्ध, विद्रोह-सा हो रहा है। यदि यह विद्रोह, बुद्धिसंमत और शिष्ट प्रकारों से, शान्त नहीं किया जायगा, और, समय से, उपयुक्त अनु-मतियाँ, रियायतें, न दी और की जांयगी, तो हिन्दू समाज मे घोर उत्पात मचने का, और समाज के नष्ट हो जाने का, भय है। "रसरी उतनिहि तानिये, जो नहिं जावै टूट"। शिक्षा, देशाटन, और जीविका की आवश्य-कताओं के दवाव से, अंतर्वर्ण विवाह बढ़ रहे हैं; बहुत लोग, बहुत दिनो के लिये, अपने घरों से दूर-दूर प्रदेशों मे चले जाते हैं; विवाहित स्त्री-पुरुष, अपने रिश्तादारों से, और उन सब लोगों से जिन से साधारणतः उन का संवंध था, कट जाते हैं; यदि कोई कारगर तरीके नहीं निकाले

* Experiments; property; tolerance; priestcraft.

जाते, जैसा कि यह विधान निकालने का यत्न कर रहा है, जिस से वे सब लोग सामाजिक व्यूहन मे अपना उपयुक्त स्थान बनाये रह सकें, तब, अवश्य ही, उन के कारण, समाज-शरीर मे ऐसे दुष्परिणाम उत्पन्न होंगे, जैसे रोगी, दुर्बल, और जर्जर व्यक्ति के शरीर में पैदा हो जाते हैं, जब उस मे कोई बाहरी, प्रतिकूल, असात्म्य, अजरणीय, अपचनीय, पदार्थ प्रवेश कर के रह जाय, और निकाल कर दूर न किया जा सके। ऐसे अजीर्ण भी, और अनुद्गीर्ण भी, द्रव्य, शरीर मे बड़े उपद्रव उत्पन्न करते हैं। इस लिये उचित है, आवश्यक है, कि इन का स्नेहन कर के, इन को सात्म्य बना के, इन का, समाज-शरीर मे परिणमन, जरण, पाचन, मिश्रण, आत्मसात्करण, कर लिया जाय; क्योंकि अब जो उद्गिरण, 'जात्-बाहर', हो रहा है, उस से समाज क्षीण होता जा रहा है; और सर्वथा उद्गिरण कर देना असम्भव भी है।

भारतवर्ष के प्राचीन, किम्वा 'सनातन,' धर्म का, हृदय कहिये, मर्म कहिये, प्राण कहिये, मूल कहिये, अध्यात्मशास्त्रानुसारी 'वर्णाश्रम-धर्म' है। इस लिये उस वर्ण-धर्म के तत्त्व पर, उस का सच्चा रूप निश्चित करने के लिये, जितना भी विचार किया जाय, उचित है। लोग, 'शास्त्रों' के, 'आप्तों' के, ब्रह्म तत्त्व तक 'प्राप्तों' के, वाक्यों का, प्रमाण चाहते हैं। चाहना उचित है। वृद्धों से, श्रद्धित ज्ञानियों अनुभवियों से, उपदेश लिये बिना नई पुश्त पनप नहीं सकती, ठीक रास्ते से भटकती रहेगी, बहुत ठोकर खा कर तब फिर सीधे रास्ते को पावेगी और पहिचानेगी। इस के विपरीत, यदि वृद्धों की उचित शुश्रूषा करेगी, तो बहुत भटकने से बच जायगी। पर, साथ ही इस सब के, यह भी सदा याद रखने की बात है कि, "श्रुतिद्वैधे यथेष्टम्"; जब दो श्रुतियां, दो वेद-वाक्य, दो आप्त-वाक्य, परस्पर विरुद्ध हों, जब दो वृद्धों की राय न मिले, "नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं, "स्मृतयो विभिन्ना.", जब दो शास्त्रों मे, दो शास्त्रियों मे, विवाद हो, तो फिर सुनने वाले को चारा नहीं, सिवा इस के कि अपनी बुद्धि पर भरोसा करे, या "महाजनो येन गतः स पन्थाः", जिस रास्ते से अन्तरात्मा की प्रेरणा से, महा-जनता, अधिकांश जनता, चल पड़े, उसी रास्ते पर आप भी चले। 'महाजन' शब्द का अर्थ जन-समूह, जनता, है, 'बड़ा आदमी' नहीं—यह, 'मानव-धर्म-सार' मे, 'शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद

मे', तथा 'समन्वय' मे, बहुत से पुराने संस्कृत ग्रन्थों के उद्धरणो से मैं ने सिद्ध किया है। अन्ततो गत्वा, लोक-मत को ही ईश्वर-प्रेरित मानना पड़ता है। ' यही एक आदमी सब से अधिक मानने योग्य है, महर्षि है, अवतार है'—यह भी 'लोक-मत' से ही सिद्ध होता है।

वासना वासुदेवस्य, वासितं सकलं जगत्।

ऊपर बहुत वार कहा जा चुका है कि 'जन्मना वर्णः', 'कर्मणा वर्णः', यह दोनो पक्ष पुराणेतिहास मे मिलते हैं, इन की मीमांसा भी की है, और अन्ततो गत्वा 'कम' ही बलीयान् कहा गया है।

कुछ पुराने वाक्यों का संग्रह यहाँ पर कर दिया जाता है। सुनने पढ़ने वाले सज्जन स्वयं इन पर विचार कर लें।*

ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त का बहुत प्रसिद्ध मन्त्र है,

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्, बाहू राजन्यः कृतः,
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।

इस सनातन पुरुष का मुख (स्थानीय) ब्राह्मण हुआ, इस के बाहु (के स्थान मे) राजन्य क्षत्रिय किया गया, जो वैश्य है वह इस का ऊरु हुआ, तथा पांवों के लिये शूद्र उत्पन्न हुआ।†

---

* 'मानव-धर्म-सारः' नाम के अपने संस्कृत पद्यमय ग्रन्थ मे, बहुतेरे अन्य उदाहरण भी, पुराणो से, मैं ने उद्धृत कर दिया है; यह ग्रन्थ, १९४० ई० मे छपा; इस के पश्चात्, श्री इंदिरा रमण शास्त्री ने "मानव आर्ष भाष्यं" नामक अपने ग्रन्थ मे, इस विषय पर, बहुत विस्तार से, बहुत से प्राचीन उदाहरणो और प्रमाण वाक्यों का संग्रह किया; इस ग्रंथ का पहिला खंड १९४२ ई० मे छपा। 'मानव-धर्म-सारः' का दूसरा संस्करण, बहुत उपबृंहित, १९४४ मे छप गया।

† "पद्भ्यां" को पंचमी विभक्ति मान कर, इस का अर्थ 'पैरों से' शूद्र पैदा हुआ, यही प्रायः समझा जाता है। एक घूमते-फिरते वृद्ध संन्यासी से मुझे शिक्षा मिली, कि 'पद्भ्यां' चतुर्थी है, 'पैरों के लिये', विराट् पुरुष के शरीर मे पैरों के स्थान के लिये, पैर बनने या पैर होने के लिए, शूद्र हुआ। जैसे, ब्राह्मण मुख से पैदा हुआ नहीं, मुख हुआ; क्षत्रिय

अब, यदि इस वेद मंत्र का अक्षरार्थ ही लिया जाय, तब चारो वर्णो, का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसे सिर, बांह, जांघ अथवा धड़, और पैर का। 'अथवा धड़' इस वास्ते कि भीष्मस्तवराज मे ऐसा ही कहा है, "कृत्समूरूदरं विशः"। जब इन मे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, जो भाई-के सम्बन्ध से कहीं अधिक नजदीकी है, तब इन के बीच 'छुओ मत', 'खाओ मत', 'ब्याहो मत' का दुराव वराव कैसा ?

पर यदि ऐसा अक्षरार्थ न किया जाय, और स्पष्ट ही न करना चाहिये, क्योंकि रूपकमात्र है, तब भी यह विचारने की बात है कि, जहां तक मैं ने देखा, पूछा, सुना, यह नहीं जान पड़ा कि वेद मे कहीं भी यह कहा है कि चारो वर्ण एक दूसरे को छूवें नहीं, साथ खायं नहीं, साथ विवाह न करें। ऐसी स्पष्ट मनाई वेद मे देखी सुनी नहीं गयी। प्रत्युत, मनु सन्तान के लिए वेद मे यह आज्ञा है।

समानी प्रपा, सह वो अन्नभागः,
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि,
सं गच्छध्वम्, सं वदध्वम्,
स वो मनांसि जानताम्। इत्यादि।

साथ पीयो, साथ खाओ, साथ अन्न मे भाग लो, समाज कार्य मे (समाज-व्यूहन के कार्य मे) तुम सब साथ लगाये जाते हो। साथ चलो, सम्वाद से बोलो, (विवाद से नहीं), मन एक दूसरे से मिलाओ। पौरा-णिक रूपक मे ब्रह्मा के चार पुत्र, 'अग्रजन्मा', 'अनुजन्मा', चारों वर्ण माने जायं, तो भी सगे भाई होते हैं।

पुराणो और स्मृतियों मे बहुशः कहा है कि आदि काल मे, सत्ययुग मे, वर्ण-व्यवस्था नहीं थी, त्रेता मे आरम्भ हुई।

अप्रवृत्तिः कृतयुगे कर्मणोः पुण्यपापयोः;
वर्णाश्रम-व्यवस्थाश्च न तदाऽऽसन् न संकरः।

भुजा बनाया गया, भुजा से पैदा हुआ नहीं; वैश्य जांघ था, जांघ से पैदा नहीं हुआ; एवं, पैर का स्थान शूद्र ने लिया, पैर से पैदा नहीं हुआ।

त्रेतायुगे तु अविकलः कर्मारम्भः प्रसिध्यतिः
वर्णानां प्रविभागाश्च त्रेतायां तु प्रकीर्तिताः ।

(वायु पुराण, ८,३३,४९,५७ आदि अध्यायों मे)

इसी अर्थ के श्लोक भागवत मे, विष्णु पुराण मे, मार्कण्डेय पुराण मे, महाभारत मे, रामायण मे, भी मिलते हैं

एक ही एक वंश से, पुनः-पुनः, चारों वर्णो के मनुष्य निकलते रहे। इस के उदाहरण ये हैं।

एते त्वंगिरसः पुत्राः जाताः वंशेऽथ भार्गवे,
ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्च, भरतर्षभ !
सम्बन्धो ह्यस्य वंशेऽस्मिन् ब्रह्मक्षत्रस्य विश्रुतः!
दिवोदासश्च राजर्षिः, अहल्या च यशस्विनी + +
दिवोदासस्य दायादो ब्रह्मर्षिर्मित्रयुर्नृपः (हरिवंश, अ० ३२)।
प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायंभुवस्य यः,
तस्याग्नीध्रस् , ततो नाभिः, ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः;
तमाहुर्वासुदेवांशं, मोक्षधर्मविवक्षया
अवतीर्णः सुतशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम् ।
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो, नारायण-परायणः,
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतम् अद्भुतम् ;
तेषां नव नवद्वीपपतयोऽस्य समन्ततः;
कर्मतन्त्र-प्रणेतारः एकाशीतिर्द्विजातयः ।

यवीयांसः एकाशीतिः महाश्रोत्रियाः कर्मविशुद्धाः ब्राह्मणाः बभूवुः ।

(भा० स्क० ११ अ० २ ; स्क० ५ अ० ४)

धृष्टाद्धार्ष्टमभूत् क्षत्रं ब्रह्मभूयं गतं क्षितौ ;
ततो ब्रह्मकुलं जातं आग्निवेश्यायनं, नृप !;
नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यो कर्मणा वैश्यतां गतः । (भा० स्क० ९ अ० २)
शर्यातिर्मानवो राजा ब्रह्मिष्ठः स बभूव ह,
यो वा अङ्गिरसां सत्रे द्वितीयमह ऊचिवान् । (भा० स्क० ९ अ० ३)
गर्गात् शिनिः, ततो गार्ग्यः, क्षत्राद् ब्रह्म ह्यवर्त्तत ।
दुरितक्षयो महावीर्यात् ; तस्य त्रय्यारुणिः, कविः
पुष्करारुणिरत्यत्र ये ब्राह्मणगतिं गताः ।

भर्य्याश्वस् तनयाः तस्य पंचऽासन् मुद्गलादयः;
मुद्गलाद् ब्रह्म निर्वृत्तं गोत्रं मौद्गल्य-संज्ञितम् ।
मिथुनं मुद्गलाद् भार्य्याद्, दिवोदासः पुमानभूत्,
अहल्या कन्यका, यस्यां शतानन्दस्तु गौतमात् (भा० स्क० ९ अ० २१)।

ययाति क्षत्रिय का विवाह, शुक्राचार्य दैत्य ब्रह्मर्षि की बेटी देवयानी से हुआ, यह प्रसिद्ध है। उन्हीं के सब से बड़े बेटे यदु के वंश मे कृष्णावतार हुआ। ब्रह्मर्षि कर्दम की पुत्री काम्या (विष्णु पुराण मे नाम 'कन्या' लिखा है) राजा प्रियव्रत क्षत्रिय को व्याही गयी।

काम्या प्रियव्रताल्लेभे स्वायंभुवसमान् सुतान्
दश, कन्याद्वयं चैव, यैः क्षत्रं सम्प्रवर्तितं ।
रजसो (ब्रह्मर्षेः) चाप्यजनयन् मार्कण्डेयी यशस्विनी,
प्रतीच्यां दिशि राजन्यं(क्षत्रियं) केतुमंतं प्रजापतिम् । (वायु पु० अ० २८)
वैश्ययोन्यां समुत्पन्नाः, शुद्रयोन्यां तथैव च,
ब्रह्मर्षय इति प्रोक्ताः पुराणाः द्विजसत्तमाः ।
लोकोऽनुमन्यते चैतान्, प्रमाणं ह्यत्र वै तपः ।
कपिंजलादो ब्रह्मर्षिः चांडाल्याम् उदपद्यत ।
अदृश्यन्त्याः पिता वैश्यो नाम्ना चित्रमुखः, पुरा,
ब्राह्मणत्वमनुप्राप्तो, ब्रह्मर्षित्वं च कौरव !;
वैश्यश्चित्रमुखः कन्यां, वसिष्ठ-तनयस्य वै,
शुभां प्रादात्, ततो जातो ब्रह्मर्षिस्तु पराशरः ।
तथैव दाशकन्यायां सत्यवत्यां महानृषिः,
पराशरात्प्रसूतश्च, व्यासो योगमयो मुनिः । (म० भा० अनु० अ० ५३)
वीतहव्यश्च नृपतिः, श्रुतो मे, विप्रतां गतः,
भृगोर्वचनमात्रेण; स च ब्रह्मर्षितां गतः,
वीतहव्यो महाराजो, ब्रह्मवादित्वमेव च । (म० भा० अनु० अ० ८)
शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणान् उपतिष्ठतः,
वैश्यत्वं भवति ब्रह्मन्, क्षत्रियत्वं तथैव च,
आर्जवे वर्त्तमानस्य ब्राह्मण्यम् अभिजायते । × ×
ब्राह्मणः, पतनीयेषु वर्त्तमानो विकर्मसु,
दाम्भिको दुष्कृतप्रायः शूद्रेण सदृशो भवेत् ।

यस्तु शूद्रो, दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः,
तं ब्राह्मणम् अहं मन्ये; वृत्तेन हि भवेद् द्विजः ।
(म० भा० वन, अ० २१६-२१९, धर्मव्याधकथा)।

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते । (अत्रि स्मृति)
शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते ।
शूद्रो ब्राह्मणताम् एति, ब्राह्मणश्च एति शूद्रताम्,
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्, वैश्यात् तथैव च । (मनु०)

अनुलोम अन्तर्वर्ण विवाह की तो विस्पष्ट अनुमति मन्वादि स्मृतियों मे दी है, बल्कि ऐसे विवाहों के लिये विशेष विधि और कर्मकांड भी बताया है, और यह भी कहा है कि जो गुण भर्त्ता का होता है वैसा ही गुण भार्या का भी हो जाता है। क्षत्रिय पति और ब्राह्मणी भार्या से उत्पन्न 'सूत', द्विज ही माना जाता था, और उस से, क्षत्रिय राजा, विवाह सम्बन्ध भी करते थे, यह भी कहा है। यदि शास्त्र पर आस्था है, तो इधर सैकड़ों वर्ष से अनुलोम अन्तर्वर्ण विवाह भी भारतवर्ष मे क्यों बन्द रक्खे हैं, और 'सूत' का आदर क्यों नहीं होता ?

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य, सा च स्वा च विशः स्मृते;
ते च स्वा चैव राज्ञश्च, ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः । ×
असवर्णासु अयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि । × ×
यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत, यथाविधि;
तादृग्गुणा सा भवति, समुद्रेणेव निम्नगा ।
अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा,
शारंगी मन्दपालेन, जगामाभ्यर्हणीयतां (मनु) ।
ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जातः, स सूतः इति कथ्यते;
प्रतिलोमजवर्णानां स हि एवैको द्विजः स्मृतः;
सूतैश्च सह सम्बन्धः पूर्वं नृपतिभिः कृतः । (म० भा० विराट० कीचकाख्यान)

ये वाक्य निदर्शनमात्र, नमूने के लिये, लिखे गये। पुराणइतिहास मे ऐसे और भी बहुत हैं। अर्थ भी इन का स्पष्ट है, इस लिये हिंदी मे अनुवाद दुहरा कर विस्तार नहीं बढ़ाया जाता; विशेष कर इस लिये भी कि 'शास्त्र' के प्रमाणो को जो मागते हैं वे विद्वान् सज्जन प्रायः संस्कृत से सुपरिचित होते हैं।

आदिकाल मे 'कर्मणा वर्णः' पर ज्यादा जोर था। धीरे-धीरे 'जन्मनावर्णः' पर ज्यादा जोर होने लगा। पर जब जब लोग अपना-अपना स्वभावोचित धर्म-कर्म छोड़ देते थे, अधिकार छीनते थे, कर्तव्य से भागते थे, और सच्चा वर्ण-संकर, अर्थात् जीविका-संकर, वृत्ति-संकर, होता था, तब तब, पुनर्वार, प्रतापी पुरुषों को, अवतारों को, 'धर्मसंस्थापन', 'वर्ण-व्यवस्थापन', करना पड़ता था। भविष्य पुराण मे कथा कही हैं कि कण्व ऋषि ने 'मिश्र', 'इजिप्ट', देश मे, जहां वर्णव्यवस्था नहीं थी, नयी वर्ण व्यवस्था कायम की। यह कथा भी प्रायः सभी पुराणो मे संक्षेप या विस्तार से कही है कि, जब कलियुग मे, आगे चल कर, इतना वर्णसंकर हो जायगा कि सब 'एक वर्णम् अभूत् सर्वं', सब एक वर्ण हो जायगा, तब फिर से कल्कि अवतार वर्ण-व्यवस्था का स्थापन करेंगे, अर्थात् उस समय के मनुष्यों मे जो मनुष्य जिस योग्य होगा उस को उस 'वर्ण' का नाम देंगे। नये स्त्री-पुरुषों की सृष्टि करेंगे, ऐसा नहीं कहा गया है।

निष्कर्ष यह है कि, उपन्यस्त विधान किसी प्रकार से भी वर्णव्यवस्था का विरोध नहीं करता, प्रत्युत स्वभाव-गुण-(जीविका)-कर्म के अनुसार सच्ची वर्ण-व्यवस्था का ही समर्थक है। यह विधान स्वप्न मे भी यह नहीं चाहता कि उत्कृष्ट का निकृष्ट से विवाह हो, बल्कि यही चाहता है कि उत्कृष्ट का उत्कृष्ट से, समान का समान से, विवाह हो। और सर्वोपरि यह चाहता है कि 'जात बाहर' कर देने की प्रथा मिटे, जो हिन्दू 'समाज' को हिन्दू 'प्रतीपाज' 'विषमाज' बना रही है, (समं अजंति जनाः यस्मिन् स 'समाजः', जिस मे सब लोग साथ साथ मिल के चलें वह 'समाज'; 'परस्परस्य प्रतीपं विषमं विरुद्धं अजंति यस्मिन् सः 'प्रतीपाजः', 'विषमाजः', जिस मे सब लोग एक दूसरे के विरुद्ध चलें वह 'प्रतीपाज', 'विषमाज'), और जिस ने उस समाज को इतना क्षीण कर दिया है कि, इधर बारह सौ वर्ष मे जहां सौ फी सदी हिंदू बसते थे, वहां आज पैंसठ फी सदी रह गये हैं, रोज रोज और भी कम होते जाते हैं, और परस्पर भेद-भाव के कारण इतने अकर्मण्य निर्वीर्य भीरु हो गए हैं कि जिस का जी चाहता है इन को ठोकर लगा देता है।

यदि सच्ची वर्ण-व्यवस्था पुनर्वार स्थापित हो जाय, जिस सच्ची वर्ण व्यवस्था का इस उपन्यस्त विधान से सूत्रपात होता है, तो यह सब बात अति शीघ्र बदल जाय, समग्र समाज मे, सुसंहताश्चापि, न भिन्नवृत्तयः',

'संघशक्ति' नाम की 'दुर्गा देवी' का नवावतार हो, और सब अभीष्टों की सिद्धि हो।

पुनर्वार सज्जनो को याद दिलाता हूँ कि यह उपक्षिप्त उपन्यस्त विधान किसी को भी अपने जन्मवर्ण के बाहर विवाह करने को विवश नहीं करता। केवल यही कहता है कि यदि कोई पुरुष ऐसा विवाह कर ले, तो उस को, डिंडिम कर के, 'जात बाहर' मत करो, और उस की पत्नी का वही वर्ण समझो जो उस पुरुष का है।

हिन्दुत्व के आधुनिक बाह्य लक्षण

'जातिप्रथा' के असली और दिखाऊ अर्थ पर, उस के कृत्रिम, मिथ्या, बाहरी जाहिरी लक्षणो के, और उस के सच्चे, तात्त्विक, मौलिक लक्षणो के, बारे मे, उस के वैज्ञानिक, शास्त्रीय, और अ-वैज्ञानिक, अ-शास्त्रीय, रूप के सम्बन्ध मे, कुछ कहना आवश्यक है, जिस से इस उपेक्षित विधान के आभ्यन्तर मार्मिक लक्ष्य पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा।

इधर कई शतियों, शताब्दियों, से 'हिन्दू' कहलाने वाले समाज का सब से अधिक व्यक्त रूप यह रहा है, कि वह परस्पर भेद भरी जातियों और उपजातियों का एक ढेर है, जिन की संख्या अभी तक बढ़ती ही जा रही है। सन् १९०१ ई० की मर्दुमशुमारी मे २३७८ जातियों और उपजातियों का उल्लेख किया गया है। १९३१ की गणनी की रिपोर्ट मे संख्या 'दो से तीन हजार तक' लिखी गयी है और उस समाज के धर्म का, जो धर्म अब 'हिन्दुत्व' कहलाता है, सब से ज्यादा खास निशान, सब से अधिक प्रसिद्ध लक्षण, यह है कि, जातियाँ, और (कुछ अपवादों को छोड़ कर) उपजातियां, आपस मे रोटी-बेटी का व्यवहार न करें, और जो मनुष्य करें, वे जाति से निकाल दिये जाँय, जातिच्युत हों, और बहुत सी सामाजिक सुविधाओं और कानूनी हकों से हाथ धो बैठें।

अन्य समाजों से तुलना

बाहरी देखने वालों को यह सामाजिक प्रबन्ध, बल्कि प्रबन्ध का अभाव, यह रूढ़ि, बल्कि परस्पर विरोधी रूढ़ियों का ढेर, बिलकुल अबोध्य अर्थरहित पहेली और अचम्भा जान पड़ता है। ठीक ऐसी प्रथा अन्य किसी देश मे नहीं मिलती; यद्यपि जैसे सर्वथा नीरोग मनुष्य नहीं मिलता,

वैसे ही कोई समाज भी ऐसा नहीं है जिस मे कोई विशेष रोग का दोष न हो। मुसलमानी समाज मे आपस मे झगड़ने वाले कोड़ियों फिरके हैं। ईसाई धर्म मे सैकड़ों। १९११ ई० के बड़े राष्ट्रविप्लव (रिवोल्यूशन) तक, चीन देश अपनी स्त्रियों के पैर छोटे रखने के लिये, नितान्त निर्बुद्धि और निर्दय क्रूरता से, बचपन मे ही, कपड़े के वेष्टनो से, या लकड़ी लोहे के जूते मे, कस दिया करता था, कि बढ़ने न पावें। ब्रिटेन मे भी, सन् १८८४ ईस्वी तक भी, पत्नियों की खरीद बिक्री होती रहती थी। उस साल, स्त्रियों के, प्रति स्त्री २० गिन्नी से ले कर आधा पियाला शराब पर, वेचे जाने के बीस उदाहरण, नाम सहित, लिखे पाये जाते हैं। १९ वीं सदी के प्रारम्भ तक, ब्रिटने मे, कहीं-कहीं, देहात मे, गले मे डोरी बाँध कर, स्त्रियां, हाट मे वेचने के लिये, लायी जाती थीं, यह साबित करने को कि वे पशुओं की भाँति अपने पतियों की सम्पत्ति हैं*। मुझे, मौलवी मित्रों से मालूम हुआ है कि, भारत मे, रूढ़ि ने, मुसलिम स्त्रियों का, तलाक देने का, अधिकार बिलकुल छीन लिया है, और केवल पुरुषों को दे दिया है; यद्यपि कुरान ने यह हक दोनो को समान रूप मे दिया है।

हिंदू समाज का यह विशेष रोग वस्तुतः ऊपरी सतही मैल की एक तह है, जो समाज शरीर पर जम गयी है। पर इतनी मोटी और कड़ी हो गयी है, कि उस ने प्राण के यथोचित संचार को रोक कर स्वास्थ्य नष्ट कर दिया है, और जीवन को खतरे में डाल दिया है।

कुरूपता का कारण, अङ्ग-विशेष की अति वृद्धि

यदि यह मैल की तह सावधानी से निकाल दी जाय, तो शुद्ध वर्ण-धर्म, आश्रमधर्म का जौहर फिर से खुलेगा, और यह भी देख पड़ेगा कि उस तह के नीचे ऐसे तत्त्व पाये जाते हैं, जिन के अनुरूप, किन्तु अपरिष्कृत, तत्त्व, सब सभ्य समाजों मे पाये जाते हैं। समाज संघटन के जो तत्त्व और सिद्धान्त अपने पूर्णरूप मे सर्वथा सहेतुक और लाभदायक हैं, उन का अंगभंग करने से, और अर्ध-सत्यों को पूर्ण-सत्य समझ लेने से ही,

* *Sex in Civilisation*, edited by Calverton and Schmalhausen, art: 'Sex and Social Struggle', P. 275.

यह महा रोग पैदा हो गया है। व्यंग्य चित्र, हास्य चित्र, ('कार्टून'), का रहस्य इतना ही है, कि कोई एक अंग-विशेष, बिगाड़ कर, बहुत बड़ा या बहुत छोटा दिखाया जाय। सुन्दर से सुन्दर मनुष्य का मुख अत्यन्त कुरूप देख पड़ेगा, यदि उस की नाक या कान बहुत बढ़ा कर या बहुत घटा कर दिखाये जांय। हिन्दू समाज का अंग विकृत इस लिये हुआ है, कि उस मे उस नियम पर हद से ज्यादा जोर दिया गया है, जिसे पाश्चात्य विज्ञान शास्त्री 'ला आफ हेरिडिटी' वा 'आनुवंशिकता नियम', 'जन्मना वर्णः', कहते हैं; और उतने ही उपयोगी और उसके सहकारी दूसरे नियम की उपेक्षा कर दी गई है, जिसे 'ला आफ म्यूटेशन', 'स्वभाव-विशेषोन्मेष नियम' कर्मणा वर्णः', कहते हैं।* इसके विपरीत, पाश्चात्य समाज मे (आधुनिक रूस को स्यात् छोड़ कर) 'कर्मणा वर्णः' पर ही अधिक जोर दिया जाता है, जिस का परिणाम, नितान्त अव्यवस्थित, अनियन्त्रित, भयावनी प्रतियोगिता, संघर्ष, और नित्य की उथलपुथल, है। इन दोनो मे प्रत्येक नियम अर्द्ध-सत्य है; दोनो मिलकर पूर्ण-सत्य होते हैं। 'जन्मना वर्णः' का नियम, शिक्षा के आरम्भ मे इस बात की सूचना करता है, कि किस प्रकार की शिक्षा किस शिष्य को देना 'प्रायः' उचित होगा; फिर, विद्यार्थी अवस्था मे, ब्रह्मचर्याश्रम मे, क्रमशः, छात्र की जैसी विशेष स्वाभाविक प्रवृत्ति उन्मिषित हो और देख पड़े, तदनुसार शिक्षा मे परिवर्तन कर के, उस आश्रम के अन्त मे, 'कर्मणा वर्णः' का नियम निर्णायक होना चाहिये। अर्थात् एक नियम शिक्षा के आरम्भ मे 'सूचक', दूसरा नियम उसके अन्त मे 'निर्णायक'।

साधारणतः आनुवंशिकता नियम से, अर्थात् 'जन्मना' से, शिक्षा, जीविका, और विवाह के संबंध मे, कर्तव्य का मार्ग निर्धारित करने मे सहायता मिलती है, और अधिकतर व्यक्तियों के लिये इसी से, अन्तिम निर्णय भी हो जाता है। पर जहाँ विशेष प्राकृतिक परिवर्तन के लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हों, वहाँ 'कर्मणा' के नियम की रक्षा होनी चाहिये।

महाभारत जैसे धर्मशास्त्र के ग्रन्थ मे, जो पंचम वेद कहलाता है, यह नियम, केवल प्रसंगतः और आपाततः नहीं, किन्तु सहेतुक विचार

---

* Cartoon; Law of Heredity; Law of Mutation.

करने के बाद, कि जन्म प्रबल है या कर्म, स्पष्ट शब्दों मे कहा गया है, कि 'कर्म' ही प्रबल है।

न योनिर्, नापि संस्कारो, न श्रुतं, न च संततिः,
कारणानि द्विजत्वस्य; वृत्तमेव तु कारणम्।

(वनपर्व, यक्षयुधिष्ठिर-संवाद, अ० ३१४)

ग्रामो मे, जहाँ की बस्ती प्रायः एक सी होती है, स्वभावतः 'आनुवंशिकता नियम' का प्राधान्य होगा; पर नगरों मे, जहाँ सगे भाइयों की रुचि, प्रकृति, और बुद्धि मे अकसर बहुत अन्तर दिखाई देता है, दूसरा नियम अधिक प्रयोजनीय होता है।

जो समाज अपने अन्तर्भूत व्यक्तियों या समुदायों की, शिक्षा या जीविका या विवाह के सम्बन्ध मे, ऐसी स्वारसिक प्रवृत्तियों और आत्म-निर्णयों को, अन्धाधुन्ध लकीर पीटने से, बद्धमुष्टिवानर-न्याय से, दबाना ही चाहता है, वह समाज अपने कुटुम्बों मे भारी क्षोभ, असन्तोष, और क्रोध उत्पन्न करता है, तथा इसका फल उसको अवश्य, काल पा कर, भोगना ही पड़ता है। दोनो के बीच का रास्ता पकड़ना चाहिए। सामान्य नीति 'जन्मना', विशेष नीति 'कर्मणा'। उत्सर्ग 'जन्मना', अपवाद 'कर्मणा'।

विवाह के, तथा वैयक्तिक और सामूहिक जीवन के अन्य कर्मों के, संबंध मे, बीच का मार्ग अवलम्बन करने से ही; परस्पर विरोधी नियमो का समन्वय करने से ही; प्रत्येक नियम और प्रवृत्ति को व्यक्त होने के लिये. भली भाँति सुविचारित, नियमित, नियंत्रित अवसर देने से ही; व्यक्ति और समाज, दोनो, अपने स्वास्थ्य की रक्षा करते हुए, समृद्ध हो सकते हैं।

वर्णव्यवस्था का, 'कर्म' अर्थात् पेशा के आधार से हट कर, जन्म के आधार पर चला जाना

यह विश्वास करने के लिये अनेक कारण हैं, कि भारतीय सभ्यता के प्रारम्भ मे नियम यह था, कि मनुष्य अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुरूप, जिस का निर्णय उस के शिक्षक आचार्य करते थे, वृत्ति अर्थात् जीविका कर्म वा पेशा ग्रहण करता था। आचार्य ही उसे, उस की प्रवृत्ति

और वृत्ति के अनुरूप, 'वर्ण'-नामात्मक उपाधि देते थे, जैसे आजकल 'प्रोफेसर', 'डाक्टर', 'जेनरल', 'जज', 'बैंकर' आदि उपाधि दी जाती हैं। उसे पाने के बाद, पुरुष केवल उन्हीं उपायों से जीविकोपार्जन कर सकता था, जो उस वर्ण के लिये निर्दिष्ट थे। दूसरे वर्णों की जीविका के उपायों पर हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। तथा अपनी जीविका से जो अधिकार सम्बद्ध थे, वे ही उसे मिलते थे, और उसी के कर्तव्य उसे पालन करने पड़ते थे। अन्य अधिकारों और कर्तव्यों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता था। इस सिद्धांत की न्याय्यता, आज भी, स्वभावतः, किसी किसी बात मे स्वीकार की जाती है, जैसे गवर्मेन्ट के नौकरों को दूसरी नौकरी करना मना है। पर, अपने वेतन के सिवा, कई अन्य प्रकारों से भी धन का उपार्जन करना उन के लिये मना नहीं है। प्राचीन प्रथा के अनुसार मना होना चाहिये।

षण्णां तु कर्मणां अस्य त्रीणि कर्माणि जीविका,
अध्यापन, याजनं च, विशुद्धात् च प्रतिग्रहः;
शस्त्र-अस्त्र-भृत्वं क्षत्रस्य; वणिक्-पशु-कृषिर् विशः।
विघसऽाशी भवेन्नित्यं, नित्यं वाऽमृत-भाजनः;
विघसो भुक्तशेषं तु, यज्ञशेषं तथाऽमृतम्। (मनु)
अवश्यं भरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते।
देवताभ्यः पितृभ्यश्च भृत्येभ्योऽतिथिभिः सह,
अवशिष्टं तु योऽश्नाति, विघसऽऽशी स उच्यते।
भृत्यशेष तु यो भुङ्क्ते, यज्ञशेपं तथाऽमृतम्,
यो मुनिश्च सदा, धीमान्., विघसाऽशी च उच्यते।

(म० भा०, शान्ति० ५९, २२६, २२८)

ब्राह्मणवर्ग की वृत्ति की जीविका के, उपाय, जरिया, तीन हैं, अध्यापन की दक्षिणा, याजन की दक्षिणा, प्रतिग्रह अर्थात् दान लेना; क्षत्रिय-वर्ग की, शस्त्र-अस्त्र से सब की रक्षा कर के उन की आय मे से एक भाग, 'कर', 'टिकस', तन्खवाह, मासिक वेतन, लेना; वैश्य वर्ग की, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य के सब प्रकार; शूद्र-वर्ग की, अन्य तीनो वर्णों की सेवा सहायता कर के, उन से भृति, भरण-पोषण, अन्न वस्त्र, पाना। शूद्र का तिरस्कार तो दूर रहा, मनु की, भीष्म की, स्मृतिकारों की आज्ञा है कि,

गृहस्थ और गृहिणी, बच्चों, अतिथियों, और भृत्यों को पहले खिला कर, तब पीछे आप खायँ और 'विघसऽशी' कहलायें। 'देवताओं', अतिथियों, भृत्यों को खिला-पिला चुकने के बाद, 'पंच-महा-यज्ञ' प्रति दिन कर लेने के पीछे, 'यज्ञ-शेष', 'यज्ञ' से बचा हुआ, अन्न जो खाय, वह 'विघसऽशी' 'अमृतऽशी'। जैसे अन्य सब भाव बिगड़ गये, वैसे ही इस विषय का भी। दया के स्थान मे गर्व तिरस्कार; स्नेह आदर, के स्थान मे भय; चारों ओर दम्भ, मत्सर, द्रोह; अधिकारों पर छीन झपट, कर्तव्यों से दूर भाग; कमजोरों का तिरस्कार और अधिकाधिक पददलन और अर्दन; शहजोरों के जूतों की धूल का सिर पर चढ़ाना, खुशामद करना; चारो ओर इन्हीं दूषित भावों और असद्विचारों का राज्य हो रहा है।

कर्मणा वर्णः के सिद्धान्त से, कार्य का और वेतन का, श्रम का और विश्राम का, शरीर और मन के खेदन और रंजन का, काम और दाम का, व्यायाम और अराम का, मिहनत और उज्रत का, न्याय्य विभाजन होता है; तथा बेकारी घटाने मे सहायता मिलती है।

वर्ण-व्यवस्थापन के आरम्भ काल मे ऐसा ही विभाजन, स्मृतियों से सिद्ध होता है। बाद को, जीविका, वृत्ति, मआश, रिज़्क़, के मामले में, 'जन्म' का प्रभाव अधिकाधिक पड़ने लगा। वृत्ति के अनुसार बने हुए वर्ग, मध्ययुग मे, जातियों और उपजातियों के रूप मे परिणत हो गये, जो एक दूसरे का बराव करने लगे। इन जात्युपजातियों का भीतरी, मतलब, सबब, हेतु, प्रयोजन, प्रायः यही होता था, जो व्यापारी वा औद्योगिक संघों, पूगों, निगमों, श्रेणियों, दलों, सार्थों का हुआ करता है। आजकाल के शब्दों मे, इन को 'ट्रेड यूनियन', 'आर्टेल', कार्टेल', 'गिल्ड', 'असोसियेशन' 'कम्पनी' आदि नाम से पुकारते हैं। इन का अभीष्ट मकसद, यही होता है कि अपने अपने भीतर के व्यक्तियों की आर्थिक समृद्धि और जीविका प्राप्ति मे सहायता की जाय, और बाहर वालों के मुकाबिले रक्षा की जाय। आर्थिक स्वार्थी कारणों से ही प्रेरित हो कर, ये संघ नये व्यक्ति को जल्दी अपने भीतर आने नहीं देते थे। आज भी, सर्वत्र, व्यवसाय-संघ के से समूहों मे, इस प्रकार की आर्थिक शंका-शीलता और ईर्ष्या दिखाई देती है। इस देश के एक प्रधान नगर मे एक ऐसा 'अटोर्नियों' का 'असोसियेशन' है जिस मे किसी ऐसे नये व्यक्ति का प्रवेश

सम्भव नहीं है, जो किसी वर्तमान सदस्य का बेटा या दामाद या ऐसा ही कोई नजदीकी रिश्तादार या विशिष्ट मित्र न हो।*

मुख्य चार वर्णों के नामो की व्युत्पत्ति ही से सिद्ध होता है कि ये प्रधानतः वृत्तियों के, पेशे के, जीविका के, द्योतक थे। जैसे (१) ब्राह्मण, ('ब्रह्म' अर्थात् वेद अर्थात् आध्यात्मिक और आधिभौतिक शास्त्रों के वेत्ता), अध्यापक, याजक, ऋत्विक्, इष्टऽपूर्त मे, वापी कूप-तटाकादि सब प्रकार के सार्वजनिक कार्यों मे, यज्ञो मे, उचित शास्त्रीय सलाह देने वाले और निगरानी करने वाले; आजकाल के शब्दों मे 'सायंटिस्ट', 'एंजिनियर', 'आर्किटेक्ट', आदि;† (२) क्षत्रिय ('क्षतात्', चोट से, 'त्राण', रक्षा, करने वाले) पुलिस, शासक, आदि; (३) वैश्य ('विशः', सम्पत्ति, रखने वाले), कृषि आदि व्यापार करने वाले, जिस व्यापार से धनधान्य मिलता है; और (४) शूद्र ('आशु', शीघ्र, 'द्रवन्ति', दौड़ते हैं) शारीरिक परिश्रम से जीविका उपार्जन करने वाले। उसी प्रकार, नयी उपजातियों के नये नाम भी प्रधानतः वृत्ति या पेशे के सूचक हैं; जैसे माली, लोहार, कुम्भार (कुम्भकार), गड़ेरिया (गाडर यानी भेड़ बकरी चराने वाले), ग्वाला (गोपालक, गाय बैल रखने वाले), लोनिया (लवण, नोन, बनाने वाले), मुसहर, बनजारा, चमार (चर्मकार), धोबी (धावक), कोयरी (कोयर, तरकारी, पैदा करने वाले), आदि। ब्रिटेन मे, ऐसे नाम परिवारों के हो गये, और भारत मे उपजातियों के; पर जैसे वहाँ 'स्मिथ' (लोहार) नाम का पुरुष, पेशे मे, आजकाल पुरोहित, या जज, या सिपाही, या व्यापारी, या मजदूर हो सकता है, वैसे यहाँ भी, अब, जातियों और उपजातियों के नाम से तो कोई दूसरा पेशा प्रकट होता है, पर वास्तविक पेशा अकसर कुछ दूसरा ही होता है। सभी 'जात' के लोग सभी 'पेशों' मे देख पड़ते हैं। यह परिवर्तन प्रायः हजार बारह सौ वर्ष पहिले ही शुरू हुआ, किन्तु इस देश मे पाश्चात्य सभ्यता के आने के बाद ज़ोर से होने लगा है। उस नयी सभ्यता ने यहां के जीवन मे चौमुहाँ, चतुर्दिक्, विप्लव कर डाला है, कुछ अच्छा भी, कुछ बुरा भी।

---

*Trade union; Artel; Cartel; Guild; Association; company; Attornies' association.

† Secientist ; Engineer ; Architect.

उन्ही विप्लवों परिवर्तनो मे से एक यह भी है। इस मे बुराई का अंश यह है, कि 'पारम्परिक-जीविका' मे जो स्थिरता और निश्चितता थी वह मारी गयी; किसी को नहीं मालूम होता है कि किस रोजगार मे लगना चाहिए या लग सकेंगे ; सभी अपने लिये, नहीं तो अपनी अगली पुश्त के लिये, चिताग्रस्त रहते हैं। भलाई का अंश यह है कि, क्रमशः, सारा देश, नये वैज्ञानिक रूप से, समाज का नया व्यवस्थापन करने के लिए मजबूर होगा ; प्रकृति, स्वभाव, रुचि, रुझान के मुताबिक, प्रत्येक आदमी को जीविका दिलाई जायगी ; केवल 'पारम्परिक-जीविका', स्वभाव और रुचि और योग्यता के विरुद्ध होते हुए भी, किसी पर न लाद दी जायगी।

भिन्न-भिन्न वृत्तियों के भिन्न भिन्न संघों में बड़ी उपयोगिता और कार्यसाधकता थी; पश्चिम और पूर्व में सर्वत्र; यंत्रों के आविष्कार से, अब वह प्रबंध सब जगह टूट गया; उस संघ व्यवस्था ('गिल्ड-सिस्टेम') के टूटने का प्रधान कारण, अति लोभ, ईर्ष्या, और परस्पर दुराव हुआ है। पर संभव है कि क्रमशः पुनर्वार अधिक अच्छी रीति से, व्यवसाय संघ, पूग, निगम, श्रेणी, 'ट्रेड यूनियन', 'गिल्ड', पंचायत,* बिरादरी, आदि, नये नये नाम और अंशतः नये नये रूप भी, देश-काल-निमित्तानुसार धारण कर के, पुनर्जीवित हों; जैसा रूस मे तथा अन्यत्र भी होता मालूम होता है। मनमाना पेशा उठा लेने पर जो भारतवर्ष मे पहिले रुकावट थी, वह जब दूर हो गयी है, और कुलऽागत, वंशऽागत, 'जातीय', पेशा करने पर जोर नहीं दिया जाता, तब अन्तर्वर्ण विवाह की रुकावट को बनाये रखने का कोई अर्थ नहीं रह गया है। उस से कोई लाभ नहीं देख पड़ता। अब उस रुकावट मे उपयोगिता कुछ भी नहीं रह गयी है; प्रत्युत प्रत्यक्ष हानिकारकता बहुत हो गयी है।

यदि लोग वर्ण-नाम के विरुद्ध पेशा न करने पाते, तो वर्ण नाम के विरुद्ध विवाह भी न करना कुछ सार्थक था। "समानशीलव्यसनेषु सख्यं" जिन का एक चाल का रोज़गार, उन का प्रायः एक चाल का रहन-सहन, खान पान, आहार-विहार, आचार-विचार, घर-द्वार, उठक-बैठक, रस्म-रिवाज, रीति-नीति, बोल-बतलाव, शील-स्वभाव। ऐसों ही का परस्पर

---

* Guild system; Trade union.

प्राण-सम्बन्ध, विवाह-सम्बन्ध, अन्न-सम्बन्ध, आदि उचित है। जहाँ पेशा एक नहीं, चाल-व्यवहार एक नहीं, वहाँ एकवर्णता का कुछ अर्थ नहीं; नाममात्र की सवर्णता होगी। प्रकृत्या, फ़िन्नतन्, आजकाल यह हो रहा है कि, गवर्मेण्टी नौकरी के हिन्दुस्तानी अफ़सर लोग आपस मे विवाह-सम्बन्ध करने का यत्न करते हैं; क्योंकि उन का रहन-सहन एक-सा हो रहा है; मानो ऐसे 'अफ़सरों' की एक नई 'अन्तराल' 'उपजाति' ही बन रही है।

शास्त्रीय विचार

अत्यन्त अ-परिवर्त-वादी, शास्त्रवाक्यश्रद्धालु, पण्डितजन भी (और काशी, जिस का आजन्म मैं एक परम क्षुद्र दास हूँ, संस्कृतशास्त्रज्ञ पण्डितों का केन्द्र ही है), स्वीकार करते हैं कि आधुनिक जातियों और उपजातियों की, जो लगभग तीन हजार संख्या हो गयी है, वह बहुत अधिक है, अप्रामाणिक है, धर्मशास्त्र से उस का समर्थन नहीं किया जा सकता। धर्मशास्त्र के मुख्य ग्रन्थों मे मुख्य चार, तथा अन्तर्वर्ण-विवाह से उत्पन्न कुछ थोड़े से अन्तराल, वर्णों का उल्लेख है। मनु ने प्रायः चवालीस के नाम, अ० १० मे, गिनाये हैं, और सब की अलग अलग वृत्तियां बांध दी हैं। कोई टीकाकार इन नामो को छत्तीस गिनते हैं, कोई चौंसठ, क्योंकि स्मृति के शब्द कहीं कहीं अस्पष्ट हैं; इतना और गोल लिख देते हैं कि इनके पुनः-पुनः संकर से नये-नये प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं। स्मृति मे लिखे नामो की उपजातियाँ बहुतेरी अब नहीं मिलती हैं।

पण्डितगण यह भी स्वीकार करते हैं कि धर्मशास्त्र ने 'अनुलोम' अन्तर्वर्ण विवाहों की अनुमति भी दी है, और उन को जायज, धर्म्य, माना है। 'प्रतिलोम' अन्तर्वर्ण विवाह को मना किया है। 'ऊंचे' वर्ण के पुरुष के, 'नीचे' वर्ण की स्त्री से, विवाह को 'अनुलोम' विवाह कहते हैं। 'नीचे' वर्ण के पुरुष के, 'ऊंचे' वर्ण की स्त्री से विवाह को, 'प्रतिलोम' कहते हैं। पर वस्तुतः प्रतिलोम विवाह भी होते हैं, यह बात स्वीकार की गयी है, तथा उन की सन्तति को विशेष विशेष नाम दिये गये हैं। साथ ही, आर्थिक संघटन और बेकारी दूर करने के प्राचीन सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्येक 'अन्तराल' वर्ण को एक छोटे दर्जे का काम भी दिया गया है। इन अन्तराल वर्णों के व्यक्तियों वा परिवारों के लिए, आत्मोन्नति

कर के, मुख्य चार वर्णो मे से किसी के अन्तर्भूत हो जाने के उपाय भी बताये गये हैं। महाभारत में, जो धर्मशास्त्र का ग्रन्थ समझा जाता है, विराट पर्व (अ० २१) मे कहा गया है कि, मत्स्य देश मे ब्राह्मण क्षत्रिय मे परस्पर विवाह होता है, और उन की सन्तति द्विज ही समझी जाती है। क्षत्रिय पुरुष से ब्राह्मण स्त्री को जो पुत्र हो वह 'सूत' कहा जाता था, और राजा लोग उस से विवाह-संबंध करते थे; सूतों के एक राजा का नाम केकय था। स्यात् दशरथ की पत्नी केकयी उसी जाति की रही हो।

ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जातः सूतो भवति, पार्थिव !
प्रातिलोम्येन जातानां स हि एको द्विजः एव तु।
सूतेन सह सम्बन्धः कृतः पूर्वं नराधिपैः;
सूतानां अधिपो राजा केकयो नाम विश्रुतः।

कर्ण पर्व मे, जब कर्ण और शल्य एक दूसरे की निन्दा कर रहे थे, तब, आक्षेपबुद्धि से, पर वास्तविक स्थिति दिखाते हुए, कर्ण ने कहा है कि, पंचनद के अन्तर्गत वाल्हीक देश मे पुरुष अपना वर्ण अक्सर बदलते रहते हैं।

तत्र वै ब्राह्मणो भूत्वा, पुनर्भवति क्षत्रियः,
वैश्यः, शूद्रश्च, वाह्लीकः, ततो भवति नापितः,
नापितश्च ततो भूत्वा, पुनर् भवति ब्राह्मणः,
द्विजोभूत्वा च तत्रैव, पुनर्दाशोऽभिजायते। (कर्ण पर्व, अ० ३६)

वाह्लीक (बल्ख?) देश मे, वही पुरुष कभी ब्राह्मण, कभी क्षत्रिय, कभी वैश्य, कभी शूद्र, हो जाता है; 'नापित' (नाई, हज्जाम) हो कर पुनः ब्राह्मण, और पुनः दाश (मछुआ, धीवर) हो जाता है। मतलब यह कि पंचनद प्रदेश मे, महाभारत के समय मे भी, 'जन्मना' पर उतना जोर नहीं दिया जाता था जितना ब्रह्मावर्त्त प्रान्त मे; बल्कि 'कर्मणा' ही पर अधिक जोर दिया जाता था; पर दोनो प्रान्तों मे यौन-सम्बन्ध निरन्तर होते थे। शल्य स्वयं युधिष्ठिर के मातुल थे।

आज भी नेपाल मे 'अनुलोम' विवाह होते हैं; अन्यत्र कहीं, खुले तौर पर, नहीं होते। इस सम्बन्ध मे, लोकमत-परिवर्त्तन होने के कारण, हिन्दूसमाज ने अपने धर्मशास्त्र को प्रत्यक्ष बदल दिया है, और 'अनुलोम'

विवाह करने वाले स्त्री पुरुष; धर्मशास्त्र की आज्ञा होते हुए भी, (नैपाल को छोड़ कर, अन्यत्र) 'जात बाहर' कर दिये जाते हैं। अवश्य ही उद्देश्य इस नियम का, कि सवर्णों मे ही विवाह हो, यह है कि 'वीज' शुद्ध रहे, कुल की, वंश की, संस्कृति मे, परिशुद्धि मे, त्रुटि न हो। उद्देश्य बहुत अच्छा है, पर जो उपाय अव काम मे लाया जाता है, वह सर्वथा अकिंचित्कर हो गया है; क्योंकि 'वीज शुद्धि', 'रक्त-शुद्धि', 'जाति-शुद्धि', किसी 'जाति' या 'वर्ण' मे रह नहीं गयी है। प्रत्यक्ष ही सब तरह के स्वभाव सब तरह की प्रकृतियां, सब तरह के रंग रूप, सब तरह की बुद्धियां, सब 'वर्णों' अथवा जातियों मे देख पड़ती हैं।

जातिर् अत्र, महासर्प ! मनुष्यत्वे, महामते !,
संकरात् सर्ववर्णानाम्, दुष्परीक्ष्या इति मे मतिः,
सर्वे सर्वासु अपत्यानि जनयन्ति यदा नराः।

(म० भा० वन० अ० १८२)

'जाति' की परीक्षा करना, निश्चय करना, असम्भव है; क्योंकि सब वर्णों के पुरुष सब वर्णों की स्त्रियों मे सन्तान उत्पन्न करते हैं।

शारीर विज्ञान के एक आधुनिक पाश्चात्य विशेषज्ञ ने यही बात ऐसे शब्दों मे कही है, मानो इन कई हजार वर्ष पुराने श्लोकों के शब्दों का अनुवाद ही किया हो, यद्यपि यह निश्चित है कि उस को इन की जानकारी नहीं थी। वह कहता है, 'मनुष्य-जाति-विज्ञान के किसी शास्त्री को अब तक एक भी 'विशुद्ध' जाति ('रेस') वा मूल आदर्श आकार ('टाइप') नहीं मिला है;* क्योंकि इस का अस्तित्व ही अब नहीं है। अतः सम्भावना यह है कि शुद्ध जातियां हैं ही नहीं; और कभी रही भी हों तो आज वे पहिचानी नहीं जा सकतीं; क्योंकि वे परस्पर, आपस के, विवाह से मिल गयी हैं 'संकीर्ण' हो गयी हैं। मनुष्य के आकार के असंख्य भेद हैं, और वे ऐसे मिल गये हैं कि अलग नहीं किये जा सकते। सब आकार प्रकार के मनुष्य सब जातियों मे पाये जाते हैं। कोई ऐसा विशेषक व्यावर्त्तक लक्षण नहीं है जो एक ही जाति मे पाया जाता हो, दूसरा किसी मे न मिलता हो। सभी जातियों की हदें, परिधियां, एक दूसरे मे, सूक्ष्म रीति से

---

* Race, Type.

लीन हो जाती हैं। जातियां नहीं हैं, वर्ग हैं'।* यह एक श्वेत वर्ण के 'अमेरिकन' का लेख है। सब को मालूम ही है कि श्वेतांगों मे जातिगर्व कितना बढ़ा हुआ है; भारत के द्वि-जों से बहुत अधिक; पर वह लेखक सत्य-काम है, गर्व-काम नहीं, जाति-मद-मत्त नहीं। ऐसी दशा मे, यदि विवेकपूर्वक, 'विशिष्टायाः विशिष्टेन', 'समानायाः समानेन' विवाह हों, चाहे वे 'अन्तर्वर्ण विवाह' हों, चाहे 'वर्णान्तर-विवाह हों', चाहे 'वर्णान्त-विवाह' हों, चाहे नाम को 'असवर्ण' विवाह कहावें, चाहे 'सवर्ण विवाह' कहावें, वे ही सच्चे असली 'स-वर्ण' अर्थात् 'सम-शील-व्यसन-विवाह' होंगे, और तभी भारतीय मानव-वंश का बौद्ध भी और शारीर भी उत्कर्ष हो सकता है। केवल नाममात्र जाति वा उपजाति वा वर्ण वा उपवर्ण के बाहर विवाह न करने की अन्धप्रथा से तो अपकर्ष ही होता जाता है, और होता जायगा।

पाश्चात्य देशों मे भी, विशेष कर सम्पत्तिशाली मण्डलों मे, 'असम' विवाह, 'मेस-आलियांस', का विरोध किया ही जाता है‡। पर वहां 'अ-सम' विवाह का अर्थ है, अपने पद, अपनी संस्कृति, और अपने सामाजिक गौरव के नीचे विवाह करना। एक 'रईस' घराने की लड़की यदि किसी गाड़ीवान, या बागवान, या घोड़ा फेरने वाले सवार, या 'शोफर' के साथ भाग जाय, तो उस की निन्दा बहुत होती है, जैसे यहाँ 'प्रतिलोम' कहलाने वाले विवाह की। धाय की या किसान की लड़की से शादी करने वाले रईस युवक की उतनी निंदा नहीं की जाती है; जैसे यहाँ 'अनुलोम' कहलाने वाले विवाह की उतनी निंदा नहीं की जाती जितनी प्रतिलोम

---

* सी० ए० बियर्ड, 'ह्विदर मैनकाईंड', पृष्ठ २५२–२५४, 'रेस ऐंड सिविलिजेशन' शीर्षक का अध्याय। इस के कई वर्ष बाद, १९३९ ई० मे छपी, 'वी यूरोपीयन्स' नाम की पुस्तक को, जूलियन हक्स्ली और ए० सी० हैडन नाम के दो प्रसिद्ध ब्रिटिश वैज्ञानिकों ने छपवाई; इस मे भी इसी बात का विस्तार से, विविध प्रमाणो से, समर्थन किया है। C. A. Beard, *Whither Mankind;* Julian Huxley and A. C. Haddon, *We Europeans.*

‡ Mesalliance.

की। तथा श्वेत और अश्वेत व्यक्तियों के परस्पर विवाह के विरुद्ध तो लोकमत पच्छिम मे बहुत ही उग्र है। एवं जैसे यहाँ 'ऊंची जाति का' अभिमान करने वाला मनुष्य, ऐसे आदमी के साथ बैठ कर खाना नहीं खाता जिसे वह नीची जाति का समझता है, चाहे इस 'नीचे' की संस्कृति 'ऊँची' हो या 'नीची', उसी तरह पश्चिम मे भी, (श्वेत अश्वेत रंग विषयक आग्रहों के अलावा भी), कोई 'रईस'-मिजाज आदमी, ऐसे आदमी के साथ बैठ कर जल्दी खाना नहीं खाता, जो ठीक उसी के जैसे कपड़े नहीं पहिनता, उसी की तरह हँसना बोलना, दुआ सलाम करना, झुकना सीधे खड़े होना, नहीं जानता, उसी की तरह धन्यवाद नहीं देता, और खाने के वक्त का सारा अदव कायदा उसी के जैसा अदा नहीं करता, काँटे चमचे आदि का प्रयोग उसी के ऐसा नहीं करता। पर इस सब का अर्थ वहाँ 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' ही है।

महासमर के साथ-साथ पश्चिम मे जो मिथुनता-विषयक ('सेक्सुअल'), कामीय आचार-विषयक, तथा नैतिक, आर्थिक, औद्योगिक, वैज्ञानिक, शैक्षिक आदि 'क्रांतियां' हुई हैं, उन से भिन्न-भिन्न सामाजिक वर्गों के लोगों के परस्पर विवाह का विरोधी भाव नष्ट होता जा रहा है; पर निस्सार और हानिकारक बातें भी नष्ट होती दिखाई देती हैं। "संगच्छध्वम्, संवदध्वम्, सं वो मनासि जानताम्", ऐसा वेद का उपदेश है। उस के विरुद्ध, विना संगति के, बिना संवाद के, जब पुराना जर्जर मकान, चांड़ लगा कर धीरे-धीरे उतारने और मरम्मत करने की जगह, रम्भों की अंधाधुन्ध मार से गिराया जाने लगे, तो अवश्य ही उस की धरन, पटिया, फर्श के पत्थर, दरवाजे, शीशा, सामान, जो अच्छा दुरुस्त काम लायक हो, वह भी चूर हो जायगा। विना आँख से काम लिये, केवल हाथों से झाड़ू ही चौफेर चलायी जाय, तो कूड़ा करकट झाले मकड़े के साथ, सोना चाँदी हीरा मोती की चीजें भी फिंक जायंगी। भीतरी और बाहरी, पुरानी और नयी, प्राचीन और अर्वाचीन, पूर्वी और पश्चिमी सभ्यताओं के भीषण संघर्ष से, अपरिवर्ती 'पूर्व' देशों मे भी व्यापक परिवर्तन होने लगे हैं। आपस की फूट से जर्जर, असंख्य जातियों के परस्पर भेद भाव से शीर्ण जीर्ण, भारतवर्ष मे, यह परिवर्तन, ब्रिटिश जाति के राजनीतिक प्रभुत्व के कारण और भी तीव्र, विवेक-शून्य, और दूषित हो रहा है। विपरीत इस के, जापान मे, जो अपने उत्कृष्ट गुणो के कारण स्वाधीन और

पाश्चात्य राष्ट्रों के तुल्य महापराक्रमी हो रहा है, जो परिवर्तन किये जा रहे हैं, वह सब सुविचारपूर्वक सुविवेकपूर्वक हो रहे हैं।* भारत का पश्चिम से संपर्क हुआ, और राजनीतिक स्वतंत्रता स्वराजकता लुप्त हो गई, दासता पराधानता आ गई; जापान का भी पश्चिम से संपर्क हुआ, पर वह अपनी उद्दाम स्वाधीनता सर्वथा बनाये रहा, बल्कि अधिकाधिक उत्कृष्ट और बलवती करता रहा है; यही, इन दोनो देशों की दशाओं मे जो जमीन-आस्मान का, आकाश-पाताल का, अन्तर है, उस का कारण है। पच्छिम के पैरों मे भारत जनता, अपने पापिष्ठ भेदभावों के कारण बँध गयी है, सर्वथा पराधीन हो गई है। इस लिये जैसे-जैसे वे पैर चलाते हैं, हम भी उधर खिचते घसिटते हैं। अतः वहाँ के कार्यो और विचारों की लहरें, हमारे जीवन के सभी अंशों मे, वैसे ही विक्षोभ उत्पन्न कर रही हैं। इस अवस्था मे हमारा कर्तव्य यही है, कि प्राचीन से नवीन मे संक्रमण के समय होने वाली आकुलता को, जहाँ तक हो सके, कम करने का यत्न करें, और निरुपयोगी तथा मूढ़ग्राह और मिथ्याग्रह की सब बातों को, जिन से समाज की बड़ी हानि हो रही है, दूर करने मे सहायक होते हुए, प्राचीन मे जो कुछ सच्चा, सात्त्विक, अंश है, उस की रक्षा करें।

सब के साथ, बिना समझे बूझे, बिना साथी की शुचिता और समान-शील व्यसनता का विचार किये, भोजन या विवाह न करना चाहिये—यह बुद्धि मनुष्य मे स्वभावतः होती है, और बहुत ही उपयोगी है। 'बिना विचारे' शब्द का अर्थ ठीक समझना चाहिये। जितने मानसिक और शारीरिक विकार, जितने मन के और तन के रोग, देखने मे आते हैं, उन मे प्रतिशत ९० का कारण, आहार की और कामीयता की, मैथुन

---

* १९३१ ई० से थोड़ा-थोड़ा, और १९३७ ई० से बहुत उग्र रूप से, जापान ने चीन पर आक्रमण कर रक्खा था; इस कारण उस की, सभी देशों मे बड़ी निन्दा हुई; चीन देश ने भी, जापान को क्रुद्ध करने वाली, कोई भारी भूल की या नहीं, यह भविष्य मे विदित होगा। अब, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, जापान की सब महिमा नष्ट हो गई; यू० स्टे० अमेरिका ने उस को १९४५ ई० युद्ध मे परास्त और नष्ट भ्रष्ट कर दिया। जापान ने अति गर्व किया, उसी का यह फल हुआ।

की, भूलें होती हैं, और केवल १० ऐसे होते हैं जिन के कारण परायत्त हैं, वा अपने अधिकार के बाहर होते हैं, जैसे हिंस्रपशु, कीट, अपघात, संक्रामक रोग, दूसरों के पाप और अपराध आदि। इस देश मे जो तीन चार जगत्प्रसिद्ध और व्यापक चिकित्सा-पद्धतियाँ प्रचलित हैं, वैद्यक, हकीमी, आलोपेथी, होमियोपेथी प्रभृति, उन सब के वृद्ध और अनुभवी चिकित्सकों मे जिन-जिन से मैंने पूछा, उन सब ने इस मत की पुष्टि ही की है। आहार मे विवेक, सावधानता, और पवित्रता की रक्षा करने से व्यक्ति के निजी स्वास्थ्य की रक्षा और वृद्धि होती है। विवाह मे विवेक, सावधानता, मानसिक और शारीरिक पवित्रता, तथा स्वभाव-साम्य का ध्यान, रखने से पारिवारिक सुख, तथा आनुवंशिक जातीय ('रेशियल')* पुश्त दर पुश्त का स्वास्थ्य, सिद्ध और समृद्ध होता है। इन दो अत्यन्त आवश्यक विषयों मे जितनी भी सावधानता रक्खी जाय थोड़ी है। यही 'विज्ञान' या 'वैदिक' धर्म का, वैज्ञानिक धर्म और धार्मिक विज्ञान का, प्रधान तत्त्व है, जिस का विचार अन्तवर्ण-भोजन और अन्तवर्ण-विवाह के करने या न करने मे अवश्य करना चाहिये। केवल आनुवंशिक जातिनाम या वर्णनाम एक होने से ही पवित्रता और गुणसाम्य की सिद्धि होती है—यह प्रचलित धारणा, धर्माभास या मिथ्याधर्म के सिवा, जिसको गीता मे 'मूढ़ग्राह' का नाम दिया है, और कुछ नहीं है। सच्ची पवित्रता और समता प्राप्त होने पर भी, केवल इसलिये विवाह न होने देना, कि वर-वधू का जन्मना वर्ण-नाम एक नहीं है, यह नितांत मूढ़ग्राह है। ऐसे मूढ़ग्राहों से, केवल जाति-नाम वर्ण-नाम पर ही जोर देने से, लाखों विवाह, नितान्त बेमेल वेजोड़, आज भारत मे हो रहे हैं, यह किस को नहीं मालूम। काले और गोरे का, सुशील और दुःशील का, पढ़े लिखे और अनपढ़ का, बुद्धिमान् और नितान्त मूर्ख का, अक्सर ही विवाह हो जाता है।

ज्योतिष के विचार

इस सम्बन्ध मे एक कुतूहल-जनक और गुर्वर्थ बात पर, अपरिवर्तवादी सज्जनो को ध्यान से विचार करना चाहिए। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार, जो जन्म-पत्रिका बनाई जाती है, उस मे नवजात शिशु का जो वर्ण

* Racial.

बताया जाता है, वह अक्सर माता पिता के 'जाति' या 'वर्ण' के नाम से भिन्न होता है। ज्योतिष शास्त्र के संबंध मे, यूरोप के प्रसिद्ध विद्वान युङ्ग जो अभी जीवित हैं, तथा जो चित्तचिकित्सा ('साइको-ऐनालिसिस') के नवीन विज्ञान के प्रसिद्ध प्रवर्त्तकों और जनकों मे गिने जाते हैं, अपनी एक हाल की पुस्तक ('मोडर्न मैन इन् सर्च आफ़ ए सोल') मे कहते हैं कि ज्योतिष से, किसी व्यक्ति के जन्मकाल की ग्रह-स्थिति से, उस का स्वभाव निर्द्धारित करने मे बड़ी सहायता मिलती है।* आप यह भी कहते हैं कि, प्राचीन काल के लोगों के मानस शास्त्र-विषयक उत्कृष्ट ज्ञान का प्रभाव इस शास्त्र से मिलता है। इस ज्योतिष शास्त्र पर बहुतेरे यूरोपियन, ईसाई, तथा मुसलमान भी, जाहिरा नहीं तो चुपके-चुपके, गहिरा विश्वास करते हैं। इसी शास्त्र की सहायता से हमारे अपरिवर्तवादी हिन्दू भाई यह जताने की चेष्टा करते हैं कि वर और वधू ३६ गुणो मे अधिकांश मिलते हैं या नहीं। वर-वधू के शारीरिक और मानसिक गुण तथा उनके स्वभाव मिलते हैं या नहीं, यह जानने की इच्छा अत्यन्त स्वाभाविक और वैज्ञानिक है। इस के निर्णय के लिये, जहां इस से अधिक विश्वसनीय साधन न मिलें, वहाँ सच्चे ज्योतिषी के ज्योतिष की अवहेलना करना कदापि उचित नहीं है। कम से कम प्रत्येक हिन्दू, जो अपने को सर्वज्ञ नहीं समझता, इस की अवहेलना नहीं करता, प्रत्युत इस पर विश्वास करता है। पर यही हिन्दू इस शास्त्र की उपेक्षा और अवमानना करते हैं, जब वह बताता है कि किसी मनुष्य का सच्चा वर्ण, उस के कौटुम्बिक नाम-वर्ण से भिन्न है। ज्योतिष के बताये इस सच्चे वर्ण से ही उस के विवाह-सम्बन्धी गुणो का, तथा वृत्ति (पेशा) सम्बन्धी योग्यता का, भी परिचय मिलता है। शरीर और मानस स्वभाव प्रधानतः चार प्रकार के होते हैं, और तदनुरूप प्रधान वृत्तियाँ अर्थात् जीविका-कर्म भी चार प्रकार के होते हैं—इस का समर्थन पाश्चात्य मानस शास्त्र से भी किया जा सकता है; प्राच्य शास्त्र मे तो यह बात स्पष्ट ही बहुत जोर से कही गयी है। एक 'जाति' के सब लोगों की, यहां तक कि सगे भाई-बहिनों की, प्रकृति और

---

* Jung; Psycho-analysis; *Modern Man in Search of a Soul.*

वृत्तिविषयक योग्यता एक सी होती है–यह तो ऐसा भ्रम है, जो बहुत थोड़े से ही विचार और परीक्षण से नष्ट हो जाता है।

पारस्कर गृह्यसूत्र और जीविका-वर्ण

ज्योतिष के सिवा, एक और प्रकार, बचपन से ही जीविका-वर्ण की योग्यता के निर्णय का, पारस्कर गृह्य-सूत्र आदि आर्ष धर्म-ग्रन्थों मे लिखा है। अन्नप्राशन संस्कार के समय, भूमि पर, (१) पुस्तक, लेखनी, मसीपात्र आदि, (२) शस्त्र, अस्त्र, छुरी, तलवार, धनुष, वाण आदि, (३) चाँदी, सोना, ताम्बा, आदि के सिक्के, अन्न, कपड़ा, आदि, (४) फावड़ा, कुदाल, आदि, फैला कर, बच्चे को, इन वस्तुओं के पास छोड़ देना चाहिये। रेङ्गता (रिङ्गण करता) हुआ, वह जिस वस्तु की ओर पहिले जाय और उस को पकड़े, तदनुरूप उस की जीविका-वर्ण-योग्यता है, ऐसा जानना। मूर्धा की धुकधुकी जब तक अस्थि से बंद नहीं हो जाती तब तक, सूक्ष्म शरीर द्वारा, अन्तरात्मा, बच्चे के स्थूल शरीर का प्रेरण और रक्षण करता रहता है। इस से भी यही सिद्ध होता है कि एक ही कुल मे भिन्न भिन्न 'वर्ण' के पुरुष उत्पन्न होते हैं। प्राचीन काल मे एक ही कुल मे कई कई वर्णों के अपत्य होते और माने जाते थे, इस के उदाहरण, आर्ष ग्रन्थों से, पहले दिये जा चुके हैं। 'ऐतिहासिक काल' के वृत्तों से 'पुराणकाल' की अवस्था ठीक समझ मे आ जाती है। ईसा से पूर्व की छः सात शतियों मे जब रोम के राष्ट्र मे संघराज्य (रिपब्लिक) का शासन-प्रबंध था, तब उन्हीं-उन्हीं 'पैट्रिशन' कुलों मे से 'पांटिफ़, हारुस्पेक्स, फ्लामेन' आदि धर्माधिकारी 'ब्राह्मण' भी, और 'कान्सल, सेन्सर, डिक्टेटर, प्राइटर', 'सेनापति', 'जेनरल' आदि शासनाधिकारी 'क्षत्रिय' भी, चुने और नियुक्त किये जाते थे। एवं ईसा के बाद, मध्ययुग में, यूरोप मे, 'प्रिंस आफ दी लैंड', पृथ्वी-शासक, 'भूपति', 'क्षत्रिय', और 'प्रिंस आफ दी चर्च', 'देवालय-शासक', 'धर्म-पति', 'ब्राह्मण', अक्सर सगे भाई होते थे। एवं भारत मे बौद्धकाल मे एक भाई राजा और एक भाई भिक्खु संघ का नायक।*

---

* Republic; patrician; pontiff, haruspex, flammen; consul, censor, dictator, praetor, general; prince of the land, prince of the church.

सवर्ण विवाह और वर्ण-संकर का सच्चा अर्थ

यदि दो व्यक्ति, युवक युवती, समान आचार-व्यवहार और समान जीविका वाले दो परिवारों में उत्पन्न हों और पाले-पोसे जायँ, तो यह अनुमान करना और मानना, कि उन के मानसिक और शारीरिक गुण परस्पर-विरोधी न होंगे, यह अनुचित नहीं है । अपनी जाति के भीतर ही अर्थात् 'सवर्ण' विवाह के मूल मे शास्त्रीय वा वैज्ञानिक तथ्य इतना ही है । पर यह कहना, या इस बात पर जोर देना, कि दो व्यक्ति दो भिन्न नाम की जातियों मे उत्पन्न हुए हैं, इस लिये उन के स्वभाव वा गुण नहीं ही मिल सकते, यह वर्तमान स्थिति मे, जब कि जाति वा वर्ण का नाम किसी व्यक्ति के शील, आचार, विचार, व्यवहार, और वृत्ति का द्योतक कुछ भी नहीं होता, केवल मूढ़ग्राह है ।

वस्तुतः सवर्ण विवाह का अर्थ ऐसे व्यक्तियों का विवाह है जिन के गुण-कर्म, जिन के बौद्ध और शारीर व्यसन, जिन की ज्ञान-इच्छा-क्रिया संबंधी रुचि-अरुचि, समान वा अ-विरोधी हों, परस्पर संगत हों । सवर्ण का अर्थ यह नहीं है कि केवल उनके जाति-नाम वर्ण-नाम मात्र एक हों । मनुष्यों के लिये यह भ्रम साधारण है, कि कार्य को कारण और कारण को कार्य मान लें । ऐसे ही भ्रम मे हम हिन्दू लोग विशेष रूप से पड़ गये हैं, और गाड़ी आगे और घोड़ा पीछे जोत रहे हैं; अर्थ की अपेक्षा शब्द को अधिक महत्व दे रहे हैं । स्वाभाविक क्रम यह है — स्वभाव से गुण, गुण के अनुसार शिक्षा और जीविका-कर्म, कर्म के अनुसार वर्णनाम; भगवद्गीता के शब्दों मे, पहले स्वभाव, उस से गुण, उस से कर्म ।

> चातुर्वर्ण्यम् मया सृष्टम् गुण-कर्म-विभागशः;
> कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव-प्रभवैर् गुणैः (गीता) ।

आज हम ने इस क्रम को उलट दिया है; मान रक्खा है कि पहिले आनुवंशिक जाति या वर्ण नाम, फिर उस से वृत्ति, फिर उस से स्वभाव उत्पन्न होता है; अर्थात् एक आदमी का जन्म एक विशेष जाति वा वर्ण मे हुआ है, अतः उसका वही कर्म होगा जो उस जाति के नाम से जाना जाता है; और यतः उसका वह कर्म है अतः उस मे तदनुकूल गुण भी अवश्य है ! प्राकृतिक क्रम के इस विपर्यय का ही स्वाभाविक

परिणाम यह है कि गुण, कर्म, और वर्ण-नामो वा जाति-नामो के असंख्य अनमेल बेमेल संयोग दिखाई देने लगे हैं; जन्म से वर्ण-नाम जाति-नाम कुछ है, शील-स्वभाव योग्यता कुछ और ही है; जिस जीविका-कर्म मे लग गये हैं वह कुछ तीसरा ही है; वर्ण-नाम बहुत अर्थ-रहित और मिथ्या हो रहा है; अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता सफल नहीं होती, प्राकृतिक रुचि तृप्त नहीं होती, उस की योग्यता न होने से वह जीविका-कर्म भी ठीक नहीं सधता। वर्ण-व्यवस्था बिगड़ते-बिगड़ते, अब उसका अर्थ सिर्फ यह रह गया है कि नाम-वर्ण वा जाति के बाहर भोजन-सम्बन्ध और विवाह-सम्बन्ध न हो; अनेक ऐसे विवाह होने लगे हैं जो नाम को तो सवर्ण हैं, पर वस्तुतः नितान्त अ-सवर्ण हैं, पति और पत्नी का रूप रंग शील स्वभाव कुछ भी नहीं मिलता, परस्पर अप्रसन्नता वैर द्रोह रहता है, तथा समाज मे वह अन्धाधुन्धी और जीविका-सम्बन्धी अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी है, जो ही संस्कृत शब्द 'वर्ण-संकर' का सच्चा अर्थ है।

अस्पृश्यता का प्रश्न

अन्तर्वर्ण विवाह के इस प्रश्न से अस्पृश्यता के प्रश्न का भी सम्बन्ध है। अस्पृश्यता-विषयक भाव मे विज्ञान का अंश इतना ही है, कि स्पर्श उन लोगों का अनुचित है जो मलिन हैं, अथवा संक्रामक वा छूत के रोगों से पीड़ित हैं। पर मनुष्य चाहे जैसा निर्मल और नीरोग और शुभ्र हो, यदि उसका जाति-वर्ण-नाम किसी ऐसी जाति का है जो प्रचलित प्रथा से अस्पृश्य है, तो उसे छूना न चाहिये—यह केवल 'मूढ़-ग्राह' है। और ऐसे आदमियों का, अपने लिये, ऐसे जाति-वर्ण-नाम को दाँतों से पकड़े रहना, यह और भी घोर 'मूढ़-ग्राह' है।*

---

* कई वर्ष हुए, महात्मा गांधी ने जब अछूतों के लिये 'हरिजन' शब्द ईजाद किया, उस के थोड़े ही दिन बाद, एक सज्जन मेरे पास आये; साधारण धोती कुर्त्ता टोपी पहिने थे; मै ने पास की कुरसी पर बैठने को कहा; बैठे। पर आरम्भ मे ही उन्हों ने कहा कि मै 'चमार' हूं। मुझे दुःख हुआ. उन से कहा—'मै ने तो आप से आप की जाति नहीं पूछी, आप ने हठात् मुझ को क्यों सुनाया कि आप 'चमार' हैं;

वस्तुतः, किसी का नाम ही ऐसा न होना चाहिये, जिस से कोई पेशा समझा जाता हो, पर वह उस पेशे का न हो। 'दलित वर्ग' का प्रश्न एक क्षण मे हल हो जाय, यदि वे हजारों क्षुद्र जातिनामो का त्याग कर दें, और प्रधान चार वर्णो मे से ऐसे वर्ण के नाम का ग्रहण करें जिस के अन्तर्गत उन का पेशा हो; यथा, करोरा 'हरिजन', जो कृषि से जीविका करते हैं, वे सब अपने को 'वैश्य' ही कहें, और अन्य सब नाम छोड़ दें। साथ ही, यदि उन का पेशा मैले काम का हो, तो, उन्हें वह काम कर के, तुरन्त अपना शरीर धोकर साफ करना चाहिये; तथा समाज की ओर से उन्हें शिक्षा मिलनी चाहिये, कि वे अपना शौच इस तरह करें। यह प्रश्न वस्तुतः बहुत सरल है, पर उसे हल करने की नीयत का, और उपाय के ज्ञान का अभाव है; इसी से सरल भी अत्यन्त कठिन हो गया।

मेरे लिये यही पर्याप्त था कि आप मनुष्य हैं, और मलिन नहीं हैं; पर जब आप को यह हठ है कि आप 'चमार' ही हैं, तो मेरा भी पुराना संस्कार जागता है और याद दिलाता है कि मै प्रचलित रीति से, त्रैवर्णिक द्विज (वैश्य अग्रवाल) हूं, और आप 'अस्पृश्य' हैं; इस कुर्सी पर मेरे पास आप को नहीं बैठना चाहिये; ख़ैर अब आप बैठ गये हो तो बैठे रहिये, पर 'जाति' न बतला कर, अपना जीविका कर्म बतलाइये। उन्हों ने कहा कि 'आटा दाल आदि बेचता हूँ, पंसारी की दूकान करता हूं'। मै ने उन से फिर इसरार से, निर्बन्ध से, कहा, 'तब आप अपने को वैश्य कहो, चमार मत ही कहो'। ख़ैर, दूसरी बातों के बाद वे चले गये।

इसी आशय की प्रार्थना, मै ने, तीस पैंतीस हज़ार आदमियों के भारी समागम, 'पब्लिक् मीटिङ्', से १९३४ ई० मे, काशी मे, महात्मा गांधी से की, कि "हरिजन शब्द को छोड़िये, इस से आप का अभीष्ट सिद्ध नहीं होगा, बल्कि एक और नई जाति, 'हरिजन' नाम की, बन जायगी, और जो इस समय प्रायः दो हज़ार 'अछूत' कहलाने वाली जातियां हैं वे ज्यों की त्यों परस्पर 'अछूत' बनी रहैंगी, आपस मे अन्न-यौन-सम्बन्ध नहीं करैंगी, (महात्मा जी के, हरिजनोद्धार कार्य करने वाले अनुयायियों से भी यही प्रार्थना समय समय पर करता

प्राणहारक शब्द और प्राणकारक भाव

सभी देशों और सभी कालों मे मनुष्य के स्वभाव की इस दुर्बलता का परिचय मिलता है कि, वह प्राण बढ़ाने वाले 'भाव' की तो उपेक्षा करता है और मार डालने वाले 'शब्दों' को पकड़े रहता है; अनाज की हीर फेंक देता है, और भूसी को हिफ़ाज़त से रखता है।

तान्येव भावोपहतानि कल्कः। (म० भा०)

अच्छा काम भी, बुरे भाव से, बुरी नीयत से, किया जाय, तो

रहा), 'हरि-जन' शब्द के स्थान मे 'मनु-जन' शब्द का प्रयोग कीजिये, और सब को यह उपदेश दीजिये कि अपने पेशे के अनुसार, चार मे से एक वर्ण का अपने को बतलावें, और दो हज़ार भिन्न नामो को बिलकुल छोड़ दें (जैसा बौद्धयुग मे हुआ था)"। पर मेरी प्रार्थना सुनी नहीं गई। हरिजनोद्धार जिस प्रकार से हो रहा है, वह सब को प्रत्यक्ष है। हाँ, अपना 'हक़' मांगने का बल उन मे, कुछ अधिक हुआ है, उच्चम्मन्यों को कुछ नीचा देखना पड़ा है, 'नीचों' कहलाने वाली जातियों ने सिर ऊंचा किया है; इन के साथ वैसा तिरस्कार का व्यवहार 'ऊंच जात वाले' अब नहीं करते जैसा पहिले, पर मन मे अधिक बुरा मानते हैं। लेकिन, जो महात्मा गांधी जी का और उनके अनुयायियों का लक्ष्य था, वह बात, तो बिलकुल सिद्ध नहीं हुई, अर्थात् हिन्दु-मुस्लिम एका तो बहुत दूर रहा, बल्कि परस्पर द्वेष नितरां बढ़ता ही गया, और केवल 'हिन्दू' कहलाने वालों का भी थोड़ा भी सच्चा एका नहीं ही हुआ। वह एका, (न केवल हिन्दुओं का, बल्कि मानव-मात्र का), तभी संभव है, जब 'कर्मणा वर्णः' और 'वयसा आश्रमः' के सिद्धान्त पर; समाज-व्यवस्था पर ज़ोर लगाया जाय। 'हरि-जन' नाम की निष्फलता, और 'चतुर्वर्णात्मक' 'मनु-जन' नाम की सफल-गर्भता, मै ने बहुत बार पुनः पुनः हिन्दी और अंग्रेज़ी अख़बारों मे, लेखों द्वारा, जब से 'हरि-जन' शब्द चला, तब से दिखाने का यत्न किया है। 'अछूत' जातियों ने जो कुछ सिर उठाया, वह 'हरि-जन' नाम के बल से नहीं, बल्कि सारे देश के, जो सब का सब ही 'दलित' है, राजनीति के क्षेत्र मे सिर उठाने से।

बुरा हो जाता है; गलत काम भी, नेक नीयत से किया जाय, तो अच्छा हो जाता है।

शब्दों को पकड़ने की, शब्दों के पीछे दौड़ने की, अर्थों की ओर ध्यान न देने की, इस दुर्बलता से बचने का प्रयत्न सदा बड़ी सावधानी से करते रहना चाहिये।

एक अंग्रेज मित्र से मैं ने सुना है कि, उनके देश मे, जब, चालीस पचास वर्ष हुए. यह बात अव्वल अव्वल वैज्ञानिकों को मालूम हुई, कि मैले हाथों मे लगे हुए रोगाणुओं से रोग, स्पर्श द्वारा, एक शरीर से दूसरे शरीर मे संक्रमण करते हैं, तब वैज्ञानिकों ने कहा कि, आटा तथा अन्य खाद्य पदार्थ, हाथ से साने गूँधे या अन्य प्रकार से छूए न जाने चाहियें। ज्यों ही यह बात कही गयी, त्यों ही खाद्य पदार्थ बनाने वाले, अपनी बनाई जिन्सों पर इस मज़मून के पुर्जे लगाने लगे—'हाथ नहीं लगाया गया।'* मेरे मित्र को यह जानने की इच्छा हुई कि, देखूं, अन्य किस प्रकार से गूंधने आदि का काम ऐसे कारखानों मे किया जाता है, जहां 'डबलरोटी', 'बिसकिट' आदि खाद्य द्रव्य बनाये जाते हैं। वे एक कारखाने मे गये तो क्या देखा कि, मज़दूर अपने नंगे पैरों से आटा गूंध रहे हैं! डाक्टरों ने 'हाथ' लगाने को मना किया था, 'पैरों' के बारे मे तो कुछ नहीं कहा था!

जहां बुद्धि का अभाव होता है, या सदाचार का स्थान अहंकार या लोभ ग्रहण करता है, या धोखा देने, बहकाने और ठगने की प्रवृत्ति होती है, या स्वत्वों या अधिकारों को हथियाने और कर्तव्यों को टालने की इच्छा होती है, वहां ऐसा अर्थ का अनर्थ सदा हुआ ही करता है। वर्ण-व्यवस्था की भी यही दशा हुई है।

उद्देश्य यह था, और चिरकाल तक सफल भी होता रहा, कि भारत की हज़ारों जातियों और फ़िर्क़ों को 'अंगांगिभाव' से, 'मुख-बाहु-ऊरु-पाद'वत् मिला कर, उन का एक पूर्ण 'समाज शरीर' संघटित किया जाय, जिस मे प्रत्येक व्यक्ति को उस के खास स्वाभाविक गुणो को बढ़ाने और आत्मविकास करने का अवसर मिले। और प्रत्येक को उस के उपयुक्त स्वभावानुकूल जीविका-साधन का काम दे कर यह व्यवस्था भी की गयी, कि उस के खास गुणो के सदुपयोग से सारे समाज की सेवा भी हो।

---

* Untouched by hand, 'अन् टच्ड बाइ हैण्ड'।

आगे चल कर यह भाव ही उलट गया। जहाँ मूल कल्पना, गुणानुरूप जीविका-कर्म की थी, वहां नई कल्पना हुई जन्म से कम की, गुण का स्थान जन्म ने लिया, जन्म से कर्म स्थिर किया जाने लगा; और आगे चल के यह भी व्यवस्था गिर गयी, वर्ण कुछ और कर्म कुछ होने लगा। फलतः, सुसंघटित, सुसंहत, सुव्यूढ़ समाज, विश्रृंखल, असंहत, विदीर्ण हो गया, और उसके हजारों टुकड़े ऐसे हो गये जो एक दूसरे से ईर्ष्या, मत्सर, विरोध, स्पर्धा करने ही मे अपना भला मानते हैं।

वर्णव्यवस्था की सर्वसंग्राहकता

यदि वर्णव्यवस्था के, अर्थात् चतुर्विध जीविका-कर्मों के, अनुसार, समाज के वर्गीकरण के मूलगत, अन्तःकरण-शास्त्रानुकूल, अध्यात्मशास्त्रानुकूल, सिद्धान्तों का अर्थ ठीक ठीक और उदारतापूर्वक किया जाय, तो वह व्यवस्था अब भी अपना मूल उद्देश्य सिद्ध कर सकती है। समस्त जगत् के मनुष्य-जीवन को बुद्धिपूर्वक, खूब सोच समझ कर परस्पर-सम्बद्ध, अन्योऽन्याश्रित, चार विभागों मे विभक्त कर के सुसंघटित और सुसंयोजित करना—यही वह उद्देश्य है। पूर्वकथनानुसार चार वर्ग वा व्यूह ये हैं—पहिला वर्ग 'शिक्षकों', ब्राह्मणो, ज्ञानियों, आलिमों, आरिफ़ों का है, यानी उन लोगों का जो ज्ञान, इल्म, 'इर्फ़ान' के अधिकारी हैं—वह ज्ञान जो विज्ञान और विश्वप्रेम से युक्त है; दूसरा वर्ग 'रक्षकों' का है, जिस मे क्षत्रिय, महाफ़िज़, आमिल, 'आमिर' या अमीर जिन मे 'अम्र', 'हुकूमत', 'आज्ञाशक्ति', तथा शौर्य है—वह शौर्य को परोपकारी है; तीसरा वर्ग आर्थिक 'पोषकों' का है, जिस मे वाणिज्य व्यापार के कुशल व्यक्ति हैं—वह वाणिज्य और तिजारत जिस से सब मनुष्योपयोगी पदार्थों का संग्रह और वितरण, कुशलता और उदारता से होता है; अन्तिम और चौथा वर्ग 'सहायकों' वा 'धारकों' का है, जिस मे सेवा, परिश्रम, जिस्मानी मिहनत, मश्क़, मशक्कत करने वाले हैं—वह सेवा जिस का भाव (बलात्कारेण, अपनी इच्छा के विरुद्ध, सेवा का नहीं, वल्कि) दूसरों की सहायता करने की स्वयं रुचि, उत्साह, श्रद्धा का है। इस प्रकार से, पुस्तक (अर्थात् ज्ञान-विज्ञान, शास्त्र, विद्या, वेद, शास्त्रबल) के द्वारा तलवार (दण्ड, दमन-शक्ति, आज्ञाशक्ति, शासनबल, शस्त्रबल) का नियमन, नयन, प्रणयन होता है; खड्ग के द्वारा थैली (धन-धान्य, कोषागार-

अन्नागार, धनबल) का रक्षण होता है; थैली के द्वारा हल-बैल, फावड़ा-कुदाल (शारीर श्रमबल) का भरण-पोषण होता है; और हल बैल से चारो की सहायता होती है ।'*

'कर्मणा' वर्ण-धर्म और 'वयसा' आश्रम-धर्म के, अर्थात् सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के, संघटनों के संयोग से बनी हुई यह व्यवस्था, व्यक्तिवाद, समाजवाद, तथा अन्य सब 'वादों' का सुन्दर समन्वय करती है; जिस को जो चाहिये उसे उतना ही, न अधिक न कम, दे कर, यह, मनुष्यजीवन की आवश्यकताओं के परस्पर-विरोधी द्वन्द्वों के बीच का मार्ग दिखाती है; पारिवारिक जीवन मे अच्छे मनोरंजन और सुप्रजनन की, रति-प्रीति सुसंतति की, यथेष्ट, न अधिक न कम, सुविधा कर देती है; सब प्रकार की प्रकृतियों के लोगों को अपने अपने कृत्यों और रुचियों के लिये उचित अवसर देती है। समस्त मानव संघ की, सर्व लोक-संग्रह की, उदार और उदात्त कल्पना इस से सम्भव होती है। कृषक (और व्यापारी), सैनिक (और शासक), श्रमजीवी (बौद्धिक और शारीरिक उभय प्रकार के श्रम करने वाले) लोगों के सोवियेट (संघ) स्थापित कर के, रूस इसी ओर जाता दिखाई देता है; यद्यपि वह इस काम मे बड़ी गलतियाँ भी करता रहा है, और मनुष्य-स्वभाव की अंगभूत आध्यात्मिक और मानसिक कई व्यवस्थाओं की उपेक्षा कर रहा है, जिस का परिणाम, आगे चल कर भयंकर हो सकता है। जापान, बाह्यतः समाज व्यवस्था मे रूस के बिलकुल विरोधी दिखाई देने वाले मार्गों से, पर कई गुर्वर्थ बातों मे तत्सदृश ही, व्यवस्थित समाज-संघटन का काम करता रहा है। भारत की प्राचीन व्यवस्था ने इन दोनों का समन्वय करने और ऊपरी नुमाइशी विरोधों का परिहार करने का मार्ग दिखाया है।

मूल 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' मे स्थान पाने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कोई मनुष्य अपने देश, राष्ट्र, मातृभाषा, वा विशेष धर्म का त्याग करे। किसी देश का रहने वाला, किसी राष्ट्र का सदस्य, किसी भाषा का बोलने वाला, कोई भी नाम धारण करने वाला, वेद मे, कुरान

* इन के तुल्यार्थ अंग्रेज़ी शब्द, पीछे फुट-नोट मे दिये हैं।

मे, पुरानी तौरेत मे, नई इञ्जील मे, जिंदाविस्ता मे, बौद्ध त्रिपिटक मे, जिनआगम मे, या 'ग्रन्थ साहब' मे विश्वास करने वाला, अपने विशेष विश्वासों की, तथा अन्य सब लवाज़िमों की, रक्षा करता हुआ, अपने अपने पेशे के अनुसार वृत्तिसूचक वर्ण-नाम का ग्रहण कर सकता है; और यदि वह सोच समझ कर समान शील वाली 'सहधर्मिणी' से विवाह करे, तो उस की अर्द्धांगिनी को भी उस का वृत्तिसूचक वर्ण-नाम प्राप्त होगा।

इस की विशेषता

मूल वर्णव्यवस्था तो एक ऐसा साँचा ढांचा है जिस मे मानव जाति की सब अवांतर जातियों के मनुष्य, अपने अपने स्वाभाविक गुणो और जीविका कर्मों के अनुसार ढाले जा सकते हैं; और भारतवर्ष मे प्रायः बौद्धकाल के अन्त तक ढाले जाते थे। 'व्रात्यस्तोम' आदि विधियों से उन का संस्कार कर के 'व्रात्य' से 'शालीन', 'अनार्य' से 'आर्य', 'वर्ण-रहित' से 'वर्ण-सहित', 'अव्यक्त–वर्ण' से 'सुव्यक्त-वर्ण', बना लिए जाते थे। 'शाकद्वीपी ब्राह्मण' आदि का अर्थ यही है कि जो 'शक' जाति के लोग भारतवर्ष मे आ कर बस गये उन मे से ज्ञान-प्रधान व्यक्ति 'ब्राह्मण' वर्ण मे शामिल हो गये और 'शाक द्वीपी' कहलाये। एवं चौहान परमार आदि राजपूतों के जो चार 'अग्निकुल' क्षत्रिय इस प्रथा के साथ प्रसिद्ध हैं, कि ब्राह्मणो ने विदेशियों के आक्रमण से भारत की रक्षा के लिये यज्ञ किया और अग्निकुण्ड मे से अस्त्र-शस्त्र से सुसज्ज चार क्षत्रिय निकल आये और उन्हो ने विदेशी आक्रमणकारियों को युद्ध मे हरा कर निकाल दिया —इस प्रथा का अर्थ यही है कि, वेदी-कुंड मे अग्नि को प्रज्ज्वलित कर के वेद-विधि से चार विदेशी शूरों को, या ऐसे स्वदेशी शूरों को जो 'जन्मना' क्षत्रिय नहीं थे, वैदिक आदि विधि से 'क्षत्रिय' बनाया। परशुराम ने नये ब्राह्मण बनाये, यह कथा पुराणो मे प्रसिद्ध है, और महाराष्ट्र देश के 'चित्पावन' ब्राह्मणों के विषय मे ऐसी किंवदंती है कि परशुराम के उन्हीं ब्राह्मणो के यह वंशज हैं। महाभारत मे यह स्पष्ट लिखा है कि, जमदग्नि और परशुराम के सेनापत्य मे, अन्य तीन वर्णो ने मिल कर, प्रजोत्पीड़क 'क्षत्रियों' का ऐसा संहार किया, कि क्षत्रिय, रक्षा कार्य के लिये, पर्याप्त बचे नहीं; तब उन्हीं तीन वर्णों मे से, 'स्वर्णकार' 'व्योकार' आदि मे जो विशेष शूरवीर और रक्षा-धर्म-निष्ठ थे, उन को 'क्षत्रिय' बना

दिया गया। इत्यादि। निष्कर्ष यह कि वर्ण-व्यवस्था एक ऐसा उपाय है कि, समस्त मानवजाति के सभी सदस्य, सृष्टि-विकास के क्रम मे चाहे वे किसी दर्जे पर हों, चाहे 'मानसिक' बाल्य वा कौमार वा यौवन वा प्रौढ़ वा वृद्ध और शान्त अवस्था मे हों, सब प्रकार की प्रकृतियों के, यथा-स्थान, इस मे समावेश पा सकते है। पांच पीढ़ियों के संयुक्त बृहत्तर परिवार के सदस्यों की तरह इस के सदस्य भी, परस्पर प्रेम, परस्पर संमर्ष, सहनशीलता, रवादरी, परस्पर सहानुति, और परस्पर सहायता के भावों से भावित हो कर, सुख से रह सकते हैं।

इस पर यह कहा जा सकता है कि, व्यवहार मे यह तो पृथ्वी मे सर्वत्र हो ही रहा है, फिर वर्ण-व्यवस्था मे विशेषता ही क्या है? इस का उत्तर यह है कि, (१) इस से मनुष्य मात्र की एकता और संग्रहण का आदर्श सब के आंख के सामने सदा बना रहता है, और समस्त मानव-समाज के संगठन के उत्तम स्वरूप का, और उसके नियामक सिद्धांतों का, स्मरण सब को सदा बना रहता है; यह बड़े महत्व की बात है, इस के अभाव मे, प्रचलित व्यवस्था, सर्वत्र अत्यन्त अपूर्ण रह जाती है, अन्ध-संघर्ष होता रहता है, और सहयोग की जगह प्रतियोग प्रबल होता है; (२) सामाजिक जीविकाकर्मों, और सब प्रकार के व्यवसायों और उद्योगों का, बुद्धिपूर्वक विभाग कर के, और तदनुसार पारितोषिक की व्यवस्था कर के, यह व्यवस्था, व्यक्तिवाद और समाजवाद का वैज्ञानिक समन्वय करती है। ऐसा बुद्धिपूर्वक-समन्वय, वर्तमान स्थिति मे, कहीं पाया नहीं जाता। इस व्यवस्था मे यह संभव नहीं है कि एक मनुष्य अपने वर्ण वा वर्ग के लिए निर्धारित जीविकाकर्मों के सिवा, अन्य वर्गों के लिए निर्धारित किसी कर्म के द्वारा, अधिक धन उपार्जन करने की चेष्टा करे। इस व्यवस्था मे कोई अध्यापक, आचार्य, वकील, सैनिक, मजिस्ट्रेट, जज वा जमींदार, अपना कर्म करता हुआ, बैंकर, साहूकार, या कम्पनी डाइरेक्टर का काम नहीं उठा सकेगा। उसी तरह लेन-देन करने वाला सूदखोर कुसीद-जीवी वार्धुषिक 'महाजन' या कम्पनी डाइरेक्टर भी, अध्यापकी, वकीली, जजी, जमींदारी, सिपाहीगीरी, कान्स्टेब्ली, मजिस्ट्रेटी आदि का काम नहीं करने पावेगा। इस मे वेतन लाभ, कर, पुरस्कार, राजाओं की तनखाह ('सिविल लिस्ट') आदि, न्याय्य परिमाण की सीमा का अतिक्रमण नहीं करने पावेगी। तथा 'गरीब अमीर' मे अत्यन्त अन्तर न होने पावेगा।

यही इस प्राचीन 'कर्मणा' वर्ण व्यवस्था का, आजकाल जो अन्य देशों मे समाजों का रूप है उस से, विशेष भेद है।

ज्ञात इतिहास-काल मे, मालूम होता है कि, समस्त मानवजाति मे से केवल प्राचीन भारतीयों ने ही, बुद्धिपूर्वक और क्रमपूर्वक, मानवजाति के प्राकृतिक नियमो और चित्त की वृत्तियों का अनुसरण करते हुए, वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अंगों वा अंशों का वैज्ञानिक विभाग करने का प्रयत्न किया है, और सफलता के साथ किया है। दक्षिण अमेरिका के 'पेरू' नामक देश मे, ईसा की १२ वीं से १५ वीं शताब्दियों के बीच, अर्थात् चार सौ वर्ष तक, भारतीय वर्णव्यवस्था से कुछ मिलता-जुलता, समाज का प्रबंध हुआ। बुद्धदेव के बाद, बौद्ध धर्म को फैलाने के लिए, चारों ओर भिक्षु लोग गये। आधुनिक पाश्चात्यों की ही खोज से इस का पता चल रहा है कि अमेरिका मे भी ये लोग चीन जापान से होते हुए गये। क्या अजब जो ऐसों ने ही, पेरू मे यह व्यवस्था चलाने का यत्न किया हो। स्पेन देश के आक्रमणकारियों ने पेरू और मेकसिको को नितरां ध्वंस कर दिया। आधुनिक समय मे रूस भी कुछ ऐसी ही समाज व्यवस्था का यत्न कर रहा है, जैसा पहिले कहा जा चुका है।

सिद्धान्तों की उपेक्षा

इस देश मे कर्मानुसार वर्णव्यवस्था के सब. मूल सिद्धान्त अब भुला दिये गये हैं। आज, चतुर आदमी, सम्मान, पदाधिकार, धन, और विनोद को, अर्थात् इज्जत, हुकूमत, दौलत, खेल तमाशा, इन चारो को अधिक से अधिक मात्रा मे प्राप्त करने का यत्न करता है; जैसा अन्य देशों मे हो रहा है। सारांश यह कि वह, सब अधिकारों को प्राप्त कर लेने का, और सब कर्तव्यों का त्याग कर देने का, यत्न करता है; अधिक चतुर और भाग्यवान् मनुष्य, इस मे कृतार्थ भी हो जाता है। सर्वहरण के इस अति-प्रचलित यत्न से, इस वर्णसंकर से, कर्म और पुरस्कार के बंटवारे की पद्धति की इस अस्तव्यस्तता से, मानव-समाज मे भयंकर क्षोभ उत्पन्न हो गया है; तथा भारतवासी, और विशेष कर हिंदू, बहुत ही शोचनीय दशा को प्राप्त हो गये हैं। जिस व्यवस्था का मूल उद्देश्य यह था कि परस्पर संगठन और एकता कराने वाली शक्ति उत्पन्न हो, वही व्यवस्था, सिद्धान्तों को भूल जाने से, समाज को खण्ड-खण्ड करने का, असंख्य

भागों मे विभक्त करने का, कारण हो रही है। जो एक समय 'वर' (वर-दान, 'ब्लेसिङ्') था, वही अब 'शाप' (कर्स) हो गया है।*

जैसे 'अनियंत्रित व्यक्तिवाद', अपनी-अपनी खिचड़ी अलग पकाने की बुद्धि, 'जिस का जैसा जी चाहे वैसा वह करे'—यह बुद्धि, जैसे जात्यु-पजाति के भेदों की हेतु, भारत मे है, वैसे ही राजनीतिक, राष्ट्रीय, प्रांतीय, आदि मनमाना स्वच्छन्दता से उत्पन्न भेदों की जननी यहाँ भी और पच्छिम मे भी है। मूल भाव के बिगड़ जाने से सारी बातें बिगड़ जाती हैं। 'तान्येव भावोपहतानि कल्कः'। यदि हम प्रचलित वर्ण-व्यवस्था की स्थापना, पुनः उस के सच्चे प्राचीन गुण-कर्म के आधार पर कर सकें, यदि हम निश्चय कर सकें कि सम्मान और अधिकार केवल उन को ही मिलेंगे जो ज्ञानी, आत्मत्यागी, और जनसेवक हैं; तथा विलासी धन बटोरने वालों को कभी न दिये जायँगे; जैसा वर्ण धर्म के द्वारा प्राचीन समय मे निरोध किया जाता था; तो व्यक्तिवाद और स्वार्थवाद और उन सब 'वादों' का अन्त हो जायगा, जो पच्छिम की नयी वैज्ञानिक सभ्यता को वैज्ञानिक राक्षसता और दुर्बल-पीड़क बर्बरता बनाये हुए हैं। ऐसा होने से मनुष्यता का, इन्सानियत का, भाव पुनः उदित होगा, तथा हमारे सब प्रश्नों का सुलझाव आप ही हो जायगा; क्योंकि जब भाव शुद्ध हो जायगा, जो विलासिता और धनप्रियता से सम्मान और आज्ञाशक्ति को अलग कर देने से अवश्यम्भावी है, तो सब बातें आप ही सुधर जायँगी। जब कर्मों का प्रेरक चित्त, शुद्ध और ज्ञानवान् है, तब कर्म अवश्य ही शुद्ध और सुख-संचारक होंगे।

आज जाति और उपजाति की पंचायतों के मुखिया भूल गये हैं कि उन का कर्तव्य, अपनी-अपनी सीमा के भीतर, अपनी बिरादरी की सेवा सहायता करना है। इस की जगह, वे भोजन, विवाह, और छूतछात के मामिलों मे, उन की राय से जरा भी प्रतिकूल काम करने वालों को जाति-च्युत कर के, अपनी अधिकार-शक्ति का रस ले रहे हैं। सर्वत्र अधिकार का अर्थ हो गया है, दुख देने का अधिकार, न कि सुख देने का; दूसरों को दबाने, दुःख देने, मे ही शक्ति का रस माना जाता है, सुख देने मे शक्ति का उत्तम महत्तम स्वाद होता है—यह भूल गया है।

---

* Blessing; Curse.

तीन मूढ़ग्राह

(१) अन्तर्वर्ण-भोजन-विषयक मूढ़ग्राह तो अब उन लोगों मे से अधिकांश मे मिट गया है जिन्हें नयी शिक्षा मिली है। दक्षिण भारत मे अभी नहीं मिटा है। वर्तमान अवस्था के दबाव से, विशेषतः व्यवसाय कर्म और मनोरञ्जन के लिए दूर दूर के प्रवास करने की प्रथा के बढ़ने से, अधिकाधिक घटता जा रहा है। (२) स्पर्शास्पर्श के सम्बन्ध का मूढ़ग्राह भी नष्ट हो रहा है; पर इस के नाश की क्रिया को क़ानून की सहायता चाहिये, क्योंकि बहुत से चिराभ्यस्त स्वार्थ और कालपोषित हक़ इस मे बाधक हो रहे हैं। साथ ही इस भाव के प्रचार की भी आवश्यकता है, कि मल अस्पृश्य है, मनुष्य अस्पृश्य नहीं। (३) अन्तर्वर्ण-विवाह सम्बन्धी मूढ़ग्राह सब से प्रबल है, कारण यह कि इस का सम्बन्ध कानूनी अधिकारों से और 'अदालती मुआमिलों' से है। इस लिए इस विषय मे खास क़ानून की आवश्यकता है, जैसा कि इस उपक्षिप्त विधान द्वारा बनाने का उद्योग किया गया है।

इन तीनो मूढ़ग्राहों का उन्मूलन करने वाला वैज्ञानिक सिद्धान्त, सूत्र-रूप से, इस सुप्रसिद्ध संस्कृत वाक्य मे कहा हुआ है—

समान-शील व्यसनेषु सख्यम्

सच्ची मित्रता उन मे ही सम्भव है, जिन के आचार-विचार, शील-स्वभाव, एक से, वा अ-विरोधी, परस्पर सहायक होते हैं।

देशकाल-अवस्था के परिवर्त्तन से धर्म-परिवर्त्तन

केन्द्रीय धर्मऽाम्नात्री सभा, धर्मपरिषत्, 'लेजिस्लेटिव असेम्बली,' 'सेन्ट्रल लेजिस्लेचर' मे इस विधान का उपन्यास होने के बाद, कई जगह सार्वजनिक सभाएँ हुईं।* उस के सभापतियों और मन्त्रियों के हस्ताक्षर से सभाओं के निश्चयों की प्रतियां मेरे पास आईं। समाचार पत्रों मे कुछ लेख भी छपे। निश्चय ही, लेख भी, कुछ विरोधी हैं, कुछ समर्थक। ऐसी ही आशा थी। कुछ समर्थकों ने परामर्श भी दिया, कि उपन्यस्त विधान मे ऐसी-ऐसी त्रुटि की पूर्ति कर देनी चाहिये। अन्तर्वर्ण विवाह

---

* Legislative Assembly; Central Legislature.

के सम्बन्ध मे इस समय जो कानून मौजूद हैं, उनका हवाला देकर कुछ सज्जनो ने यह लिखा कि नये कानून की जरूरत नहीं मालूम होती।

इन लेखों पर मैंने आदर से ध्यान दिया। मुझे ऐसा जान पड़ा कि वर्तमान विधानों मे कई ऐसी शर्तें हैं, जो ऐसे कुछ सज्जनों को ग्राह्य नहीं हैं जो अन्तर्वर्ण-विवाह करना चाहते हैं। वर्तमात विधानो मे केवल हिन्दू धर्म की ही चर्चा नहीं है, बल्कि अन्य धर्मो की भी है; तथा उनके अनुसार, ऐसे लोगों को जो अन्तर्वर्ण विवाह करना चाहते हैं, या तो यह क़रार करना पड़ता है कि हम किसी विशेष धर्म के अनुयायी नहीं हैं; या, यदि वे हिन्दू बने रहना चाहते हैं तो उन्हें कई हक़ छोड़ देने पड़ते हैं; यथा, यदि अविभक्त कुल के अंग हैं तो कुल से उनका सम्बन्ध कट जायगा; उनके पिता को दूसरा लड़का गोद लेने का हक़ हो जायगा; उनको स्वयम् गोद लेने का हक न रहेगा; उनकी सन्तान को सिर्फ़ उन्हीं की निजी जायदाद पाने का हक़ 'इण्डियन सक्सेशन ऐक्ट' के अनुसार होगा, स्मृत्युक्त दाय-विभाग के अनुसार नहीं:* उन की संतान को अपने दादा आदि की जायदाद मे स्मृत्युक्त दाय-विभाग के अनुसार अधिकार न होगा; उनका किसी धर्मदाय या सम्पत्ति के प्रबन्ध का अधिकार न रहेगा; कुल-देवता के मन्दिर मे पूजा नहीं कर सकते, कुल के स्थापित देवत्र ('ट्रस्ट') की समिति के सदस्य नहीं हो सकते; इत्यादि। जिन सज्जनो को यह शर्तें मंजूर हों, उनके लिये तो वर्तमान विधानो का रास्ता खुला है, और वे उस पर चल सकते हैं और चलेंगे। पर कुछ सज्जन ऐसे हैं जो अपने कुल कुटुम्ब से कानूनन सम्बन्ध-विच्छेद करना, और स्मृत्युक्त दाय-विभाग के और दत्तक पुत्र की गोद लेने आदि के अधिकार का त्याग करना, नहीं चाहते; 'हिंदू' होने के नाते जो अधिकार-कर्तव्य उनको प्राप्त हैं उन सबको बनाये रखना चाहते हैं, सर्वथा 'हिंदू' वने रहना चाहते हैं, केवल अन्तर्वर्णविवाह को अनुमति चाहते हैं। ऐसे लोगों के अभीष्ट की पूर्ति के लिये यह सीधा सादा विधान, श्री विट्ठलभाई पटेल जी ने प्रस्तुत किया था, और मै ने उन का अनुकरण कर के पुनर्वार प्रस्तुत किया। जहाँ तक मैं विचार

* Indian Succession Act.

सका हूँ, इस विधान से किसी को कोई हानि नहीं होती है, प्रत्युत कुछ सज्जनों की अभीष्ट-सिद्धि होती है, और, 'दीर्घं पश्यत, मा ह्रस्वं, परं पश्यत माऽपरम्' के न्याय से, समस्त हिंदू समाज के उत्तम संग्रथन, उपोद्बलन्. दृढ़ीकरण का आरम्भ होता है। इस लिये हिंदू समाज के विविध समुदायों के नेताओं से मेरी विनीत प्रार्थना है कि इस पर शान्तिपूर्वक विचार करके इस विधान को आशीर्वाद दें, कि हिंदू समाज के राजयक्ष्मा क्षयरोग को दूर करने के लिये, अति वीर्यवान् औषध का यह काम करे। ज़रूर है कि बहुत दिनो से जिस बात का, जिस दस्तूर का, अभ्यास पड़ जाता है, उस को बदलते मन बहुत हिचकता है, पर देश-काल-निमित्त को पहिचान कर, विचारशील पुरुष, पुराने संस्कार को बदल कर, नयी मर्यादा स्थापित करते ही रहते हैं। श्लोक प्रसिद्ध है,

> अश्वालम्भं, गवालम्भं, संन्यासं, पलपैतृकं,
> देवराच्च सुतोत्पत्तिं, कलौ पंच विवर्जयेत्;
> निवृत्तानि पंचाऽपि, व्यवस्थापूर्वकं, बुधैः,
> दृष्ट्वा कालगतिं सम्यक् कलेर् आदौ महात्मभिः।

अश्वमेध, गोमेध, संन्यास, श्राद्ध मे मांस का पिण्डदान, देवर से विधवा को सन्तान—इन पाँच बातों को, जो पहिले धर्म्य थीं, जायज थीं, कलि के आरम्भ मे, बुद्धिमान् महात्माओं ने, काल की गति को अच्छी तरह विचार करके, मना कर दिया। तिस पर भी संन्यासी आज तक होते ही हैं, और उनमे कोई-कोई, सौ दो सौ मे एक, सच्चे तपस्वी ज्ञानी वृद्ध भी होते हैं, जिन की तपस्या के बल से भारतवर्ष का आध्यात्मिक प्राण अभी तक बचा हुआ है। तथा अश्वमेध भी होते ही रहे हैं। कलि के आरम्भ से प्रायः तीन हज़ार वर्ष पीछे, समुद्रगुप्त ने काशी मे अश्वमेध यज्ञ किया, उसके अश्व की पाषाण मूर्ति अब तक, प्रायः पन्द्रह सौ वर्ष पुरानी, संकटमोचन हनुमान् के मन्दिर के सामने वर्तमान रही है*; इस का पता श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की स्फूर्तिमती बुद्धि ने, उस मूर्ति पर खुदे, अधिकांश मिटे

* अब यह अश्व-प्रतिमा, संकटमोचन से हटा कर, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कला-भवन में रख दी गई है।

हुए, अक्षरों को पढ़ कर लगाया। और भी ऊपर कह चुके हैं, कि हिन्दू कहलाने वाले समाज मे कोई ऐसा आचार (सदाचार वा दुराचार) नहीं है जो, किसी न किसी समुदाय-विशेष में, किया न जाता हो। संन्यासी स्वामी भावानन्द तीर्थ के, अनशन व्रत से, शरीर-त्याग को भी मैं ने १८८८ ई० मे, काशी मे, केदार-घाट पर, गंगा के तीर पर, देखा है, जिस से बढ़ कर किसी पुराणोक्त ऋषि की तपस्या नहीं हो सकती। तथा सब प्रकार की पशुबलि, साक्षात् गो-मेध नहीं तो महिष-मेध, अज-मेध, अवि-मेध, कुक्कुट-मेध आदि भी जारी हैं; यहाँ तक कि 'अघोर' पन्थियों मे, विष्ठा-भक्षण, मूत्रपान, नर-शव-भक्षण, और अवसर मिलने पर नर-बलि-दान भी, हो रहा है; वाममार्गी द्विजों मे भी पंच 'मकार' का सेवन प्रसिद्ध है; विवाह के विषय मे सभी चाल की प्रथा की प्रथित है, दक्षिण मे सगे भाई-बहिन के बेटा-बेटी का अर्थात् सगे फुफेरे-ममेरी भाई-बहिन का, तथा मामा और भांजी का भी, परस्पर विवाह बहुत होता है, (जैसा कृष्ण के बेटे प्रद्युम्न और उन के मामा रुक्मी की बेटी का हुआ); उत्तर मे यह घोर अनाचार समझा जाता है; नीच कहलाने वाली 'हिन्दू' जातियों मे, देवर से, जेठ से, श्वशुर से, जामाता से भी, तथा अन्यों से, विधवाओं के विवाह आज हो रहे हैं; पत्नियों का विनिमय, बदलौवल, भी होता है। शाबर-भाष्य मे और तन्त्रवार्त्तिक मे और भी बहुत से विशेष प्रान्तों के विशेष विशेष अनाचार गिनाये हैं। दाय के सम्बन्ध मे, उत्तर भारत मे मिताक्षरा का कानून, पूर्वभारत बंगाल मे जीमूतवाहन का कानून, त्रावणकोर कोचीन आदि मालाबार प्रान्त मे 'नराणां मातुल-क्रमः,' अर्थात् बेटे को नहीं, भांजे को जायदाद मिले, जारी है। पर सभी 'हिंदू' धर्म और 'हिंदू' समाज के अन्तर्गत हैं। 'शास्त्र' 'शास्त्र' की दुहाई तिहाई बहुत दी जाती है, पर प्रत्येक समुदाय अपना 'शास्त्र-विशेष' अलग रखता है, और उससे अपने 'आचारविशेष' का समर्थन करता है। ऐसी 'सर्वमेवऽाकुलीकृतं' की अवस्था में, जब सब प्रकार की मर्यादाओं का ऐसा संकर हो रहा है कि 'निर्मर्यादम् अवर्तत', तब केवल शब्दों को पकड़े रहना, अर्थ को न देखना, ठीक नहीं। गम्भीर विचार कर के मर्यादा का ऐसा संशोधन करना चाहिये जो लोकसंग्राहक हो, लोकविग्राहक, भेदवर्धक, न हो। केवल 'धर्मनाश' 'धर्मनाश' पुकार कर के ही विधान का विरोध करना उचित नहीं। अर्थ को अच्छी तरह

विचारना चाहिये। धर्मनाश तो वर्तमान प्रथाओं से हो रहा है। उपन्यस्त विधान सद्धर्मरक्षा करने का उपाय है। पुनः पुनः विपक्षी सज्जनो से प्रार्थना करता हूँ, कि आप विश्वास कीजियें कि, जितना आप कहते हो कि आप को 'धर्म' प्रिय है, उस से किसी तरह कम प्रिय मुझ को नहीं है; कम से कम उतना ही प्रिय है; पर हां, धर्म क्या है, इस विषय मे आप के और मेरे विचार मे कुछ अन्तर है; उस अन्तर को, मैं, आप के सामने, अपना विचार, नितान्त विनय से रख कर, मिटाना चाहता हूँ।

पुराणम् इत्येव न साधु सर्वं,
न चापि काव्यं नवम् इति अवद्यं;
संतः परीक्ष्य ऽन्यतरद् भजंते,
मूढ़ः पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धिः ।

(कालिदास, 'मालविका-अग्निमित्र')।

सब पुराने ही काव्य अच्छे हैं, सब नये काव्य बुरे हैं, यह ठीक नहीं; भले आदमी जांचते हैं कि कौन अच्छा कौन बुरा, और अच्छे को अपनाते हैं; मूढ़ लोग दूसरों के कहने पर ही चलते हैं, आभाणक भी प्रसिद्ध है—

तातस्य कूपोऽयं इति ब्रुवाणाः
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबंति ।

पिता का बनाया हुआ कूआ है, ऐसा कहते हुए, वे ही आदमी खारा पानी पीते हैं, जो निरुद्यम, अशक्त, आलसी हैं; उत्साही पुरुष नया कूआ बना कर, मीठा पानी निकालते और पीते हैं।

सो मैं तो कोई नयी बात भी नहीं कहता; जिस को दृढ़ विश्वास से मानता हूँ कि यही परम पुरानी बात है, उसी को आप के सामने कहता हूँ। आदि काल के वेद-पुराण-सम्मत तात्त्विक धर्म का, शुद्धरूप से, पुनः प्रतिष्ठापन चाहता हूँ। चारों ओर रहन सहन बदल रहा है, और निर्मर्यादता, उच्छृङ्खलता, स्वच्छन्दता, की लहर उठ रही है। उस सर्वसंकर की दशा मे, सच्ची वर्णव्यवस्था के प्रतिष्ठापन का यत्न, अपनी अत्यन्त क्षुद्र शक्ति भर कर रहा हूँ, और इस कार्य मे सब विचारशील सज्जनो से सहायता की प्रार्थना करता हूँ।

यह मानता हूँ कि इस विधान के दुरुपयोग का भय है। किस उत्तमोत्तम पदार्थ के दुरुपयोग का भय नहीं है ?

कृष्ण भगवान् ने कहा है,

सर्वारम्भाः हि दोषेण धूमेन अग्निर् इव ऽावृताः ।

इस वाक्य के भीतर बैठे हुए अर्थ को पूरा अभिव्यक्त करने के लिये यह व्याख्या भी जोड़नी पड़ती है, अर्थात् ,

तथैव गर्भिताः सर्वे गुणैर्धूमो यथा ऽग्निना ।

सभी कार्यों मे कुछ गुण रहते हैं, कुछ दोष। द्वन्द्वमय संसार है। अग्नि के साथ धूम लगा हुआ है, तो धूँएं के साथ अग्नि भी। एक समय मे उसी कार्य से गुण अधिक निकलते हैं, दूसरे समय मे दोष; जैसे 'अश्वालम्भ' आदि मे, जिनकी चर्चा ऊपर की गई। मर्यादा-स्थापक शासक का, और उसके परामर्शदाता निस्स्वार्थी अनुभवी विद्वानो का, यह काम है, कि सदा सावधान होकर देखते रहें कि किस मर्यादा से, जिस से पहिले गुण अधिक निकलते थे, अब दोष अधिक पैदा होने लगे हैं, और तब उसको बदल कर दूसरी मर्यादा स्थापन करें। धर्म-परिषत् , 'लेजिस्लेचर', 'मज्लिसि-कानून' का एकमात्र यही कर्तव्य है। सो अब चातुर्वर्ण्य की मर्यादा के तीन हजार उपो-पो-पो-पो-पोप-जातियों मे बिखर जाने से, निश्चयेन ऐसी दशा आ गयी है कि, यदि चातुर्वर्ण्य का सर्वथा नाश इष्ट न हो, उसे बचाना मंजूर हो, तो यह नया विधान स्वीकार करना चाहिये।

एक विवाह, तथा विवाह-सम्बन्ध के विच्छेद, के विषय मे विचार

कुछ सज्जनों ने यह सूचना की है कि उपन्यस्त विधान मे ऐसी शर्त बढ़ा देनी चाहिये जिस से एक पत्नी के जीवन-काल मे, इस विधान के अनुसार, दूसरी स्त्री से विवाह न हो सकेगा, तथा यह भी कि विशेष-विशेष कारणो से विवाह-सम्बन्ध का विच्छेद भी हो सकेगा। बम्बई प्रान्त के एक सज्जन का एक लेख, प्रयाग के 'लीडर' अखबार मे, निकला था, जिस मे उन्हों ने यह कहा है कि बम्बई प्रान्त मे कई ऐसे विवाह हुए हैं जिन मे, पहिले बाल्यावस्था मे ब्याही अनपढ़ पुराने चाल की

सीधी सादी पत्नी मौजूद होते हुए, उन के पतियों ने, नयी 'ग्रेजुएट' (बी० ए० आदि पास) स्त्रियों के लोभ मे पड़ कर, इन से ब्याह कर लिया है, और पहिली पत्नियों का त्याग कर दिया है, जिस से वे घोर कष्ट मे पड़ी हैं। इस बात पर मैं ने बुद्धि भर, शक्ति भर, ध्यान दिया; मित्रों से भी सलाह की; अन्त मे मेरा विचार यही स्थिर हुआ कि उपन्यस्त विधान मे विवाह-विच्छेद, एक-विवाह, आदि की शर्तें बढ़ाने से कोई लाभ न होगा, प्रत्युत हानि होगी।

विवाह-विच्छेद

पहिले, विवाह-विच्छेद विषयक विचार लिखता हूं। विवाह-विच्छेद के लिये कोई शर्त रखना उचित नहीं जान पड़ता। जो स्त्री पुरुष अन्तर्वर्ण विवाह करना चाहेंगे, वे प्रायः प्राप्त-वयस्क, बालिग़, सयानें, होंगें, "सारडा ऐक्ट" मे बाँधी उमर की हद की (कन्या १४ वर्ष और वर १८ वर्ष से कम न हो) पार पहुंचे होंगे। जब ऐसे स्त्री-पुरुष, स्नेह प्रेम से, विवेकपूर्वक, आंख खोल कर, आगा पीछा विचार कर, धार्मिक संस्कार की विधि से विवाह करें, तब उन की प्रेमशाला के द्वार पर सम्भवी विच्छेद का विकराल पहरुआ पहिले से खड़ा कर देना कदापि ठीक नहीं। इस विवाह-संस्कार-कर्म का जो प्राचीन आध्यात्मिक आदर्श और प्रभाव है, कि न केवल इसी जन्म मे, अपितु 'आवयोः सर्वदा संगो भवेत् जन्मनि जन्मनि' हम दोनों का जन्म-जन्म मे साथ रहे, यह आत्मोत्कर्षक भाव, इस विकट चौकीदार को देखते ही भाग जायगा। यह भी याद रखने की बात है, कि विवाह की हृदय-ग्रन्थि को काट देने वाली 'तलाक़' 'त्याग' 'डाइवोर्स' की तलवार दुधारी है और जो धार स्त्री की ओर है वही अधिक निशित है, उस से स्त्री की ही अधिक हानि होने का भय है; 'न पुनरेति गतं चतुरं वयः', 'अचिरस्थायी यौवनम्', 'वयसि गते कः कामविकारः', पुरुष की अपेक्षा स्त्री के रूप मे जीर्णता जल्दी और अधिक आ जाती है, और विगत-यौवना स्त्री के पुनर्विवाह मे कठिनाई होती है। यदि इस हानि से उस की रक्षा करना है, तो उस की जीविका का भार, विच्छिन्न पति के ऊपर डालना होगा; तब नया भय उत्पन्न होगा, जैसा समाचार-पत्रों और पुस्तकों के देखने से मालूम होता है, कि अमेरिका आदि देशों मे यह दशा उत्पन्न हो गयी है, कि अकसर जवान

स्त्रियाँ, धनिकों को फुसला बहला कर, उन से व्याह कर लेती हैं, फिर मिथ्या वहानो से तलाक कर के, अदालतों की डिक्रियों के अनुसार, उन से अच्छी-अच्छी वंधी रक़मे माहाना या सालाना, वसूल करती हैं, और मनमाना भोग विलास और चैन, 'गिगोलो' पुरुषों (नर-वेश्याओं, विटों) के साथ, करती हैं। छपी पुस्तकों और समाचार-पत्रों से मालूम होता है कि अमेरिका के बड़े शहरों मे तो अब यह नौबत आ गयी है, कि सौ विवाह पीछे पचास मे तलाक होता है, और समग्र 'युनाइटेड स्टेट्स' का अनुपात, सात विवाह पीछे एक तलाक़, यानी पंद्रह फी सदी है। यह सब दशा तो अपने विधान के लक्ष्य के नितरां विरुद्ध है। अपना मंशा तो यह है कि पति-पत्नी का, कुल-कुटुम्ब का, समस्त हिन्दु समाज का, परस्पर सम्बन्धन अधिक दृढ़ हो, न कि शिथिल। त्यागों तलाक़ों की वृद्धि से तो यह सम्बन्ध, व्यूहन, ग्रन्थन, बहुत दुर्बल हो जायगा।

जरूर है कि बीच-बीच मे ऐसे मामिले होते हैं, हो रहे हैं, होते रहेंगे, जिन मे पति-पत्नी मे किसी कारण से अनबन हो कर सहवास असह्य हो जाता है। पर 'सर्वारम्भाः हि दोषेण', 'नास्ति कोऽपि खलु तादृग उपायः सर्व-लोक-परितोष-करो यः', कोई भी प्रबन्ध किया जाय, ऐसा नहीं होगा कि उस से सुख-ही सुख निकले, कोई उपाय ऐसा नहीं है जो सब मनुष्यों का एक साथ संतोष कर सके। मेरी समझ में यही आता है कि, त्याग-तलाक़ को सुकर बनाने मे बहुत अधिक दोष है, बहुत अधिक सामूहिक कष्ट है, और दुष्कर बनाने मे कम। बुद्धिमानी यही है कि कम कष्ट की राह पकड़ी जाय। समाज के आगे यही आदर्श सदा रक्खे रहना अच्छा है, कि जो स्त्री-पुरुष परस्पर विवाह करना चाहें, उन को गम्भीर भाव से, धार्मिक संस्कार के भाव से, यह दृढ़ निश्चय कर के, कि आ-मरण, अथ किम् उसके बाद भी, एक दूसरे के साथ स्नेह प्रीति से निर्वाह करना है, उस स्नेह प्रीति को आत्म-विनयन से, एक दूसरे की भूलों के संमर्षण से, परस्पर गुणोद्‌बोधन और दोषाच्छादन से, सदा बुद्धिपूर्वक बढ़ाते रहने का यत्न करना है, और सन्तान के सुख के लिये अपना स्वार्थ सदा बहुत कुछ त्यागना है—ऐसा दृढ़ निश्चय कर के विवाह करना चाहिये, न कि छिछोरी, क्षुद्र, बुद्धि से, कि परस्पर की क्षणिक काम-वासना को पूरा करने के लिये, केवल एक दूसरे

के शरीरस्पर्श का सुख अनुभव कर लेने के लिये, आज विवाह और कल अति-तृप्ति-जनित परस्पर ग्लानि से तलाक़ के लिये। इस प्रकार की अति तृप्ति और परस्पर ग्लानि उन लोगों के चित्तों मे बहुत जल्दी आ जाती है, जो स्त्री-पुरुष के विवाह मे कोई आध्यात्मिक भाव, रूहानी जज़बा और फ़ायदा, 'स्पिरिचुअल वैल्यू', नहीं देखते, प्रत्युत उस को केवल शारीर सम्बन्ध ही जानते मानते हैं, तथा, आज के समय मे प्रचलित, पश्चिम देश मे आविष्कृत, नूतन उपायों से अतिमात्र सन्तानिरोध कर लेते हैं। निश्चयेन अति संतान से भी अति कष्ट होता है; पर अतिमात्र सर्वथा सन्तानिरोध से, स्त्री पुरुष दोनो की प्रकृति स्वार्थमय और द्रोह-मय हो जाती है, जिस से अधिकतर कष्ट अन्ततो गत्वा होता है। यदि पश्चिम की दासता मे पड़ जाने के कारण, इस देश के भाग्य मे यही लिखा है कि यहाँ भी यह सब अति-तीव्र अनुभव, दुःख के (भी, तथा सुख के भी, पर सुख बहुत कम, दासता के कारण), भोगना लाज़िमी है, तो भोगे जायंगे। पर इस उपन्यस्त विधान को ऐसे अनुभवों का साधन बनाना उचित नहीं है। उचित यही है कि विवाह-सम्बन्ध का और कौटुम्बिक जीवन का, वही प्राचीन वैदिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कारिक आदर्श यहाँ बना रहे; पाश्चात्य देशों का भाव नहीं, कि विवाह केवल लौकिक, आधिभौतिक, सांवित्क, (संवित्-सम्बन्धी, मोआहिदी, 'कांट्रैक्चुअल'), या सांकेतिक, सामयिक, 'औपयिक' (सीता ने कहा है, "नऽहं औपयिकी भार्या", शारीर कामवेग को तृप्त करने की उपायमात्र), 'पाणिक', वाणिजिक, (आपस के संकेत, समय, 'पण', वाणिज्य, 'बिजिनेस-कांट्रैक्ट', लेन-देन, तिजारती क़ौल क़रार, मुआ-हिदा की बात), "अपरस्पर-सम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्" (गीता), व्यव-हार है। इस नवीन पाश्चात्य भाव से हमारा कल्याण नहीं।

भारतवर्ष की प्राचीन धारणा इस विषय मे यह है कि, जैसे चिन-गारी का (आजकल दियासलाई का) कार्य इतना ही है कि वह दीपक बाल दे, वैसे ही दो शरीरों के विवाह और क्षणिक 'रति' का प्रधान कार्य यह है, कि दो हृदयों मे, चित्तों मे, जीवों मे, आध्यात्मिक स्नेह प्रीति के चिरस्थायी, सत्वप्रकाशक, जीवनोद्योतक दीपक बाल दे; 'अग्निहोत्र' के 'गार्हपत्य अग्नि' को बालना और बलते रखना—इस का भी एक अर्थ यह भी है।

न गृहं गृहमित्याहुः; गृहिणी गृहमुच्यते ;
न गृहेण गृहस्थः स्याद्, भार्यया कथ्यते गृही ;
यत्र भार्या गृहं तत्र, भार्याहीनं गृहं वनं ।
एतावानेव पुरुषः यज्जायाऽऽत्मा प्रजा इति ह ;
विप्राः प्राहु स्तथा चैतद्यो भर्त्ता सा स्मृतांगना (मनु०);

घर को घर नहीं कहते, घरवाली को घर कहते हैं; घर से घरवाला नहीं होता; जहां भार्या नहीं वह गृह भी वन है। अकेला पुरुष, पुरुष नहीं; पिता, पत्नी, पुत्र, तीनो मिल कर पूरा पुरुष बनता है।

सब धार्मिक सम्प्रदायों मे सब से पवित्र और मीठे नाम हैं—'जगत्पिता' परमेश्वर, 'जगज्जननी' प्रकृति; दोनो का 'अपत्य', मानव है।

पिताऽहं अस्य जगतः, माता, धाता, पितामहः। (गीता)

इसी हेतु से मनु की आज्ञा है कि पिता, माता, प्रजा, तीनो मिल कर एक सम्पूर्ण पुरुष बनते हैं; किसी एक के बिना, अन्य दोनो खंडित असम्पूर्ण रहते हैं; तत्रापि विशेष कर पति-पत्नी एक ही हैं, जो वह सो वह, उन मे भेद नहीं, परस्पर अर्धांग-अर्धांगिनी। ऐसे आदर्श के साथ, आरम्भ मे ही, परस्पर त्याग-तलाक़ के सम्भव को लगा देना, किसी प्रकार उचित नहीं जान पड़ता। 'प्रथम-कवले मक्षिकापातः'।

हां, जो ऐसी ही विशेष कर्कश स्थिति हो, कि पति-पत्नी का किसी प्रकार परस्पर निर्वाह नहीं ही हो सके, तो उन के लिये स्वयं स्मृतियों ने, उत्सर्ग के अपवाद रूप से, प्रबन्ध कर दिया है, कि ऐसी अवस्था मे वैवाहिक ग्रन्थि तोड़ दी जाय, पति के ऐसे ऐसे दोषों से पत्नी के इन इन दोषों से, विवाह-बंध-मोचन कर दिया जाय, तथा इन इन अवस्थाओं मे विच्छिन्ना पत्नी का भी भरण पोषण कराया जाय। यदि बिरादरियों की पंचायतें अपना कर्तव्य सच्ची नेकनीयती और धर्मबुद्धि से करने लगें, और उक्त स्मृतियों के वाक्यों से काम लेवें, और स्त्री, पुरुष, और अपत्यों के हक़ों की, और जीविका की, उचित रक्षा का प्रबन्ध कर के, स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का, ऐसी विशेष असह्य दशाओं मे, विच्छेद कर दें, तो ऐसे निर्णय सर्वमान्य होंगे।

वर्तमान अवस्था मे जब सब प्रकार के अधिकार गवर्मेंटी नौकरों और कचहरियों के हाथ मे आ गये हैं, इस विषय मे अदालतें बहुत कुछ

सहायता दे सकती हैं। यदि किसी पुरुष ने अपनी पत्नी का त्याग, बिना उचित कारण के, कर दिया है, तो अदालत का काम है कि उस स्त्री को पति से पर्याप्त जीविका दिलावे, बिना इस शर्त के कि पत्नी ख़ाह्-म-ख़ाह अपने पति के साथ सहवास करे। और ऐसे निर्णय करने मे प्राड्विवाक, मुजव्विज, को उस बिरादरी की पंचायत के वृद्ध स्त्री पुरुषों से सहायता मिल सकती है, जो उन स्त्री-पुरुष की रहन-सहन से वाकिफ़ हों। पर यदि सारे देश की मानस हवा बिगड़ी है, भाव दूषित हैं, और स्वयं न्यायाधीश ही निष्पक्ष नहीं हों, और पहिले से ही मन मे निश्चय कर लिये हों, कि स्त्रियों के ख़िलाफ़ या पुरुषों के ख़िलाफ़ ही ऐसे मामिलों मे निर्णय करना चाहिये, तब तो कितनी भी सूक्ष्मेक्षिका कर के क़ानून के शब्द फूँक फूँक कर रक्खे जाँय, कोई नतीजा नहीं निकलेगा, सिवा इस के कि, बाल की खाल निकाली जाय, शब्दों की खींचा-तानी तोड़-मरोर की जाय, वकीलों की बहसें और लम्बी हों, तजवीज और ज्यादा लंबी लिखी जाँय, वादी-प्रतिवादी फरीक़ैन की और ज्यादा बरबादी, अदालती रसूम और अहलकारी शुक्राना और जब्राना और वकीली मिहनताना देते देते, और 'ला-रिपोर्ट्स' का हजम, परिमाण, अधिक भारी हो। एक ऐसा मुक़द्दमा हाल मे, काशी मे, हुआ है जिस मे, एक मृत सब-जज की विधवा को उस के सौतेले बेटे के खिलाफ़, केवल पांच रुपया मासिक 'नान-व-नफ़्क़ा', 'रोटी कपड़ा', की डिक्री, एक ज़िन्दा सब-जज ने दी, यद्यपि मृत सब-जज ने कई लाख की जायदाद छोड़ी थी।

ऐसी वजहों से यही मुनासिब मालूम होता है कि विवाह-सम्बन्ध तोड़ने या न तोड़ने का निश्चय, स्त्री-पुरुष के शुभचिन्तकों और रिश्तेदारों की पंचायत पर ही छोड़ना चाहिए; कचहरियों पर नहीं। जब ऐसी पंचायत (जिस मे आदृत सम्मानित अनुभवी कुटुम्बिनी महिलाओं को अवश्य सम्मिलित होना चाहिए) निर्णय कर दे, कि स्त्री का दोष नहीं और पुरुष ऐसा नालायक़ है कि उस के साथ स्त्री का रहना असम्भव है, और स्त्री के जीवन के निर्वाह के लिए पुरुष को इतना इतना मासिक या वार्षिक देना चाहिए, और पुरुष इस फैसले को न माने, तब स्त्री अदालत मे भले ही उसी फैसले के भरोसे, नान-व-नफ़्क़ा की नालिश कर सकती है, और मुजव्विज को जब तक कोई खास सबब उस पंचायती फ़ैसले के ख़िलाफ़ मालूम न हो, उसी के अनुसार डिक्री देना चाहिए। यदि पंचायत

के सामने सिद्ध हो कि पत्नी का दोष है, पति का नहीं, तो पति उस को अलग कर दे सकेगा, और दूसरा विवाह करने की अनुमति भी पा सकेगा; किन्तु यदि पहिली पत्नी व्यभिचारिणी न हो, तो उस को रोटी कपड़ा देता रहेगा। काशी की एक ऐसी बिरादरी मे, जिस मे से चिरकाल से बहु विवाह की प्रथा उठ गई है, कुछ वर्ष हुए, एक युवा की पत्नी को ऐसा रोग हो गया जिस से वह बिल्कुल अपाहज हो गई, चारपाई से उठने योग्य न रही; पंचायत से अनुमति ले कर उस युवा ने उसी की छोटी बहिन से विवाह कर लिया और उस की भी बीमारदारी अंत तक करता रहा।

पहिले लिखा गया है कि भारतवर्ष का प्राचीन आदर्श यही था कि पति-पत्नी का संग जन्म-जन्म से बना रहे। प्रसक्त अधिकरण के अन्त मे पुनः कुछ वेद-मंत्रों का उद्धरण करता हूँ जिन से भी यही आशय निकलता है कि कम-से-कम इस जन्म मे तो विवाह का विच्छेद न हो—

ध्रुवा द्यौः, ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवं विश्वं इदं जगत्,
ध्रुवा सपर्वता मही, ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयं।
इह धृतिर्, इह स्व-धृतिर्, इह रतिर्, इह रमस्व;
मयि धृतिर्, मयि स्वधृतिर्, मयि रमो, मयि रमस्व;
यद् एतद् हृदयं तव, तद् अस्तु हृदयं मम,
यदिदं हृदयं मम, तदस्तु हृदयं तव,
अन्नपाशेन मणिना, प्राणसूत्रेण पृश्निना,
बध्नामि सत्यग्रन्थिना, मनश्च हृदयं च ते। (वे०)

जैसे आकाश, पृथ्वी, यह सब विश्व, पर्वत-सहित मही, ध्रुव हैं, वैसे पति के कुल मे पत्नी ध्रुव हो, स्थिर हो। यहीं तुम धृतिमती हो, अपने को, आत्मा को, पहिचानो, और उस मे निष्ठित हो; हम तुम यहीं एक-दूसरे मे रमे, मेरा तुम्हारा हृदय एक हो, अन्न के, मणियों के, विविध गोधन के, सूत्रों और पाशों से तुम्हारे और अपने मन को और हृदय को, सत्य की गाँठ मे बांधता हूँ।

एक-विवाह की व्यवस्था

बम्बई तथा अन्य प्रान्त के कुछ शिक्षित पुरुष, शिक्षित युवतियों के प्रलोभन से अपनी पहिली बाल्यावस्था की ब्याही अशिक्षित पत्नियों का,

निर्दयता से, त्याग कर के, उनके जीते जी, नवशिक्षित स्त्रियों से विवाह कर लेते हैं; और स्त्रियां भी, नवशिक्षित होती हुई भी, पहिली पत्नियों की मौजूदगी और उन के त्याग का हाल जान कर भी, ऐसे ब्याह कर लेती हैं— ऐसा अनाचार अ-सद्-आचार अवश्य ही अनिष्ट है, सत्पुरुषों के आचार के विरुद्ध है। भारतवर्ष का प्राचीन आदर्श यही है कि यदि माता वा अन्य गुरुजनो, वृद्धों, अपने शुभचिन्तकों, की भूल से भी, बाल्यावस्था मे किसी ऐसी कन्या से विवाह कर दिया गया है जिस से आगे चल कर यौवनकाल मे पुरुष का मन नहीं भरता, तौ भी उस का निर्वाह करना ही चाहिये, अपने मन का निग्रह करना ही चाहिये; उस पत्नी को ईश्वर की सौंपी धरोहर समझ कर अपने मनोऽनुकूल बनाने की, शिक्षित संस्कृत करने की, उस को ईश्वरकृत अपनी परीक्षा का उपकरण मान कर, अपने और उसके, दोनों के, आत्म-विनयन की कोशिश करनी चाहिये। आदर्श तो यह है। पर इस आदर्श को व्यवहार मे लाने के लिये, स्वयं पुरुष को बहुत ऊंचे दर्जे का सुसंस्कृत, सुशिक्षित, अध्यात्म-विश्वासी होना चाहिये। ऐसे लोग, विशेष कर नयी पाश्चात्य शिक्षा और भावों के प्रभाव से, कम होते जाते हैं। 'वरं अद्य-कपोतः, श्वो-मयूरात', 'ए बर्ड इन् दि हैंड इज वर्थ टू इन् दि बुश',* यह न्याय संसार मे अधिकाधिक जोर कर रहा है। 'आज का चैन साधो, कल की कल देखी जायगी'; हिन्दी के कवि भी कह गये कि 'खाये खरचे जो बचै तो जोरिये करोर', यद्यपि यह भी उनको कहना चाहता था कि 'खरचै जो बिनु समुझ तौ जाय कुबेर निचोर'। निष्कर्ष यह कि ऊँचा आदर्श सामने तो रखना ही चाहिये, नहीं तो अधिकाधिक नीचे ही गिरते जायंगे; पर यह भी याद रखना चाहिये कि ऊंचे आदर्श के पास पहुंचना कठिन है; 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित्' ही कर सकता है। इसलिये मध्यम श्रेणी की प्रकृति की आवश्यकताओं की पूर्ति का यत्न व्यवहारतः करने से अधम तो मध्यम की ओर खिचेंगे, और मध्यम को उत्तम, अपनी ओर, स्वभावतः खींचते रहेंगे; उत्तम के लिये विशेष विधि निषेध का प्रयोजन नहीं है।

इन मूल सूत्रों (सूचनात् सूत्रम्) 'प्रिंसिपल्स'† ('प्रिंसिपियम्' आदि, अस्ल, मूल) सिद्धांतों को मन मे रख कर यह विचारना चाहिये कि इन से

---

* A bird in the hand is worth two in the bush.

† Principles.

प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर के लिए क्या व्यावहारिक सूचना मिलती है। वस्तु-स्थिति को पहिले निश्चय करना चाहिए। जिस प्रकार के द्वितीय विवाहों की बम्बई प्रांत के सज्जन ने चर्चा की, क्या वैसे मामिले बहुत होते हैं? यदि बहुत होते हैं तो, उपन्यस्त विधान मे एतद्विषयक निषेध की शर्त न बढ़ाने से, क्या ऐसी घटनाएं और भी बढ़ेंगी? इन दोनो उप-प्रश्नो का यदि उत्तर हो कि हां, तब तो निश्चयेन उपन्यस्त विधान मे संशोधन करना उचित होगा; अन्यथा नहीं। जहां तक जांच-खोज कर सका हूँ, ऐसा विश्वास करने के लिए कोई पर्याप्त हेतु नहीं है, कि ऐसे द्वितीय विवाह बहुत होते हैं, या उपन्यस्त विधान से इन की संख्या बढ़ेगी।

नया विधान अठाईस कोटि संख्या वाले हिंदू समाज की दृष्टि से बनाना चाहिये। सौ दो सौ, या हज़ार दो हज़ार भी, ऐसी घटना हों, जो सचमुच 'अपवाद' रूप हैं तो, उन की बुनियाद पर एक नया 'उत्सर्ग', नया नियम कानून, नहीं बना देना चाहिये, जिस से अवशिष्ट कोटियों की प्रगति और उन्नति मे कुछ भी बाधा पड़े।

इस समय, हिन्दू समाज और हिंदू धर्म के सर्व-शरीर-व्यापी क्षय-रोग की सब से उत्तम औषध और उन का एक मात्र अभीष्ट साध्य, यही जान पड़ता है कि, अंतर्वर्ण-विवाह, धर्म्य, जायज, प्रामाणिक, धर्माविरुद्ध सिद्ध हो जाय। इस भेषज के साथ ऐसा कोई अनुपान लगा देना उचित नहीं है जिस से उस के प्रभाव और प्रयोग मे कुछ भी संकोच, कुछ भी प्रतिबंध, पड़ जाय।

हिंदू समाज मे, एक दो ही नहीं, बहुत से अनाचार हो रहे हैं, जैसा कई वेर पहिले कह चुका। सत्तर अस्सी वर्ष पहिले तक, बंगाल के कुलीन ब्राह्मणो मे, पुरुषों के पचास-पचास और सौ-सौ स्त्रियों से विवाह होते थे। युवावस्था मे मैं ने, पचास वर्ष पहिले, एक सामाजिक हिन्दी पुस्तक मे पढ़ा था, कि कुछ समय पहिले, एक कुलीन के अस्सी और एक के डेढ़ सौ विवाह हुए थे। ऐसे 'भाग्यशाली' जामाताओं की जीविका ही यह होती थी कि श्वशुरालयों मे दो-दो, चार-चार, आठ-आठ दिन ठहरते हुए, भोजन मैथुन करते हुए, अपनी उमर बिता दें। पत्नियाँ पति के घर मे नहीं, पिताओं के घर मे ही रहती थीं। बहुत वर्ष हुए एक सज्जन मित्र से सुना कि वे बम्बई गये थे; वहाँ एक जान पहिचान के पुरुष से बात-

चीत चली; 'बम्बई तो बड़े रोज़गारियों धनवानों का शहर है, कौन सब से अधिक सुखी है ?'; बम्बई-निवासी मित्र ने कहा, 'मगरू ग्वाला का नर-भैंसा और वल्लभ-कुलियों का गुरु 'महराज'; नित्य उत्तम भोजन और नित्य नया मैथुन—यह सुख इन्हीं दो को है'। मध्य युग मे बहुतेरे ईसाई पादरियों का यही हाल था; विवाह नहीं करते थे, अनुयायियों के घरों मे व्यभिचार मनमाना। काल के प्रवाह से यह सब दारुण अनाचार कम होते जाते हैं, पर उन के स्थान पर नये प्रकार के दुराचार पैदा होते जाते हैं। राजा रजवाड़ों मे अब भी बहुत बहु-विवाह होते हैं; इस के अलावा, बड़े-बड़े 'अवरोध', 'हरम', 'स्त्री गृह' भी होते हैं, जहां सैकड़ों रखेलियां सहेलियां रक्खी जाती हैं। कई वर्ष हुए, कुंवर मदन सिंह जी के कई लेख काशी के दैनिक 'आज' मे छपे थे, जिन मे ऐसी बातों का त्रासकारी और घृणाकारी वर्णन किया था। ऐसे 'अवरोधों' मे सब प्रकार के व्यभिचार भी, और हत्याएं भी होती थीं; और अब भी होती ही होगीं। प्रायः पैंतीस वर्ष हुए, (१९०३–१९०६ ई० मे), कई रियासतों मे घूमने का मुझे अवसर हुआ। कई जगह, रनवास के नीचे, दीवार से मिले, बड़े बड़े तालाब देखे; वहां के आदमियोंने कहा कि इन मे मगर हैं; यदि राजा किसी स्त्री पर व्यभिचार आदि की शंका से क्रुद्ध हुए, तो खिरकी से तालाब मे वह गिरा दी जाती थी; इत्यादि। वात्स्यायन के काम सूत्र मे भी, (और 'अलिफ़ लैला' मे भी, जिस मे, बहुत सी झूठी कथा के साथ, उस समय की अवस्था का यथातथ वर्णन भी बहुत कुछ है), दिखाया है कि कैसे 'सुरक्षित' अवरोधों मे भी व्यभिचार होता ही था; मुग़ल बादशाहों, तथा अन्य पूर्वीय पश्चिमीय देशों के शाहनशाहों, सुलतानों, राजाओं के महलों मे भी, कम बेश, यही हालत रही है। और, वह तो दूर की बातें हैं, आजकाल भी, राजाओं की, नवाबों की, रियासतों मे जो घोर पाप हो रहे हैं, तथा, उस से स्यात् कुछ कम मात्रा मे, अन्य धनाढ्य घरों मे, मठों मे, तीर्थ स्थानो मे भी, वे सब, थोड़ा सा ही दर्याफ्त करने से, मालूम हो जाते हैं; अथवा, यह कहना चाहिये, कि सभी मध्यवयस्क आदमियों को विदित हैं ही। गांव गांव मे, शहर शहर मे, तरह तरह के व्यभिचार, कुछ स्त्रियों के आरंभ किये, कुछ पुरुषों के आरंभ किये, हो रहे हैं; नये प्रकार की प्रच्छन्न वेश्याएँ भी बड़े शहरों मे बढ़ रही हैं, बल्कि पुराने चाल की, तौर्यत्रिक मे, वाद्य, गीत, नृत्य

कलाओं मे, प्रवीण, प्रकट वारांगना कम हो रही हैं; सिनेमा आदि के प्रभाव से। इन सब पापों के परिशोध का यत्न करना नितांत आवश्यक है। पर, उपन्यस्त विधान मे इन सब के संबंध मे शर्तें बढ़ाना तो स्पष्ट ही किसी को भी उचित और सुप्रसक्त नहीं जान पड़ेगा। उक्त द्वितीय विवाह को भी इसी कोटि मे डालना चाहिये, और इन के परिशोध का यत्न अलग करना चाहिये; वह भी, पूर्वऽपर को, कार्य-कारण को, बहुत विचार कर के। आजकाल, पच्छिम मे, रोज़ नये क़ानून बनाने, बिगाड़ने, का शेवा हो रहा है। ब्रिटेन मे १९१९ से १९३० तक, बारह वर्ष में प्रायः आठ सौ क़ानून बने, जो प्रायः आठ हज़ार पृष्ठों पर छपे हैं। जल्दीबाजी से, बिना दूर-अन्देशी के, एक फुंसी पर तेजाब डाल दिया; फुंसी तो जल गयी, पर जलन से दूर दूर तक नसों मे विकार पैदा हो गये; अब एक-एक नस के विकार की अलग अलग चिकित्सा होने लगी, अनर्थ-परम्परा बढ़ती ही गयी। जल्दीबाज़ी के 'लेजिस्लेशन' का यही नतीजा होता है।

जब बीमारी सारे शरीर मे व्याप्त हो गयी है, और एक एक अंग प्रत्यङ्ग मे तरह तरह के विकार देख पड़ते हैं, तो एक एक विकार की अलग अलग चिकित्सा करने का यत्न व्यर्थ है। 'हमा तन दाग़ दाग़ शुद, पुम्बा कुजा कुजा निहम्' । हजारों फोड़े देह मे भर गये हैं, एक एक पर फाहा कहाँ तक रखा जायगा। 'तनक़ीया' करना चाहिये, 'मुन्ज़िज' देना चाहिये, 'कायाकल्प' करना चाहिये, 'आल्टरेटिव' पिलाना चाहिये, ऐसे भेषज का प्रयोग करना चाहिये जिस से स्नेहन, स्वेदन, लेखन, सारण, वमन, विरेचन हो कर, रक्तशोधन हो कर, समस्त शरीर का पुनर्नवीकरण हो जाय, 'कांस्टिट्यूशन आल्टर' हो जाय, बदल जाय, दूसरा, नया, हो जाय।

पचास वर्ष से विचार करते-करते, 'कारणं चिकित्स्यं, न तु कार्यं', 'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिताः मलाः', इन सूत्रों पर ध्यान देते देते, मेरी बुद्धि मे तो यही बैठा है, कि जिस स्वार्थ-बुद्धि, भेद-बुद्धि, परस्पर-द्रोह-बुद्धि, मिथ्या-बुद्धि से आज तीन सहस्र खंडों मे यह 'हिन्दू'-नामक समाज छिन्न-भिन्न हो रहा है, यह दूषित बुद्धि ही इन सब उपर्युक्त दोषों और रोगों का एकमात्र निदान कारण है, और उस के शोधन से, वर्णा-

श्रमधर्म का शोधन हो कर, सब रोग स्वयं शांत होंगे, कम हो जायँगे — जहां तक ऐसा कम होना, शांत होना सम्भव है; क्योंकि सब दुःख, सब शोक, सब पाप, संसार से उठ जाय, यह तो 'न भूतो, न भविष्यति', न कभी हुआ, न होगा।

अन्तर्वर्ण-विवाह् से कई आपत्तियों का निवारण

जिन कुल कुटुम्बों मे अन्तर्वर्ण विवाह की चर्चा स्वप्न मे भी नहीं हुई है, उन मे से कितनी ही विधवा या अविवाहिता युवती, प्रतिवर्ष, हज़ारों की ही संख्या मे, अपने ही घर के पुरुषों द्वारा भ्रष्ट हो कर, घर से, घोर निर्दयता से, निकाल दी जाती हैं, और जीते जी तरह तरह के नरकों मे झोंक दी जाती हैं; इन की यातना के आगे उन स्त्रियों की संख्या कितनी है, और उन का दुःख क्या है, जिन के पतियों ने दूसरा विवाह कर लिया है, पर पहिली स्त्री को जीविका देने के लिये अदालत से मजबूर किये जा सकते हैं ?

यदि अन्तर्वर्ण-विवाह का सिद्धान्त देश मे फैले, तो धीरे-धीरे ऐसी भयंकर घटनाएं भी कम हो जायंगी।

विचारने की और भी बातें हैं। अत्यधिकांश हिंदू आज भी ऐसे ही हैं जिन की एक ही पत्नी है। बहुत अल्पसंख्यक धनाढ्यों की, राजाओं की, कई-कई पत्नियां होंगी। आर्थिक कष्ट, बे-रोज़गारी, ऐसी हो रही है कि एक भार्या का भरण भी कठिन हो रहा है, विवाह का वयस्, इसी हेतु से, मध्यवित्त वर्ग मे 'सारडा-विधान' के भी आगे, आप से आप बढ़ा जा रहा है; युवती स्त्रियां भी, स्वतन्त्र रोटी कपड़ा कमाने की चिंता मे, पाठशाला आदि की नौकरियां खोज रही हैं और उठा लेती हैं, और विवाह करने से रुकती हैं, क्योंकि विवाहिता को, ऐसी नौकरी के कर्तव्य निवाहना कठिन होता है; पढ़े-लिखे युवा पुरुष, लाखों की संख्या मे बेकार हो रहे हैं, और ब्याह करने से हिचकते हैं, अपने खाने का ठिकाना नहीं, पत्नी को और बच्चों को क्या खिलावेंगे ? ऐसी दशा मे, जब प्रथम विवाह ही मध्यवित्त पुरुष के लिये कठिन हो रहा है, तब उक्त दूषित अभियुक्त प्रकार के द्वितीय विवाहों की संख्या निश्चयेन न-गण्य होगी; उन के विचार से इस विधान मे विशेष 'समय' अर्थात् शर्त्त बढ़ाना उचित नहीं, उन के लिये सामाजिक भर्त्सना और आक्रोश पर्याप्त है, इसी

से वे धीरे-धीरे कम होते जायँगे। और भी, अशिक्षिता स्त्रियों का सुशिक्षित पुरुषों से विवाह भी धीरे-धीरे असम्भव हो रहा है, और थोड़े ही दिनो मे सर्वथा असम्भव हो जायगा; इस लिये भी ऐसे विशेष समय की, शर्त्त की, जरूरत नहीं। रहा यह कि, परस्पर मनमुटाव से, वैमनस्य से, त्याग—यह तो किसी भी अवस्था मे सम्भाव्य रहेगा ही; उस का प्रतीकार इतना ही होना चाहिये, और आज भी कानूनन् हो सकता है, कि यदि स्त्री निर्दोष है तो उस की जीविका, पर्याप्त मात्रा मे, पुरुष दे।

जापान ऐसे स्वतन्त्र, स्वाधीन, पराक्रमी, पुरुषार्थी, सुसंहत, देश मे भी, जब विवाह के सम्बन्ध मे उथल पुथल हो रही है, तो भारतवर्ष ऐसे अभागे देश का क्या कहना? जापान के भी आदर्श, विवाह के, गार्हस्थ्य के, और स्त्री-कर्तव्य के पुरुष-कर्तव्य से भिन्न होने के, विषय मे, वैसे ही थे जैसे भारतवर्ष के। पर, 'यंत्र'देव के अवतार के कारण, और उस की फलभूत, सहगामिनी, नयी 'यंत्रप्रधान' सभ्यता के आगमन के कारण, वहाँ भी वह सब पुराने आदर्श प्रायः अव्यवहार्य हो गये हैं। आमदनी काफी न होने से पुरुष जल्दी ब्याह नहीं करते; लड़की वाले अल्पवित्त माता-पिता को, बहुत वर्ष तक अनब्याही लड़कियों को अपने घर मे रखना बोझ होता है, लड़कियां, मजबूरन्, नौकरी मजदूरी आदि, पैसे कमाने का कोई काम ढूंढ़ती हैं, जापान मे बहुसंख्यक और वर्धमान कल के कारखानों मे; तथा वहां की गवर्नमेण्ट और नेताओं की दूरदर्शिता के और प्रजाभक्ति के कारण बनायी गयी अन्य बहुत प्रकार की रोजगारी संस्थाओं मे, ऐसी लड़कियों को भी, लड़कों के साथ, काम बहुत कुछ मिल जाता है; तथा उन के खाने, पीने, सोने, लिखाने पढ़ाने, और सब प्रकार की रक्षा, का भी पर्याप्त प्रबन्ध होता है, और मजदूरी इतनी पूरी दी जाती है कि उस मे से, सब खाने पहिनने का खर्च देने के बाद भी, अच्छी रक़म बच जाती है। यही रक़म उन लड़कियों का स्वतो-दत्त यौतुक, दहेज, जहेज़, होता है, और इस के बल पर वे अपना विवाह स्वयं ठीक कर लेती हैं।

भारत की दशा दूसरी है। आजकाल यहाँ भी यह विचार और भाव उठा है, कि स्त्रियों को भी 'आर्थिक स्वतन्त्रता' होनी चाहिये। ठीक है; पर ज़ो ही अवस्था एक दृष्टि से 'आर्थिक स्वतंत्रता' जान पड़ती है, वही

दूसरी दृष्टि से 'आर्थिक दासता' मालूम होती है। जरूर, बहुवित्त और मध्यवित्त कुलों मे भी यदि स्त्रियों को पैसे पैसे के लिये तरसना हो, और पुरुषों का मुंह ताकना हो, तो घोर अन्याय है। भारतवर्ष मे, सभी सद्भावों के, सदाचारों के, भ्रंश के कारण, स्यात् ऐसा अन्याय बहुत घरों मे होता होगा; बहुतेरों मे ऐसा नहीं भी है; प्रत्युत, स्त्रियों के हाथ मे, पुरानी स्मृतियों की आज्ञा के अनुसार, जहां पति-पत्नी मे यथोचित परस्पर स्नेह प्रेम विश्वास है, सब, या पर्याप्त अंश मे, आमदनी दे दी जाती है; पर अल्पवित्त, किं वा दरिद्र, घरों मे तो (और नब्बे फ़ी सदी हिंदू अति दरिद्र ही हैं), मियां-बीबी दोनो, बेचारे, बल्कि छोटे बच्चे भी, सुबह से शाम तक पिसते रहते हैं, और तिस पर भी दो वक्त की रोटी नहीं पा सकते; ऐसों के लिये, अलग अलग कमाते हुए भी, 'आर्थिक स्वतन्त्रता' और 'आर्थिक दासता' मे कोई भेद नहीं।

देश मे शिक्षा फैले, रक्षा फैले, जीविका फैले, इस लिये 'पुरोहित', धर्मऽम्नाता, 'लेजिस्लेटर्', चुने माने जाते हैं, तथा राजा बनाये जाते हैं; व्यापारी रोजगारी के पास धन-धान्य का संचय होने दिया जाता है; उन के निजी ऐश आराम ही के लिये नहीं।

> हिताय राजा भवति, न कामकरणाय तु।
> षड् एतान् पुरुषो जह्याद्, भिन्नां नावम् इव ऽर्णवे,
> अप्रवक्तारं आचार्य, अनधीयानं ऋत्विजम्,
> अरक्षितारं राजानं, भार्यां च ऽप्रियवादिनीम्,
> ग्रामकामं च गोपालं, वनकामं च नापितम्।
> लोकरंजनं एव ऽत्र राज्ञां धर्मः सनातनः;
> चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्याः महीक्षिता।
>
> (म० भा०, शान्ति०, अ० ५६)
>
> अरक्षितारं राजानं, बलि-षड्भागहारिणम्,
> तं आहुः सर्वलोकस्य समग्र-मल-हारकम्। (म०)

जो पुरोहित पढ़े पढ़ावे नहीं, सच्चा उपयोगी ज्ञान न सीखे न सिखावे, जो राजा टैक्स, कर, ले, पर रक्षा न करे, चातुर्वर्ण्य के धर्मो का पालन पोषण न करे, जो ऋत्विक् अपना कर्मकांड न जानता हो, जो भार्या नितान्त कलहिनी कटु-भाषिणी हो, जो ग्वाला पशुओं को चराने

के लिये जंगल मे जाने से हिचकता हो और गाँव के भीतर बस्ती मे ही घुसा रहता हो, और जो नापित हजाम जंगल मे ही घूमा करता हो—इन छः को त्याग देना चाहिये, निकाल देना चाहिये; जैसे टूटे वहित्र को नाविक और यात्री समुद्र मे छोड़ देते हैं। जो राजा, प्रजा से कर लेता है, और प्रजा की रक्षा नहीं करता, वह कर नहीं खाता, बल्कि समग्र प्रजा की विष्ठा खाता है। शेख सादी ने भी, अपने प्रसिद्ध काव्य बोस्तां मे, यही आशय प्रकट किया है,

चो दुश्मन् ख़रे रोस्ताई बरद्,
मलिक् बाज़ो·दह्यक् चिरा मी ख़ुर्द ?

अगर काश्तकार के हल बैल ख़च्चर गधे को, चोर डाकू मनमाना उठा ले जायं, तो राजा किस वास्ते 'बाज' और 'दह्-यक्', कर, खाय ?

निष्कर्ष यह कि महासम्राट् सार्वभौम चक्रवर्ती से चौकीदार पटवारी तक, महामहोपाध्याय आचार्य से गांव के छोटे 'मास्टर' तक, कोटिपति से छोटे दूकानदार तक की सत्ता का उद्देश्य यही है, कि समस्त प्रजा सुखी रहे, शिक्षित, रक्षित, पोषित रहे, और घर घर मे स्त्रियां और बच्चे हंसैं खेलैं। यह सब तभी हो सकता है जब प्रत्येक वर्ग के—शिक्षक वर्ग, रक्षक वर्ग, धनधान्योत्पादक वर्ग, श्रमिक वर्ग के—अनुभवी वृद्ध एकत्र हो कर, लोकहित की बुद्धि से, समग्र समाज की व्यवस्था करें। उस व्यवस्था का, इस देश के स्वदेशी प्राचीन विचारों के अनुसार, एक परमावश्यक अंग यह है कि 'वर्ण' का अर्थ 'पेशा', 'रोजगार', समझा जाय, 'वर्ण-व्यवस्था', पेशे के अनुसार बांधी जाय, और इस का आनुषंगिक और गुर्वर्थ कर्तव्य यह है कि 'समान-शील-व्यसनेषु सख्यं' की दृष्टि से, 'अन्तर्वर्ण-विवाह' की अनुमति दी जाय, अन्तर्वर्ण विवाह की धर्म्यता, और पत्नी का पति के वर्ण को धारण कर लेने की धर्म्यता, स्वीकार कर ली जाय, 'जात-बाहर' करने की प्रथा बन्द हो, परस्पर सौमनस्य बढ़े। यदि यह सिद्ध हो गया, तो क्रमशः अन्य सब दोष, आप से आप, घट जायंगे।

वर-वधू की परस्पर प्रतिज्ञाएं

हिन्दुओं मे धार्मिक संस्कार-पद्धति के अनुसार जो विवाह होते हैं, उन मे वर-वधू, परस्पर, कई सीधी सादी सुन्दर प्रतिज्ञा करते हैं, कि

परस्पर स्नेह प्रेम से, अव्यभिचार से, आमरण और जन्मनि-जन्मनि भी, एक दूसरे के साथ जीवन बितावेंगे, एक दूसरे की भूल चूक को क्षमा करेंगे, एक दूसरे का मन रक्खेंगे, एक दूसरे को दुर्गम संसार-सागर के पार करने मे सहायता देंगे, वर अपनी कमाई वधू के हाथ मे देगा, वर की सलाह से वधू किफायत से खर्च करेगी, कोई भारी गैरमामूली काम एक दूसरे से परामर्श किये बिना न करें, गृहस्थी के सुख दुःख के कामों मे धीरज से एक-दूसरे का साथ देंगे और रुष्ट न होंगे, पत्नी को पति अलंकार आभूषण अच्छे वस्त्र देगा, पत्नी अपने को स्वच्छ सुसंस्कृत अलंकृत प्रहृष्ट प्रसन्न रक्खेगी, तथा गृह को भी; किन्तु जब पति विदेश गया हो तब अपना अलंकार आदि न करेगी; न पराये घर जायगी, मित्रों के भी; तथा साधारणतः तीर्थस्नान, देवालय, आदि को पति से कह कर जायगी; इत्यादि ।

धर्मे चार्थे च कामे च, कर्त्तव्येषु अखिलेषु च;
आवां न ऽतिचरिष्यावः कदाचन परस्परं ।
'त्वं मया लभ्यसे भर्ता पुण्यैस्तु विविधैः कृतैः;
देवी संपूजिता नित्यं; वंदनीयोऽसि मे सदा' ।
'पुण्यैः पूर्वैः मया त्वं च प्राप्ता भार्या सुलक्षणा,
आराधनीया, पाल्या च, माननीया च सर्वदा ।
पत्नी मनोरमा भूयाः, मनोवृत्तानुसारिणी,
तारिणी दुर्ग-संसार-सागरस्य, कुलोद्भवा' ।
'सुखदुःखानि कर्माणि गृहस्थस्य भवंति हि,
त्वं सदैव भवेः सौम्यः, मयि रोषं च मा कृथाः;
वापी-कूप-तटाकानि, यात्रा-मख-महोत्सवान् ,
बहुलऽायासकार्याणि, विज्ञाप्यैव रमस्व माः
व्रतोद्यापन दानानि, स्त्रीणां बाल-स्वभावतः,
कुर्यां चेत् , तत् तु भवता प्रसन्नेन ऽनुमन्यतां;
स्वकर्मणाऽर्जितं वित्तं पशु-धान्य-धनऽागमं,
सर्वं निवेदयेः मह्यं; गोऽश्वादीनां क्रयं तथा
मां अनापृच्छ्य मा कार्षीः; दद्याश्च ऽाभरणानि मे,
गीतवादित्रमांगल्ये बन्धूनां तु गृहे यदा,
अनाहूता गमिष्यामि, तदा मां प्रतिपालय ।'

'सौम्यः एव भविष्यामि, वाणीं त्वं मधुरां वदेः;
वित्तं निवेदयिष्ये त्वां, मुक्तहस्ता तु मा भवेः;
आभूषणानि दास्यामि, संस्कृता ऽलङ्कृता भवेः;
आयव्ययौ त्वां वक्ष्यामि, सत्परामर्शदा भवेः;
उद्यानेषु, विहारेषु, पितृमित्रगृहेषु च,
देवालयेषु, तीर्थेषु, गच्छेर् आपृच्छ्य मां तथा;
क्रीड़ां, शरीरालङ्कारं, समाजोत्सवदर्शनं,
हास्यं, परगृहे यानं, वर्जयेः प्रोषिते मयि;
आदरो मम बन्धूनां, अतिथीनां च सत्क्रिया,
मम चित्तऽनुचारित्वं, कर्त्तव्यं तु त्वया सदा;
चरिष्यामि अनु ते चित्तं, तथैव ऽहमपि, प्रिये !
दाम्पत्येन विना धर्मो न ऽाश्रमाणां प्रवर्त्तते,
अर्धाङ्गिनौ ततो हि आवां ध्रुवं स्याव परस्परं ।
विष्णुर् वैश्वानरो ऽग्निश्च, वृद्धाश्च, ज्ञाति-बान्धवाः,
सर्वे कुर्वन्तु साक्षित्वं विवाहस्य ऽावयोः शुभं ।'

दूसरा प्रकार, प्रतिज्ञा का, पर उसी आशय का, यह भी कहा है—

'तीर्थ-व्रत-उद्यापन-यज्ञ दानं मया सह त्वं यदि, कान्त !, कुर्याः,
वामाङ्गं आयामि तदा त्वदीयं, (जगाद वाक्यं प्रथमं कुमारी);
हव्यप्रदानैर अमरान् , पितॄंश्च कव्यप्रदानैर्यदि पूजयेथाः,
वामाङ्गं आयामि तदा त्वदीयं, (जगाद कन्या वचनं द्वितीयं);
कुटुम्बरक्षाभरणे' यदि त्वं, कुर्याः पशूनां परिपालनं च;
आय-व्ययौ धान्यधनादिकानां पृष्ट्वा निवेशं च गृहे विदध्याः;
देवालय-ऽाराम-तड़ाग-कूप-वापीर् विदध्याः यदि, मां तु पृच्छेः;
देशान्तरे वा स्वपुरान्तरे वा, यदा विदध्याः क्रयविक्रयौ त्वं;
न सेवनीया यदि पारकीया त्वया भवेद् भावविकारमेत्य;
वामाङ्गं आयामि तदा त्वदीयं, जगाद कन्या वचनानि सप्त;
वरोऽपि तद्वत् वचनं ब्रवीति, सर्वं करिष्यामि यथा तवेष्टं,
मदीयचित्तानुगतं च चित्तं कुर्याः, ममेच्छापरिपालनं च,
पतिव्रतं च ऽाचर यत्नशीला, त्वमप्यथो स्नेहपरा कुले मे' ।

(१) यदि तीर्थ यात्रा, व्रत, आदि, मुझे साथ ले कर करो, (२) देवपितृ-धर्म कार्य मे मुझे साथ रक्खो, (३) कुटुम्ब का और पशुओं का

पालन पोषण अच्छी तरह से करो, (४) आय-व्यय के विषय मे मुझ से सलाह कर लिया करो, (५) बाग-बगीचा, कूआ-तालाब, मंदिर आदि मुझ से पूछ कर बनाओ, (६) देश-विदेश को, किसी हेतु से, यदि जाओ तो मुझे बता कर, (७) दूसरी स्त्री का स्पर्श न करो—यदि यह सात प्रतिज्ञा करो तो मै तुम्हारी वामांगिनी होऊं; यह वधू कहती है। वर स्वीकार करता है—तुम भी पतिव्रता होना, मीठा बोलना। मेरे कुल वालों का आदर सत्कार करना, मेरे चित्त मे अपना चित्त मिलाये रहना।

माता पिता के घर से विदा हो कर, पति के घर को जाती हुई कन्या, द्वार पर फिर कर, माता पिता के कुल और घर के लिये आशीर्वाद करती है—

मात्रा, पित्रा,ऽन्यवृद्धैश्च, पालिता, लालिता तथा,
स्वसृभिर्भ्रातृभिस्सार्धं क्रीडन्ती न्यवसं सुखं,
यत्र ऽहं अद्यपर्यन्तं, तद् विहाय पितुर्गृहं,
पत्युर्गृहं तु गच्छामि, स्वस्ति अस्तु अस्य कुलस्य मे,
पित्रोः, ऋद्धिर्भवतु अस्य सर्वथा, प्रथतां यशः,
देव्यः एतच् च रक्षंतु, गौरी, लक्ष्मीः सरस्वती,
मया याः पूजिताः नित्यं, मातुरङ्के निलीनया।

माता पिता और अन्य वृद्ध जनो ने जहां मेरा आज तक लालन पालन किया, जहां मै भाई बहिनो के साथ हंसती खेलती आज तक सुख से रही, सो उस घर को छोड़ कर पति के घर को जा रही हूँ; सो, हे गौरी देवी, हे लक्ष्मी देवी, हे सरस्वती देवी ! जिन की, मैं ने माता की गोद मे बैठ कर, नित्य पूजा की है, आप इस घर की, इस कुल की, सदा रक्षा करना, यह सब प्रकार से सम्पन्न समृद्ध हो, सदा फूलै फलै, इस का यश सब ओर फैले।

जब प्रतिज्ञा करने वाले वर-वधू, वयःस्थ, प्राप्त-वयाः, बालिग़, प्रौढ़, 'मेजर' हैं, अल्पवयस्क नहीं, और विचार-पूर्वक परस्पर स्वयं-वरण करते हैं, तब बन्धु-बान्धवों के, गुरुजनो के, पुरोहितों के समक्ष की गयी ऐसी प्रतिज्ञाओं मे, कम से कम उतना बल होना चाहिए जितना 'स्टाम्प' पर लिखे क़ानूनी मुआहिदों मे, सन्धि-पत्रों मे, होता है; अर्थात्,

यदि दुर्भाग्य से कचहरी तक मामिला पहुंचे ही, बिरादरी की पंचायत से तै न हो जाय, तो इन प्रतिज्ञाओं के अनुसार, अदालतों को डिक्री देना चाहिये; तथा, यदि पुरुष एक पत्नी के जीते जी दूसरा विवाह करे, तो उस को वही दण्ड होना चाहिये जो व्यभिचार और बहु-विवाह के लिये निर्दिष्ट है; तथा पहिली ही पत्नी धर्म पत्नी समझी जाय, और उस को उचित जीविका इस पति से दिलायी जाय। अच्छा हो, यदि न्यायालय मे उक्त विचार के सम्भव की दृष्टि से, साप्तपदी के समय की प्रतिज्ञाओं मे ही यह प्रतिज्ञा भी पुरुष की ओर से करा ली जाय, कि दूसरा विवाह इस वधू के जीते जी न करूंगा ; यद्यपि, परस्पर अव्यभिचार की प्रतिज्ञा मे यह अंतर्गत है ही।*

नये विचारों की बाढ़ मे कुछ लोग यह तर्क फैला रहे हैं, कि प्रतिज्ञा ही अनुचित है, क्योंकि प्रतिज्ञा करते ही अपने मन मे यह भाव उठता है कि हम तो बँध गये, दास हो गये; इस दासता का विरोधी भाव भी तत्काल उठता है कि इस वन्धन को तोड़ देना चाहिये; और इस आभ्यन्तर द्वन्द्व के कारण सब जिन्दगी खट्टी हो जाती है, स्नेह मारा जाता है; स्त्री-पुरुष के चित्त, एक दूसरे से मिलने सटने की जगह, एक दूसरे से फटने हटने लगते हैं. और उन प्रतिज्ञाओं का प्रभाव उलटा ही हो जाता है; तथा ऐसे लोगों का कहना है, कि परस्पर प्रतिज्ञा न करने से ही अ-बद्ध स्त्री पुरुष परस्पर सु-सं-बद्ध रहते हैं। इस शंका का समाधान करना उचित है। दो प्रकार से समाधान होगा।

प्रकृति अनन्त है; स्व-भावों के प्रकार असंख्य हैं; मनुष्यों से नीचे, पशुओं को ऐसी परस्पर प्रतिज्ञा का प्रयोजन नहीं; उन के जीव, उन की

---

* साप्तपदी का मंत्र यह है, जिस से भी स्पष्ट होता है कि प्राचीन आदर्श यही था कि गृहिणी घर की स्वामिनी हो—"एकं इषे, द्वे ऊर्जे, त्रीणि रायस्पोषाय, चत्वारि मयो-भवाय, पंच पशुभ्यः, षड् ऋतुभ्यः, सखे सप्तपदा भव, सा मां अनुव्रता भव" (वे०)। वधू से वर कहता है, 'हे सखे !, साथी, मित्र !, पहिले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवें, छठवें, पद (कदम) पर हम दोनो साथ साथ, अन्न, प्राण, धन, पृथ्वी के सब सुख, पशु, और उत्तम ऋतु, पावैं, और आगे सातवां पद चलैं'। इस मंत्र के और गम्भीर अर्थ भी हो सकते हैं, यथा सातो लोकों मे साथ रहै।

बुद्धि, अभी उतनी विकसित नहीं है कि प्रतिज्ञा, व्यक्त रूप से, कर सकें, या उस का अर्थ समझ सकें। मनुष्यों से ऊँचे, देवताओं को भी, यदि उन्हों ने अहंता-ममता को जीत लिया है तो, ऐसी प्रतिज्ञाओं की, परस्पर विश्वासोत्पादन के लिये, आवश्यकता न होगी; "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः।" (यह उन के लिये लिखा जाता है जो इस बात को मानते हैं कि मनुष्य से ऊँची काष्ठा के भी, तथा अन्य प्रकारों के शरीर धारण करने वाले भी, जीव हो सकते हैं, और जिन्हों ने अपने को सर्वज्ञ मान कर यह निर्णय नहीं कर लिया है कि मनुष्य मे ही जीव का उत्कर्ष, परा काष्ठा को पहुँच कर, समाप्त हो जाता है)। साधारण मनुष्यों को, सदाचार के अध्यवसाय को दृढ़ करने के लिये, अपनी इच्छा-शक्ति को बढ़ाने के लिये, अपने जीव के विकाश के लिये, अगले जन्मों मे उत्तम शरीर और बुद्धि पाने के लिये, अपने चित्त की शिक्षा और विनयन के लिये, यह आवश्यक है कि वे ऐसी प्रतिज्ञा और शपथ करें, और अपने चित्त के भीतर सत् और असत् वासनाओं की मुठ-भेड़ का अनुभव करें, अशुभ कामनाओं को जीतें और दबावें। उचित परिग्रह, सुसंस्कृत कुल-कुटुम्ब, आध्यात्मिक धर्म, की सामग्री के बीच मे, ऐसी प्रतिज्ञाएँ, उस सामग्री को शुद्ध रखने के लिये, आवश्यक हैं। अतः सब काल और सब देशों मे, मनुष्य, स्वभावतः, बड़े और जोखिम के कार्यों के आरम्भ मे, परस्पर विश्वासन आश्वासन के लिये, सदा से शपथ और प्रतिज्ञा करते चले आये हैं। अभिषेक के समय, राजाओं से, अधिकारियों से, ऐसी प्रतिज्ञाएँ कराई जाती हैं। न्यायालयों मे साक्षियों को शपथ दी जाती है; इत्यादि।

और भी। जैसे भिन्न प्रकार के पेशों वृत्तियों कर्मों के लिये भिन्न प्रकार के स्वभाव और गुण चाहते हैं, वैसे ही भिन्न प्रकृतियों के लिये भिन्न प्रकार के विवाह उपयुक्त होते हैं। यह देख कर, मनु ने आठ प्रकार के विवाह कहे हैं। एक तो पापिष्ठ पैशाच कह कर मना ही किया है, दो को कम अच्छा कहा है, पर अनुमति दे दी है; पाँच को अच्छा कहा है। 'ब्राह्म, प्राजापत्य, दैव, आर्ष', चार मे, माता पिता ही विवाह तै करते हैं; 'गांधर्व' वा 'स्वयंवर' मे कन्या और युवा परस्पर रुचि से निश्चय करते हैं; 'राक्षस' मे, युद्धवृत्ति वाले, क्षत्रिय आदि,

कन्या को उठा ले जाते हैं; 'आसुर' मे धन देकर कन्या ली जाती है। आज काल भी यह सब प्रकार पृथ्वी के भिन्न भिन्न देशों मे जारी ही हैं। पहिले, कन्या खरीदी जाती थीं, अब तो भारत मे, वर ही अधिक खरीदे जाते हैं। 'विवाह के इतिहास', जो पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने बड़ी खोज से लिखे हैं, उन मे इन सब प्रकारों का वर्णन है। स्वयं यूरोप मे, अल्पवित्त श्रेणियों मे सब देशों मे, तथा 'लैटिन' जातियों मे विशेष कर, (फ्रांस, स्पेन, इटली आदि में), माता-पिता ही प्रायः विवाह तै करते हैं; बहुवित्त श्रेणियों मे सब देशों में, तथा 'ऐंग्लो-सेक्सन' जातियों मे (ब्रिटेन, जर्मनी आदि मे), विशेष कर संपन्न कुलों मे, स्वयंवर की प्रथा प्रचलित है। पुराणो मे कहीं-कहीं, यथा शिव पुराण मे, पशुओं के नाम से, विवाह के सम्बन्ध मे, मानव प्रकृतियों का इशारा किया है, यथा सिंह-सिंही, अश्व-अश्विनी, कपोत-कपोती, वृष-सुरभि, इत्यादि।

इन सब बातों को विचार कर के, यही उचित जान पड़ता है कि, जो स्त्री पुरुष, स्पष्ट रूप से विवाह-भंग के सम्भव की, और एक-विवाह आदि की, शर्तों के साथ ही विवाह करना चाहते हों, वे १९२३ ई० के वर्तमान कानून के अनुसार विवाह कर सकते हैं। दूसरी प्रकृति के सभी स्त्री-पुरुषों के लिये, जिन की आध्यात्मिक बातों मे और धार्मिक कर्मकाण्ड मे आस्था है, और जो, साथ ही इस के, केवल नाम मात्र के वर्णभेद मे आस्था नहीं रखते, उन के लिये यह उपन्यस्त विधान उपकारी होगा।

अन्तर्वर्ण-विवाह का नाम लेते ही, 'अपरिवर्तवादी' सज्जनो को तत्काल ध्यान यही हो जाता है कि यह तो ऊँच नीच को एक करना चाहता है, उत्कृष्ट स्त्री वा पुरुष का सम्बन्ध निकृष्ट पुरुष वा स्त्री से कराना चाहता है। इस लिये पुनः पुनः यह बात दुहरानी तिहरानी पड़ती है कि ऐसा मन्शा इस विधान का स्वप्न मे भी नहीं है। यह तो सुतरां नितरां सच्चे उत्कृष्ट का (केवल वर्णनाम से ही नहीं) सच्ची उत्कृष्टा से ही सम्बन्ध चाहता है; और तत्रापि यह किसी से स्वप्न मे भी ऐसा नहीं कहता कि तुम ख़ाह-म-ख़ाह ऐसा-ऐसा विवाह करो; बल्कि केवल इतना ही कहता है कि यदि कभी कदाचित् किसी किसी स्त्री पुरुष ने, परस्पर स्नेह प्रीति से, मन मिलने के कारण, विवाह कर लिया, तो

चाहे उन के वर्णनाम भिन्न भी रहे हों, तौ भी उस विवाह को धर्म्य ही जानो, उन दोनों को जातिच्युत करने का यत्न मत करो, और पत्नी का नाम-वर्ण भी वही मानो जो पति का है।

एक अपूर्व दृष्टान्त

३१ मई, १९३६ ई० के 'आज' मे एक मुकद्दमे की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, जिस का फैसला २८ अप्रैल १९३६ ई० को ब्रिटिश साम्राज्य के सब से बड़े न्यायालय प्रिवी कौंसिल, ने किया है। इस मामिले मे 'हिंदू' कहलाने वाले, 'हिंदू-धर्म' को मानने वाले, 'धर्म' का बाना बांधने वाले लोगों मे प्रचलित रूढ़ियों और रस्म-रिवाजों का, जिन का उल्लेख किया जा चुका है, ऐसा विचारोद्बोधक प्रदर्शन होता है, कि उस की मुख्य बातों का निर्देश यहां नितान्त प्रसक्त और प्रयोजक है।

मुसम्मात जग्गी का पहिला विवाह बैजनाथ से हुआ। दोनो वैश्य-वर्ण की एक ही उपजाति के थे। यह उस रिपोर्ट से स्पष्ट है, यद्यपि उस उपजाति का नाम नहीं दिया गया है। बैजनाथ मर गया। जग्गो ने अपने देवर, यानी बैजनाथ के छोटे भाई शिवनाथ, से ब्याह कर लिया। पर शिवनाथ का एक विवाह इस के पहले भी हो चुका था, और उस ब्याह की स्त्री जीवित थी। दोनो सौतों मे रोज झगड़ा होने लगा। ऊब-कर शिवनाथ ने जग्गो का त्याग कर दिया। जग्गो ने निक्कूलाल से सगाई कर ली। निक्कूलाल वैश्य वर्ण की कसौंधन उपजाति का था। जग्गो की उपजाति दूसरी थी। निक्कूलाल की मृत्यु के बाद, उस की अपनी उपजाति की स्त्री से उत्पन्न पुत्र गोपीकृष्ण, और जग्गो से उत्पन्न पुत्र श्रीकृष्ण, मे, निक्कूलाल की सम्पत्ति के आधे हिस्से के लिये, झगड़ा हुआ।

गोपीकृष्ण का कहना था कि जग्गो का निक्कूलाल से जो विवाह हुआ था वह धर्मानुकूल वा जायज़ नहीं था, क्योंकि (१) ब्याह के समय जग्गो का पहिला पति जीवित था और (२) जग्गो और निक्कूलाल एक ही उपजाति के नहीं थे, इस लिये जग्गो का लड़का श्रीकृष्ण, निक्कूलाल की सम्पत्ति का वारिस नहीं हो सकता।

प्रिवी कौंसिल के विचारपतियों ने राय दी है, कि निक्कूलाल से जग्गो का विवाह जायज़ है, यद्यपि इस विवाह के समय उस का पहिला पति

जीवित था। विचारपतियों ने स्पष्ट लिखा है-यद्यपि यह 'विवाह' द्विजों मे गिने जाने वाले वैश्य वर्ण की दो भिन्न उपजातियों के व्यक्तियों मे हुआ है, फिर भी, 'विवाह सम्बन्धी हिन्दू विधि, जिन धर्मशास्त्रों से ठहरायी जाती है, उन मे एक ही वर्ण की दो उपजातियों मे परस्पर विवाह का निषेध कहीं नहीं पाया जाता, और न कोई पहिले की ऐसी नज़ीर या साधारण सिद्धान्त ही है, जिस के अनुसार ऐसा विवाह निषिद्ध माना जाय।

पति के मरने के बाद देवर से विवाह; देवर का, एक पत्नी के रहते, दूसरी स्त्री से विवाह; पति द्वारा पत्नी का त्याग, यानी दर असल तलाक़; फिर उस त्यक्ता स्त्री का एक पति के जीवित रहते दूसरे पुरुष से विवाह; अन्त मे एक द्विज वर्ण के अन्तर्गत दो उपजातियों के स्त्री-पुरुष का विवाह- इस एक ही मामिले मे, ब्रिटिश-भारत के सब से बड़े न्यायालय ने, अंशतः रूढ़ि, अंशतः शास्त्र, के आधार पर, इन सब बातों को जायज़, धर्म्य, हिन्दूधर्मानुकूल क़रार दे दिया है।

हाल मे, एक समाचार पत्र मे मै ने पढ़ा, कि बिहार प्रान्त के एक क़सबे मे एक ऐसा कुल क्षत्रियों का है, जिस के आदमी दारोग़ा तहसील-दार आदि गवर्मेंटी नौकर हुए हैं, पर उस में कई पुश्तों से लड़की पैदा ही नहीं हुई। इस का अर्थ पाठक सज्जन स्वयं लगा सकते हैं।

मथुरा प्रान्त मे चौबे उपजाति मे, भगिनी-विनिमय से विवाह अक्-सर होता है, अर्थात् एक सज्जन की बहिन दूसरे सज्जन से ब्याही जाती है, तो उस दूसरे सज्जन की बहिन पहिले सज्जन से ब्याही जाती है। दोनो सज्जन परस्पर साले भी और बहनोई भी होते हैं। अब जैन समाज मे भी 'जन्मना वर्णः' माना जाता है, यद्यपि महावीर जिन का और प्राचीन जैनाचार्यों का मत 'कर्मणा वर्णः,' का ही था, यथा—

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ,
कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।

(उत्तराध्ययन सूत्र, जैनागम)

बुद्धदेव का भी श्लोक इसी अभिप्राय के हैं।

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मात्ति-सम्भवम्;
अकिंचनं अनादानं तं अहं ब्रूमि ब्राह्मणम्।
सन्नद्धो खत्तियो तपति, झायो तपति ब्राह्मणो। (धम्मपद)

न जच्चा वुसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणोः
कम्मणा वुसलो होति, कम्मणा होति ब्राह्मणो ।

(वुसल-सुत्त, सुत्त-निपात)

अर्थात्, माता की योनि से जन्मे को ही मैं ब्राह्मण नहीं मानता, नहीं कहता; जो धन संग्रह नहीं करता, दान पाने लेने का लोभ नहीं करता, उस को ब्राह्मण जानता हूँ। अस्त्र शस्त्र से सज्ज, दुर्बल की रक्षा के लिये सदा सन्नद्ध, क्षत्रिय होता है ; ध्यायी, ध्यान-शील, विद्या-व्यसनी, तपस्वी, ब्राह्मण होता है।

पर अब जैनो मे 'जन्मना वर्णः' की प्रथा फिर से हो गयी है, और इस के दुष्फलों मे एक सुफल यह हुआ है, कि नाम से एक ही उपवर्ण वाले, जैन और वैष्णव 'हिन्दू' कुलों मे, विवाह सम्बन्ध अक्सर होता है। यद्यपि दोनो उपधर्मो की विवाह-पद्धतियों मे वहुत भेद है, पर प्रायः वर के पक्ष की पद्धति से विवाह हो जाता है। 'सिक्खों' के एक वर्ग के साथ भी हिन्दुओं के विवाह-सम्बन्ध इस प्रकार के होते हैं। किन्ही-किन्ही हिंदू 'जातियों' मे ज्योतिष की वारीकी इतनी की जाती है और लग्न ऐसे साधे जाते हैं, कि एक या दो या तीन या चार वजे रात को ही पाणि-ग्रहण हो सकता है; किन्ही हिन्दू 'जातियों' मे यह प्रथा है कि ज्योतिषी विद्वान् एक दिन अच्छा निश्चित कर देते हैं, और उसी एक दिन मे उस जाति के, वल्कि आसपास के गांवों के भी, सभी विवाह हो जाते हैं। १८९१ ई० मे काशी मे कल (वाटरवर्क्स) के जल का, 'धर्म' के नाम से बड़ा भारी विरोध हुआ; 'रामहल्ला' के नाम से एक छोटा वलवा भी हो गया; आज यह हालत है कि संयुक्त प्रांत भर मे, अन्य सव शहरों से अधिक घरों के भीतर काशी मे ही 'पाइप कनेक्शन' है।

जब इन सव प्रकारों को, व्यवहारों को, 'सर्वसहा मेदिनी' के ऐसा सर्वसह 'हिन्दू धर्म', 'सनातन धर्म', 'मानव धर्म', वर्दाश्त कर रहा है, वल्कि खुशी से ढो रहा है, तव फिर अन्तर्वर्ण-विवाह मे वधू का वर्ण-परिवर्तन हो कर वर के वर्ण मे सम्मिलित हो जाने को, और उस विवाह को, धर्मानुकूल मान लेने को, क्यों अति-भार माने ? "दधता किमु मन्दराचलं परमाणुः कमठेन दुर्धरः ?" । अभी हाल मे एक सरयूपारी ब्राह्मण सज्जन से मैं ने सुना कि उन के, और असपास के, गाँवों मे, उन की विरादरी मे, हर

गाँव मे दस पन्द्रह लड़के 'क्वांरे', कुमार, अनब्याहे, रह जाते हैं; और दस पन्द्रह लड़कियां भी; लांछन लगा देने के कारण। यही हालत, कई वर्ष हुए, आरा नगर के एक भूमिहार रईस से, उन की बिरादरी की, मै ने सुनी, पर दूसरे कारण से। कहीं लड़कियां व्याह के लिये बेची खरीदी जा रही हैं, कहीं जामाता। हाथी को निगल गये, चूहा गले मे अटकता है!

ऐसी वस्तुस्थिति मे, शास्त्रोक्त विधि से किये गये अन्तर्वर्ण-विवाह को, ऐसा विवाह जिस मे वर और वधू दोनो ही परस्पर अतिचार व्यभिचार न करने और संसार मे परस्पर सहायता करने की एक सी प्रतिज्ञा करते हैं, जिसका पालन करने के लिए उभय पक्ष को पंचायत के और अदालत के द्वारा बाध्य किया जा सकना चाहिये—ऐसे अन्तर्वर्ण-विवाह को क़ानून बना कर जायज़ क़रार देने से, सच्चे वर्णाश्रम धर्म का अणुमात्र भी ह्रास नहीं होगा; प्रत्युत, अधिकतर उत्कृष्ट, और सर्व प्रकार से विज्ञानसिद्ध और विवेकसम्मत आदर्श, की ही स्थापना होगी; और धीरे धीरे सद्धर्मविरुद्ध रूढ़ियों, व्यवहारों, रस्म-रिवाजों की प्रचलित अस्तव्यस्तता को, जो ही वस्तुतः 'वर्णसंकर', उचित अनुचित का संकर, है, दूर करके उसकी जगह सुव्यवस्था स्थापित होगी।

क़ानून की आवश्यकता

एक और बात का विचार करना बाक़ी है। कुछ मित्रों का कहना है कि हम उपन्यस्त विधान के मूलस्थ, अन्तस्थ, सिद्धान्त को मानते हैं, पर हमे यह मंजूर नहीं कि वर्तमान व्यवस्थापक सभाओं द्वारा इस प्रकार का विधान या क़ानून बनवाया जाय। इन मित्रों के भाव को मै समझता हूँ। पर मेरी उन से प्रार्थना है कि वे इस बात पर विचार करें कि इस उपन्यस्त विधान के सिद्धान्त को, जिसे वे जी से पसन्द करते हैं, यदि वे वर्तमान व्यवस्थापक सभा द्वारा विधानबद्ध करने मे सहायता न करेंगे, तो अनेक युवक युवतियों को, विवश हो कर, पूर्वोक्त अन्य वर्तमान विधानो द्वारा, केवल लौकिक, या अहितकर या असुविधाजनक, या हानिकारक, विवाह करना पड़ेगा, यद्यपि वे हृदय से चाहते हैं कि वैदिक विधि से विवाह करें। उन मित्रों से इस बात का भी स्मरण रखने की प्रार्थना करता हूँ, कि प्राचीन धर्मशास्त्र मे 'लौकिक' और 'वैदिक' अथवा 'धार्मिक'

बातों के बीच, वैसा तीव्र विवेक और भेद नहीं किया गया है, जैसा आज पच्छिम मे भी और पूर्व मे भी दिखाई देता है। यदि हम भीतर पैठ कर विचार करें, तो यह विवेचन और भेदन टिक भी न सकेगा। यदि इस भेद को आत्यंतिक माना जाय, तो यह भी मानना पड़ेगा कि देह और आत्मा का, शरीर और मन का, सम्पूर्ण सजीव समवाय वा संघात मनुष्य नहीं है, किन्तु भिन्न-भिन्न वस्तुओं का एक आकस्मिक समुच्चय वा गट्ठर है, जैसा ईंधन की लकड़ियों का हुआ करता है। प्राचीन धर्मशास्त्रों मे, मानव-जीवन के अंगभूत समस्त विषयों का, आज 'धार्मिक' और 'लौकिक' समझे जाने वाले उभयविध विषयों का, समावेश किया गया है। सब से प्राचीन और आज भी सर्वमान्य धर्मशास्त्र के ग्रन्थ मनुस्मृति मे, समाज के व्यक्ति के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले सभी विषयों का समावेश देख पड़ता है; और उन सभी विषयों पर, अन्यूनाधिक आवश्यक विस्तार के साथ, आज्ञा दी गई है। शिक्षा और संस्कृति, कुटुम्ब और दाम्पत्य, व्यवसाय और सम्पत्ति, संरक्षण और शासन और राजनीति, इहलोक और परलोक, ऐहिक जीवन और पारलौकिक जीवन, इन सब विषयों का एक ही संग्राहक नाम दिया गया है, 'धर्म', अर्थात् मनुष्य का कर्तव्य, अधिकारयुक्त कर्तव्य और कर्तव्य-युक्त अधिकार। इस मे आचार-धर्म, प्रायश्चित्त-धर्म, संस्कार-धर्म, शिक्षा-धर्म, रक्षा-धर्म, वार्ता-धर्म, देवपितृ-धर्म, महायज्ञ-धर्म आदि, सर्वोपरि वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म, सभी शामिल हैं। साथ ही, यह बात भी स्पष्ट कर दी गयी है, कि सर्वसंग्राहक 'राज-धर्म' मे यह सब धर्म अन्तर्गत हैं।

सर्वे धर्माः राजधर्मे प्रविष्टाः। (म० भा० शान्ति० अ० ६२)
वर्णानाम् आश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता। (म०)
लोकरंजनं एव अत्र राज्ञो धर्मः सनातनः;
चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्याः महीक्षिता;
'धर्मसंकर'-रक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः,
चतुर्वर्णाश्रमाणां च, राजधर्माश्च ये मताः;
स्वेषु धर्मेषु अवस्थाप्य प्रजाः सर्वाः, महीपतिः,
धर्मेण सर्वकृत्यानि शमनिष्ठानि कारयेत्।
दण्डनीतिं परित्यज्य, यदा, कार्त्स्न्येन, भूमिपः,
प्रजाः क्लिश्नाति अयोगेन, प्रवर्तेत तदा कलिः।

कलौ अधर्मो भूयिष्ठो धर्मो भवति न क्वचित् ;
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्मात् च्यवते मनः ;
शूद्राः भैक्षेण जीवंति, ब्राह्मणाः परिचर्यया ;
योगक्षेमस्य नाशश्च, वर्त्तते 'वर्णसंकरः' ;
ह्रसंति च मनुष्याणां स्वर-वर्ण मनांसि उत ;
व्याधयश्च भवंत्यत्र, म्रियन्ते चापि अनायुषः ;
विधवाश्च भवंति अत्र, नृशंसा जायते प्रजा ;
क्वचिद् वर्षति पर्जन्यः, क्वचित् सस्यं प्ररोहति ;
रसाः सर्वे क्षयं यान्ति, यदा न इच्छति भूमिपः
प्रजाः संरक्षितुं सम्यग् दण्डनीतिसमाहितः ।
राजा कृतयुगस्रष्टा, त्रेतायाः, द्वापरस्य च
युगस्य च चतुर्थस्य, राजा भवति कारणम् ।

(म० भा०, शान्ति०, अ० ५६,५९,६९)

इस प्रकार से राजा और राजधर्म पर सब धर्म को आश्रित कर दिया है। और राजा के विनयन, सत्पथ पर प्रणयन, असन्मार्ग से निवर्त्तन, धर्मोऽदेशन, तर्जन, नियन्त्रण का भार पुरोहित पर रक्खा है। निष्कर्ष यह कि राजधर्म के बाहर कोई धर्म नहीं रक्खा है, और उद्धृत श्लोकों से यह भी स्पष्ट होता है, कि केवल विवाह से ही सम्बन्ध 'संकर' शब्द का नहीं है, अपितु वर्णो और आश्रमो के पृथक् पृथक् विवेचित मर्यादित धर्मो अर्थात् अधिकार-कर्त्तव्यों का संकर ही, गड़बड़ हो जाना ही, 'संकर' शब्द का पूरा अर्थ है। 'धर्मसंकर' शब्द और 'वर्णसंकर' शब्द दोनो ही उक्त श्लोकों मे आये हैं।

धर्मशास्त्र कहिये, या क़ानून का ग्रन्थ कहिये, सभ्य मनुष्य के जीवन के प्रत्येक अंग का, प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से, स्पर्श किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि मर्यादा का बांधना सभी के लिये चाहिये; हां, यह स्पर्श, यथोचित मृदुता और उदारता से होना चाहिये; और अच्छे को उभारना, बुरे को दबाना, शिष्टसंग्रह, दुष्टनिग्रह, उस का उद्देश्य होना चाहिये। अपने को अत्यन्त व्यवहार-कुशल, अत्यन्त कर्मण्य, मानने वाली, और अत्यन्त पैसा-प्रिय-भारत की वर्त्तमान गवर्मेंट का भी एक धर्म विभाग ('इक्लीजियास्टिकल डिपार्टमेंट') भी

है, (यद्यपि वह उचित कर्तव्य नहीं करता) । उपनयन वा यज्ञोपवीत संस्कार (पारसियों की 'ज़ुन्नार' या 'नवजोत' की रस्म), जिस का आधुनिक रूप, हेड-मास्टरों द्वारा रजिस्टर मे विद्यार्थी के नाम का लिखा जाना है, विद्यारम्भ वा ब्रह्मचर्याश्रम के प्रारम्भ का द्योतक है। यह संस्कार, विवाह-संस्कार से, जिस से गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ होता है, अधिक पवित्र समझा जाना चाहिये। यज्ञोपवीत संस्कार न किया जाय तो द्विज 'पतित' होता है, अर्थात् पदभ्रष्ट, वर्णभ्रष्ट, 'व्रात्य' समझा जाता है। विवाह न करने से कोई पतित नहीं होता। स्पष्ट है कि विद्या को प्राप्त न करे तो मनुष्य सभ्यता से गिर जाता है, 'असभ्य' हो जाता है ; और नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से, यदि यह ब्रह्मचर्य सच्चा हो तो, कोई इस तरह गिरता नहीं, प्रत्युत तपस्या से उत्कर्ष ही पाता है। पर जो सज्जन विवाह के विषय मे वर्तमान व्यवस्थापक सभाओं का हस्तक्षेप असहनीय मानते हैं, वे इस मे कोई आपत्ति नहीं करते कि वर्तमान व्यवस्थापक सभा, शिक्षा के सम्बन्ध मे क़ानून बनावे, और 'अन्तर्वर्ण' शिक्षा भी चलावे, जिस मे सब जातियों के लड़के और लड़कियां एक स्कूल, एक कालेज, मे, एक साथ बैठ कर, एक ही शिक्षा पाया करें। 'सती' प्रथा, विधवाओं के आग मे जल जाने या जला दिये जाने की प्रथा, को बन्द कर देने वाले ब्रिटिश क़ानून का विरोध करने की हिम्मत किसी हिंदू धर्म-धुरंधर की नहीं हुई। ऐसे ही और भी क़ानून, प्रचलित हिन्दू 'धार्मिक' प्रथाओं को बदल देने वाले क़ई हैं। विधवा-विवाह का क़ानून ('हिंदू-विडो-री-मैरेज-ऐक्ट') भी, ब्रिटिश-इंडियन गवर्नमेंट ने बना दिया ; और बनाया भी पंडित ईश्वर-चन्द्र विद्यासागर ऐसे धर्मिष्ठ विद्वान् विख्यात सज्जन की प्रेरणा से। पंजाब मे एक क़ानून बनाया गया है जिस से विशेष विशेष 'जाति' के हिन्दुओं को ज़मीन ख़रीदने से रोक दिया है ; 'सारडा ऐक्ट', जिस से, १६ वर्ष के वयस् से कम पुरुष और १४ वर्ष से कम स्त्री के विवाह का निषेध कर दिया गया है, वह भी इसी कोटि मे है ; इत्यादि। 'राजा' के द्वारा 'धर्म' मे हस्तक्षेप का एक मध्यकालीन उदाहरण यहां कहने योग्य है। पर्वतीय ब्राह्मणो मे 'पन्त', 'जोशी', 'पाण्डे', तीन मुख्य उपजातियां हैं ; 'उप्रेती', 'कुर्क्रेती', प्रभृति अवान्तर ; प्रसिद्ध है कि 'पन्त' महाराष्ट्र देश से आरम्भ मे गये, 'पांडे' संयुक्त प्रान्त से,

'जोशी' स्थानीय हैं; 'पंत' शाकाहारी हैं, 'पांडे' और 'जोशी' मांसाहारी हैं ; इन मे पहिले परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं होता था ; बाद मे, एक समय, उस काल के राजा की दृढ़ आज्ञा से ही होने लगा, और अब बराबर होता है। स्मृतियों के अनुसार, 'ब्राह्मण' चाहे जो महापातक कर डाले, अवध्य है; अंग्रेज़ी दंड-विधान से फांसी पाता ही है ; इस के विरुद्ध, 'धर्म-शास्त्रियों' ने आवाज़ नहीं उठाई।

हम यह भी देखते हैं कि अंग्रेज़ों के बनाये व्यवस्था-मण्डल और न्यायालय, उत्तराधिकार-सम्बन्धी विधानो मे, तथा और भी ऐसे अनेक विषयों मे, जिन्हें अपरिवर्तनवादी केवल 'धर्म' का विषय समझते हैं, हस्तक्षेप कर रहे हैं। उन की दृष्टि से तो यह अधिकार केवल 'धार्मिक' न्यायालयों अर्थात् परम्परागत धर्माधिकारियों की ही सभाओं, अथवा वर्णों और उपवर्णों की पंचायतों और मुखियों, को ही होना चाहिये ; किंतु संसार की वर्तमान अवस्था मे प्रचलित सरकारी न्यायालयों की प्रथा को बदलना न सम्भव है, न इष्ट ही।

केवल यही नहीं। हिंदुत्व और हिंदू समाज मे भी बहुत परिवर्तन होते चले आ रहे हैं। कुछ परिवर्तन धीरे धीरे, अस्पष्ट, अव्यक्त, 'बे-मालूम' तरीके से हो जाते हैं, और कुछ के होते समय शोर-गुल मचता है, और शास्त्रार्थ, भाष्य, टीका, पण्डितजन की लिखित 'व्यवस्था', आदि से सहायता ली जाती है। जिसे हम नयी व्यवस्था, नयी टीका, नया भाष्य कहते हैं, उसी का आधुनिक रूप है 'हाइकोर्ट' की नज़ीर या जज का बनाया क़ानून। इधर सैकड़ों वर्षों से, धर्मशास्त्र मे संशोधन ('एमेंडमेंट'), परिवर्तन ('चेंज'), परिवर्द्धन ('एडिशन'), निवर्तन ('रिपील'), या नव-विधान ('इनैक्टमेंट')* स्पष्ट रूप से नहीं किया जाता रहा है, पर समाज के विश्वास-भाजन विद्वान् उस 'शास्त्र' का समयानुरूप नया 'अर्थ' करते रहे हैं, तथा समाज उसे मान लेता रहा है। जब से स्मृति-कारों का, धर्म बनाने वाले 'परिकल्पक' 'व्यवसायक' 'प्रवर्तक' ऋषियों और पुरोहितों का, युग समाप्त हो गया, तब से धर्मशास्त्र मे, स्मृतियों मे, साक्षात् संशोधनादि करने की रीति उठ गयी। स्पष्ट है कि न्यायालय चाहे जैसे हों, उन का संघटन चाहे जिस रीति से किया गया हो, पोथी

---

* Amendment; change; addition; repeal; enactment.

मे क़ानून के शब्द कैसे भी हों, मामिले मुक़द्दमे का निर्णय, क़ानून के विवादास्पद अर्थ का निर्णय, जजों की, न्यायाधीशों की, योग्यता वा अयोग्यता के अनुसार ही, अच्छा या बुरा होगा। यदि जज, प्राड्विवाक, न्यायपति, सत्प्रकृति का, बुद्धिमान्, धीमान् हो, तो उस का निर्णय भी अच्छा होगा, नज़ीर अच्छी क़ायम करेगा। यदि जज अच्छा न हो, मूर्ख, अविचारी, अविवेकी, जल्दबाज़, बेईमान, रिश्वत-ख़ोर, उत्कोच-ग्राही, रागद्वेषी, स्वार्थी, अदूरदर्शी, देश-काल-अवस्था को न पहिचानने वाला, कूप-मण्डूक हो, तो फ़ैसला और तजवीज़ ख़राब होगी, और नज़ीर ख़राब, हानिकारक, क़ायम करेगा। ऐसा हुआ भी है। हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे परम्परागत धर्माधिकारी और धर्मशास्त्री, केवल प्राचीन संस्कृत पोथियों का ही अध्ययन करते हैं, और यद्यपि कोई-कोई अपने विषय के बड़े प्रकांड विद्वान् होते हैं, पर उन्हें संसार की गति का, नये विचारों, नयी समस्याओं, नयी ग्रंथियों, नये प्रश्नों, नयी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, व्यावहारिक, कठिनाइयों और आवश्यकताओं, का ज्ञान बिलकुल नहीं होता; अत-एव ये प्राचीन 'शास्त्रों' का, नवीन और समयानुकूल 'अर्थ' कर के, जीवन की नित्य-नैमित्तिक कठिनाइयों का सामना करने मे, जनता की कुछ भी सहायता नहीं कर सकते; प्रत्युत, 'पुराणमित्येव हि साधु सर्वं' को हठ से पकड़े रहने के कारण, हिन्दू समाज को अधिक कठिनाई और व्याकुलता मे डाल देते हैं। अगत्या नया 'भाष्य' करने का भार ऐसे लोगों पर आ पड़ा है, जो परम्परागत धर्माधिकारी तो नहीं हैं, पर प्राचीन और नवीन दोनों अवस्थाओं, भावनाओं, विचारों, और आन्दोलनो से परिचित हैं; और आज जो व्यवस्थामण्डल, व्यवस्थापकसभा, धर्मपरिषत्, हैं, उन्हीं की सहायता से, नवीन 'भाष्यों' को, विधान का, क़ानून का, बल और गौरव और रूप दिलाने का यत्न, उन्हें ही करना पड़ता है; जिस मे नित्य के जीवन मे, जनता उन का उपयोग कर के, जीवन की कठिनाइयों को सुलझा सके। स्वयं मनु ने कहा है, "वेदः, स्मृतिः, सदाचारः, स्वस्थ च प्रियं आत्मनः", 'वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा की सात्त्विक वृत्ति को जो बात प्रिय, उचित, जान पड़े, यह चार धर्म के लक्षण हैं, उत्पत्ति-स्थान हैं'; जिस का भी अर्थ यही है कि अन्त मे जा कर सात्त्विक बुद्धि, विद्वान् 'पुरोहित' प्राड्विवाक की, धर्म

की व्याख्या करती है। और भी मनु की आज्ञा है कि न्यायपति, देश-काल-अवस्था-अनुबन्ध का विचार कर के निर्णय करे, तजवीज़ दे, 'फ़ैसला'* मनावै। "अनुबन्धं परिज्ञाय, देश-कालौ च तत्त्वतः, सारापराधौ चावेक्ष्य, दंडं दंडेषु पातयेत्"। (८. १२६).

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, कोई ख़ास हिन्दू विवाह, शास्त्र-सम्मत, धर्मसंगत, जायज़ है या नहीं, इस का निर्णय करने का अधिकार अब न्यायालयों या अदालतों को ही प्राप्त है। धर्माधिकारी नयी व्यवस्था दे भी दें, तो वह, न्यायालयों मे, किसी हिन्दू विवाह को धर्म्य, जायज़, सिद्ध न कर सकेगी, यदि कोई स्वार्थी मनुष्य, रूढ़ि या रिवाज आदि की दोहाई देता हुआ, अदालत मे उस के विरुद्ध जाय। इस कारण से, 'व्यवस्थामण्डल' से, अर्थात् 'लेजिस्लेचर'† से, जो ही वर्तमान समय मे 'धर्म-सभा', 'धर्म-परिषत्' है, सहायता लेना अनिवार्य हो गया है। जनता के हित के नये क़ानून बनाने मे, और पुराने हानिकारक दस्तूरों और क़ानूनों को हटाने मे, हमे व्यवस्थामण्डलों से अवश्य सहायता लेनी चाहिये। प्राचीन स्मृतियां ही हमे सलाह देती हैं, कि 'नये क़ानूनो, वैज्ञानिक आविष्कारों, नयी विद्याओं, शुचिता और आरोग्य-रक्षा के नियमो, सुभाषितों और हित-कर उपदेश-वाक्यों, नवीन शिल्पों और कला-कौशलों, सभी अच्छी नयी चीज़ों का, और विशेष कर विवाहार्थं अच्छी स्त्रियों का ग्रहण सब स्थानो से करना चाहिये।'

> स्त्रियो, रत्नानि, अथो विद्याः, धर्माः, शौचम्, सुभाषितम्,
> विविधानि च शिल्पानि, समादेयानि सर्वतः। (मनु०)

मनु की यह आज्ञा है कि,

> अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्याद् इति चेद् भवेत्,
> यं शिष्टाः ब्राह्मणाः ब्रूयुः सः धर्मः स्याद् अशंकितः।
> धर्मेण ऽधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः,
> ते शिष्टाः ब्राह्मणाः ज्ञेयाः, श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः।
>
> (मनु० अ० १२)

---

* Case-law.

† Legislature.

नई अवस्था मे नया क़ानून बनाने की जरूरत हो, तब, इतिहास पुराण और सब अंग उपांग से परिवृंहित वेद को जानने वाले, प्रज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न, सुने को कर दिखा सकने वाले 'ब्राह्मण' जो कहैं, कि इस अवस्था मे यह धर्म है, वही धर्म माना जाना चाहिये। अब, न ऐसे 'ब्राह्मण' हैं, न अपने को 'ब्राह्मण' कहने वालों को कोई धर्म-क़ानून बनाने का अधिकार रह गया है। सब प्रकार के 'धर्म-कानून' सर्कारी 'लेजिस्लेचर' के सभासद ही बनाते हैं; और इन सभासदों मे, अच्छी संख्या मे, प्रजा के मनोनीत, वृत, 'प्रतिनिधि' भी होते हैं; प्रतिनिधि, प्र-णि-धि, आदि शब्दों की व्युत्पत्ति, उसी 'धा' धातु से है जिस से 'पुरो-हित' 'पुरो-धाः' की; 'प्रजानां हिताय, धर्म-कार्येषु, सर्वेषां हितचिन्तकः, यः विद्वान् तपस्वी सज्जनः, पुरः, अग्रे, धीयते, सः प्रजाभिश्च, शासकेन राज्ञा च, अग्रस्थाने स्थापितः, वि-हितः, नि-हितः, प्र-हितः, पुरो-धाः पुरो-हितः'। वर्तमान युग (ज़माने) मे, ऐसे प्रति-निधि ही पुरो-हित हैं, और धर्मआम्नान, धर्मव्यवसान, धर्मपरिकल्पन कर सकते हैं। ऐसी अवस्था मे यह कहना कि, लेजिस्लेचर' से यह काम नहीं लेना चाहिये, अब नितरां व्यर्थ है। बरोदा राज्य मे, राजा और 'लेजिस्लेचर' ने परस्पर सम्मति से, 'अंतर्वर्ण-विवाह' का कानून बना भी दिया है, जो उस रियासत की बीस लाख हिंदू प्रजा पर लागू है। ऐसे अन्य कानून भी उस रियासत मे बना दिये गये हैं।

इस स्थान पर और भी कई बातैं, सज्जनो के विचारार्थ, कहता हूं। (अभी जीवित) भूतपूर्व तुको जी राव होल्कर की अमेरिकन पत्नी, मिस् मिलर को, (कोल्हापुर के) करवीरपीठ के भूतपूर्व 'शंकराचार्य' डाक्टर कुर्त्तकोटि ने, शर्मिष्ठा देवी का नाम दे कर, 'हिन्दू' बनाया; ऐसे ही अन्य कई यूरोपीय स्त्रियों और पुरुषों को, जिन को मैं जानता हूँ, ऐसे विद्वानो ने, जो 'जन्मना' ब्राह्मण है, पर उदार बुद्धि और परार्थी हृदय रखते हैं, हिन्दू-धर्म मे दीक्षित किया है।

गवर्मेण्ट ने इस उपन्यस्त विधान के विषय मे, देश के प्रमुख अधिकारियों, नेताओं, समितियों, से राय मांगी; उस के उत्तर मे, बम्बई, बिहार, पंजाब, मद्रास, अवध के हाइ-कोर्टों के जजों मे से २१ ने (अधिकांश हिन्दू) ने इस का समर्थन किया, ९ तटस्थ रहे, ६ विरुद्ध रहे; युक्त-प्रांत, बंगाल, बर्मा के हाई-कोर्ट तटस्थ रहे; बहुत से कमिशनर,

मिनिस्टर, गवर्मेण्ट मेम्बर, डिस्ट्रिक्ट जज, कलेक्टर, लीगल रिमेम्ब्रांसर आदि ने इस के पक्ष मे राय दी; कुछ थोड़ों ने प्रतिपक्ष मे भी; देश-भर की सभी स्त्रियों की समितियों ने इस का समर्थन किया; अखिल-भारतीय स्त्री-सभा ने, महारानी त्रावणकोर के सभापतित्व मे, इस का समर्थन किया; बहुत से 'बार-असोसियेशनों' ने भी ऐसा ही किया; इत्यादि ।*

इन हेतुओं से हिन्दू समाज के सब अंगों और वर्गों को उचित है, कि हृदय से इस उपन्यस्त विधान का समर्थन करें; इस से हिन्दुत्व और हिन्दू समाज मे उस सुधार, संस्कार, और, पुनर्जीवन का सूत्रपात होगा, जो ही उन्हें विनाशकारी, सर्वांगव्यापी, भेदबुद्धि-रूप, परस्पर-द्रोह-रूप महारोग से बचा सकता है, उन को नया प्राण नया जीवन दे सकता है, और अपने समाज के भीतर, तथा अन्य समाजों और धर्मों और सम्प्रदायों के साथ, शान्तिपूर्वक रहने को शक्ति दे सकता है ।

संक्षिप्त निष्कर्ष और समाप्ति

(१) उपन्यस्त विधान किसी को अन्तर्वर्ण-विवाह करने के लिये, या ऐसा विवाह करने वालों के साथ सहवास, सहासन, सहाशन, आदि सामाजिक सम्बन्ध करने या बनाये रहने के लिये, कदापि विवश नहीं करता । इस विषय मे सब को यथेष्ट आचरण का अधिकार रहेगा ।

---

* एक विवाह और विवाह-भंग के विषय मे जो ऊपर लिखा गया उस के सम्बन्ध मे, ये वाक्य, स्मृतियों के, आलोचनीय हैं; मनु० अ० ९, श्लो० ४६–८९, १०१; "धर्मप्रजासम्पन्ने दारे, न ऽन्यां कुर्वीत," आपस्तम्बधर्मसूत्रं; "नष्टे, मृते, प्रव्रजिते, क्लीबे च, पतिते, पतौ, पंचसु आपत्सु नारीणां पतिर् अन्यो विधीयते", पराशरस्मृतिः; "यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि, तादृग्गुणा सा भवति, समुद्रेणेव निम्नगा", मनु०, ९. २२; "व्यालग्राही यथा व्यालं बलाद् उद्धरते बिलाद्, एवं पतिव्रता नारी भर्तारं नीचगामिनं, अपि वा नरकं प्राप्तं, स्यात् चेत् तं अनु-संस्थिता" पराशर० । यह भी विचारणीय है कि १९२१ ई० की भारतीय मनुष्यगणना 'रिपोर्ट' मे लिखा है कि विवाहित स्त्रियों मे, हजार मे केवल आठ को सपत्नियां हैं; अर्थात् बहुविवाह प्रायः न-गण्य है ।

(२) पर, किसी को यह अधिकार न रहेगा कि अन्तर्वर्ण-विवाह करने वाले को, यह लांछन लगा कर कि इन्हों ने धर्मविरुद्ध आचरण किया है, जाति-बहिष्कृत करने की घोषणा करे, या किसी दूसरे को इन के साथ संसर्ग करने से मना करे।

(३) ऐसे विवाह करने वाले स्त्री-पुरुषों के उत्तराधिकार के विषय मे, जो पति का 'निजी क़ानून', धर्मशास्त्र के अनुसार हो, ('दि, हस्-बैंडस् हिन्दू पर्सनल ला'), वही लागू होगा। पत्नी का वर्ण वही माना जायगा जो पति का हो; तथा सन्तान का वही वर्ण माना जायगा जो पिता का हो। ऐसा होने से वर्ण का अस्तित्व सर्वथा बना रहेगा, और व्यवहार मे कोई अड़चन या कठिनाई न होने पावेगी। यदि, आगे चल कर, इस का प्रयोजन पड़ा, तो उपन्यस्त विधान मे उक्त आशय के शब्द, स्पष्ट रूप से बढ़ा दिये जायंगे।

(४) इस उपन्यस्त विधान का आशय स्वप्न मे भी कदापि नहीं है, कि सचमुच उत्कृष्ट का विवाह सचमुच निकृष्ट से हो। प्रत्युत, इस का हार्दिक अभिप्राय और अभीष्ट यह है कि, ज़रा ज़रा सी थोथी बातों पर 'जात-बाहर' कर देने की समाजोच्छेदक, संघटन-विनाशक, द्रोह-वर्धक, संघ-क्षय-कारक, प्रथा बन्द हो; तथा, जो 'वर्ण' शब्द अब नितरां अर्थ-शून्य हो रहा है, वह पुनः अर्थ-पूर्ण हो; स्वाभाविक, स्वप्रकृत्यनुकूल, धर्म-कर्म, जिस वर्ण का जो करे, वह उस वर्ण का नाम पावे ; विद्या-तपः-शील का विवाह विद्या-तपः-शील से हो, शूर-वीर का शूर-वीर से, धन-संग्रही दानी का धन-संग्रही दानी से, सेवा-चतुर का सेवा-चतुर से, सचमुच विशिष्ट का सचमुच विशिष्ट से, समान का समान से ; केवल वर्ण-नाम ही पर एकमात्र अत्यन्त जोर न दिया जाय।

इन बातों पर शान्त मन से, ('हिंदू') 'मानव' धर्म और ('हिंदू') 'मानव' समाज के जीर्णोद्धार के भाव से, सब सज्जन, गंभीर विचार करें; त्वरा से नहीं, रागद्वेष के भाव से नहीं ; यह काल युग संधि का है; दो समयों ज़मानों की, दो समुदाचारों शिष्टताओं की, पुराने नये विचारों आचारों प्रकारों की, मुठभेड़, टक्कर, घोर प्रतिस्पर्धा हो रही है; भारत के हितैषियों को, ऐसे शांत विचार के अनन्तर, यदि निश्चय हो जाय कि यह उद्योग किसी दुर्भाव से, किसी बदनीयती से, प्रेरित नहीं है, तथा सचमुच इस विधान से हिंदू समाज और धर्म का कल्याण

ही होगा, और दोनो प्रतिद्वंद्वियों का, सहूलियत से, सरलता से समझौता हो जायगा, तब दिल खोल कर प्रसन्न हृदय से इस को आशीर्वाद दें।

ॐ, सह नः अवतु, सह नः भुनक्तु, सह वीर्यं करवामहै ;
तेजस्वि नः अधीतमस्तु, मा विद्विषामहै, ॐ

ॐ, उद्बुद्ध्यध्वम् समनसः सखायः, समग्निमिंध्वम् बहवः सनीडाः;
संगच्छध्वम् , संवदध्वम् , सं वो मनांसि जानताम् ;
समानो मन्त्रः, समितिः समानी, समानं मनः, सह चित्तं अस्तु;
समानं मन्त्रम् अभिमंत्रये वः, समानेन वो हविषा संजुहोमि,
समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः,
समानम् अस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति;
समानी प्रपा, सह वोऽन्नभागः, समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि;

सम्यंचो ऽग्निं सपर्यत, अरा नाभिमिव ऽभितः। ॐ

सत्यं भणामि, अपि समाजहितं गृणामि, संसारयात्रिकसहायकरं ब्रवीमि,
प्राचीनशास्त्रहृदयं प्रगवीकरोमि; स्वार्थेषु मा कुरुत मत्सरमार्यधीराः।
न्याय्यं वदामि, उभयलोकहितं गदामि, लोकौ अतीत्य परमार्थयुजं स्तवीमि,
शंसामि यत् ननु निदेशनं आर्षमेव, गृह्णीत हृष्टहृदयाः तद् अथऽार्यवर्याः।
वर्णाश्रमाऽर्यमत-मानवधर्म-सारं, विच्छिन्नभिन्नजनताक्षतपूर्तिकारं,
सौहार्द-संघ-बलकृत्परमोपचारं, व्याख्यामि, संगतं इह ऽाचरत ऽार्यमिश्राः।

ॐ सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु,
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु। ॐ

: ६ :

चतुःपुरुषार्थसाधक विश्वव्यवस्था-कारक, विश्वधर्म ।

(काशी के 'सिद्धान्त' नामक साप्ताहिक पत्र के १९९८ वि० (३ जून १९४१ ई०) के अंक मे, मेरे अंग्रेज़ी ग्रन्थ 'सब धर्मों की तात्त्विक एकता' की छोटी समालोचना छपी ; तथा, १९९९ वि० (१०,१७,२४ मार्च १९४२ ई०) के तीन अंकों मे मेरे अंग्रेज़ी ग्रन्थ 'विश्व-युद्ध और उस की एकमात्र औषध—विश्वव्यवस्थाकारक विश्वधर्म' की विस्तीर्ण परीक्षा । समालोचक सज्जन ने अपने अन्तिम लेख मे यह इच्छा भी प्रकट की, कि मैं उत्तर लिखूं । इस लिये उन की उठाई शंकाओं के समाधान के लिये मैं ने कुछ लिखा । वह १९९९ वि० (२६ मई, २,९,१६,२३,३० जून, १९४२ ई०) के छः अंकों मे छपा । उस का पुनर्दृष्ट, कुछ संक्षिप्त कुछ परिबृंहित रूप यहाँ छापा जाता है ।)

विश्वव्यवस्था और विश्वधर्म ।

समालोचक ने, २४-३-१९४२ ई० के लेख के आदि मे लिखा है कि "जिस तरह हम डाक्टर भगवानदास जी की 'विश्वव्यवस्था' समझने मे असमर्थ हैं, उसी तरह 'विश्वधर्म' से उन का क्या अभिप्राय है, यह भी हम नहीं समझ सके हैं" । इस से मैं कुछ संकट मे पड़ गया; ७५० पृष्ठों की पुस्तक ('दि एसेन्शल् यूनिटी आफ् आल् रिलिजन्स्', 'सब धर्मों की तात्त्विक एकता') मे, जब मैं 'विश्वधर्म' का रूप समझा न सका, और ५५० पृष्ठों की दूसरी पुस्तक ('वर्ल्ड् वार ऐण्ड इट्स ओन्ली क्यूर—वर्ल्ड आर्डर ऐण्ड वर्ल्ड रिलिजन', 'विश्वयुद्ध और उस की एकमात्र औषध---विश्व-व्यवस्था और विश्वधर्म)* मे, 'विश्वव्यवस्था' का

---

* *The Essential Unity of All Religions. World War and Its Only Cure—World Order and World Religion.*

आकार-प्रकार समझाने मे असमर्थ हुआ, तब नये छोटे लेख मे, यह साध्य सिद्ध करने मे कृतार्थ कैसे हो सकूंगा ! और अब, 'विवाद' तो दूर, 'वाद' के लिये भी जरा देवी और उन के परिवारभूत व्याधियों की कृपा से, शक्ति नहीं रही ! वाद के लिये भी बहुत प्राण की आवश्यकता है । "विकल्प्य दशधा च ऽर्थं प्रत्येकं दशधा ऽच्छिनत् ;...दिनाष्टकं वाक्कलहो जजृम्भे च तयोस्तथा", "अथ सा कथा प्रववृते स्म तयोः, उभयोः परस्पर-जयोत्सुकयोः; न दिवा न निश्यपि च वादकथा विरराम, नैयमिककालंऋते; अतिजल्पतोः समं, अनल्पधियोर् दिवसानि सप्तदश च ऽत्यगमन्"; इत्यादि शङ्कराचार्य के वादों की कथा प्रथित है । यद्यपि, पहिले, 'वाद' क्या 'विवाद' मे भी, मूढतावश, मुझे कुछ रस रहा, पर अब, विशेषतः पिछली कड़ी बीमारी के बाद, 'अङ्गं गलितं, क्षीणा शक्तिः, हीना वादविवादऽासक्तिः, किञ्चिद् अहन्ता-भाव-विरक्तिः अंकुरिता, शान्तेऽपि च भक्तिः' । ऐसे हेतुओं से मन ने तो यही चाहा कि इतना ही लिख कर सन्तोष करूं कि सब शङ्काओं का समाधान करने का यत्न उक्त ग्रन्थों मे तथा 'मानव धर्मसार' मे किया जा चुका है । पर समालोचयिता की इच्छा का यथाशक्ति आदर करना उचित जान पड़ा, इस से यह लिखा ।

मुख्य मतभेद का स्थान—'वर्णः जन्मना वा कर्मणा वा ?'

मतभेद मुख्यतः इसी प्रश्न पर है कि 'वर्णभेद' 'जन्मना' ही होता है, वा 'कर्मणा' होना चाहिये । मै 'वर्ण' और 'जाति' के अर्थों मे विवेक करता हूँ; 'वर्ण' का अर्थ पेशा, रोजगार, जीविका-साधक 'कर्म' वा व्यवसाय, (यथा शास्त्रोपजीवी, शस्त्रोपजीवी, वार्त्तोपजीवी, सेवोपजीवी), और 'जाति' का अर्थ विशेष देश वा वंश मे 'जन्म' से साधित दल वा वर्ग, (यथा. कुरवः, यादवाः, राघवाः, सारस्वताः, वाङ्गाः, गौर्जराः, अंग्रेज़, जर्मन, चीनी, जापानी, हिन्दी, ईरानी, आदि) । दूसरे पक्ष के लोग वर्ण और जाति मे विवेक नहीं करते, दोनो को एक ही मानते हैं ।

एक और मतभेद का स्थान—'सामान्य' और 'विशेष' ।

मै 'सामान्य' और 'विशेष' मे 'समवाय' सम्बन्ध को, उन दोनों के सर्वथा अपृथक्-कार्यत्व अयुत-सिद्धत्व को, सुतरां नितरां मानता हुआ,

'सामान्य' को अधिक गौरव देता हूँ, और 'विशेष' को उस से कुछ कम; विशेषतः इस दारुण समय मे, समस्त मानव 'जाति' के कल्याण के लिये, 'व्यवस्था-सामान्य' अर्थात् 'विश्व-व्यवस्था' और 'धर्म-सामान्य' अर्थात् 'विश्व-धर्म' की आवश्यकता देखता हूँ; व्यवस्था-विशेषों और धर्म विशेषों के साथ साथ, परन्तु उन के ऊपर; परस्पर-जाति-न्याय से; जैसे परम-सामान्य, सत्ता-सामान्य, चैतन्य-सामान्य, परम-महान् , के अन्तर्गत असंख्य चरमविशेष, सत्ता-विशेष, जीव-विशेष, परम-अणु। उस मानव जाति के कल्याण के लिये इन की आवश्यकता मानता हूँ, जो आदि प्रजापति, 'मनु' की (जिस के कई अर्थ हैं, "एतंएके वदन्ति-अग्निं, मनुम्-अन्ये प्रजापतिं" इत्यादि) सन्तति है, और जो कोटियों सिर, भुजा, धड़, पैर वाली जाति "अनेक-बाहू-उदर-वक्त्र-नेत्र", "सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः, सहस्रपात् , स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्ग (ङ्गु) लम्", अपने दश अङ्गों इन्द्रियों के बल से, तथा दो हाथों की दस अँगुलियों के बल से, समग्र भूतल पर 'स्पृत', (अंग्रेजी 'स्प्रेड' फैलना, फैलाना), वि-स्तृत (अंग्रेजी 'स्ट्रेच') हो रही है।*

प्रतिपक्षी सज्जन, व्यवस्था विशेष और धर्म विशेष को ही समझते मानते हैं। इस सम्बन्ध मे, 'सामान्य' पदार्थ को, वे कोई भी स्थान देते हैं वा नहीं, और यदि हां तो क्या, यह मुझे नहीं विदित हुआ।

आखिर यह तो प्रत्यक्ष ही सभी देखते हैं, कि हिन्दू-धर्म नाम के पदार्थ के अन्तर्गत बहुत से विशेष-धर्म हैं, शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर आदि; उन विशेष-धर्मों की अपेक्षा से, 'हिन्दू'-धर्म पदार्थ को 'सामान्य' धर्म आप मानेगे और कहेंगे वा नहीं ? इस 'हिन्दू-सामान्य-धर्म' वा 'हिन्दू-विश्व-धर्म' का रूप, भारतीय तथा विदेशी जिज्ञासुओं विद्यार्थियों को बताने के लिये ही चालीस वर्ष हुए, 'सेन्ट्रल हिन्दू कालिज' के 'बोर्ड आफ़ ट्रस्टीज' ने 'टेक्स्ट बुक्स आफ सनातन-धर्म' तयार की;† और उन का स्वागत और प्रचार भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों मे, कई

---

* Spread; stretch.

† Central Hindu College; Board of Trustees ; *Textbooks of Sanatana Dharma.*

बड़ी देशी रियासतों मे भी, (हिन्दू ही नहीं, अपितु मुसलमानी राज्यों मे भी, यथा निजाम के हैदराबाद के सर्कारी स्कूलों मे), बहुत अच्छा हुआ; पर 'सेन्ट्रल हिन्दू कालिज' के 'बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी' के रूप मे परिणत हो जाने पर, वह प्रचार बन्द हो गया ! 'हिन्दू' धर्म का स्वरूप-निरूपण, निर्वचन, पहिले 'अनिर्वचनीय' हो रहा था; विशेष कर अंग्रेजी पढ़ों के लिये; यहां तक कि जब 'बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी ऐक्ट' पर, केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा मे, विचार हो रहा था, उस समय, श्री मोती-लाल जी नेहरू ने यह शङ्का उठाई कि "ऐक्ट के नाम मे जो हिन्दू शब्द है उसका क्या अर्थ है, उस को समझाने मे सभी असमर्थ हो रहें हैं, असंख्य मतों, सम्प्रदायों, आचार-विचारों के सङ्कुल सम्बाध समुच्चय का नाम 'हिन्दूधर्म' हो रहा है; हिन्दू यूनिवर्सिटी बनाने वाले कहते हैं कि 'हिन्दू-धर्म' सिखावेंगे; क्या सिखावेंगे ?" । इस शङ्का का समाधान थोड़े शब्दों मे पूर्णतया श्री मदनमोहन मालवीय जी ने उस समय यही कर दिया कि "क्या सिखावेंगे, इस प्रश्न का अवसर ही नहीं है; इन पुस्तकों द्वारा बारह वर्ष से सिखा रहे हैं" । परन्तु, 'एक्ट' के 'पास' हो जाने के बाद वह सिखाना बन्द कर दिया । क्यों ? अस्तु ।

जैसे हिन्दू-जगत् हिन्दू-विश्व का हिन्दू-विश्व-धर्म हिन्दू-धर्म-सामान्य पदार्थ एक वस्तु है, और समझ मे आ सकता है, वैसे ही मानव-जगत् मानव-विश्व का मानव-धर्म-सामान्य मानव-विश्व-धर्म । 'हिन्दू' (वा वैदिक), पारसी (जिन्द-अवस्ता), यहुदी, ईसाई, बौद्ध, जैन, सिख, शिन्तो (जापानी), कङ्फुत्से और लाओत्से (चीनी) आदि सभी मुख्य धर्मों का अन्तर्भावक; उन सब मे व्याप्त अनुस्यूत; उन सब का संग्राहक; ऐसा धर्म भी एक वस्तु है; और समझ मे आ सकता है । उसी को विभिन्न भाषाओं मे, वेदान्त, तसव्वुफ़, ग्नास्टिक मिस्टिसिज्म आदि नामो से कहते हैं । हां, इतना और है कि भारत मे कई-शताब्दियों से, वेदान्त केवल आत्माऽवबोधक, और संसार से सर्वथा वैराग्य का रूप रखने वाला, कुछ भक्ति का रूप भी लिये हुए, समझा और वर्त्ता जाता है । यद्यपि मनु, वसिष्ठ, राम, व्यास, कृष्ण का वेदान्त, सर्वसंग्राहक, सर्व-मानव-जीवन का व्यवस्थापक, आत्माऽवबोधक भी और प्रकृति-प्रसाधक भी, ज्ञानशोधक भी और कर्ममार्जक भी, था । "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्", "राज-विद्या राजगुह्यम्" (गी०), "यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणः ज्ञानेन ऽन्नेन च

ऽन्वहम् , गृहस्थेनैव धार्यन्ते, तस्माज् ज्येष्ठाऽश्रमो गृही (म०)", "आन्वीक्षिकी", "व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद् विमुखस्य दोषबुद्ध्या, कुमतिम् अहरद् आत्मविद्यया यः, चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु" (भाग०), "राज्ञां दैन्यऽपनोदऽर्थं, सम्यग्दृष्टिक्रमाय च, ततो ऽस्मदादिभिः प्रोक्ताः महत्यभो ज्ञानदृष्टयः, अध्यात्मविद्या तेनेयं राजविद्या इत्युदाहृता" (यो० वा०), "न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलं उपाश्नुते", "सैनापत्यं च, राज्यं च, दंडनेतृत्वमेव च, सर्वलोकाधिपत्यं वा वेदशास्त्रविद् अर्हति" (मनु०), इत्यादि; इस सब का आशय, विस्तार से 'दर्शन का प्रयोजन' नामक हिन्दी ग्रन्थ के दूसरे अध्याय मे, दिखाने का यत्न मैं ने किया है ।

'सामान्य' और 'विशेष' के सम्बन्ध मे, इस स्थान पर दो श्लोक चरक के लिख देता हूँ, जो मुझे बहुत प्रिय हैं, और प्रसक्त विषय पर बहुत प्रकाश डालते हैं—

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्,
ह्रासहेतुर्विशेषश्च; प्रवृत्तिर् उभयस्य तु ।
सामान्यम् एकत्वपरं; विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्;
तुल्यार्थता हि सामान्यं; विशेषस्तु विपर्ययः" । (चरक)

'विश्वधर्म' कोई 'विशेषधर्म' नहीं ।

समालोचक ने लिखा है कि "डाक्टर साहब के वाक्यों से तो ऐसा ज्ञात होता है कि वे 'जीवित' धर्मों से भिन्न कोई 'विशेष विश्व धर्म' चाहते हैं ।" इस पर 'योगवासिष्ठ' का पुराना श्लोक याद आता है । "सकललोकचमत्कृतिकारिणोऽप्यभिमतं यदि राघवचेतसः फलति नो, तद् इमे वयमेव हि स्फुटतरं मुनयो हतबुद्धयः" । निश्चयेन यह मेरी हतबुद्धि और हतशब्दों का ही दोष है, कि ७५० पृष्ठों की एक पुस्तक के प्रत्येक पन्ने मे, और ५५० पृष्ठों की दूसरी पुस्तक के प्रायः प्रति तृतीय चतुर्थ पृष्ठ मे, यही दिखाने का यत्न करता हुआ भी, कि 'विश्व-धर्म' 'विशेष' नहीं है, और किसी विशेष धर्म से 'भिन्न' नहीं है, प्रत्युत 'सामान्य' है और सब विशेष धर्मों से 'समवेत' है, सब मे अनुस्यूत है, उस यत्न मे कृतार्थ नहीं हुआ; और आप को ऐसा भान हुआ, जो भान मेरे अभीष्ट

अभिप्राय के सर्वथा विपरीत है। 'सारी रामायण सुनकर पूछा, सीता किसका बाप'!

'वैज्ञानिक' शब्द का अर्थ।

मै इस 'विश्वधर्म' को 'प्राज्ञानिक' भी और 'वैज्ञानिक', विज्ञान-सम्मत, भी मानता हूँ। आप पूछते हैं, "फिर 'वैज्ञानिक' का क्या अर्थ है?"। शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं। यहां तक कि आरम्भ मे जो अर्थ एक शब्द के साथ बांधा जाता है, उस का सर्वथा विपरीत अर्थ, कुछ काल पीछे, उस से बंध जाता है। यथा, ज्यौतिष मित्रों से सुना है कि 'मङ्गल' ग्रह क्रूर ग्रह है। रौद्र भावों का, युद्ध आदि का, जनक है। परन्तु "प्रथमहिं बन्दौं दुर्जन चरना" न्याय से उस के प्रसादनार्थ, 'आप तो परम शुभ हैं', उस का वाचक शब्द, शुभ का द्योतक कर दिया गया। 'नाग' को 'नागराज', और आस्तीक मुनि के मातुल, अतः साधारण जनता मे 'मामा', की पदवी मिल गयी, और उन की पूजा होने लगी। अरबी शब्द 'हरम्' की यही दशा हुई; आदिम अर्थ उस का 'मना किया हुआ' है; इस अर्थ की प्रवृत्ति दो विरुद्ध दिशाओं मे हुई; 'अति पवित्र', इस लिये उस का स्पर्श निषिद्ध, वह 'अ-स्पृश्य'; 'अति अ-पवित्र', इस लिये भी 'अस्पृश्य', 'हराम्'। ऐसे ही अंग्रेज़ी, शब्द 'पिटि-फुल्' और संस्कृत 'कृपण' का अर्थ 'कृपायोग्य' भी और 'तिरस्कारयोग्य' भी।* वैयाकरण मित्रों से सुना है कि 'महाभाष्य' मे पतञ्जलि लिख गये हैं, "सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः"। ठीक ही है। कोई भी शब्द किसी भी अर्थ के साथ, समाज के संकेत से, बाँध दिया जा सकता है। प्रायः यही देख कर, और यह भी देख कर कि शब्द और अर्थ के घनिष्ठ सङ्कर से तत्त्व के ज्ञान मे कितनी भ्रान्ति उपज सकती और उपजती ही है, उन्हीं पतञ्जलि ने, (अथवा सम-नाम किन्हीं अन्य परम-विवेकी विद्वान् ने), योग-सूत्र मे, "शब्द-अर्थ-ज्ञान" को "असङ्कीर्ण" करने का, उन मे विवेक करने का, और "अर्थमात्र-निर्भास" साधने का, उपदेश किया है। कई भाषाओं का ज्ञान, इस 'चित्त-विनयन', 'चित्त-निरोधन', 'चित्तपरिकर्म', मे बहुत सहायक होता है। विविध भाषाओं के विविध शब्दों द्वारा एक ही

---

* पाणिनीय धातुपाठ मे, दो विरुद्ध अर्थ रखने वाले एक ही एक धातु, बहुत से मिलते हैं।

अर्थ को पहिचानने से, पद और अर्थ का पार्थक्य अनायासेन सिद्ध हो जाता है। प्रसक्त वक्तव्य यह कि, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, प्रयोक्ता मनुष्यों के परस्पर संकेत से, (सम्-अय, सं-गति) 'समय' समझौते से, बंधता है और टूटता है; और इसी हेतु से यदि दो मनुष्य एक संकेत मे सम्मिलित नहीं हैं, तो उनके बीच मे एक दूसरे के अभिप्राय का अ-ग्रहण, विपरीत ग्रहण, भ्रान्त-ग्रहण, और वाद-विवादादि उत्पन्न हो जाते हैं। "वाचि अर्थाः निहिताः सर्वे, वाङ्मूलाः वाग्विनिःसृताः, तस्मादयः स्तेनयेद्वाचं सर्वस्तेयकृन् नरः" (म०); पर, अबुद्धिपूर्वक किये ऐसे 'स्तेय' से बचना बहुत कठिन हो गया है; उक्त हेतु से, और शब्दबाहुल्य से। 'विज्ञान' शब्द अब कई अर्थों मे प्रयुक्त होने लगा है; मैंने, अपनी उक्त अंग्रेज़ी पुस्तकों मे, 'सायंटिफ़िक्' शब्द का प्रयोग किया है; प्रायः उसी का अनुवाद आप ने 'वैज्ञानिक' किया है; ठीक ही किया है; आजकाल ('अद्य काले') हिन्दी मे प्रायः ऐसा ही सब लेखक करते हैं। अंग्रेज़ी 'सायंस' शब्द का भी मूल धातु 'शंस्' 'शास्' ज़ान पड़ता है, जिस से 'शास्त्र' बना है; ऐसे हो अंग्रेज़ी 'क्नो' का (जिस का उच्चारण 'नो' होता है) मूल धातु 'ज्ञा' है (जिसका उच्चारण महाराष्ट्र प्रान्त मे 'ग्ना' होता है, जैसा अंग्रेज़ी 'ग्नास्टिक' अर्थात् 'ज्ञानी' मे)। 'सायंस' का अनुवाद 'शास्त्र', और 'सायंटिफ़िक्' का 'शास्त्रीय' होता, तो स्यात् अच्छा होता; किन्तु 'सायंस्' का प्रयोग पच्छिम मे प्रायः 'अधिभूत-शास्त्र' के लिये ही आरम्भ हुआ, जिसे भारत मे लोग 'विज्ञान' कहने लगे हैं; और 'सायंस्' और 'सायंटिफ़िक' शब्दों के अर्थ मे 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' की अनुकूलता, और 'शब्द' 'आगम' आदि मे तर्करहित आस्था श्रद्धा की प्रतिकूलता भी, सम्मिलित संकेतित हो गयी है। भारत मे, 'शास्त्र' मे चतुर्विध शास्त्र, 'धर्म-अर्थ-काम-शास्त्र' भी, और 'मोक्षशास्त्र' भी जो ही प्रायः 'ब्रह्मज्ञान' शब्द से अब अभिप्रेत होता है, अन्तर्गत हैं; तथा श्रुति, स्मृति, पुराणादि, शब्द, प्रमाण मे, तर्कानपेक्ष, बुद्ध्यतीत, आस्था श्रद्धा प्रायः मिल गयी हैं; और 'शास्त्रीय' शब्द से वह अर्थ अब नहीं निकलता जो 'वैज्ञानिक' से लिया जाता है; सब संकेत कालवशात् बदल गये हैं। किन्तु, पच्छिम मे भी, 'सायंस्' के अर्थ का विस्तार, क्रमशः, 'शास्त्र' के अर्थ के समान, होता जाता है; 'साइकी', 'जीव', का शास्त्र, 'सैकालोजी', अन्तःकरणशास्त्र, चित्तशास्त्र, जिसको हिन्दी

ग्रन्थकर्त्ता 'मनोविज्ञान' कहने लग गये हैं, और जिस का निकटतम प्राचीन संस्कृत शब्द 'अध्यात्म-विद्या' जान पड़ता है—यह 'सैकालोजी' तो अब पश्चिम मे निश्चित रूप से 'सायन्सों' में गिनी जाती है। 'फ़िला-सोफ़ी', 'मेटा-फ़िज़क्', को भी, 'सायन्स् आफ़् रियालिटी, आफ़् बीइङ्, आफ़् ट्रूथ', अर्थात् 'वास्तविकता' का शास्त्र, ("वेद्यं वास्तवम् अत्र वस्तु विशदं") 'सत्, सत्ता, सन्मय' का शास्त्र, ("ॐ तत् सत्", "सत्-चिद्-आनन्दं ब्रह्म"), 'सत्य' का, 'तत्त्व' का, शास्त्र, ("सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म", "परं तत्त्वं"), यहाँ तक कि 'सायंस् आफ़् सायंसेज़्', शास्त्रों का शास्त्र, अब कहने लगे हैं; तथा 'सायंस् आफ़् दी इन्फ़िनिट्, अर्थात् 'अपरिमित पदार्थ' का शास्त्र, 'परा विद्या' और 'सायन्सेज़् आफ़् दी फ़ाइनाइट्', 'परिमित पदार्थों के शास्त्र'—ऐसा भी प्रयोग होने लगा है; "स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्" ।*

संस्कृत वाङ्मय मे, 'ब्रह्म' वा 'आत्मा' शब्द के साथ 'शास्त्र' शब्द प्रायः नहीं, और 'विद्या' शब्द ही बहुधा, लगाया जाता है; 'मोक्ष' के साथ 'शास्त्र'; ऐसी रूढ़ि हो रही है ; स्यात् इस हेतु से कि 'आत्मा' 'शास्य' नहीं, 'निजानुभववेद्य' ही है ; परन्तु "प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्यां", "तत् त्वं असि", यह गुरु का उपदेश, 'शासन' ही है। अस्तु।

ऐसी अवस्था मे, 'विज्ञान' शब्द का किस अर्थ मे प्रयोग करना उचित है, यह निर्णय है। यह शब्द उपनिषदों मे बहुत आया है ; गीता मे चार ही बार, और इस के रूपान्तर, 'विज्ञातुं' और 'विज्ञाय', एक एक वेर; उपनिषदों मे अन्य उपसर्गों के साथ भी 'ज्ञा' का प्रयोग हुआ है, "संज्ञानं आज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं" आदि; 'ज्ञानं' का तो बहुतायत से ; भाष्य और टीका करने वालों ने अपने अपने कई अर्थ लगाये हैं ; पर हिन्दी-लेखक-लोक-मत ने 'विज्ञान' का अर्थ 'आधिभौतिकशास्त्र', वा

---

* इस धारा (पैरा) मे आये हुए अंग्रेजी शब्दों के मूल रूप ये हैं; Pitiful; scientific; science: know; gnostic, psyche; psychology; philosophy; metaphysic; science of reality, of being, of truth; science of sciences; science of the infinite; sciences of the finite.

विद्या, वा ज्ञान मान लिया है, जिसे पश्चिम मे प्रायः "फ़िज़िकल् सायंस्' कहते हैं।*

"श्रुतिद्वैधे यथेष्टं' न्याय से, और हिन्दी लेखक वर्ग के स्वीकृत सङ्केत के अनुसार, तथा व्युत्पत्ति-निरुक्ति की दृष्टि से भी, मेरे मन मे यही बैठता है कि, 'ज्ञान' शब्द का 'सामान्य', उभय-संग्राहक, अर्थ मे प्रयोग करना उचित है; 'ज्ञानिनो मनुजाः नूनं, किन्तु ते नहि केवलं; ज्ञानम् अस्ति समस्तस्य जन्तोः विषयगोचरे" (दुर्गा०); और उसके अवान्तर दो मुख्य 'विशेष' करना ठीक है; यथा, (१) 'प्रकृष्टं ज्ञानं प्रकृष्टस्य, उत्कृष्टस्य, श्रेष्ठ-प्रेष्ठ-पदार्थस्य, आत्मनः, परमात्मनः, सर्वविशेषेषु सामान्येन समवेतस्य, व्याप्तस्य ज्ञानं आत्मज्ञानं, प्रज्ञानं'; और (२) 'विशिष्टं ज्ञानं, विशेषेण, विशेष-विशेष-पदार्थानां ज्ञानं, विज्ञानं'; "यदा भूतपृथग्भावं एकस्थ अनुपश्यति" यह प्रज्ञान; "तत एव च विस्तारं" यह विज्ञान; "ब्रह्म सम्पद्यते तदा" (गी०); "ज्ञान-विज्ञान तृप्तात्मा", प्रज्ञान-विज्ञान उभय से सम्पन्न हो कर उस ज्ञानी द्रष्टा का ब्रह्म, वेद, ज्ञान, सम्पन्न पूर्ण होता है, और वह द्रष्टा, ज्ञानी, ब्रह्मत्वेन स्वयं सम्पन्न हो जाता है; "ब्रह्म वेद ब्रह्म एव भवति, परम्एव ब्रह्म भवति यः एवं वेद", ब्रह्ममय, परमात्ममय, हो जाता है। ऊपर कहा कि, 'साइकालोजी' शब्द का अनुवाद 'अध्यात्म-विद्या' शब्द से हो तो अच्छा है; इस से, अन्य विद्याओं विज्ञानो की अपेक्षा से, उस का निकटतम सम्बन्ध 'फिलासोफी', 'आत्मविद्या', से प्रकाशित हो जाता है; जैसा होना चाहिये। गीता मे, 'ज्ञान' शब्द, उक्त 'प्रज्ञान' के अर्थ मे बहुधा प्रयोग किया गया है; यथा—"आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा कामरूपेण"; "विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनं"; "उपदेक्ष्यति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः", 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं", "ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति अचिरेणाधिगच्छति", "अज्ञानेनऽवृतं ज्ञानं", "ज्ञानं प्रकाशयति तत्पर", "ज्ञानं तेऽहं स-विज्ञानं इदं वक्ष्याम्यशेषतः", "ज्ञानं विज्ञानसहितं", "बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः", "ज्ञानं ज्ञानवतामहं", "क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-योर्ज्ञानं यत् तज् ज्ञानं मतं मम", "एतज्ज्ञान इति प्रोक्तं", "ज्ञानानां ज्ञान उत्तमं", "इदं ज्ञानं उपाश्रित्य", "ज्ञानं आवृत्य तु तमः," "ज्ञानं

* Physical science.

विज्ञानं आस्तिक्यं", "इति ते ज्ञानं आख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया"; इति प्रभृति। और लोकरूढ़ि भी ऐसी ही हो रही है कि ज्ञान का अर्थ आत्मज्ञान, और ज्ञानी का अर्थ आत्मज्ञानी है। तथापि, गीता मे यह भी कहा है, "तज् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकं, तज् ज्ञानं विद्धि राजसं, तत् (ज्ञानं) तामसं उदाहृतं"; इस लिये, साधारण बोल चाल मे चाहे जो भी व्यवहार होता हो, जहाँ सूक्ष्म विवेक और संदेहऽभाव इष्ट हो, वहाँ ब्रह्म-परमात्म-आत्म-ज्ञान के लिये 'प्रज्ञान', और प्रकृति-ज्ञान' के लिये 'विज्ञान', का प्रयोग उचित जान पड़ता है।

"विश्व-धर्म" किस रीति से 'आध्यात्मिक' 'दार्शनिक' भी और 'वैज्ञानिक' भी है, "गुह्यतम" भी और "प्रत्यक्षावगम" भी है, तर्कसिद्ध भी और प्रत्यक्षसिद्ध भी है; पाश्चात्य भौतिक विज्ञान के सुनिश्चित तथ्यों के अविरुद्ध है, श्रद्धेय है; अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत सभी शास्त्रों के अनुकूल क्या सबका संग्राहक, प्रतिष्ठापक, "सर्वविद्याप्रतिष्ठा" है— यह उक्त दो अंग्रेज़ी पुस्तकों में सविस्तर दिखाने का यत्न मैं ने किया है। "प्रत्यक्ष-परा प्रमितिः", सब प्रमाणो का पर्यवसान 'प्रत्यक्ष' मे है; और सब प्रत्यक्षों का पर्यवसान प्रतिक्षणऽनुभूयमान आत्म-प्रत्यक्ष मे है, "नहि कश्चित् संदिग्धे अहं वा न ऽहं वा, इति" (भामती); अतः उस एकमात्र 'सनातन' पर निष्ठित प्रतिष्ठित 'सनातनधर्म', गीतोक्त धर्म, नितान्त तर्कानुकूल भी और आत्यन्तिक आस्था श्रद्धा का पात्र भी है—यह सब भी दिखाने का उद्योग वहां किया है। और बीसियों आधुनिक प्रसिद्धतम पाश्चात्य 'सायंटिस्ट' विज्ञानशास्त्रियों के लेखों से उद्धरण कर के, उन सब का विश्वास इस की ओर झुक रहा है, यह भी दिखाया है।

'विश्व धर्म' का क्या अर्थ है?

आप ने पूछा है, "विश्व-धर्म शब्द का 'विश्व' किस अर्थ मे लिया जाय?", और कई वैकल्पिक अर्थों की उद्भावना की है। ऊपर जो 'सामान्य' और 'विशेष' के 'समवाय' के विषय मे कहा गया है, उस पर यदि आप ध्यान देंगे, तो स्यात् यह स्फुट हो जायगा, कि आप के सभी विकल्प, संवादी हैं, विवादी नहीं, परस्पर अनुकल्प हैं, विकल्प नहीं; अनुरोधी हैं, विरोधी नहीं; एक ही अर्थ के विविध 'अस्त्र' अंश, अंशु,

पक्ष हैं। यह 'विश्व-धर्म' (१) मानव विश्वभर मे फैला भी है, (२) उसे सब लोग चाहते भी हैं, (३) वह सब मे समान भी है, (४) सनातन सत्य भी है। किन्तु, जिन भिन्न-भिन्न भाषाओं, शब्दों, संकेतों मे, भिन्न-भिन्न देशों और जन-समुदायों ने उसे लपेट रखा है, उन सब शब्दों और संकेतों की एकार्थता, सामान्यार्थता, समानार्थता, तुल्यार्थता को वे सब देश और समूह पहिचानते नहीं; और, अहंकारवश, अपने ही शब्दों संकेतों मे अभिनिवेश करते हैं, तथा दूसरों के शब्दों संकेतों से प्रतिनिवेश। अविद्या के पांच पर्व ही महामाया की 'आवरण' और 'विक्षेप' शक्तियों के प्रत्यक्ष रूप हैं; "आवृतं ज्ञानमेतेन कामरूपेण वैरिणा", "आवृत्य विक्षिपति संस्फुरदात्मतत्त्वं", "ज्ञानिनामपि चेतांसि, देवी भगवती हि सा, बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति", सज्ज्ञान पर आवरण, सत्य को देखने वाली आंख पर पर्दा, अहंकार-काम-क्रोध से पड़ जाता है; और ये ही मनुष्य को अभिनिविष्ट प्रतिनिविष्ट 'विक्षिप्त' बना कर असन्मार्ग पर, अधर्म, अन्याय, पाप के पथ पर, पुनः पुनः धक्का देते हुए, दौड़ाते रहते हैं। इन आवरणों और विक्षेपों से, आज समस्त मानव जगत् मे कलि का, कलह का, विवाद, वैर, घोर युद्ध का 'साम्राज्यवाद' हो रहा है। "सोऽयमात्मा श्रेष्ठश्च, प्रेष्ठश्च, सर्वसमश्च, विभुश्च"; परन्तु शरीरों मे, उपाधियों मे, "आप्रणखात् प्रविष्टः" हो कर, अत्यन्त आवृत और विक्षिप्त हो गया है, नितान्त छिप गया है, उस को देखने समझने पहिचानने मे सभी मनुष्य असमर्थ हो रहे हैं। घनिष्ठ मित्र भी नाम बदल कर, कपड़े बदल कर, दूसरे-दूसरे वेश मे सामने आता है तो पहिचाना नहीं जाता; क्योंकि हमी ने उस के कपड़ों, आवरणों, ही पर ध्यान सदा जमाया, उस के वास्तविक, तात्त्विक, असली स्व-रूप पर, मुख पर, आंख नहीं लगाया।

'विश्वधर्म', 'धर्मसार', 'धर्मसामान्य', की रूपरेखा।

'सब धर्मों की तात्त्विक एकता' नामक उक्त अंग्रेजी ग्रन्थ मे, इसी लिये, ११ (ग्यारह) मुख्य प्रवर्त्तमान धर्मों (चार भारतीय—हिन्दू वा वैदिक, बौद्ध, जैन, सिख; एक पारसीक; तीन अरबी—यहूदी, ईसाई, मुस्लिम; दो चीनी—कङ्फुत्से, लाओत्से, के नाम वाले, एक जापानी—शिंतो) के, 'अपौरुषेय' 'श्रुति' ग्रंथों, वा तद्वत्सम्मानित 'स्मृति'

ग्रन्थों, से, प्रायः ११५० (साढ़े ग्यारह सौ) तुल्यार्थ वाक्यों का संकलन कर के, तीन अध्यायों मे बांटा है, अर्थात् 'ज्ञानाङ्ग' (ज्ञानमार्ग, ज्ञानकण्ड), 'भक्त्यङ्ग' (भक्तिमार्ग, भक्तिकाण्ड, इच्छाङ्ग), 'कर्माङ्ग' (कर्ममार्ग, कर्मकाण्ड, क्रियाङ्ग) मे*। ये तीन, प्रायः वही वस्तु हैं जिन की चर्चा समालोचक ने 'आध्यात्मिक वा दार्शनिक' 'व्यावहारिक और उपासनात्मक', तथा 'सदाचारविषयक' नामो से की है; और ये ही तीन, प्रत्येक विशेष धर्म के भी अस्र, अङ्ग, अवयव, रूप, (अंग्रेजी 'आस्पेक्ट', फारसी 'पहलू') हैं; क्योंकि शरीरोपहित चेतन, जीव, चित्त, अन्तःकरण के तीन अस्र हैं, ज्ञान, इच्छा, क्रिया, वा सत्त्व, तमस् , रजस् , (जिन का संवाद कहिये, उद्गम कहिये, चिद्, आनन्द, सत् , और गुण, द्रव्य, कर्म, से है)। उक्त तीन अध्यायों को ३५ (पैंतीस) अधिकरणों मे विभक्त कर के, प्रायः १२ (बारह) भाषाओं के मूल शब्दों को 'रोमन' अक्षरों मे, और उन सब का अनुवाद अंग्रेजी मे, रख दिया है। इन उद्धरणो से यह दिखाने का यत्न किया है, कि इन सब धर्मों मे, आध्यात्मिक दार्शनिक अङ्ग मे प्रायः ऐक्य है; उपासना भाव और सदाचार के अङ्ग मे ऐक्यप्राय साम्य है; केवल, उपास्य पदार्थ के नाम-रूप मे कुछ वैविध्य है; तथा कर्मकाण्ड मे कुछ वैदृश्य होते हुए भी अधिकतर सादृश्य है। अन्य चार अध्यायों मे, इस ग्रन्थ मे, 'अभ्युदय-निःश्रेयस' दोनो के साधक, भोग-मोक्ष उभय के दाता, देह और चित्त दोनो की भूख के शमन तोषण करने वाले, शारीरिक आहार और आध्यात्मिक आहार दोनो को देने वाले, स्वार्थ-परमार्थ दोनों को साधने वाले, प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनो की वासनाओं को पूरा करने वाले, दुनिया और आक़बत दोनो को बनाने वाले, 'सिन' और 'साल्वेशन' दोनो के पार लगाने वाले—ऐसे 'धार्मिक प्रज्ञान विज्ञान' और 'वैज्ञानिक प्राज्ञानिक

---

*इस ग्रन्थ का भारत मे भी (भारतीयों के लिखे ग्रन्थों की दशा देखते हुए, अपेक्षा-दृष्टि से, कहना पड़ता है कि) प्रचार अच्छा हां हुआ; और विदेशों मे भी कुछ और अच्छा हुआ। पांच वर्ष मे ४००० (चार हजार) प्रतियां लोगों ने ले लीं। नये संस्करण का छपना आरम्भ हो गया है। इस मे १२५० (तेरह सौ) से अधिक उद्धरण रहेंगे।

धर्म' की, मनुष्य को, अपरिहार्य अनिवार्य आवश्यकता का, और तत्सम्बन्धी शिक्षा का, और तद्द्वारा पृथ्वीतल पर शान्ति स्थापित करने के प्रकार का, प्रतिपादन विवरण किया है।

साम्प्रदायिक ('धार्मिक', 'धर्मीय' !) उपद्रव।

सन् १९३१ ई० के फ़रवरी मास मे, काशी मे, भारी हिन्दू-मुस्लिम 'साम्प्रदायिक उपद्रव' हुआ। दोनों पक्षों के सब मिल कर प्रायः चालीस आदमियों ने प्राण खोया, और प्रायः चार सौ घायल हुए। इस के बाद, मार्च मास मे, कानपुर मे बहुत अधिक उपद्रव हुआ। प्रायः चार सौ आदमी, स्त्री, पुरुष, बालक, जान से गये, प्रायः बारह सौ घायल हुए, कुछ मन्दिर-मस्जिद तोड़े गये, पचासों छोटे-बड़े मकान जलाये-ढहाये गये, सैकड़ों दूकाने लूट ली गयीं। उपद्रव के कारणो की जांच और चिकित्सा के उपायों की सूचना के लिए कांग्रेस ने, (जिस का वार्षिक अधिवेशन, उन्हीं दिनो, कराची मे हो रहा था), छः आदमियों की, तीन हिन्दू तीन मुसलमान की, एक कमेटी नियुक्त की, जिस के 'चेयरमेन' का कार्य मेरे जिम्मे किया गया; तीन महीने कानपुर मे रहकर और गली-गली घूम कर, इस कमेटी ने जांच की; और प्रायः चालीस हिन्दू मुसल्मान, और दो तीन ईसाई, जानकार सज्जनो के, जिन मे कई प्रकार के व्यवसायों के लोग थे, साक्षित्वेन कथन, गवाही के बयान इज़हार, इस कमेटी ने लिखे।

ऐसे उपद्रवों के उन्मूलन का उपाय।

उपद्रव रोकने के उपायों के सम्बन्ध मे प्रायः सब साक्षियों ने यह स्वीकार किया कि (१) दोनो धर्मों के मूलतत्त्व एक ही हैं, केवल कर्म-काण्ड और भाषाओं मे, जैसा पहिनावे मे हुआ करता है, भेद है; और (२) समान मूलतत्त्वों का प्रचार, शिक्षा संस्थाओं मे और जनता मे किया जाय, तो धर्म के नाम से उपद्रव न हो; रोटी के लिए हो तो हो। केवल एक या दो साक्षियों ने इस मे सन्देह किया, सर्वथा वैमत्य नहीं। सिवा इन एक दो के, सब ने यह माना कि सब लड़कों-लड़कियों को, विद्यार्थी अवस्था मे, इस 'धर्मसार' वा 'धर्मसामान्य' वा 'विश्वधर्म' की मुख्य-मुख्य बातें सिखा देना, उन को सयाने वयस मे साम्प्रदायिक उपद्रवों से अलग रखने का उत्तम उपाय है; यथा, 'ईश्वर' का पर्याय

'अल्ला', 'परम' का पर्याय 'अकबर' (सब से 'कबीर', बड़ा), 'अल्लाह-अकबर' का पर्याय 'परमेश्वर' 'महा-देव'। सन् १९३१ ई० के पहिले भी और उस के पीछे भी, अब तक जिन-जिन सज्जनों से इस विषय पर मुझे वार्तालाप का अवसर हुआ है, उन मे से अधिकतर यह मान लेते हैं कि ऐसा सारधर्म, सब विशेष धर्मों मे ओत-प्रोत है, और शिक्षणीय शासनीय है।*

---

* इस कमेटी की रिपोर्ट के अन्त मे इस उपाय को मुख्य स्थान दिया गया, तथा अन्य अवान्तर उपाय भी, शैक्षिक, सामाजिक, राज-नीतिक, आर्थिक, और स्व-स्व-विशेष-धर्मऽाचरण सम्बन्धी, बताये गये। कांग्रेस की 'वर्किङ् कमेटी' ने तथा अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी ने, इस रिपोर्ट को मंजूर भी कर लिया। पर तदनुसार कांग्रेस ने प्रचार का कुछ भी यत्न नहीं किया। मुस्लिम लीग, और हिन्दू-महा सभा, और कांग्रेस का परस्पर वैर बढ़ता ही गया। १ मई १९४६ ई० को सात आठ प्रान्तों, (सूबों, 'प्राविन्स') मे कांग्रेस मिनिस्ट्रियां बनी, तीन चार से मुस्लिम लीगी; केन्द्र मे ९-९-१९४६ ई० को कांग्रेसी नई सर्कार, 'कैबिनेट' के नाम से बनी। फुटकर कामो ही मे ही मन देते और समय खोते रहे, मूल कारणो की ओर नहीं; स्वराज की सर्वसन्तोष-कारक रूपरेखा देश के सामने नहीं रक्खी; विशेष पुलिस और 'होम-गार्ड' ('गृहरक्षक') दलों द्वारा ही दंगों के दमन के उपाय सोचते रहे; शिक्षण के द्वारा नहीं। इस भ्रान्तिमय शासन का फल क्या हुआ? १६ अगस्त से २१ अगस्त १९४६ तक कलकत्ते मे ऐसा उपद्रव हुआ जैसा अंग्रेजी शासन मे पहिले कभी नहीं हुआ: प्रायः दस हजार स्त्री पुरुष बच्चे, हिन्दू भी मुस्लिम भी, जान से गये, बहुत दारुण दारुण प्रकारो से चीरे फाड़े गये, और प्रायः तीस हजार को गहिरे घाव लगे। यह अंक, बंगाल कौंसिल की १८ सितम्बर १९४६ की बैठक मे और ८-१०-४६ को ब्रिटेन मे, मध्य प्रान्त के गवर्नर, ट्विनाम, के व्याख्यान मे, बताये गये। नोआखाली मे इससे भी घोरतर। ढाका, प्रयाग, अहमदाबाद और बीसियों अन्य स्थानों मे बहुत मार काट हुई, और हो रही हैं। बम्बई मे १-९-४६ से दंगा आरम्भ हुआ; २१-९-४६ तक १००० मनुष्य मार डाले गये, ३४० घायल हुए। शासन प्रबन्ध

'सामाजिक धर्म', 'साधारण धर्म' 'धर्मसर्वस्व' ।

'सामाजिक धर्म', 'साधारण धर्म', 'परम धर्म', 'धर्मसर्वस्व', ऐसे शब्द, मनु, याज्ञवल्क्य, आदि की स्मृतियों मे आये हैं ।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवऽवधार्यतां,
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्,
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् । (म. भा.)

यह व्यास ने, भीष्म के कहे का, शान्तिपर्व मे, अनुवाद किया है, जिन भीष्म के लिये कृष्ण ने कहा कि "ज्ञानानि अल्पीभविष्यन्ति दिवं याते पितामहे", पितामह जब देवलोक को चले जायंगे तब पृथ्वी पर सब ज्ञान कम हो जायंगे । इस धर्म-सर्वस्व के अक्षरशः एकार्थ वाक्य, अन्य धर्मों के धर्म-ग्रन्थों से उद्धार कर के, मैं ने उक्त ग्रन्थ मे ग्रथा है ।

व्यवहार मे कैसे लाया जाय ?

रही, इस विश्वास को व्यवहार मे लाने और व्यापक करने की बात; तो अभी, विविध धर्मों के, सम्प्रदायों के, राष्ट्रों के, मुखियों मे, कहीं भी, ऐसे जीव पर्याप्त संख्या मे वर्तमान काल मे नहीं हैं, जो "मनसि एकं, वचसि एकं, कर्मणि एकं महात्मनां" के उदाहरण हों; और इस विश्वास को रखते हुए, शपथ ले कर 'संशप्तक' हो कर, इस के प्रचार मे कटिबद्ध हों । सब देशों, सब युगों, मे जीर्णोद्धार के, सुधार के, धर्म के नए रूपों और प्रकारों के, भावों और विचारों का प्रचारण, ऐसे ही 'मिशनरियों', परमात्मा के संदेशहरों, द्वारा हुआ; यथा बुद्ध, जिन, मूसा, ईसा, मुहम्मद, शङ्कराचार्य, रामानुज, मध्व, चैतन्य, मार्टिन लूथर, कबीर, नानक, गुरु गोविन्दसिंह, आदि के समय में । मानव-जगत् के वर्तमान काल मे; इस युग मे, इस अवस्था और 'परि'स्था मे, 'विश्व व्यवस्था से उपहित विश्वधर्म' के रूप मे 'धर्म' पदार्थ को ला कर, उस के जीर्णोद्धार की परम आवश्यकता है; यदि इस के विश्वासी, श्रद्धालु, 'सम्यग्व्यवसित', दृढ़प्रतिज्ञ, संशप्तक प्रचारक, पर्याप्त मात्रा मे उत्पन्न हो गये, तब यह जीर्णोद्धार सिद्ध, और उन का सङ्कल्प सत्य, हो जायगा ।

मे, उत्तम शिक्षक और उत्तम शिक्षा को सर्वोत्तम स्थान न देने का यह फल है ।

ऐसे विचार और विश्वास वालों की संख्या प्रत्येक देश मे बढ़ती देख पड़ती है। ये सज्जन, समस्त मानव-जातियों और देशों का, इस युग मे, अभूतपूर्व सम्बन्धन, विज्ञानकृत और वार्त्ताकृत, दृढतर होता हुआ, देख रहे हैं; साथ ही, इन जातियों के हृदयों मे, प्रतिस्पर्धा-संघर्ष-आत्मक, द्वेष-द्रोह-कारक, पार्थक्यभाव, को भी वर्धमान देख रहे हैं; और 'विशेष-धर्म' और 'विशेष-राष्ट्रीयता' ('नैशनलिज़्म') के भावों से, उत्पन्न परिखाओं, भित्तियों, प्रावारों प्राकारों, को, 'सामान्य-धर्म' और 'सामान्य-मानवीयता' ('ह्युमैनिज़्म') के विरोधी उग्र भेदभाव का, और अब जगत् के क्षय का, कारण, जानते-मानते हैं: इस लिए इन को हटाना-मिटाना चाहते हैं। यह मतलब नहीं, कि सब विशेषता, सब जातीयता, सब राष्ट्रीयता मिट जाय; कदापि नहीं; यह तो अस-म्भव है; किन्तु यह कि, ये सब विशेषताएं, 'सामान्यता', 'समानता' के 'अधीन' रहें; 'उपरीण' नहीं; विशेष ही नहीं; विशेष भी रहें, और सामान्य भी, संग्राहकत्वेन, समन्वय-कारकत्वेन, समवाय-कारकत्वेन, सार्व-भौमत्वेन, रहे। परन्तु ऐसा चाहने वालों के विचार अभी स्थिर, निश्चित, निर्णीत, सु-दृब्ध, सु-व्यूढ़ ('आर्गेनाइज़्ड्', 'सिस्टेमाटाइज़्ड्') नहीं हुए हैं; प्राचीन आर्ष निर्णयों का प्रतिपादन, नये शब्दों मे कर के, इस निश्चयन, सु-दर्भण, सु-व्यूहन, स्थिरीकरण मे सहायक होना, मेरी उक्त पुस्तकों के लिखे जाने की प्रेरक आशा है।*

"क्लिश्यतिअन्तरिता जनः"।

यत्न करते रहना चाहिए; 'कर्मण्येवाधिकारस्ते, फलसिद्धिरथेश्वरे'; कर्त्तव्य कर्म कर देना मनुष्य के हाथ है; फलसिद्धि ईश्वर के हाथ है; जब हो तब हो। इस बीच मे, अस्मिता-अहङ्कृति-देवी, "संसारस्थिति-कारिणी", के बवंडर मे ही, प्रायः सभी मुखिया नेता महोदय उड़ते रहते हैं; गहिरी बातों की ओर, मूल कारणो की खोज मे, रोग-निर्मूलक औषधों को ढूंढ निकालने और काम मे लाने मे, मन देते ही नहीं; "सर्वे प्राथम्यमिच्छन्ति", "कोऽन्योस्ति सदृशो मया?", "मेरा ही मत सर्वोत्तम और अस्पृश्य", इसी धुन मे अलग-अलग पड़े हैं। 'मुझी को

---

* Nationalism; Humanism; organised, systematised.

सब से ऊंचा पद मिलना चाहिये', 'मेरे मुक़ाबिले का दूसरा है कौन ?', 'हम् चु मन् दीगरे नीस्त', हमारा वेद, हमारे पुराण इतिहास, हमारे शास्त्र, हमारे ऋषिमहर्षि, हमारा परमेश्वर, हमारा कुरान, हमारी हदीस, हमारे रसूल पैग़म्बर, हमारे औलिया, हमारा अल्ला अकबर, 'हमारा मसीहा, हमारा यहोवा, हमारा अपासल्', इसी 'मै-मेरा-हमारा' की अहन्ता-ममता मे मस्त हो रहे हैं; समझते हैं कि हम को और हमारे पूर्वजों को, हमारे वंश, हमारी जाति को, उत्पन्न कर के, और उन के द्वारा एक विशेष भाषा मे कुछ ग्रन्थों का सं-हनन, (संहती-करण, संधी-करण, संघाती-करण, सं-धान,) संहिती-करण, सङ्कलन, प्रकाशन, प्रवचन करा के, परमात्मा की, अल्लाह की, 'गॉड' की, समस्त शक्ति रिक्त और वीत हो गयी । ('हा' 'हन्' धातु के साथ भिन्न उपसर्ग लगाने से अर्थ भिन्न क्या विरुद्ध भी, हो जाते हैं; 'स-हत', 'सं-हनन', 'सं-घात', 'स-घ', का अर्थ एकीकरण है; 'वि-हत', 'वि-हनन' 'वि-घात', 'वि-घ्न', 'आ-घात' 'आ-हत', 'वि-हत', का अर्थ इस का विपरीत है । ऐसे ही 'सं-भिन्न' और 'वि-भिन्न') ।

राजनीतिक व्यवहार मे उदाहरण देखिये—ब्रिटिश गवर्मेंट की ओर से दूत रूप मे, भारत से समझौता करने को, मार्च, १९४२ ई० मे, सर स्टाफ़ार्ड क्रिप्स नई दिल्ली मे पहुंचे; पर, भारतीय नेताओं के 'विशेष धर्मो' के मिथ्याकल्पित परस्पर विरोध ही पर ज़ोर देने के कारण, (शिखा ही; दाढ़ी ही; धोती ही; सूथन ही; दो सन्ध्या ही; पांच नमाज़ ही; हिन्दी-संस्कृत ही; उर्दू-अरबी-फ़ारसी ही; माला ही; तस्बीह ही; मन्दिर ही; मस्जिद ही; मूर्त्ति ही, क़ब्र ही; हिन्दू और मुस्लिम का, जीवन-प्रकार मे, पार्थक्य ही; इत्यादि भावों के ही मन मे बसे धँसे रहने के कारण), और सर्व-मानव-कल्याण-कारक 'मानव-धर्म' 'सामान्य-धर्म' पर ध्यान न देने के कारण, समझौता नहीं हो सका; मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा एक दूसरे के दोष ही देखती-दिखाती रही; अपने दोष नहीं; दूसरे के गुण नहीं; कांग्रेस दोनो से वि-मत; "मुरारेस्तृतीयः पन्थाः"; कांग्रेस के भीतर भी वैमत्य; कुछ सज्जन, परम-पुरुष की 'द्वन्द्वात्मक' प्रकृति को आमूल वदल कर 'एकात्मक', शुद्ध अहिंसात्मक, वना डालने पर तुले हुए; केवल इतना कहने से सन्तुष्ट नहीं कि, यद्यपि 'हिंसा' और 'दण्ड' मे महा-भेद है, और न्याय्य दण्ड राजा के परम धर्मों मे परिगणित है, तथा

चतुर्विध राजनीति मे चतुर्थ अन्तिम नीति है; तथापि, भारतवर्ष की जो दुर्दशा, अपने और पराये पापों के कारण हो गयी है, उस दुर्दशा की अवस्था मे, भारत-जनता के पास, सिवा 'अहिंसा' के, बर्दाश्त के, "क्षमाशस्त्रं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति" पर भरोसा करने के, अथवा यथा-शक्ति यथा-सम्भव शान्त-प्रतिरोध और तटस्थता के, कोई दूसरा उपाय, ब्रिटिश प्रभुता के विरुद्ध नहीं—केवल इतना कह कर संतोष नहीं। (कांग्रेस के ही कुछ अन्य सज्जन, इस अंश मे अहिंसावाद को छोड़ कर, शूरता-वीरता से, जापानियों के आक्रमण को रोकने की सलाह देते रहे, पर उसी शूरता वीरता से वर्तमान ब्रिटिश साम्राज्य के स्थान मे भारतीय स्वराज्य क़ायम नहीं कर सकते); इत्यादि।

धर्म-सामान्य; ब्रिटेन-भारतीय-संघ से मानवजगत्संघ।

यदि ये सब सज्जन 'धर्म सामान्य' और 'सामाजिक-व्यवस्था-सामान्य', अर्थात् 'विश्व धर्म' और 'विश्व व्यवस्था' पर ध्यान दिये होते और इन को पहिचानते, तो, स्यात् बीस वर्ष पहिले ही, भारतवर्ष को 'स्वराज' मिल गया होता; भारत के भीतर भी शान्ति होती; और समस्त मानव-जगत् मे भी; क्योंकि चारो ओर ईर्ष्या-मत्सर-द्रोह का, और तज्जनित दारुण युद्ध का, एकमात्र कारण, ब्रिटिश साम्राज्यवाद, भूतल से उठ गया होता, और उस के स्थान मे, 'ब्रिटिश-इण्डियन-कामन्वेल्थ', 'ब्रिटेन-भारत-संघ', ('वृष्णि-अन्धक-संघ' के ऐसा); प्रतिष्ठित हो जाता; जो 'विश्व-महासंघ' का आरम्भक केन्द्र वा बीज होता, जिस मे क्रमशः अन्य सब राष्ट्र, भूतल के, शामिल होते, और जो थोड़े ही काल मे मानव-जगत्-संघ के रूप मे परिणत हो जाता। यह बात निरी स्वप्न नहीं, शेख चिल्ली का क़िस्सा नहीं; प्रत्युत मानव-जगत् की सूत्रात्मा, बुद्धि-समष्टि, इसी ओर जा रही है, और इसी लक्ष्य तक सब राष्ट्रों और जातियों को पहुँचाने का द्वार, इन युद्धों को भी बना रही है—यह बात मैं ने 'विश्वयुद्ध और उस की एकमात्र औषध, विश्वधर्मानुप्राणित-विश्वव्यवस्था', पुस्तक मे, प्रायः सवा सौ पाश्चात्य और भारतीय प्रमुख लेखकों, ग्रन्थकर्ताओं, नेताओं के वाक्यों का उद्धरण कर के दिखाने का यत्न किया है।*

---

* British Indian Commonwealth. *The World-War and its only Cure—World Religion and World-Order.*

प्रकृत यह कि क्रिप्स जी से समझौता न हो सकने का एकमात्र कारण यही, कि अपने-अपने 'विशेष' ही की ओर प्रत्येक दल वा उपदल के नेताओं का ध्यान रहा, 'सामान्य' की ओर भी नहीं, बल्कि कुछ भी नहीं; प्रत्येक नेता, दूसरों ही का दोष देखता दिखाता रहा, अपना नहीं; "राजन्, सर्षपमात्राणि पर-छिद्राणि पश्यसि, आत्मनो बिल्वमात्राणि, पश्यन्नपि न पश्यसि", सरसों ऐसे दूसरों के छिद्र देखते हो, बेल ऐसे अपने छिद्र देखते हुए भी नहीं देखते हो। "देवानां तु शरीरतः निर्गतं सुमहत्तेजः, तच्चैक्यं समगच्छत", जब सब देवों का तेजस् मिल कर एक देवी का शरीर बन गया, तभी दैत्य परास्त हुए, बिना ऐक्य को, सामान्य को, सिद्ध किये, गति नहीं—यह मुह से कहते हुए भी, उस के साधने के मर्म से सर्वथा अनभिज्ञ। साधने का मर्म, उपाय, रहस्य, एक ही है—'विश्व धर्म से अनुप्राणित विश्व-व्यवस्था' का डिण्डिम।

सर्व-धर्म-सम्मेलन सभाएं।

कितने ही वर्षों से 'थियासाफ़िकल सोसाइटी' की, 'पार्लिमेंट आफ़ रिलिजन्स' की, 'वर्ल्ड कांग्रेस आफ़् फ़ेथ्स्' की, प्रायः सभी देशों मे फैली हुई शाखाओं के द्वारा, 'विश्व बन्धुत्व' की, 'विश्व-धर्म' की, पुकार हो रही है, तथा 'सोशलिस्ट' नेताओं और ग्रन्थकर्त्ताओं द्वारा 'विश्व-व्यवस्था' की पुकार हो रही है; रूस देश मे अंशतः ऐसी समाज-व्यवस्था बनायी भी गयी है। और अब, गत विश्वयुद्ध के बाद से, और वर्त्तमान विश्वयुद्ध के आरम्भ से तो बहुत ही, 'न्यू वर्ल्ड आर्डर' की पुकार चारो ओर हो रही है; पर हमारे देश के प्रमुख नेताओं का ध्यान, एक दो छोड़ कर इस 'सामान्य' की ओर गया ही नहीं है; अपने अपने 'विशेष' ही मे रम रहे हैं।*

क्या 'सामान्य' पर जोर देने से 'विशेष' भूल जायगा ?

एक समालोचक ने यह बात कई वेर, प्रश्न के, शंका के, स्वमत-प्रकाश के, शब्दों में, लिखा है कि, "अधिकतर जोर समानता पर ही देने से अपने विशेष धर्म पर आस्था या श्रद्धा ही क्या रहेगी ?" क्या

* Parliament of Religions; World Fellowship of faiths; socialist; New World Order.

विशेष का पालन भी अनावश्यक न समझ लिया जायगा ? वास्तव मे जो सब को मानने का दावा रखता है वह किसी को नहीं मनता", इत्यादि। इन का उत्तर, एक प्रकार से, ऊपर हो गया है; तौ भी, पुनर्बार, मनफेर के लिए, प्रति-शब्दकों से कहूंगा। 'अधिकतर जोर शरीर के सामान्य स्वास्थ्य, सौंदर्य, दाढ्‌र्य पर देने से, क्या अपने विशेष कपड़ों पर आस्था श्रद्धा रह जायगी ?', 'जो मनुष्य गोहूं-सामान्य का भोजन मे प्रयाग करता है, उसे किसी विशेष प्रकार की रोटी, पूरी, परांठे, दलिया, माठ, मठली, दल के लड्डू, 'सत्यनारायण के चूर्ण', सूजी के हलवे, शकरपारे, या पाव-रोटी, बिस्किट, नान-खताई, केक, सैंडविच, रोल, वन, स्कोन मे रुचि क्या रह जायगी ?', 'जो सामान्य दूध का सेवन करता है, वह नवनीत, हैयङ्गवीन, घृत, दधि, मन्थ, तक्र, छच्छ, के सेवन को अनावश्यक न समझ लेगा ?', अथवा, 'जो विशेष प्रकार के अपने पहिनावे को अच्छा समझता है, वह क्या दूसरे सब विशेष प्रकारों को बुरा न समझेगा ?' इत्यादि। ऐसा नहीं; प्रत्येक चित्त मे, सामान्य के लिये भी निसर्गतः स्थान है, और विशेष के लिए भी; केवल इस बात को बुद्धिपूर्वक, अभिव्यक्त रूप से, पहिचानने, 'प्रत्यभिज्ञान' करने, की देर है; ऐसा होते ही, अमर्ष के स्थान मे सम्मर्ष, तअस्सुब की जगह रवा-दारी, का प्रवाह होने लगेगा। यह पहिचनवाना, सत्-शिक्षकों का कर्त्तव्य-धर्म है। और एक बात ध्यान देने की है; समालोचक ने उपर्युक्त अपनी प्रथम शंका मे, "अधिकतर जोर समानता पर देने से···" लिखा है; जिस ने ऐसा जोर समानता पर दिया हो, उस से यह प्रश्न करना उचित है; मैं ने तो ऐसा कभी नहीं किया; मै तो ही के स्थान मे भी का प्रयोग करता रहता हूँ; आप ही 'विशेष' पर ही जोर देते हो ! दूसरे प्रकार से भी आप के प्रश्न का उत्तर लिखने की चेष्टा करता हूं। आप के वाक्यों की 'ध्वनि' यही निकलती है कि 'सब को' नहीं मानना चाहिये, किसी एक विशेष को ही मानना चाहिये। इस 'विशेषता' का कहां पर्यवसान होगा ? भारत मे 'तेंतीस कोटि' देवता प्रथित हैं, क्या उन मे से एक-एक को एक-एक मनुष्य चुन ले ? सैकड़ों विशेष पन्थ चल रहे हैं, किस को कौन पकड़े ? जिस का जिस को जी चाहे ? बलऽधायक ऐक्य का संघशक्ति कैसे हो ? "संघे शक्तिः कलौ युगे", "तच्चैक्यं समगच्छत", कैसे सिद्ध हों ?

प्राचीन ऋषियों ने ब्रह्म और आत्मा के वर्णन मे 'सर्व' शब्द का बहुत प्रयोग किया है; "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामानि, प्रज्ञानं ब्रह्म", "सर्वं असि", "आत्मैव देवताः सर्वाः", "सर्वमात्मनि संपश्येत्", "सर्वं अस्मत्युपासीत' "यस्तद्वेद स वेद सर्वं", "आत्मवेदं सर्वं", "यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति", "समं पश्यति योऽर्जुन" "सर्वत्र समदर्शनः", "सर्वसमतामेत्य"— ऐसे सैकड़ों वाक्य और महावाक्य उपनिषदों मे, गीता मे, मनु मे, भरे हैं। 'वेदों' का जहां 'अन्त' होता है, समाप्ति सम्पूर्त्ति सम्पन्नता होती है, वह 'वेदान्त', उसी वस्तु को मानने पर जोर देता है जो वस्तु 'सब' है। मनु की इस आज्ञा पर भी विचार कीजिये—

जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः,
कुर्याद् अन्यन् , न वा कुर्यान् , मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।
सावित्री-मात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः,
न ऽयन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि, सर्वऽाशी सर्व-विक्रयी। (म०)*

इस का आशय तो यही जान पड़ता है कि मुख्य सामान्य-धर्म, जो गायत्री के शब्दों मे निहित है, अर्थात् सदा सर्वत्र परमात्मध्यान परमात्म-भावन, उस का पालन करना चाहिये; गौण, विशेष-विशेष, धर्मों आचारों मे कमी भी हो पर सदाचार रक्खा जाय, तो इतना भी पर्याप्त है।

साथ ही जिन महापुरुषों ने 'सब' को, 'समता' को, 'समान' को, इस प्रकार से अधिक महत्व, गुरुत्व, दिया है, उन्हीं ने वर्ण और आश्रम के विशेष धर्मों का भी विधान किया है, और, दूसरी कुछ नीची काष्टा मे, उन को भी गौरव दिया है। इन दोनो मे, सामान्य और विशेषों मे, कोई शत्रुता नहीं; प्रत्युत घनिष्ठ मित्रता और परस्परोपकारिता है। "त्रैगुण्यविषयाः वेदाः, निस्त्रैगुण्यो भवऽर्जुन !", ऐसा परामर्श देते हुए भी, "स्वधर्ममपि··क्षत्रियस्य" को भी पालने का उपदेश, कृष्ण ने दिया है।

---

* जिस प्राचीन काल मे यह श्लोक लिखा गया, उस समय मे भी, 'सर्वऽाशी, सर्वविक्रयी', 'बकव्रतिक', 'बिड़ालव्रतिक', 'मार्जारलिङ्गी' "यथा काष्ठमयो हस्ती, यथा चर्ममयो मृगः, तथा विप्रोऽनधीयानः, त्रयस्ते नाम बिभ्रति" (म०)- ऐसे 'विप्र' होने लगे थे।

वेदान्त के अर्वाचीन प्रतिपादकों ने, "न वर्णऽश्रमऽाचार-धर्माः" "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतो को विधिः को निषेधः" 'अतिवर्णाश्रमी' आदि लिखा है। इन का अर्थ, अपनी अपनी सुविधा से, विविध व्याख्याता विविध प्रकार से लगाते हैं। यद्यपि इन शब्दों से सूचित भावों, आचरणों, व्यवहारों का यथोचित समावेश, वानस्थ्य और संन्यास मे हो सकता है।

मेरी क्षुद्र बुद्धि तो वर्ण-आश्रम धर्मों के (प्रचलित नहीं, प्रत्युत) उचित, अध्यात्मविद्या से संशोधित, सुसंस्कृत, परिमार्जित विधान, विवेचन, विभाजन, परिपालन को, (भारतीयों या ब्रह्मावर्त्तीयों का ही नहीं, अपितु) समस्त मानव-जगत् के कल्याण के लिये परमावश्यक जानती है। पर, हाँ, 'उचित' क्या है, 'वर्ण' जन्मना है और होना चाहिये, वा "स्वभाव-गुण-(जीविका)-कर्मभिः"—इस प्रश्न का उत्तर, मेरे विश्वास से, "(जीविका-) कर्मभिः" उचित है। अन्यथा यह 'मानव' धर्म, मनु की आज्ञा के अनुसार "पृथिव्यां सर्वमानवाः" को ग्राह्य नहीं हो सकता, सर्वलोकहितकारी, सब मनुष्यमात्र का शिक्षक-रक्षक-पोषक-धारक, नहीं हो सकता। केवल मूठी-भर परस्पर संघृष्यमाण आदमियों की धरोहर बन कर, उस कलह और संघर्ष के कारण क्रमशः अधिकाधिक घिस कर, क्षीण हो कर, लुप्त हो जायगा।

'जन्मना वर्णः' का प्रत्यक्ष दुर्विपाक।

क्या यह 'जन्मना वर्णः' का ही फल है, या नहीं, कि 'हिन्दू' कहलाने वाले समाज मे ढाई हज़ार से ऊपर ऊपर (राष्ट्रीय मनुष्य गणना के विवरण के अनुसार) परस्पर बाह्य जाति, उपजाति, उपोपजाति, उपोपोपजातियां बन गयी हैं ? क्या इन जात्युपजातियों मे परस्पर स्नेह, प्रीति, समवेदिता, सहायता, अनु-क्रोश, अनुकम्पन, अतः 'संघ-शक्ति-जनक ऐक्य', की बुद्धि है ? वा परस्पर ईर्ष्या, मत्सर, द्रोह आदि ही अधिक हैं ? क्या 'जन्मना वर्ण' का फल है या नहीं, कि 'उच्च' वर्णों मे 'अधिकार' तो जन्मना सिद्ध मान लिये जाते हैं, और 'कर्तव्य' सब भुला दिये जाते हैं ?

कौन वर्ण-व्यावस्था सनातन और व्यावहारिक है ?

समालोचक ने लिखा है, "जो वर्ण-व्यवस्था (अर्थात् 'कर्मणा') डाक्टर साहब बतलाते हैं, वह न भारतीय है, न सनातन है, और न

व्यावहारिक है; उससे संघर्ष दबेगा नहीं; उलटे बढ़ेगा"। मेरा विश्वास है कि 'कर्मणा वर्णः' की व्यवस्था ही तत्त्वतः भारतीय है, सनातन है, व्यावहारिक है, अध्यात्मशास्त्रसम्मत है, अथ किं, वेद-वेदान्त की सम्मत ही नहीं आदिष्ट भी है; तथा यह भी कि, उसी से संघर्षण कम, और सं-मनन, सं-वदन, सं-गमन अधिक किये जा सकते हैं। और 'जन्मना वर्णः' ही अ-सनातन, अ-व्यावहारिक, संघर्ष-वर्धक है; यद्यपि अब 'भारतीय' तो, 'विशेषेण' क्या 'केवलत्वेन' है, क्योंकि और किसी देश में नहीं है; यथा राष्ट्रीय दासता भी 'भारतीय' है।

प्रत्यक्षं च अनुमानं च शास्त्रं च विविधागमं,
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता। (मनु)

इस मेरे विश्वास के पोषक, साधक जनक, प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम के प्रमाणो का संग्रह करने का यत्न, 'मानव-धर्म-सारः' नाम की संस्कृत पुस्तक मे मैं ने किया है।

'भारतवर्ष की, समाजशास्त्र, को खास देन'।

जैसा आपने लिखा है, मैं भी मानता हूँ कि, 'वर्ण-व्यवस्था, भारत की, समाजशास्त्र को खास देन है'; इस दृढ़ता, से मानता हूँ कि, आज प्रायः पैंतीस (अब, १९४७ ई० मे, चालीस) वर्ष से, पुस्तकों और छोटे लेखों द्वारा इस तथ्य की ओर, सब देशों का ध्यान आकृष्ट करने का यत्न कर रहा हूँ; और 'थियोसाफ़िकल् सोसायटी' की सब देशों मे वितत शाखाओं के द्वारा, स्वल्पलेशतः कृतार्थ भी स्यात् हुआ हूँ; जैसा, मेरी जान मे, कोई अन्य स्वदेशी वा विदेशी जन ने स्यात् यत्न नहीं किया, न कृतार्थ हुए; तथा, भारत के भी, 'नयी पाश्चात्य शिक्षा पाये हुए' सज्जनो का भी ध्यान इधर आकृष्ट करने मे। पर, बहुत सम्भव है कि, अन्य जनो के यत्न का ज्ञान मुझे नहीं है। अस्तु। प्रसक्त निवेदन मेरा यह है कि 'वर्ण-व्यवस्था' को 'खास देन' मैं भी हृदयेन मानता हूँ, परन्तु 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' को, क्योंकि वही अध्यात्मशास्त्र-सम्मत है; 'जन्मना', अध्यात्मशास्त्र के विरुद्ध है, और मानवों को हानिकर है। 'जन्मना वर्ण-व्यवस्था' तो, भारत की ख़ास देन, समाज-शास्त्र को नहीं, बल्कि भारत को ही, और सर्वनाश-कारी देन है; "गर्भमश्वतरी यथा"। इस बात को इन प्रतिप्रश्नो की दृष्टि से विचारिये; वर्ण व्यवस्था को

भारतवर्ष की खास देन जिस समाजशास्त्र को आप बताते हो, वह समाज-शास्त्र क्या भारतीय समाज से ही सम्बद्ध है, वा समस्त मानव समाज से ? यदि भारतीय से ही, तो भारतीयों के अनेक समाजों मे से किस 'विशेष' समाज से ?

'संघर्ष' और 'संमर्ष' का द्वंद्व ।

इस सब से यह अभिप्राय मेरा नहीं, कि 'कर्मणा वर्णः' की व्यवस्था से 'संघर्ष' पदार्थ मानव जगत् से मिट जायगा; न यह कि 'जन्मना' को सामाजिक प्रबन्ध व्यवस्थापन मे कोई स्थान ही नहीं । 'द्वन्द्व'-मय सृष्टि मे 'सं-घर्ष' भी, 'सं-मर्ष भी, अपाय भी उपाय और 'सहाय' भी, दोनो ही, अविच्छेद्य और अनुच्छेद्य हैं; पर, बुद्धिमान्, बुद्ध, प्रबुद्ध, सम्बुद्ध मानवों का कर्त्तव्य है, कि सं-घर्षण को कम, और सं-मर्षण सह-अयन को अधिक, सर्वथा उचित 'कर्मणा' वर्ण-व्यवस्था के द्वारा, करें; तथा 'जन्मना' को, 'कर्मणा' द्वारा निरीक्षित नियन्त्रित करते हुए, उस व्यवस्था मे स्थान दें । न यह ही, न वह ही; बल्कि दोनों भी, किन्तु 'जन्मना' को 'अधीन' 'अवरीण', और 'कर्मणा' को 'उपरीण' रक्खैं; 'जन्मना' को मातहत और 'कर्मणा' को बालादस्त ।

एक सन्दिग्ध अभ्युपगम ।

आप ने लिखा है कि "यदि अन्य (अर्थात् हिन्दुओं से इतर) लोग भी अपने समाज में 'स्वभावानुसार' चार श्रेणियों को मान लें, और 'समानशीलव्यसन' वाले लोग, परस्पर शादी विवाह करने लगें, तो किसी समय उन लोगों मे भी 'जन्मना वर्णः' चल पड़ेगा" । बहुत ठीक; किन्तु 'स्वभावानुसार' और 'समानशीलव्यसन' को नियामक हेतु मानना ही तो 'कर्मणा' मानना है; यदि ऐसे 'कर्मणा' की 'मातहती' मे, 'अधीनता' मे, 'निग्रानी' 'नियंत्रण' 'विनयन' मे, 'जन्मना' न केवल चल पड़े, बल्कि सदा बना रहे, तब तो 'ओमिति ब्रूमः'; अपने को यही तो नितरां सुतरां अभीष्ट है । पर यदि चल पड़े और कुछ दूर चल कर गिर पड़े, उन नियामक हेतुओं को भूल कर पथभ्रष्ट हो जाय, जैसा भारत मे हुआ है, तो फिर, पुनः पुनः, उस को 'कर्मणा' के बल से ही उठा कर सत्य मार्ग पर लाना होगा; जैसा, महाभारत मे, सर्प-युधिष्ठिर-सम्वाद और यक्ष-

युधिष्ठिर-सम्वाद मे, तथा अन्य अनेक स्थलों मे, सिद्ध किया है । 'मानव-धर्म-सार' मे उद्धरणों और उदाहरणो को देखिये ।

ऊपर उद्धृत अपने वाक्य को लिख कर कि, "उन लोगों मे भी 'जन्मना वर्णः' चल पड़ेगा," आप ने यह और लिखा है, कि "स्वधर्म पालन करते हुए धीरे-धीरे उन की उन्नति होती रहेगी । और किसी जन्म मे वे अपने उचित वर्ण मे भी पहुँच जायंगे" । इस वाक्य का अर्थ मैं नहीं समझ सका हूँ । जब 'जन्मना वर्णः' की प्रथा उन मे चल पड़ी, 'जन्मना' चातुर्वर्ण्य उन मे सिद्ध हो गया, तो फिर, "किसी जन्म मे उचित वर्ण मे पहुंच जायँगे" का क्या मतलब हैं ? क्या यह, कि वे सब भारतवर्ष के, अनादि काल से, आ-ब्रह्मदेव 'शुद्ध', 'असङ्कीर्ण', 'अविप्लुत' चातुर्वर्ण्य के वर्णों मे जन्म ग्रहण करेंगे ? !

'सब' को मानना, या किसी एक 'विशेष' को मानना ?

प्रसक्त वक्तव्य यह है, कि 'सब' को अधिकतर, और किसी 'विशेष' को भी, पर उस से कुछ कम, मानना, मनुष्यमात्र के लिए उपयोगी, उपकारी, कल्याणकारी जानता हूँ; और मेरा विश्वास है कि, ऐसा करने से वह 'अलू (रू)क्षा' और 'संमर्शिणी' लोकसंग्रहकारिणी बुद्धि संसार मे फैलेगी, जिस की प्रशंसा तैत्तिरीयोपनिषत् के स्नातकोपदेश मे की है । 'ही' शब्द, 'यह ही,' लोक-विग्रह-कारक है; 'भी', लोक-संग्रह-कारक है; 'सब' को भी मानियें, विशेष' को भी मानिये; 'विशेष' ही को नहीं, न सामान्य ही को ।

इस अभिप्राय को, मैं ने, अपनी उक्त अंग्रेजी और संस्कृत तथा अन्य अंग्रेजी और हिन्दी पुस्तकों मे भी, "भाँति अनेक वार बहु बरना" 'किन्तु काज तनिकहु नहि सरना', अब तक लोक-प्रिय नहीं बना सका हूँ ; मेरे ही विचार और बुद्धि मे अशुद्धि, भ्रान्ति, त्रुटि, होगी, तथा शब्दों मे सौष्ठव और प्रभाव का अभाव; अथवा, लोक का चिरकालिक संस्कार बहुत बलवान् है, त्वरित तुरत बदला नहीं जा सकता, "रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान", उतने ही चिरकालिक आयास से साध्य है । क्योंकि "स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः", (योगसूत्र), किं पुनः अविदुष; साधारणजनस्य; अथवा,

अवश्यभव्येषु अनवग्रहग्रहा, यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा,
तृणेन वात्येव तथाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना" । (नैषध)

सौर जगत् के विधाता, विधि विधान-कर्त्ता, विधि-रचयिता, विरंचि, सावित्री के सविता, महत्तत्त्व के अंश, प्रत्यक्ष देव, "सूर्यः आत्मा जगतस्तस्थुषश्च", ब्रह्मा-हिरण्यगर्भ-आदि सहस्रनामधारी, आदित्य-नारायण, 'वेधाः', जिन के चारो ओर ज्योतिषोक्त सब ग्रह सदा भृत्यवत् घूमते रहते हैं, उन की, इस समय, फलित-ज्योतिष से सूचित, इच्छा यही जान पड़ती है कि, "हरः संक्षुभ्यैन भजति भसितोद्धूलनविधिं"; 'कतहुँ भूमि पर शान्ति न सरना, भेदभाव ही दाँतन धरना, देस देस को कलिमय करना, विकट युद्ध करि वीरन तरना, अपरन बहुतन भूखन मरना, महामारि के हू बस परना, विविध प्रकारन यम-घर भरना; जे बचि जायँ ईश के शरना, तिन, पाछे, पछिताइ, उबरना' ! हरीच्छा ! तथापि—

"यत्ने कृते यदि न सिध्यति, कोऽत्र दोषो"
यत्नेऽभवन् मम पुनस्त्विदमेव चित्यं;
निश्चित्य तं च विनिवार्य, यथा हि शक्तिः,
कार्यः पुनर् दृढतरं सुतरां प्रयत्नः।

यदि यत्न सिद्ध नहीं हुआ तो विचारो कि क्या त्रुटि हुई, और उस को पूरा कर के फिर यत्न करो। विशेषता, विदृशता, प्रकृति की 'नाना'-ता, को न छोड़ते न हुए, समानता, सदृशता, परमात्मा की 'एक'-ता पर अधिक ध्यान करने से, 'विश्व-धर्म' अनायासेन समझ मे आता है। विशेष का 'ही' अवधारण होने से समझना कठिन। एक ही वस्तु के विविध नाम विविध भाषाओं मे होते हैं, जो मनुष्य उन सब भाषाओं को जानता है, वह, उन का प्रयोजनानुसार प्रयोग करता है; पर, साथ ही, सब मे एक ही, सामान्य ही, अर्थ देखता है; जो मनुष्य एक ही भाषा मे रम रहा है, अन्य भाषाओं को तुच्छ, हेय, अस्पृश्य मानता है, वह नहीं देख सकता। एक भाषा को समान रूप से जानने बोलने वाले बहुत मनुष्यों में से प्रत्येक के मुख का, शरीर का, आकार, और 'स्वर' (अंग्रेजी 'साउन्ड', वा 'ध्वनि', "ध्वनिश्च माङ्गल्यमृदङ्गमासलः") भिन्न होता है; पर एक दूसरे का अर्थ समझ ही लेते हैं। ऐसे ही, 'विश्व-धर्म', 'विश्व–व्यवस्था', शब्दों का भी अर्थ 'सामान्यतः,' 'साधारणतया,' समझा जा सकता है। ये शब्द, सर्वथा निरर्थ, अपार्थ, व्याहतार्थ, दुरर्थ नहीं हैं। सज्जन देखते ही होंगे, पश्चिम के तथा भारत के

भी समाचारपत्रों मे, आजकाल, आये दिन, 'न्यू वर्ल्ड आर्डर,' 'नवीन विश्व-व्यवस्था', शब्द का प्रयोग, और उस पद के अर्थ के विशदीकरण की, और उस पदार्थ की, माँग, पुकार पुकार कर, हो रही है। इस शब्द का प्रयोग करने वाले, उस से कुछ अर्थ तो समझते ही होंगे। "न ऽन्यन्तमज्ञा, नापि ज्ञः, अधिकारी इति कथ्यते", जिज्ञासायाः अधिकारी। संस्कृत दर्शन का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि, सामान्य ज्ञान के विना, विशेष ज्ञान की आकांक्षा, जिज्ञासा, ही नहीं हो सकती; जो सब कुछ जानता है, सर्वज्ञ है, अथवा जो नितरां अज्ञ है, कुछ भी नहीं जानता—इन दोनों को जिज्ञासा, जानने की इच्छा, हो ही नहीं सकती।

ऐसे ही, 'वर्ल्ड-रिलिजन,' विश्व-धर्म,' शब्द का प्रयोग होने लगा है; यद्यपि उतना नहीं जितना 'न्यू वर्ल्ड आर्डर' शब्द का; क्योंकि पाश्चात्य मानव जगत्, 'विशेष' धर्मों की विकृतियों, भ्रष्टताओं, परस्पर कलहों, के फलभूत घोर उपद्रवों और युद्धों से उद्विग्न हो कर, धर्ममात्र को, रिलिजन्'-'धर्म' शब्द को भी, घृणा से देखने लगा था; परन्तु अव केवल 'ऐहिकता' के ही, 'वहिःकरणों' के ही, तर्पण के फलभृत घोरतर उपद्रवों ओर युद्धों से उद्विग्न हो कर, सर्व-संग्राहक, परस्पर-प्रीति-शान्ति-कारक, धर्म-सार, धर्म-सामान्य, विश्व-धर्म, के स्वरूप का निश्चय करने की ओर, और उस के प्रचार द्वारा धर्म-पदार्थ के जीर्णोद्धार की ओर, झुक रहा है; और इस झुकाव को अपने विवेकितम, प्रसिद्धतम, शिरः-स्थानीय, 'उत्तमाङ्गोद्भव' व्यक्तियों के द्वारा, यथा ब्रिटेन मे एच् जी. वेल्स आदि, और अन्य देशों के भी ऐसे ही प्रमुख ग्रन्थ कर्ताओं, साहित्यिकों, विज्ञान-शास्त्रियों, के द्वारा, प्रकट कर रहा है; तथा सर्वसाधारण के चित्त को उसी ओर झुकाने का प्रयत्न कर रहा है। इस झुकाव, इस प्रकार, के सैकड़ों उदाहरणो का संग्रह, उक्त अंग्रेजी ग्रन्थों मे मै ने किया है; और यह दिखाने का प्रयत्न किया है, कि ऐसे 'न्यू वर्ल्ड् आर्डर' और 'वर्ल्ड रिलिजन' के तात्विक सात्विक मार्मिक धार्मिक सिद्धान्त, सब, वैदिक-सनातन-आर्य बौद्ध-(बुद्धिसङ्गत)-मानव (मनु कहे, तथा सर्व-मनुष्य-संग्राहक)-धर्म मे उपस्थित हैं; यदि 'वर्ण' को 'कर्मणा' और 'आश्रम' को 'वयसा' माने तो। कबीर, नानक, प्रभृति सन्तों महात्माओं के, धर्म के जीर्णोद्धार के लिये, उद्यमो का भी तात्विक मुख्य उद्देश्य यही रहा कि 'धर्म-सामान्य' की, आत्मविद्या पर प्रतिष्ठित 'धर्म' की, भूली हुई स्मृति

को जनता के हृदय मे पुनः जगावें; और इन सब ने, यथा बुद्ध और जिन ने, 'कर्मणा वर्णः' पर जोर दिया।

जिन भारतीय सज्जनो को, "रजो-लेश ऽनुविद्ध-सत्व" होने के कारण, इस भाव मे कुछ सन्तोष होता हो कि भारतीय प्राचीन आर्यशास्त्र मे, सहस्रों वर्षों से, ऐसे सिद्धान्त विद्यमान हैं, उन को यह सन्तोष भी इस रीति से प्राप्त हो सकता है। और यह सन्तोष, उचित मात्रा मे, अनुचित नहीं है; "यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ"।

'अहम् एव, मम धर्म एव, श्रेष्ठतम' का फल।

किन्तु, जैसा यहूदी धर्माधिकारियों को हार्दिक विश्वास है, कि यहूदी जाति ही अकेली ईश्वर को प्रिय है, अन्य सब से अलग की हुई है, 'चोजन्' है; जैसा ईसाई धर्माधिकारियों को, और उन के श्रद्धालुओं को, कि ईसा मसीह ही अकेले 'सन् ऑफ़ गॉड', 'ईश्वरपुत्र', हुए, ('ईश्वरस्य पुत्राः', 'आर्य' शब्द के अर्थ मे, निरुक्त मे आया है), 'द्वितीयो न भूतो न भविष्यति', यद्यपि स्वयं ईसा ने अपने को मनुष्य का पुत्र और मनुष्य ही कहा, और सभी शरीरों को 'ईश्वर के जीवन्-मन्दिर', चैतन्य की उपाधि, 'लिविङ् टेम्पल्स आफ़् गाड', कहा;* जैसा मुस्लिम धर्माधिकारियों, मौलवियों, और उन के भक्तों को दृढ़ विश्वास है, कि मुहम्मद ख़ातिमुन्नबूअत' हुए, नबियों, (ऋषियों) की परम्परा को ख़तम कर दी, अब कोई दूसरे नबी की जरूरत बाक़ी नहीं रही, और न होगी, यद्यपि मुहम्मद स्वयं अपने को साधारण मनुष्य ही कहते रहे, और यह भी कहते रहे कि प्रत्येक देश और जाति के लिए शिक्षक, उपदेशक, धर्मोद्धारक, रसूल, नबी, पैग़म्बर, 'सन्देशवाहक', समय-समय पर अल्ला-ईश्वर भेजता रहा और भेजता रहेगा; जैसा, मुहम्मद के बाद, 'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्', जो क़ुरान मे लिखा है, अन्य सब किताबें या तो उस की नक़ल हैं, या उस के खिलाफ़ और ग़लत हैं, इस लिए सब को जला देना चाहिये, ऐसा दृढ़ निश्चय कर, और हुक्म देकर, एक ख़लीफा ने मिस्र देश मे अलेक्संदरिया नगर के एक

---

* Chosen son of God Living temples of God.

पुराने बड़े मशहूर पुस्तकागार को जलवा दिया; जैसा अब श्वेतवर्ण यूरोपीय जाति के लोग अपनी ही श्वेत जाति को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, और उन मे भी जर्मन जाति के लोग अपने को श्रेष्ठों मे श्रेष्ठतम मानते हैं, और यहूदियों को पैर के नीचे रौंद रहे थे: जैसा जापानी लोग सब जापानियों को साक्षात् सूर्यदेव की सन्तति निश्चयेन मानते हैं; वैसे ही, कुछ लोग, 'सर्वं ब्राह्मं इदं जगद्', 'मनोः अपत्यानि सर्वेऽपि मानवाः', को भूल कर, केवल भारत के, तत्रापि आर्यावर्त्त के, तत्रापि ब्रह्मावर्त्त के, निवासियों को, और उन मे भी कुछ 'जाति-विशेषों', 'दल-विशेषों', ब्राह्मण-नामकों, 'पंक्तिपावनों', 'श्रोत्रियवर्यों', 'आर्यवर-गुरुओं' (दक्षिण मे ऐयर अय्यंगार-आवर्गालों) को ही, ईश्वर के प्रीति के भाजन, किंवा 'ईश्वरांश', साक्षात् भू-देव मही-सुर, सच्चे निश्चय से विश्वास कर रहे हैं---ऐसों को यह समझना-समझाना दुस्साध्य है कि ईश्वर का अंश 'सामान्य' मे भी है, त्रैगुण्य सब मे छाया है, केवल "भूयसा व्यपदेशः' 'विशेष' का होता है। यह भी परम सत्य है कि 'मृत्तिका इयेव सत्यं', हाँडी, पुरवा, कसोरा, मटका, मटकी, नाँद, घड़ा, कमोरा. अथरी, अथरा, भंडेहर, प्याली, प्याला, तश्तरी, ईंटा, टाली, खपरा, नरिया, थपुआ, सब उसी मृत्-सामान्य के विशेष विशेष विकार हैं. यह भी ठीक है कि प्रत्येक विशेष का कार्य भी विशेष है; तथा यह भी सत्य है कि आवश्यकता पड़ने पर, एक के अभाव मे, दूसरे से उसका काम कुछ न कुछ, थोड़ा बहुत, निकाल ही लिया जाता है; और यह भी ठीक है कि, एक हद तक, 'विशेष' पर ज़ोर दिये बिना, मानव-सभ्यता मे, प्रगति नहीं हो सकती, क्योंकि 'सर्वथा साम्यं तु प्रलयः; वैषम्यं सृष्टिः"; एवं अपनी अपनी श्रेष्ठता का विश्वास, यदि पर-ऽवमर्दक अन्य-तिरस्कारक दर्प गर्व से रहित, श्रेष्ठता के साधन का प्रेरक, हो, यथा प्रीति-पूर्वक अखाड़े मे नियुद्ध करनेवालों का, तो सभाजनीय अभिनन्दनीय ही है; पर यदि उचित सीमा के पार चला जाय, यदि 'विशेष' ही पर ज़ोर दिया जाय, और 'सामान्य' भुला दिया जाय, तब, जैसा ऊपर कहे यहूदि आदि के उदाहरणो से देख पड़ता है, वह परस्पर द्रोह, कलह, युद्ध, 'कलियुग का कलि-राज्य', जो आजकाल चारो ओर मच रहा है, मचता ही रहेगा, और उसका अन्त तभी होगा जब सभी लड़ने वाले नष्ट हो जायँगे।

वर्तमान समय क्या चाहता है ?

निष्कर्ष यह कि, अब वह समय, वह निमित्त आ गया है, कि 'सामान्य'-मानवता पर, 'विश्व धर्म' और 'विश्व व्यवस्था' पर, और उनके साधने वाले 'कर्मणा वर्णः' पर अधिक बल दिया जाय। इस विषय के सहायक निर्णायक पुराने वाक्य हैं, "देशकालनिमित्तानां भेदैर्धर्मो विभिद्यते", "आचाराणां अनैकाग्र्यं तस्मात् सर्वत्र लक्ष्यते", "कुलानि अकुलतां यांति, कुलतां अकुलानि च", "आश्रयेत् मध्यमां वृत्तिम्, अति सर्वत्र वर्जयेत्", इत्यादि। 'कर्मणा वर्णः' के अनुसार, वर्ण के परिवर्त्तन के उदाहरण, इतिहास-पुराण मे, एक विश्वामित्र का ही नहीं, बीसियों ही नहीं, अपितु सहस्रों, कहे हैं; 'मानव-धर्म-सारः' पुस्तक मे उनका उल्लेख किया गया है। अस्तु।

विश्व-धर्म से व्याप्त विश्व-व्यवस्था की रूपरेखा।

विश्व-धर्म से प्राणित विश्व व्यवस्था की रूपरेखा, कुछ ऐसी गूढ़ मूढ़ अन्धकारऽच्छन्न भी नहीं है। मन को, थोड़ा सा, "शब्द-अर्थ-ज्ञान-विकल्पैः असङ्कीर्ण" करके, उस रूपरेखा की ओर फेरने मात्र की आवश्यकता है। उसका उपन्यसन मैंने 'विश्व-युद्ध और उस की एकमात्र औषध'* नाम की पुस्तक के १३ वें और १४ वें अध्याय में कर भी दिया है।

अतिसंक्षेप से यहाँ भी किये देता हूँ: विस्तार, अन्य ग्रन्थों मे किया है।

चैतन्य, जड़ उपाधि मे उतरता है; जीवात्मा, भौतिक शरीर में 'बद्ध' होता है, जन्म लेता है, उसके सुख दुःखों का अनुभव कर के, क्रमशः विरक्त हो कर, उससे मुक्त होता है, उपाधि को छोड़ता है; 'बद्ध' अवस्था मे, गृहस्थआश्रम मे, "तस्माज्ज्येष्ठऽश्रमो गृही", पुरानी पुश्त का कर्त्तव्य, कृत्य, धर्म, स्वधर्म, इतना ही है कि, नयी पुश्त का (१) शिक्षण, (२) रक्षण, (३) पोषण, (४) सेवन, सहायन, धारण, सब प्रकार से कर दे; 'सब प्रकार से', इस मे, इन मुख्य चार प्रकार के कृत्यों के अवान्तर सहकारी कृत्य सब आ जाते हैं; राजा,

---

* *World War and its Only Cure.*

राज्य, राष्ट्र, समाज, समाज की उत्तम व्यवस्था, का भी इतना ही, यही, कर्त्तव्य, प्रजा के, जनता के, 'महाजन' के, 'पब्लिक' के, लिये है; "प्रजानां (१) विनयऽधानात्", शिक्षकवर्ग और विद्यार्थी आश्रम, शिक्षाव्यूह, 'एड्यूकेशनल् आर्गेनिज़ेशन' के द्वारा 'शिक्षण'; (२) "रक्षणात्", रक्षकवर्ग, और वानप्रस्थ-आश्रम, रक्षाव्यूह, 'एक्सेक्यूटिव् आर्गेनिज़ेशन' के द्वारा 'रक्षण'; (३) "भरणाद् अपि" पोषकवर्ग, धनिकवर्ग, ('धनति, दधन्ति, इति धनं, उत्तमं गोधनं धनम्'), वैश्यवर्ग, ('विशःसम्पदः, धनानि, लोकपोषणार्थं विशंति यस्मिन्, यश्च व्रात्यतां, व्राततां, सततव्रजतां, परित्यज्य, शालाः निर्माय, शालीन् आरोप्य, शालीनः भवन्, कृष्टक्षेत्राणां मध्ये निविशति, इति'), और गृहाश्रम, वार्ता-व्यूह, 'ईकानोमिक् आर्गेनिज़ेशन्' के द्वारा 'भरण'; 'सेवनाच्चऽपि', श्रमिकवर्ग, ('आशु द्रवति, शुचा द्रवति, शुचं द्रावयति'), शारीरिक सेवक, और संन्यासआश्रम, आध्यात्मिक सेवक, सेवाव्यूह, 'इन्डस्ट्रियल (और 'स्पिरिचुअल') आर्गेनिज़ेशन'* के द्वारा सेवन सहायन; 'राजैव, तासां सत्यः पिता स्मृतः'; 'पाति इति पिता'।‡

प्रत्येक देश मे, प्रत्येक मानव-समाज मे, निसर्गतः, चार स्वभाव वा प्रकृति वा तबीयत के, मुख-बाहु-ऊरूदर-पाद-स्थानीय, ज्ञान-क्रिया-इच्छाप्रधान और अनभिव्यक्तबुद्धि, विभिन्नप्रकृतिक, मनुष्य, एक ही वंश मे भी, एक ही कुल मे भी, एक ही दम्पति से भी, उत्पन्न होते रहते है; और तदनुसार चार प्रधान प्रकार, जीविका, पेशा, रोज़गार, व्यापार, व्यवसाय के भी, होते ही हैं; बुद्धिपूर्वक, सुविचारित, वा अबुद्धिपूर्वक, अविचारित। भारत मे, वृद्धों ने, ऋषियों ने, सहस्रों वर्षों के सञ्चित अनुभव और ज्ञान से, एक प्रकृति के साथ एक जीविका बांधने का और दूसरी जीविकाओं के वर्जन का प्रबन्ध, जैसा बुद्धिपूर्वक कर दिया था वैसा बुद्धिपूर्वक अन्य किसी देश के इतिहास मे नहीं पाया जाता। ये चार प्रवृत्तियां, जीविकाएँ, यह हैं, (१) शिक्षोपजीविका,

---

* Educational organisation, Executive, Economic, Industrial (and Spiritual), Organisation.

‡ प्रजानां विनयऽधानाद्, रक्षणाद्, भरणाद् अपि,
स पिता, पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः। (रघुवंश)

शास्त्रऽजीविका; (२) रक्षोपजीविका, शस्त्रऽजीविका, (३) पोषणोपजीविका, वार्ताऽजीविका, (वर्त्तनोपायः वृत्तिः, 'वार्ता च सर्वजगतां परमार्तिहंत्री'); (४) शारीरश्रमोपजीवी, सेवाऽजीवी । अंग्रेज़ी मे, (१) 'लर्नेड् प्रोफ़ेशन्स', (२) 'एक्सेक्यूटिव प्रो०', (३) 'कामर्शल प्रो०', (४) 'लेबर प्रो०' । इन चार मे से प्रत्येक के अवान्तर बहुतेरे विशेष, परापरजाति न्याय से, होते हैं ।*

ऐसी समाज-व्यवस्था, जो प्रत्येक मनुष्य को, उस के स्व-धर्म, अर्थात् स्वभाव-निर्दिष्ट-धर्म, के अनुकूल शिक्षा दे कर, रक्षा कर के, उपयुक्त जीविका कर्म मे लगावे—यही 'विश्व-व्यवस्था' है । ऐसा धर्म जो प्रत्येक मनुष्य को उस के स्व-भाव से उत्पन्न रुचि के अनुसार, सांसारिक अभ्युदय और परमार्थिक निःश्रेयस के अन्तर्गत चारो पुरुषार्थों की सिद्धि का प्रकार दिखा दे; इहलोक और परलोक, दुनिया और आक़बत, दोनो मे यथासम्भव साधारण सुख की प्राप्ति का, और तीव्र दुःख से बचने का उपाय बता दे—यही 'विश्व-धर्म', 'धर्म-सार', है । यही 'दर्शन' सार भी है; यही 'ब्रह्म' पर प्रतिष्ठित, ब्रह्म की प्रकृति के अनुकूल, 'धर्म' है । इन चार पुरुषार्थों, चार प्रकृतियों, चार वर्णों, चार आश्रमो के समान, सहगामी, सदृश, उपमेय, सौ से अधिक चतुष्कों की चर्चा 'मानव-धर्म-सारः' मे की है, और इन मे से मुख्य-मुख्य चौदह के अरबी, फ़ारसी, और अंग्रेजी पर्याय, इस्लामधर्म और ईसाई धर्म के अनुसार वा अविरुद्ध, 'सब धर्मों की तात्त्विक एकता' नाम की पुस्तक के अन्त मे लिख दिये हैं ।†

ऐसे सामान्य की बाधा न करते हुए 'विशेष' बहुतेरे हो सकते है । इन मूल सिद्धान्तों का विस्तारण उक्त तथा अन्य ग्रन्थों मे किया गया है ।

'वर्ण का निर्णय कौन करे; वर्ण को डिग्री कौन दे ?'

समालोचक ने एक अन्य प्रश्न उठाया है, "चार डाक्टरों का एक बोर्ड एकमत से निर्णय पर पहुँचता ही नहीं; वर्णो की 'डिग्रियाँ' प्रदान करने वाला बोर्ड कभी भी समर्थ हो सकेगा ?" । इस का उत्तर यही है

---

* Learned professions, Executive, Commercial, Labor.

† *The Essential Unity of All Religions.*

कि ऐकमत्य अनेक बार हो भी जाता है; जहाँ नहीं होता तहाँ बहुतर-मत से, भूयसीयं से, काम चलाया जाता है; यदि चिकित्सकों की, रोगी के दुर्भाग्य से "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" की नौवत आयी, तब रोगी के परिवारक परिचारक को, वा स्वयं रोगी ही को, निर्णय करना पड़ता है, कि किस वैद्य, किस डाक्टर, किस हकीम, की शुश्रूषा की जाय। आप की कही कठिनता होते हुए भी बोर्ड बैठाये जाते और बैठते ही हैं; "शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तं, जीवितव्यं कथ नु वा", "सन्ति भिक्षुकाः इति किं स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते ? सन्ति मृगाः इति किं शालयो नोप्यन्ते ?" "पिबन्त्येवोदकं गावो, मण्डूकेषु रुवत्सु अपि", "यत्ने कृते",..."कर्मण्येवाधिकारस्ते", "नात्यन्तं गुणवत् किञ्चिन्, नात्यन्तं दोषवत्तथा; यत्स्याद् बहुगुणं च ऽल्प-दोषं, तत् तु समाचरेत्" 'बहवः समुपेक्षकाः भृशं, बहवः केवल-दोषदर्शिनः', "स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः"; इत्यादि बातें इस सम्बन्ध मे स्मरणीय हैं।

यदि यह बात एक बेर मन मे बैठा ली जाय कि वर्ण का अर्थ पेशा है, 'जाति' नहीं; और वर्ण-विभाग का मुख्य प्रयोजन यह है कि, वृत्ति विभाग, जीविका-विभाग कर के, आर्थिक संघर्ष और जीवन-संग्राम घटाया जाय, तो प्रश्न का उत्तर नितान्त सरल हो जाय। कनौज़िया, रघुवंसी, सर्वरिया, महेसरी, द्राविड, पेरिया, अग्रवाला, सक्सेना, सारस्वत, बिसेन, ढेढ, मुखर्जी, बाणुज्झा, भाटिया, चित्पावन, मावली, लालवेगी, पंजाबी, मद्रासी, बंगाली, गुजराती, मराठे, चीनी, जापानी, अंग्रेज, जर्मन, पठान, रूसी, अरब, तुर्की, आदि जातियां असंख्य हैं; पेशे, 'वर्ण', चार ही मुख्य हैं; सब जातियों के सभी मनुष्य, चार वर्णो मे से किसी न किसी वर्ण के अवान्तर उपवर्णो मे देख पड़ते हैं।

शंका तो पद-पद पर है, जीयै कैसे ? भिखमंगे फिरते हैं, इस लिए दाल-चावल आँच पर न चढ़ाया जाय ? मृगों का भय है, तो क्या खेती न की जाय ? मेडक टर् टर् करते हैं, तो क्या गाय बैल तालाब मे पानी नहीं पीते ? यत्न करना ही चाहिये, फल ईश्वराधीन है। संसार मे कोई भी प्रकार, न सर्वथा गुणमय है, न सर्वथा दोषमय; देश-काल-अवस्था के विचार से जो कार्य कम दोषवान् और अधिक गुणवान् जान पड़े वह करना ही चाहिये। निरी उपेक्षा करनेवाले बहुत हैं; रास्ते मे रोड़ा अटकाने वाले बहुत हैं; रोड़ा हटाने मे मदद देने वाले, रुकी गाड़ी

का पहिया चलाने मे कंधा लगाने वाले, अधिक अच्छा दूसरा रास्ता बतलाने वाले, नहीं मिलते ।

और देखिये, आप पूछते हो—"वर्णो की डिग्रियां कोई बोर्ड दे सकैगा ?" काशी मे ही, आये दिन, श्रद्धालु लोग अपने धर्म-संकट का प्रश्न, किसी धर्मकृत्य या प्रायश्चित्त आदि के सम्वंध मे, धर्माधिकारियों के पास लाते हैं। तब पांच, सात, दस पंडितों का बोर्ड ही तो व्यवस्था नाम की डिग्री दे देता है। कैसे देता है ? जैसे वह देता है, वैसे ही विशेषज्ञ अध्यापकों का बोर्ड उचित जांच परीक्षा, स्वभाव-गुण-रुचि-प्रवृत्ति की, कर के, वर्ण की डिग्री दे सकैगा ।

और देखिये; आज काल यूनिवर्सिटियों विश्वविद्यालयों मे जो पेशा-रूप वर्ण की डिग्रियाँ दी जाती हैं वे कैसे दी जाती हैं ? 'वैचेलर या मास्टर आफ़ ला' (क़ानून), आफ़ मेडिसिन् (आयुर्वेद), आफ़् कामर्स (वाणिज्य), आफ़ एंजिनियरिङ् (यत्रं-शिल्पादि), आफ़् एग्रिकल्चर (कृषि), आफ़ एड्यु केशन (अध्यापन), इत्यादि बहुत प्रकार की डिग्रियाँ एग्ज़ामिनेशन बोर्डों ही के द्वारा दी जाती हैं।* कैसे दी जाती हैं ? आप ने प्रश्न किया है "नियन्त्रण कौन करेगा ?" उत्तर है, राज-शक्ति, शासनशक्ति', क़ानून-धर्मानुसारिणी दंडशक्ति। अन्ततो गत्वा "दण्ड; शास्ति प्रजाः सर्वाः" । यूनिवर्सिटी की डिग्री की प्रामाणिकता की 'प्रतिभूः' आज भी अन्ततो गत्वा राजशक्ति दण्डशक्ति ही है; "स राजा पुरुषो दण्डः ..धर्मस्य प्रतिभूः स्मृत" ; 'युनिवर्सिटी ऐक्ट' को शासनशक्ति ने ही वनाया है ।

आप का कहना है कि, यह सब ऐसे प्रश्न हैं जिन पर पूर्णरूप से विचार करने पर पता लगेगा कि केवल कर्मणा वर्णः की व्यवस्था कितनी अव्यवहार्य है। प्रतिवाद इस का यह है कि अब केवल जन्मना वर्ण की व्यवस्था सर्वथा अव्यवहार्य भी और अव्यवहृत भी हो गयी है; नितरां अकिञ्चित्कर और अर्थशून्य हो गयी है; केवल भोजन और विवाह के

---

* Bachelor or Master of Law, of Medicine, of Commerce, of Engineering, of Agriculture, of Education; Examination Board.

विषय मे कुछ इस का व्यवहार किया जाता है; सो भी नाममात्र को, जैसा शुक्र-नीति मे स्पष्ट लिखा है; और वह भी छूटता जाता है।

षण्णां तु कर्मणाम् अस्य त्रीणि कर्माणि जीविका,
अध्यापनं याजनं च, विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः;
शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य; वणिक्पशुकृषिर्विशः;
शूद्रस्य सेवा चऽन्येषां इति वृत्तिविनिर्णयः। (मनु)

इस प्रकार से भगवान् मनु ने जो वृत्ति-विभाजन का आदेश किया है, क्या 'जन्मना वर्णः' वाले उस का लेशमात्र भी आजकाल, क्या कितनी ही शताब्दियों से, कुछ भी पालन करते हैं ? सभी पेशों मे सभी 'जन्म-वर्ण' के मनुष्य देख पड़ते हैं।

यदि समालोचक सज्जन इन बातों पर, पूर्ण क्या अंश रूप से भी, विचार करेंगे, तो 'जन्मना वर्णः' की नितरां अर्थशून्यता, अव्यवहार्यता, अपितु हानिकारकता, तथा 'कर्मणा वर्णः' की ही व्यवहार्यता, इस युग मे, उजागर हो जायगी। 'सर्वं नाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः' की व्यवहारिक नीति से भी यही इष्ट है।

ऐसी सब शङ्काओं और प्रश्नो पर, उक्त तथा अन्य ग्रन्थों मे, मैं ने अपनी क्षुद्र शक्ति की गति पर्यन्त, प्रायः पचास वर्ष मे 'पूर्ण रूप' से विचारा है; निष्कर्ष रूप उस विचार की मुख्य-मुख्य बातें, उन ग्रन्थों मे लिख भी दी है; यहाँ कहाँ तक दोहराऊँ तिहराऊँ।

कुछ प्रतिप्रश्न।

एक प्रतिप्रश्न आप से करता हूँ, प्रस्तुत विषय पर प्रकाश डालने के लिए ही। 'मिस मिलर' नाम की अमेरिकन महिला को, आजकाल के पचासों 'जगद्गुरुओं' और 'शङ्कराचार्यों' मे से एक 'जगद्गुरु शङ्कराचार्य' ने, 'शर्मिष्ठा देवी' नाम दे कर, 'हिन्दू' बनाया; वह महिला वर्त्तमान इन्दौर महाराज के पिता, भूतपूर्व (अभी जीवत् , पर राजगद्दी से उतारे हुए) महाराज, की पत्नी हैं। यह प्रसिद्ध है। ऐसे ही अन्य कई यूरोपीय स्त्री–पुरुषों को, हिन्दू संप्रदायों मे प्रमुख धर्माधिकारित्वेन माने जाते कुछ विद्वानो ने 'हिन्दू' बनाया है। ये धर्माधिकारी, 'हिन्दू' शास्त्रों को कुछ तो जानते समझते होंगे। क्या इन का यह कर्म, 'जन्मना वर्णः' के विरुद्ध

नहीं है ? औरों की कथा जाने दीजिये; 'सिद्धान्त' के द्वितीय वर्ष की लेख-सूची जो छपी है, उस मे "श्री शिवशरण जी, भूतपूर्व 'एले डेला' नामधारी, हिन्दू-धर्म दीक्षित काशीनिवासी एक फ़्रांसीसी विद्वान्" के चार लेखों की सूची दी है। इन फ़्रांसीसी सज्जन को किस हिन्दू धर्माधिकारी विद्वान् ने 'हिन्दू' धर्म की दीक्षा दी है ? क्या 'जन्मना वर्णः' के सिद्धान्त के अनुसार दी ? 'हिन्दू' तो चातुर्वर्ण्य से बाह्य नहीं हो सकता न ? और चारो वर्ण 'जन्मना' ही हो सकते हैं न ? शिवशरण जी को, इन दीक्षक सज्जन ने किस वर्ण मे रक्खा है ? अथवा 'वर्ण-वाह्य', 'अन्त्यज', भी और 'हिन्दू' भी बनाया है ?*

यदि इन प्रतिप्रश्नो पर आप विचार करेंगे, तो यह स्फुट हो जायगा कि वर्त्तमान देश-काल-निमित्त-अवस्था मे, 'जन्मना वर्णः' का (गौण) सिद्धान्त कितना अव्यवहार्य, कितना 'हिन्दू' समाज की वृद्धि, पुष्टि, प्रगति का विरोधी, जीवन-सौन्दर्य का प्रतिबन्धक विहन्ता विघ्नकर्त्ता हो गया है। ज़माना, समय, पुकार-पुकार कर कह रहा है, कि 'जन्मना' पर ज़ोर कम, और 'कर्मणा वर्णः' के (मुख्य) मूल सिद्धान्त पर बहुत अधिक बलऽधान करना परम आवश्यक है। यदि 'कर्मणा वर्णः' माना जाय, तो श्री शिवशरण जी अपनी जीविका–वृत्ति के अनुसार, जो भी वह हो, चार मे से एक 'वर्ण' के स्वरसतः गिने जायंगे; यदि शास्त्रोपजीवी हैं, तो 'ब्राह्मण'; यदि शस्त्रोपजीवी, तो 'क्षत्रिय'; 'वार्त्ताऽजीवी', तो वैश्य; साधारण सेवाऽजीवी, तो शूद्र। "नास्ति तु पंचमः;" यह भी मनु की ही आज्ञा है। कुमारिल, मण्डन, शंकर, आदि के पीछे, अरबों, अफ़ग़ानों, मुग़लों के आक्रमणो का प्रतिरोध क्षत्रिय राजाओं की परस्पर असंगति और संघाभाव के हेतु से न हो सकने के कारण, अन्य उपाय न देख कर हिन्दू-समाज ने असहयोग रूपी संकोच का शरण लिया। विक्रम की सप्तम अष्टम शताब्दी पर्यन्त, बौद्ध-भिक्षुओं और विहारों मे वज्रयान-

---

* इस के लिखने के पश्चात् मुझे विदित हुआ कि, श्री शिवशरण के मित्र श्री रेमो ब्युर्नियर नामक फ्रांसीसी सज्जन को भी 'हरशरण' का नाम दे कर 'हिन्दू' बनाया गया, और दोनो को हिन्दू-धर्म की दीक्षा देने वाले और हिन्दूसमाज मे मिलाने वाले, काशी के ही एक विद्वान् संन्यासी हैं।

वाममार्ग आदि के वाम–मार्गीय दुराचारों और भ्रष्टताओं के आ जाने के पहिले हिन्दू-समाज का विकास और विस्तार कर्मणा के ही अनुसार होता रहा; और बहुतेरी बाहर से आयी 'बाह्य' जातियों का, इस समाज के शरीर में स्वीकार, अभ्यवहार, जरण, पाचन होता रहा। प्रत्यक्ष ही है, वर्धमान, नीरोग, बलवद् युवा शरीर को सदा भूख लगी रहती है, और यही फ़िक्र रहती है कि क्या पाऊँ क्या खा जाऊं; विपरीत इस के, वृद्ध, जीर्ण, रुग्ण, मन्दाग्निपीड़ित शरीर को यही चिन्ता रहती है कि कोई गरिष्ठ वस्तु तो उदर मे नहीं पहुँच गयी ? अ हार मे और कमी क्या की जाय ? कौन वस्तु और भी त्याग दी जाय ?

> सार्धं कथंचिदुचितैः पिचुमर्दपत्रैर्
> आस्यान्तरालगतमम्र आम्रदलं म्रदीयः,
> दासेरकः, सपदि संवलितं निषादैः
> विप्रं, पुरा पतगराड् इव, निर्जगार। (माघ)

पेट मे पहुँच गई हुई उस वस्तु का उद्गिरण कैसे कर दिया जाय, अपने ही कुल से प्राणी कैसे निकाल बाहर किये जायँ, कि हमारी महिमा अक्षुण्ण, अस्पृश्य, बनी रहे ! आजकाल, 'पाकिस्तान' के नाम से कितना तूफ़ान उठ रहा है, पर हम हिन्दुओं ने अपने समाज के सात-आठ कोटि मनुष्यों को जब 'अछूत', अस्पृश्य, अशुचि, 'ना-पाक', बना रक्खा है, तो यदि दूसरे लोग 'हिन्दू-समाज' को 'ना-पाकिस्तान' कहें और अपने लिए 'पाकिस्तान' अलग करना चाहें, तो क्या आश्चर्य ? 'कर्मणा वर्णः' की नीति से यह सब उत्पात एक क्षण मे शान्त हो जायं।

उक्त कुमारिलादि के अर्वाक् काल के भावों से भावित, 'जन्मना' के विश्वासी, साम्प्रत काल के 'धर्माधिकारी' शास्त्र-प्रेमी प्रकाण्ड विद्वान् भी अब उन संकोची भावों को अंशतः छोड़ने लगे हैं, और उन के भी हृदयों मे, हिन्दू-समाज का पुनः विकास और विस्तार करने की शुभ वासना जहां-तहां अंकुरित होने लगी है; इस का निदर्शन, प्रमाण, शर्मिष्ठा देवी और श्री शिवशरण आदि के उत्तम उदाहरण हैं; 'अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं तु साम्प्रतं'।

स्पष्ट ही है कि, 'जन्मना' अध्यापक, प्रोफ़ेसर, डाक्टर, वैद्य, ज्योतिर्विद्, नैयायिक, वा 'जन्मना' मजिस्ट्रेट, कोतवाल, कप्तान, रिसाल्दार,

सूबादार, गवर्नर, वा जन्मना दूकानदार, बैंकर, वार्धुषिक, कृषक, वणिक्, सार्थवाह, नैगम, श्रेणीमुख्य, गोपालक, कोशाध्यक्ष, ट्रेजरी-आफ़िसर, एकौंटंट-जनरल, गवर्नर आफ़् बैंक, अर्णव-पोत-स्वामी, खनि स्वामी, जौहरी, मणिमुक्ताव्यापारी, वा जन्मना चप्रासी, पियादा, बर्त्तन कपड़ा धोने वाला भृत्य—ये सब वर्त्तमान युग में जन्मना नहीं ही होते, नहीं हो सकते। यदि नाम-मात्र वर्णों के नामों को पकड़े रहने मे कुछ विशेष सन्तोष हो, तो पकड़े रहें; यदि इन नामो को, मन्वादिष्ट जीविका-कर्मों से पृथक् कर के केवल जाति-वाचक मान लेना हो तो भले ही माने जायँ; पर उन नामो का समाज के दैनन्दिन जीवन-व्यवहार मे लेशमात्र भी उपयोग नहीं रह गया है। अच्छा हो यदि उन के स्थान मे 'कर्मणा वर्णः' के अनुसार जीविका-बोधक नये नाम प्रयुक्त किये जायं—शिक्षक, रक्षक, पोषक, सहायक, प्रभृति। मानव-धर्म-सार मे इस के तुल्यार्थ छः सात अन्य चतुष्कों की सूचना की है। बंगाल मे सेवक के स्थान मे धारक शब्द का प्रयोग होने लगा है। रहा भोजन और विवाह—तो इन मे बलात्कारेण कोई किसी विशेष स्त्री वा पुरुष के साथ भोजन वा विवाह करने को न जन्मना बाध्य रहा है, न कर्मणा बाध्य होगा।

संस्थाओं, रीतियों, आचारों की, काल-प्रवाह से, विकृतियाँ।

दूसरे प्रकार से देखिये—समालोचक ने थियोसोफिकल सोसायटी की "व्यवहार मे" विकृतियों की चर्चा की है; उस के तीन उद्देश्यों का भी उल्लेख कर दिया है; किन्तु इन तीन उद्देश्यों की निरवद्यता वा प्रशस्यता पर कोई आक्षेप व कटाक्ष नहीं किया है। उद्देश्य हैं (१) विश्वव्यापी भ्रातृभाव का वर्धन प्रसारण; (२) विविध धर्मों मजहबों शास्त्रों का सम्प्रधारणात्मक तुलनात्मक अध्ययन और मीमांसन, उन सब मे अनुस्यूत समान सिद्धान्तों विश्वासों उपासनाओं भावों के ज्ञानार्थ; (३) मनुष्य की अनभिव्यक्त अन्तर्वर्त्तमान शक्तियों का योगद्वारा अन्वेषण। विचारने की बात यह है कि जिस को वैदिक वा सनातन धर्म कहते हैं उस की 'सोसायटी' अर्थात् 'समाज' मे क्या बहुत अधिक विकृतियाँ "व्यवहार मे" नहीं हो गयी हैं; और नित्य नयी नहीं हो रही हैं? थियासोफ़ी शब्द का ठीक तुल्यार्थ शब्द ब्रह्मविद्या है; (ग्रीक शब्द 'थीओस' देव परमात्मा; 'सोफ़िया' विद्या); भारतीय संस्कृतज्ञ मण्डली

मे ब्रह्मविद्या के मूलग्रंथ, प्रस्थान-त्रय के नाम से प्रसिद्ध, भगवद्गीता, दश उपनिषत् , ब्रह्मसूत्र, माने जाते हैं; एक एक के कई कई भाष्य वार्त्तिक टीका प्रटीका आदि परस्पर प्रतीपायमान हो रहे हैं; एक ब्रह्मसूत्र ही के आठ भाष्य मुख्य कहे जाते हैं; इनमें से पाँच वा छः प्रसिद्ध हैं, यथा शंकर, रामानुज, निम्वार्क, मध्व, वल्लभ, और विज्ञानभिक्षु के, जो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के अपौरुषेय वेद नहीं तो तद्वत् धर्मग्रन्थ बन गये हैं और उन सम्प्रदायों की अलग-अलग "अन्तरंग ('इसाटरिक')" दीक्षा भी होती है;* और प्रत्येक मे महन्तई और जगद्गुरुता चल रही है। देव-सृष्टि में भी बृहस्पति और उनकी पत्नी तारा और शिष्य चन्द्रमा, और चन्द्रमा और तारा के पुत्र बुध और तारा के कारण चन्द्रमा और बृहस्पति के तारकामय संग्राम का पौराणिक इतिवृत्त प्रसिद्ध है। यदि ब्रह्मा के चार मुखों मे से किसी एक से या चारो से ब्राह्मण वर्ण; बाहुद्वय से क्षत्रिय, उरूद्वय से वैश्य, और पादद्वय से शूद्रवर्ण की उत्पत्ति को हम अक्षरशः सत्य माने, रूपक-मात्र नहीं, तो उक्त बृहस्पति-तारा-चन्द्र-तारकामय संग्राम की कथा को अक्षरशः सत्य मानना न्यायप्राप्त होगा, तथा अन्य ऐसे बीसियों आख्यानो को। एवं विश्वामित्र और वसिष्ठ सरीखे महर्षियों के आड़ी-बक युद्ध भी होते रहे हैं। निष्कर्ष यह कि फिर वही बात कहना पड़ता है, "शकाभिः सर्वमाक्रान्तं" यत् जायते अस्ति परिणमते, वर्धते, तद् विक्रियते अपक्षीयते म्रियते'। "बिभ्रद् वपुः सकलसुन्दरसन्निधानं", कृष्ण के "त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं" वपुः मे भी "शरच्छतं व्यतीयाय पंचविंशाधिक विभो", जब सौ से अधिक वर्ष बीत गये तब वह सौन्दर्य कैसे रहा होगा जो किशोरावस्था मे था? पुनरपि विकृतिः पुनरपि मरणं पुनरपि जननं, इसी का नाम तो संसार-चक्र है; इसी लिए तो युग-युग में धर्म और आचार मे परिवर्तन होते रहते हैं; हानि-ग्लानि और संस्थापन-परिमार्जन; इत्यादि। "यद् देवा अकुर्वंस्तद् दैत्याः अभिद्रुत्य पाप्मना अविन्ध्यन्"; जब ब्रह्मदेव से भी नहीं बना कि अपनी सृष्टि को विकार रहित रक्खें, देवों के साथ दैत्य भी उत्पन्न हो ही गये, और उसके पुनः पुनः प्रतिसस्करण के लिये विष्णु को तिर्यग्योनि मे भी अवतीर्ण करा के भेजते रहते हैं, तो मूठी भर हाड़ मांस के मनुष्य कालकृत

* Esoteric.

प्रकृतिकृत विकृतियों से कैसे सर्वथा वच सकते हैं ? निश्चयेन थियोसा-फ़िकल सोसायटी के "व्यवहार मे" दोष आ गये हैं, तो उन दोषों के अपाकरण मे सहायता कीजिये, यदि उद्देश्य सोसायटी के उत्तम हैं; और 'सनातन-धर्म समाज' के बृहत्तर दोषों को भी देखिये और दूर कीजिये।

वर्णव्यवस्था के सुधार की आवश्यकता, आप को भी स्वीकार; पर क्या सुधार ?

आप ने दूसरे लेख मे लिखा है कि, "यह हम मानते हैं कि आज अपने यहाँ की वर्णव्यवस्था मे कितने ही दोष आ गये हैं; वर्णों ने अपने धर्म को छोड़ रक्खा है; उसमे सुधार की नितान्त आवश्यकता है"। आप यह भी लिखते हैं कि "अन्य लोगों में भी वर्णव्यवस्था मान लेने मे कोई हानि नहीं है"।

मैं भी तो यही कहता हूँ। यही तो 'विश्व-व्यवस्था' का रूप है। आप सुधार की नितान्त आवश्यकता मानते हुए, उस विकार का निदान कारण नहीं बताते, तथा उस सुधार का कोई स्पष्ट और व्यवहार्य उपाय नहीं बताते। मैं बताता हूँ। यदि आप मेरे कहे निदान को भ्रान्त मानते हैं, तो दूसरा कारण कहिये। यदि आप मेरे बताये उपाय को व्यर्थ और अव्यवहार्य समझते हैं, तो बहुत अच्छा, मैं भी मान लेता हूँ कि वह ऐसा ही है; पर आप उससे अच्छा उपाय बताइये।

अन्त मे आप कहते हैं, "आवश्यकता है धैर्य के साथ स्वधर्म-पालन की, स्वधर्मे निधनं श्रेयः"। यह धैर्य कैसे उत्पन्न किया जाय ? यह आवश्यकता सब के मन मे कैसे बैठायी जाय ? स्व-धर्म पालन कैसे कराया जाय ? 'नियन्त्रण कौन करे ?' प्राचीन प्रकार था कि उत्पथ चलने वालों का नियन्त्रण (क्षतात् त्रायते, रक्षक, दंड का धारक) दण्डधर 'क्षत्रिय' राजा करे; और जब स्वयं राजा उत्पथ उच्छास्त्र हो जाय तो (ब्रह्म का, वेद का, सज्ज्ञान का धारक, शिक्षक) वेदधर 'ब्राह्मण' उस का नियत्रण करे; "ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात्" क्षत्रस्यात्युद्धतन्य तु, "प्रजानां तु नृपः स्वामी, राज्ञः स्वामी पुरोहितः"। आजकल, 'जन्मना ब्राह्मण' पुरोहितों की जो दशा, जो स्व-धर्म के पालन मे धैर्य और आसक्ति, हो रही है, वह आप से छिपी नहीं है; आपने भी भूले-भटके

कभी बरस दो बरस मे दबी ज़बान से उन के आचारणों की निन्दा 'सिद्धान्त' पत्र मे की भी है; क्या ऐसे 'जन्मना' क्षत्रिय राजाओं और 'जन्मना' ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा, आप अपने अभिलषित सुधार को सम्भाव्य मानते हैं ? अथवा 'पुरोहित' शब्द का, 'कर्मणा, वृत्त्या, वृत्तेन, सत्स्वभावेन, पुरः अग्रे, धर्माम्नानाय, धर्मप्रवर्त्तनाय, जनैः धेयः, प्रतिनिधीकार्यः,' अर्थ करने से ही, और तदनुसार सच्चे 'पुरोहितों' के वरण, निर्वाचन, मनो-नयन, आयोजन, से ही, यह सुधार सम्भाव्य है ?

अब धर्माधिकारिकों ने यह चाल पकड़ी है, कि मुंह से बराबर कहते रहते हैं कि पच्छिम से आई सब नई बातें, सब नई रीतियां, बुरी हैं; पुरानी हिन्दू रीतियां जो हम (धर्माधिकारी) बरत रहे हैं, वह सभी अच्छी हैं; उन्हीं को अच्छी तरह से सारे देश मे चलाने से, और सब नई बातों को दूर रखने से, ही 'हिन्दुओं' का कल्याण है। पर, जब कोई उन से कहता है, कि आप अपनी पुरानी रीतियों को, इन पच्छिम की बातों पर मुग्ध 'नव शिक्षितों' नौ-सिखुओं से मनवाने के लिए और पश्चिम की बातों को देश से निकाल बाहर करने के लिए स्वयं भी कुछ हाथ पैर हिलाइये-डुलाइये, कुछ त्याग तपस्या कीजिये, क्रिया-साहित उपदेश कीजिये—तब यह उत्तर मिलता है कि 'यह तो राजा का काम है और तुम्हारा काम है; हमारा काम तो केवल पुरानी बातों की प्रशंसा और नई की निंदा कर देना है; न उन पुरानी रीतियों के युक्तियुक्त बुद्धियुक्त हेतु बताना हमारा कर्त्तव्य है, न उन से उपजी बुराइयों को देखना पहिचानना शोधना हमारा कर्त्तव्य है; बल्कि उन पुरानी बातों से तो कोई खराबी पैदा ही नहीं हुई; जो हुई सो अब नई बातों से ही' !; और इस सब के ऊपर तुर्रा, चूड़ामणि, यह है कि, ऐसे उपदेष्टा धर्माधिकारी महाशय, सभी, स्वयं अपने जीवन के उपयोगी पच्छिम के सभी आविष्कारों से खूब काम लेते हैं; जैसे लोहे की कलम, मशीन का कागज; मिल का कपड़ा, छाता लम्प लालटेन, छापाखाना, छपी पुस्तकें, साइकिल, बस्, मोटर-कार, रेल, तार, डाक, घड़ी आदि; और इन मे से बहुतेरे, मत्स्य-मांस का तो खुले हुए उपयोग करते हैं, कुछ छिपा कर मद्य का भी, और कुछ तो पंच-म-कार का भी। जब उन से कहा जाता है कि आप तो भू-देव मही-सुर आदि पदवी अपने को देते हैं, अपनी तपस्या और त्याग

और योग की शक्ति से, आत्म-बल से, राजा और प्रजा का भी नियंत्रण करो, जैसी मनु की स्पष्ट आज्ञा है; तब मुँह फेर लेते हैं और कहते हैं कि 'यह कलियुग है, इस मे त्याग तपस्या का ठिकाना नहीं; अधर्म ही वढ़ता जायगा; हरि-नाम जप और गंगा-स्नान और ब्राह्मण-पूजा से ही सब कुछ हो जायगा'। ऐसे लोगों से देश के कल्याण की आशा नहीं, और उनकी बातें सुनने के योग्य नहीं।

शास्त्र शब्द का क्या अर्थ है ?

'शास्ति यत् साधनोपायं चतुर्वर्गस्य निश्चितं, तथा तद्बाधनऽपायं, एषा शास्त्रस्य शास्त्रता' यह तो शब्द का निर्वचन हुआ, जिस से उस का तात्त्विक मूल अर्थ निकलता है, और जो प्रायः निर्विवाद है। पर यहाँ इस शब्द के सम्बन्ध मे दूसरी बात स्मरण कराने और उस की ओर ध्यान दिलाने का तात्पर्य है; "यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य" "तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते"ये दो टुकड़े गीता के प्रतिपद उपस्थित किये जाते हैं। इन के कहने वाले कृष्ण ने स्वयं शास्त्र का क्या अर्थ किया है; इस की ओर कितने सज्जन ध्यान देते हैं ? यह शब्द गीता मे केवल पांच बेर आता है; एक बार अर्जुन के प्रश्न मे और चार बार कृष्ण के उपदेश मे और स्वयं कृष्ण ने इस का अर्थ यों कहा है !, "इति गुह्यतम शास्त्रं इदं उक्तं मयाऽनघ,' अर्थात् गीतात्मक शास्त्र ही से सर्वलोकसंग्राहक अध्यात्मशास्त्र, अध्यात्मविद्या विद्यानां, सर्वविद्याप्रतिष्ठा ब्रह्मविद्या आत्मविद्या, ही से, उन का अभिप्राय है; निर्णयसिन्धु, प्रायश्चित्तप्रदीप, हेमाद्रि, पराशर-माधव, और परिभाषेन्दुशेखर, शब्देन्दुशेखर, गादाधारी, जागदीशी, आदि से नहीं; न अद्वैतसिद्धि, गौड़ब्रह्मानन्दी, चित्सुखी, खंडनखंडखाद्य, तंत्रवार्त्तिक, राणक, भाट्टदीपिका आदि ग्रन्थों से।

और भी यह बात याद रखने की है; शास्त्र शब्द का यदि यह विशिष्ट अर्थ हम न लें तो प्रश्न उठता है—

> अस्तु शास्त्रं प्रमाणं मे कार्यऽकार्यव्यवस्थितौ;
> किंतु किं मे प्रमाणं स्यात् शास्त्र ऽशास्त्र-व्यवस्थितौ ?
> वेदो मान्यः कुरानो वा बाइबलो वेति संशये,
> ऋते तु मानवीं बुद्धिं कः प्रभूयाद् विनिर्णये ?

कृष्ण ने इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर दे रक्खा है,

बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति;

जब संशय हो कि क्या कार्य है, क्या अकार्य; तब जो शास्त्र कहे सो मानो; बहुत अच्छा; पर जब यह शंका हो, कि कौन शास्त्र है, कौन अ-शास्त्र, तब क्या करें ? वेद, बाइबल्, कुरान आदि सभी अपने को इकलौता शास्त्र कहते हैं ! कृष्ण का उत्तर यही है कि, अन्ततो गत्वा अपनी ही बुद्धि इस का निर्णय करती है। इस उत्तर से भी, पुनरपि, गीताशास्त्र, अध्यात्मविद्या, का ही, गुह्यतम भी और प्रत्यक्षतम भी, शास्त्रत्व सिद्ध होता है। इन बातों पर विचार, विस्तार से, करने का यत्न मैं ने 'मानव-धर्म-सारः' मे किया है।

'स्व-धर्म' क्या है ?

आप चाहते हैं कि सब लोग "धैर्य से स्वधर्म पालन" करें; बहुत मुनासिब, बहुत उचित; पर 'स्व-धर्म' क्या है, कौन किस का 'स्व धर्म' है, इस का निर्णय निश्चय कौन करे, कौन 'कोर्स' बनाये और 'डिग्रियाँ' दे ? जन्म ? अब, जब सभी देशों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध, संघर्षात्मक भी, सहायात्मक भी, रेल तार रेडियो जहाज़, विमान द्वारा बंध गया है, और कोई देश भी सर्वथा सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र नहीं रह गया है, तब एक भारतवर्ष ही मे जन्मना-स्वधर्म-पालन की व्यवस्था सिद्ध भी कर ली जाय, तो उतने से ही काम कैसे चलेगा ? भारतीयों पर परायों का आक्रमण और विदेशियों के द्वारा उन का दासीकरण कैसे रुकैगा, यदि सब विदेशी भी भारतीय धर्माधिकारि-सम्मत और आज्ञप्त स्व-धर्म का परिपालन न करेंगे ? यदि इस ग्रन्थि को सुलझानें का प्रयत्न आप करेंगे, इस पर कुछ भी विचार करेंगे, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि, कर्मणा वर्णः के अनुसार मन्वादिष्ट 'पृथिव्यां सर्वमानवाः' की संग्राहक, विश्व-धर्म से प्राणित विश्व-व्यवस्था को छोड़ कर, दूसरी गति, शांन्ति-बहुला प्रेमप्रचुरा, अग्रजन्मा-ऽनुजन्मा-भ्रातृ-भाव-वर्धिनी मानव लोक के लिए है ही नहीं। नैवास्ति गतिरन्यथा।

जन्मना की कथा यह है कि पश्चिम मे भी, जैसे भारत मे, चाहे दूसरे शब्दों मे पर तत्त्वतः उसी भाव से, डिवाइन् राइट् आफ़् किंग्ज़् ऐंड प्रीस्ट्स्, राजाओं और धर्माधिकारियों पादरियों का (पाद्री, पितृ, दोनो शब्द एक ही और एकार्थ ही हैं) दिव्य देवदत्त (डिवाइन् डीयस्

थीआस् ; द्यौः देवः दिवस् ज्यौः; दिवस्पति जीयस ज्युपिटर् ; सब एक ही वा समान सदृश ही वा सन्निहित ही हैं, तथा राइट् (ऋतं रिक्थं भी) ईश्वरीय अधिकार कहा और माना जाता था ।* उस महीश्वरत्व और महीसुरत्व के दुरुपयोग से ही, रक्षक के भक्षक बन जाने से ही, भारत-जानता निरय मे गिरी है; तथा सब भूमण्डल पर सर्वत्र क्रमशः अधिकाधिक दारुण जगद्विदारक संग्राम पुनः पुनः हो रहे हैं; रावण के भी साम्राज्यों से बहुत बड़े बड़े साम्राज्य हम लोगों की आखों के सामने विलुप्त हो गये और हो रहे हैं, तथा भारत-जनता, पेषणी चक्की के उत्तर और अधर प्रस्तरों के बीच में गोधूमवत् पड़ी है । इन शासनाधिकारियों और धर्माधिकारियों ने अपने अपने धर्मग्रन्थों को 'अपौरुषेय', मान रक्खा है; अपनी अपनी सुविधा और विविध गर्धा के अनुकूल उनका अर्थ लगाते हैं; नये नये स्वार्थ-साधक 'धर्म' क़ानून बनाते हैं; और अपनी अपनी 'अपौरुषेय' श्रुतिदेवियों से पराई श्रुतिदेवियों का मुख-निष्कोटन और कबरी-लुञ्चन कराते हैं । यह 'स्व-धर्म' की दशा हो रही है ।

कवि ने मारीच राक्षस के मुह से कहलाया है, "अद्मः द्विजान् , देवयजीन् निहन्मः, कुर्मः पुरं प्रेतनराधिवासं; स्व-धर्मः एषः क्षणदाचराणां; नैव ऽध्यकारिष्महि वेदधर्मे", द्विजों को खा जाना, देव यज्ञ करने वालों को मार डालना, नगरों को प्रेतावास बना देना—हिंस्र सिंह व्याघ्र वृक विड़ाल आदि ऐसे रात में घूमने वाले राक्षसों का 'स्वधर्म' तो यह है; वेद-धर्म उन का स्वधर्म नहीं । तथा राम जी से कवि ने इस का उत्तर दिलाया है । पर उस उत्तर के यथार्थ आशय को, तथा अन्य स्व-धर्मो को भी, दूसरे शब्दों में वर्णन करने का यत्न करूँगा, और मनफेर के लिए, कवि का अनुकरण करूंगा । पर, भट्टि कवि महावैयाकरण थे, और मैं व्याकरण से सदा घबराता रहा; 'लघुकौमुदी' को भी कण्ठस्थ न कर सका; इस लिये अशुद्धियों को, वैयाकरण पाठक सज्जन स्वयं कृपा कर के शोध लेंगे ! राम जी के उत्तर का आशय यह था, 'हिंस्मः ऽसुरान्, देवरिपूंश्च पिष्मः, लंकां विदध्मः निजदासवासां; एष; स्वधर्मः खलु

---

* Divine right of kings and priests; divine, *deus*, *theos*, Zeus, Jupiter; right.

मादृशानां, यस्मादृअदीक्षिष्महि राजधर्मे'। अन्य लोगों के स्व-धर्म यों हैं, 'मूर्त्तीस्तु छिद्मः,ऽथ तदालयांश्च भिद्मः, ऽन्यधर्माऽन् च तथैव रुंध्मः धर्मे स्वकीयेऽपि, बलेन, केषांचिदस्त्येव; स नः स्व-धर्मः। पूतं पवित्रं परमं स्वम् एवविद्मः, तथा ऽध्यान् सुबहून् विंविच्मो ह्यस्पृश्यम्लेच्छाऽन्त्य-जशूद्रवर्गान्, केचिद् वयं तु, एष हि नः स्व धर्मः। मिथ्यैव दोषान् अनु-युज्य दम्भाद् बधुष्वपि, इमान् स्वकुलाद् विरिंच्मः, स्वशुद्धतायाः प्रथ-नाय, नूनं अस्मत्स्व-धर्मः यद् अमंस्तु भज्मः। अ-श्वेतवर्णान् निखिलांस्तु भुंज्मः, प्रैष्येऽपि दास्येऽपि च तान् नियुञ्ज्मः, मृद्नीमः अपि सर्वाः कृपणास्तु जातीः, स्व-धर्म एषः अस्ति सिताङ्गजातेः'। इत्यादि।

जब बलवान् पापिष्ठ शासकों और धर्माधिकारियों का 'स्व-धर्म' सभी देशों मे, निर्दोष दुर्बलों को सताना, चूसना, ठगना, मूर्ख बनाये रखना; जब इन दरिद्र दुर्बलों का भी, 'ब्राह्मणानां अदर्शनात्' सत् शिक्षकों के लुप्त हो जाने से, यह स्वधर्म हो रहा है कि जल्दी-जल्दी ब्याह करना, जल्दी-जल्दी असंख्य संतान उत्पन्न करना, और जल्दी-जल्दी मर जाना; जब राम जी ऐसे सत्क्षत्रियों के 'स्व-धर्म' का ("क्षत्रियैः धार्यंते चापः नार्त्तनादः भवेद् इति", यह राम जी की प्रतिज्ञा थी), दुष्टों के निग्रह का धर्म, आजकाल के 'जन्मना क्षत्रियम्मन्य' राजाओं मे, शतांश-लेश मे भी नहीं है, प्रत्युत स्वयं प्रजा-भक्षक हो रहे हैं; जब उच्चं पवि-त्रम्मन्य ऊंची' जातियों का 'स्व-धर्म,' नीची जातियों को अधिकाधिक 'नीची' और 'अस्पृश्य' करते जाना; जब दाम्भिकों का 'स्व-धर्म' अपने ही कुल-कुटुम्ब-वंश-जातिवालों को, नितान्त थोथे मिथ्या अभियोग लगा कर 'जात बाहर कर देना, अपने समाज को दुर्बल कर के दूसरे सम्प्रदायों और समाजों का बल बढ़ाना ;* जब, ईसा की छठी शताब्दी से सोलहवीं

---

* १६ अगस्त १९४६ ई० से कलकत्ता मे आरम्भ हो कर, जनवरी १९४७,मे भी अभूत पूर्व घोरता से जो साम्प्रदायिक हिन्दू-मुस्लिम उपद्रव कलकत्ता और नोआखाली मे हो रहे हैं; जिस मे, गवर्मेन्टी अफ़सरों का कहना है कि बीसियों हजार पुरुष, स्त्री, बच्चे मार डाले गये, और पचासों हजार घायल हुए, (दोनो सम्प्रदायों के); और ढाका, बम्बई, अहमदाबाद, इलाहाबाद, छपरा, आदि कितने ही अन्य स्थानो मे भी उपद्रव हो रहे हैं, यद्यपि इस दारुणता को अभी नहीं

तक कुछ ईसाई सम्प्रदायों का, और सातवीं से आज तक कुछ मुसलमान सम्प्रदायों का, 'स्व-धर्म' यह रहा है कि दूसरे धर्मवालों को छल से, बल से, विविध प्रलोभन से, अपने धर्म और समाज मे ले आना, हबशी तथा अन्य अफ्रीका-निवासी जातियों को गुलाम बनाना, और दूसरों के इष्ट पदार्थों, चिह्नों, धर्मग्रन्थों, उपासना-स्थानो को नष्ट-भ्रष्ट करना; जब छठी से बारहवीं शताब्दी तक वैदिकम्मन्य और बौद्धम्मन्य सम्प्रदायों, समाजों, दलों का भी ऐसे ही परस्पर व्यवहार का 'स्व-धर्म' रहा; जब आर्य, ईरानी, गॉल, गॉथ, शक, हूण, मुगल, तुर्क आदि पौरस्त्य जातियों का, वेदकाल और उपनिषत्काल से ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी तक, पाश्चात्य यूरोप की ओर बढ़ते जाना, और पहिले से बसी जातियों पर आक्रमण कर के उन का ध्वंस करना, 'स्व-धर्म' था; जब सोलहवीं शताब्दी से आज तक सूर्य उलटे चल रहे हैं; और पाश्चात्य श्वेत जातियों का, पौरस्त्य जातियों पर, आक्रमण और प्रभुत्व स्थापन करना स्व-धर्म हो रहा है; और सभी अपने-अपने 'स्व-धर्म'-पालन में 'धैर्य' स्थैर्य के साथ लगे रहे, और लग रहे हैं; तब भी, 'स्व-धर्म'-पालन से जगत् मे शान्ति की आशा जो आप ने प्रकट की, वह पूरी नहीं हो रही

पहुँचे हैं; और हज़ारों हिन्दू स्त्रियां बलात्कार से दूषित हुईं और मुसल्मान बनाई गईं—यह सब देखने के बाद, अब 'उघरे पटल परसु धर मति के'। कलकत्ता मे, काशी मे, लुधियाना मे, लाहौर मे, कांची मे, तथा अन्य स्थानो मे, 'पंडित' लोग, सभा कर के, व्यवस्था दे रहे हैं कि ऐसी अबलाओं के लिये, वा विधर्मी कृत पुरुषों के लिये, किसी प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं हैं, केवल भगवन्नाम का स्मरण पर्याप्त है। पर, अब वे स्त्रियां रो रही हैं, कि हमारे कुल के पुरुष तो सब मार डाले गये, अब हम किस का आश्रय लें। यह फल है, 'पंडित-रूप-धारिणी' धर्मान्धता, 'शास्त्रान्धता, अदूर-दर्शिता का! इसी 'जन्मना वर्णः' के मूढ-ग्राह ने, मूढता ने, महामोह ने, तामसी बुद्धि ने, हिन्दू धर्म और हिन्दू-समाज को नरक मे डाला है। इस नरक से सद् धर्म को, हिन्दू-समाज को, अपितु समस्त मानव-समाज को, उबारने, उद्धारने, का एकमात्र उपाय 'कर्मणा वर्णः, वयसा आश्रमः, महामंत्र मे सं-निहित है!

है, प्रत्युत अशान्ति ही बढ़ती रही है! काम कैसे चले? इन वाक्यों मे 'स्व-धर्म' शब्द का प्रयोग मैं ने, व्यंग्य से नहीं किया है; ये सब, सचमुच, अपने अपने क्रूर आचरणो को 'स्व-धर्म' ही मानते रहे हैं; क्योंकि उन के धर्माधिकारी उन को यह शिक्षा देते रहे हैं कि यही तुम्हारा धर्म है।

निचोड़ निश्च्योत निष्कर्ष निखरी बात यह है कि, 'स्व-धर्म' का निर्धारण-निर्णयन-निश्चयन सब से पहिले आवश्यक है; इस का उपाय, आप बतावें और तदनन्तर, उस उपाय के प्रचार, प्रसार, प्रवर्त्तन का उपाय, बतावें। अभी आप ने अपनी आशामात्र, इच्छामात्र, प्रकट की है। मेरे बताये उपायों को सदोश मानने को मैं तैयार हूँ; 'अव्यर्थं महौषध' नहीं ही है; 'नात्यन्तं गुणवत् किञ्चित्'। वेद-वेद-वेद की पुकार हो रही है; ठीक है; पर एक वेद के चार वेद हुए; प्रत्येक की बहुत बहुत शाखाएं हुईं; यहां तक कि 'सहस्रवर्त्मा साम'; और अधिकतर लुप्त हो गयीं, अनादि-निधना' होती हुई भी; कितने ही भाष्य बने और लुप्त हो गये; अब बहुतेरी ऋचाओं का अर्थ नितरां सन्दिग्ध ही है; वैदिक-मचर्चिकाओं और पण्डित-मतल्लिकाओं को भी ठीक पता नहीं; दो हजार वर्ष पहिले, निरुक्तकार यास्क के समय मे ही सन्देह उत्पन्न होने लग गये थे; पातंजल-महाभाष्य में, तथा अन्य प्राचीन भाष्यों-टीकाओं मे, कितने ही आर्ष सूत्रों के कई कई अर्थ, 'अथवा' 'अथवा' कर के लिखे हैं; अर्थ के, और प्रयोग के निर्णय के लिये पूर्वमीमांसा का महाशास्त्र ही बन गया; राणक ऐसे महाकाय ग्रन्थ बन कर प्रायः लुप्त हो गये, उस मे भी भाट्टमत, गुरुमत, 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः', तीन भेद हो गये; 'पौरुषेयता' 'अपौरुषेयता' की, तर्कप्रतितर्क से, कितनी बाल की खाल निकाली गयी और निकाली जा रही है, और 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' के स्तनयित्नु निर्ह्राद होते हुए भी, एक ओर प्रमुख महाशास्त्र न्यायशास्त्र ('सर्वेषामपि शास्त्राणां न्याय-व्याकरणं मुख') वेद को पौरुषेय ही कहता है, और दूसरा महाशास्त्र मीमांसाशास्त्र उस को अपौरुषेय ही बताता है, और औपरुषेय कहता हुआ भी भूतार्थवाद, अनुवाद, गुणवाद, 'रोचनार्था फलश्रुतिः' आदि का बहुत सूक्ष्म, बुद्धि पर तीव्र तीखी सान चढ़ाने वाला, विवेक करता है; ऐसी सान, कि 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च' के ऐसी बारीक हो कर, बुद्धि अदृश्य और लुप्त ही हो जाती है, स्थूल सांसारिक व्याव-

हारिक कार्यों के स्पर्श को सहन ही नहीं कर सकती ! प्रत्यक्ष ही सैकड़ों पंथ, परस्पर विवदमान, कलहायमान, भारत मे भर रहे हैं, सभी अपने को हिन्दू, सनातनधर्मानुयायी, स्व-धर्म पालक कहते हैं;' "अग्निः यथा एकः भुवनं प्रविष्टः रूपं रूपं प्रतिरूपः बभूव", 'सनातनश्चापि धर्मः तथा एकः जातिं जातिं प्रतिजातिः बभूव'। ऐसी दशा मे 'स्व-धर्म' के सच्चे रूप का निर्णय कीजिये, और उस का, सब से, धैर्येण अवलम्बन कराने का, उपाय बताइये। गीता मे 'स्व-धर्म' शब्द पांच बार आया है; अ० ३-३५ (दो बार); २-३१,३३; १८-४७। इन प्रयोगों पर, तथा ४-१३ और १८-४१ पर, विचार करने से मेरे समझ मे यही आया है कि 'स्वभाव-नियतं कर्म' ही को कृष्ण ने 'स्व-धर्म' माना है; अर्थात्,

स्वस्य भावे प्रधानो यो गुणः, सत्त्वं, रजः, ऽथवा
तमः, तदुद्गतं कर्म यत्, स्व-धर्मः स एव हि।

पुनरपि मेरा नम्रनिवेदन।

ऐसे हेतुओं से, वर्तमान अवस्था मे, सब पाठक सज्जनो से पुनरपि मेरा नम्र निवेदन है, (क्योंकि मैं हिन्दूधर्म और हिन्दू समाज का द्रोही नहीं हूँ, प्रत्युत बहुत हितैषी और सिसेविषु, आज पैंतालीस पचास वर्ष से, अधिकाधिक हो रहा हूँ), कि, इस समय मे 'जन्मना वर्णः' का उद्बोधन प्रचारण प्रवर्त्तन दुर्लभ क्या असम्भव है, और कल्याणकर नहीं है; प्रत्युत बलवानो को निसर्गतः अधिकारों का अधिकाधिक गृध्नु बनाता है, और कर्तव्यों से अतितरां विमुख और च्युत करता है; और दुर्बलों को अधिकार-हीन और केवल कर्त्तव्यों के भार से भुग्न और भज्यमान कर देता है। विपरीत इस के, 'कर्मणा वर्णः' का, और तदनुसार अधिकारों और कर्त्तव्यों के परस्पर दृढ़ सम्बन्ध का और भिन्न वर्णो मे विभाजन का, शिक्षण प्रसारण प्रवर्त्तन बहुत सुकर है, बहुत कल्याणकर है, सब प्रकार की आभ्यन्तर और बाह्य शान्ति का सर्वत्र आधायक है; इस की ओर सब देशों मे विचारशील सज्जनों की प्रवृत्ति स्वयं ही हो रही है; उन के विचारों का, परम्पराप्राप्त गीतोक्त शास्त्र गुह्यतम भी और प्रत्याक्षावगम और धर्म्यं भी और कर्तुं सुसुखम् भी अध्यात्मशास्त्र, आत्मविद्या, के द्वारा, परिमार्जन परिष्करण निश्चयन उत्तेजन करने की आवश्यकता है। इस कार्य के लिए 'कर्मणा वर्णः' के आनुषंगिक विचारों, तर्कों, प्रमाणों, सद्भावों मे

निष्णात, थोड़े से संशप्तकों के दल की आवश्यकता है, जो वेद की आज्ञा "संगच्छध्वं, संवदध्वं सं वो मनांसि जानतां" तथा 'कृण्वंतो विश्व आर्यं" को हृदय से, मनसा वचसा कर्मणा, पालना चाहते हों। उक्त अंग्रेजी ग्रन्थों मे 'तथा मानव-धर्म-सार' और 'शास्त्र-वाद बनाम बुद्धि-वाद, नाम के ग्रन्थों मे यह सब बात सविस्तर कही है, तथा इसी ग्रन्थ के गत अध्याओं मे भी।

यह सदा स्मरण रहना चाहिये कि केवल निषेध-मुखेन प्रवृत्ति पर्याप्त नहीं, विधिमुखेन भी चाहिये; खण्डन ही नहीं, मण्डन भी; अपोहन ही नहीं, समूहन व्यूहन भी; परदोष-दर्शन और वर्जन ही नहीं, स्वगुण-सर्जन, प्रदर्शन व्यवहरण, प्रचारण भी। वर्त्तमान 'डिमोक्रेसी' मे बड़े दोष; निश्चयेन; उस के स्थान पर क्या शासन-प्रकार होना चाहिये और कैसे उस का स्थापन किया जाय, यह बताइये। प्रवर्त्तमान निर्वाचन-प्रकार से योग्य व्यक्ति निर्वाचित नहीं होते; निश्चयेन; पर कौन दूसरा प्रकार काम मे लाया जाय? मै ने एक-अन्य प्रकार बताने का यत्न किया है; अपनी क्षुद्र बुद्धि के भरोसे नहीं; आर्ष वाक्यों के भरोसे। यदि वे प्रकार ठीक नहीं, तो दूसरे कहिये।

विधानात्मक कृत्यवर्त्म बताइये।

'कर्मणा वर्णः' के अनुसार, हिन्दू-धर्म और हिन्दूसमाज-व्यवस्था के जीर्णोद्धार के लिए किञ्चिद् अत्यल्प न-गण्य क्षुद्र सेवा करने की चेष्टा, सम-विचार सम-भाव के उद्योगियों के साथ, १८९८ ई० से, जब से 'सेण्ट्रल् हिन्दू कालिज' की स्थापना काशी में हुई, विविध प्रकार से कर रहा हूँ। पहिले कुछ अनुद्बुद्ध रूप से, पीछे अधिकाधिक उद्बुध्यमान रूप से, अब बहुत वर्षों से दृढ़, विश्वास मेरा यह हो रहा है कि 'हिन्दू धर्म' पर प्रतिष्ठित यही 'हिन्दू-समाज-व्यवस्था' यदि अध्यात्मशास्त्र और आत्म-विद्या के अनुसारी 'कर्मणा वर्णः' के सिद्धान्त से परिमार्जित परिष्कृत प्रतिसंस्कृत कर दी जाय, तो 'हिन्दू-धर्म' 'हिदू-समाज' के कृत्रिम नाम और संकुचित भाव को छोड़ कर, सर्वलोकसंग्राहक तथ्य और उदार और प्राचीन आप नाम और भाव, 'मानव-धर्म' 'मानव समाज' का, ग्रहण कर लेगी; और "नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलोऽयं सनातनः" 'सनातन' आत्मा पर प्रतिष्ठित, उस की प्रकृति से निःसृत, 'धर्म', 'सनातनधर्म'

'विश्व-धर्म', से प्राणित, विश्व-व्यवस्था के रूप मे परिणत हो कर, सर्व-मानव-लोक की कल्याणकारिणी हो जायगी।

'डिमाक्रेसी' के दोष

इस लेख को यहां समाप्त करना चाहता था, किन्तु समालोचक के दो और लेख, "पाश्चात्य लोकतन्त्र" और "हमारा कटु अनुभव", नज़र आये;* उन मे जो बातें वर्त्तमान 'डिमोक्रेसी' के दोषों के सम्बन्ध मे कही हैं, प्रायः वह सब, अधिक विस्तार से, बहुत हेतुओं के, और पाश्चात्य लेखकों के मतों के, प्रतिपादन के साथ, 'विश्व-युद्ध और उस की एकमात्र औषध'† नाम के ग्रन्थ मे मैंने लिखा है। पर उस ग्रन्थ मे एक बात और लिखी है। इतना ही कह और पूछ कर (जैसा समालोचक ने किया है), कि "इन सब प्रश्नों पर क्या अभी से विचार करने की आवश्यकता नहीं है?", मै ने सन्तोष नहीं किया है, बल्कि विस्तार से विचार किया है। आश्चर्य है कि इन विचारों की ओर समालोचक का ध्यान नहीं गया; उस ग्रन्थ मे आरम्भ से अंत तक यही बात तो कही है कि इन प्रश्नों पर अभी से विचार करने की आवश्यकता है; और मेरी बुद्धि में प्रश्नों के उत्तररूप जो विचार उठे हैं, उन का भी प्रतिपादन किया है, और उन सब उत्तर-रूप विचारों के सूत्र-शब्द भी तो ये ही हैं—विश्वधर्मानुप्राणित विश्व व्यवस्था!

इस स्थान पर एक चेतावनी पुनः कर देना उचित है। साधारण मनुष्य की साधारण प्रकृति यह है कि अपने और अपने पूर्व पुरुषों के गुणो को ही देखे, और परायों के दोषों को ही; पर 'विद्वान् गुणज्ञो दोषज्ञः' अपने भी पराये भी, गुणो को भी दोषों को भी, देखता है। 'रामराज्य' सर्वथा निर्दोष सर्व-सुख-मय था—यह सुन कह मान लेना पर्याप्त नहीं; वाल्मीकि जी ने, इशारे मे, उस युग के दोष भी दिखाये हैं, और रोचक शब्दों मे, साधनीय आदर्श व्यवस्था का वर्णन किया है; रावण के घोर पाप दिखाते हुए उस के अद्भुत गुण भी कहे हैं; राम जी के मुख से,

---

* 'सिद्धान्त' के १४ और २८·४·१९४२ के अङ्कों मे।

† *World-War and Its Only Cure—World-Order and World Religion.*

रावण के मरण के बाद उस को 'महात्मा' कहलाया है; यह भी कहलाया है कि दशरथ 'कामाभिभूत' थे।

अर्थधर्मौ परित्यज्य यः कामं अनुवर्त्तते,
एवं आपद्यते क्षिप्रं, राजा दशरथः यथा।

यह भी स्पष्ट-प्राय शब्दों मे कहा है कि दशरथ को पहिले से ही कैकेयी से शंका थी, इसी लिए भरत को हिमालय पार मामा के यहां भेज कर उन्होंने राम को युवराज बनाने का यत्न किया।

बहु विवाह की प्रथा उस समय थी ही; राम ने अपने पिता के बहुविवाह का दुष्फल भुगत कर ही एक-पत्नी-व्रत किया; उन के चारो तरफ पचासों स्वतंत्र राजा लोग बहु विवाह करते ही थे, उन के वंशजों ने भी पुनः किया; एक धोबी के बकने से सीता को निकाल दिया, अन्त मे स्वयं दुःखी हो कर सरयू मे प्रवेश कर गये। एक अकेले राम जी के परम सदाचारी और प्रजा वत्सल होने से उन के जीवन काल मे 'राम-राज्य' रहा, तो इससे देश का सार्वकालिक कल्याण कैसे हो? यह कैसे निश्चय किया जाय कि सब राजा राम जी के ऐसे ही होंगे?

सर्वोपरि प्रश्न यह है कि, अब, इस देश-काल मे, 'राम-राज्य' के आदर्श अंश का पुनःआवाहन पुनः स्थापन कैसे किया जाय; केवल उस की प्रशंसा कर देना पर्याप्त नहीं। क्या किसी की आशा है कि राम जी फिर से उतर कर राज्य करेंगे? 'इति-ह-आस' पर्याप्त नहीं; 'इति ह-भूयात् पुनः'; का प्रकार सामने रखना चाहिये।

लक्ष्य को स्पष्ट करने की आवश्यकता।

कांग्रेस के, हिन्दू महासभा के, मुस्लिम लीग के, 'निर्दल नेता-दल' के, सभी प्रकार के भारतीय नेताओं से यही प्रार्थना पुनः पुनः उक्त ग्रन्थ मे, और सन् १९२१ से आरम्भ कर के सैकड़ों 'आर्टिकल्स्' मे संवादपत्रों मे, अंग्रेजी और हिन्दी मे, मै ने की है; तथा उक्त ग्रन्थ के पहिले और युद्धारम्भ के बाद भी बहुत आर्टिकल्स के द्वारा ब्रिटेन फ्रांस अमेरिका के राष्ट्राधीशों राष्ट्र-सञ्चालकों शासकों से भी यही प्रार्थना की है, अर्थात् यह कि युद्ध के 'लक्ष्य' 'साध्य' के रूप मे आप लोग किस प्रकार की नयी और साधुतर सृष्टि, उमदातर दुनियां, न्यू ऐण्ड बेटर वर्ल्ड्, रचेंगे, (क्योंकि सभी युध्यमान राष्ट्रों के नेता ऐसी ही प्रतिज्ञाएं कर रहे हैं), कैसी

समाज व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं, किस प्रकार की स्वतन्त्रता 'फ्रीडम' सब देशों और जातियों को देना चाहते हैं, डिमाक्रेसी का क्या रूप बनाना चाहते हैं, (क्योंकि प्रवर्त्तमान डिमाक्रेसी के घोर दोषों का स्वयं ब्रिटेन और अमेरिका के अति प्रसिद्ध प्रसिद्ध लेखकों ने विस्तार से दिखाया है), जिस से अच्छे, अनुभवी, लोकहितैषी, निःस्वार्थ आदमी ही धर्मव्यवस्थापक सभाओं मे जायँ, और ऐसे अच्छे क़ानून बनावैं, जिन क़ानूनों धर्मों से ऐसी समाज-व्यवस्था बन जाय, कि सब मनुष्यों को, यथोचित, स्व-स्व-प्रकृति के अनुकूल, पेट-भर रोटी, पीठ भर कपड़ा, सिर भर छप्पर छाजन, माथे मस्तक मस्तिष्क भर ज्ञान, धर्म (उपासना) और अर्थ (स्वत्व), सम्पत्ति, परिग्रह, रिक्थ, 'प्रापर्टी'* (मिल्कीयत) और काम (गार्हस्थ्य) का उचित मात्रा मे सुख, और अन्याय के भय से छुटकारा, मिल सके। और, ऐसी प्रार्थना, इन सब से, पुनः पुनः सतत करते हुए, यह सूचना भी, पुनः पुनः उक्त दोनों अंग्रेजी और एक संस्कृत ग्रन्थों मे, तथा अन्य कई अंग्रेज़ी और हिन्दी ग्रन्थों और छोटे लेखों मे, समास से भी और व्यास से भी, कर दी है, कि 'मानव-धर्म' के 'मानव आध्यात्मिक और आधिभौतिक, आधिजैविक (आधिदैविक) और आधिदैहिक, प्रकृति, के, अनुसार 'कर्मणा वर्णः' की नीति रीति से, 'मानव-समाज-व्यवस्था' और 'राष्ट्र-शासन-पद्धति' ऐसी ऐसी होनी चाहिये; और यदि हो तो उक्त लक्ष्य, जो सब तीन एषणाओं के अन्तःपाती हैं, तथा मोक्षैषणा भी, अर्थात् स्वार्थ, परमार्थ सभी, तृप्त और सिद्ध हो जायँ; तथा, लोकतन्त्रवाद, साम्राज्यवाद, साम्यवाद, 'शास्त्री राज्य', 'शस्त्री राज्य', 'धनी राज्य', 'श्रमी राज्य', ऐकराज्य, द्वैराज्य, गणराज्य, साम्राज्य, संघराज्य, वैराज्य, भोज्य, आदि प्रत्येक मे जो गुण का अंश है, उस सब का आ-कर्ष, और सब के दोष के अंशों का अप-कर्ष, भी, यथासम्भव, हो जाय; यथासम्भव, क्योंकि प्रकृति की अपरिहार्य द्वन्द्वता के कारण, आत्यन्तिक निर्दोषता, कभी, किसी प्रकार मे और से, सिद्ध नहीं हो सकती, दोष कम, गुण अधिक, दुःख कम, सुख अधिक—किसी एक निर्दिष्ट, परिमित, देश और काल के जनपद और युग मे—इतना ही साधा जा सकता है; और सध जाय, तो अहो भाग्यम्।

* Articles; New and Better World; Freedom, Democracy, Property.

कांग्रेस, से मेरी निरन्तर बीस वर्ष से रटन।

भारत के लिए विशेष रूप से, सन् १९२१ से, मैं, कांग्रेस के प्रधान नेताओं से, तथा जनता से, रट रहा हूँ कि, अभिलषित भारतीय 'स्वराज्य' के रूप का सविस्तर निरूपण निर्धारण कर दीजिये।* देशबन्धु चितरञ्जनदास जी के साथ एक 'स्वराज्य-योजना' भी मैं ने बनायी; 'डिमाक्रेसी', लोकतन्त्र, के विद्यमान दोषों को दूर करने का प्रकार भी उस मे

---

* १९२० तक कांग्रेस का 'क्रीड', Creed', लक्ष्य, साध्य, ध्येय था- 'ब्रिटेन के उपनिवेशों, 'कालोनीज़', Colonies, जैसे कनाडा, साउथ अफ़्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, के ऐसा स्वराज्य, 'सेल्फ़ गवर्मेंट', self-government. १९२० मे नागपुर की कांग्रेस मे 'क्रीड' बदला गया, रूप-निरूपक शब्द छोड़ दिये गये, केवल 'स्वराज' रक्खा गया; जिस से वह शब्द नितरां गूढ़-मूढ़, भ्रमावह, संदेहऽाच्छन्न हो गया। पूछने पर गांधी जी यह कहा करते थे कि स्वराज का अर्थ, 'राम राज', जो और भी अधिक भ्रमावह है। इसी से इस राम राज स्व-राज के अर्थ के स्पष्ट विवरण की इच्छा मुझ को उत्कट हुई। खेद है कि कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं को यह उग्र आवश्यकता अनुभूत न हुई; और इसी से कांग्रेस के कार्य मे नित्य नई अड़चने उठती हैं, और वह आगे नहीं बढ़ता, बल्कि पीछे ही हटता चला जा रहा है। इसी विषय का बहुत विस्तार से प्रतिपादन, मैंने, 'विश्व-युद्ध और उस की एकमात्र औषध' मे किया है। अब कई कारणों से, ब्रिटिश गवर्मेन्ट ने, मई १९४६ से प्रांतों मे, और सितम्बर १९४६ से केन्द्र मे, कांग्रेसी मिनिस्ट्रियां पुनः स्थापित होने दिया है; पर जैसा पहिले फ़ुट-नोट मे लिख आये, तरह तरह के उत्पात खड़े हो गये हैं। इस का भी कारण यही है कि, यद्यपि कांग्रेस के सब प्रधान नेता, एक दो को छोड़ कर, अहमद नगर के क़िले मे, अगस्त १९४२ से जून १९४५ तक, बंद रहे, और तीन वर्ष तक, दिन रात, निरन्तर, एक साथ रहे; फिर भी, कैद से बाहर आने पर, और शासन शक्ति पाने पर, भारतीय 'स्वराज' को क्या रूप देने का यत्न करना होगा—इस अति गुर्वर्थ, अति गम्भीर, प्रश्न पर विचार ही नहीं कर पाये; दूसरे-दूसरे विषयों पर पुस्तकें पढ़ते और लिखते रहे। "कार्यकाले तु सम्प्राप्ते गताः किंकार्यमूढतां"।

दिखाया, श्री शिवप्रसाद जी की उदारता से छः हजार प्रतियां उस की, महात्मा गांधी के 'यङ् इण्डिया' नामक साप्ताहिक के साथ, नेताओं और जनताओं के विचारार्थ, सन् १९२३-४ मे बाँटी गयीं; तथा और भी सहस्रों प्रतियाँ भारत और ब्रिटेन मे बाँटी गयीं; पर नेताओं का और नीतों का ध्यान इधर नहीं फिरा; सब इसी त्वरा मे थे कि 'स्वराज', झट्, 'मन्त्रवत्' चालबाजियों से मिल जाय, तब पीछे विचारा जायगा कि इस शब्द का क्या अर्थ है। जितनी त्वरा की, उतना ही अधिक विलम्ब होता गया; 'मन्त्र' मे, चाल मे, सार नहीं, वीर्य नहीं, तत्त्व नहीं; 'तच्चैक्यं समगच्छन्' का उपाय मालूम नहीं, 'संघे शक्तिः' की संघता के स्थान मे, 'विशेष-विशेष-धर्म-कृत' 'विशेष-विशेष—जाति-कृत' और 'विशेष-विशेष स्वार्थ कृत' अनन्त परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, अविश्वास, शंका; 'ऐक्य'-जनक 'विश्व-धर्म' और 'विश्व-व्यवस्था' की ओर उपेक्षा ही नहीं, अपितु अप-हास-बुद्धि। फल, प्रत्यक्ष; जितनी अधिक दौड़ 'स्वराज्य' के पीछे, उतना अधिक वेग से 'स्वराज्य' अधिकाधिक दूर भागता गया। "सहसा विदधीत न क्रियां", "अतिरभसकृतानां कर्मणां...भवति हृदयदाही शल्यतुल्यः विपाकः", "क्षिप्रकारी विपद्यते"। 'एका करो', 'एका करो'-ऐसा, जो नेता महोदय, दूसरों से कहते पुकारते फिरते थे, यक जान, दो क़ालिब, "त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं", "बहिश्चराः प्राणाः", जो परस्पर समझे जाते थे; स्वयं उन मे, परस्पर घोर 'अनेका' और तीव्र मतभेद हो रहा है, कारण—'स्वराज्य' शब्द पर थोथा खोखला दिखावटी 'एका' रहा, शब्द के वास्तविक अर्थ पर 'एका' करने का कभी स्वप्न भी नहीं देखा। अब, जब बीस वर्ष के रटने के बाद, गांधी जी ने इस बात को माना, कि ऐसी स्वराज की रूपरेखा, एक कमेटी द्वारा तयार कर के जनता के समक्ष विचारार्थ उपस्थित कर दी जानी चाहिये; और मुझे बड़ी आशा उत्पन्न हुई कि यह परम आवश्यक कार्य अब निश्चयेन करा देंगे, तब ऐसी घटनाएं हुईं कि गांधी जी कांग्रेस के नेतृत्व से और सदस्यता से भी (१९३४ ई० के अन्त से) तटस्थ हो गये और अनैक्य की भावना परस्पर अस्पृश्यता की भेद-बुद्धि जो हिन्दू जनता मे भरी हुई है और उस के अधःपात का प्रधान कारण है, वही कांग्रेस के भीतर भी सहसा जागी, और छोपो, तोपो, बोलो मत, की थोथी नीति को सद्यः

पार्ष्णिदान से दूर फेंक कर कांग्रेस के संघटन का विघटन करने के लक्षण दिखाने लगा। और अब तो ९ अगस्त १९४२ से महात्मा गांधी तथा कांग्रेस के अन्य प्रमुख नेता प्रायः सभी पुनः कारावास में बंद कर दिए गए हैं। (गांधीजी से और मुझ से जो इस विषय पर पत्र व्यवहार अगस्त-अक्टूबर १९४१ मे हुआ था वह 'वर्ल्ड वार्' की पुस्तक के पृ० ५२३ ५३६ पर छपा है)। रात्रिः गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः, इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे हा हन्त नलिनीं तु करी ममर्द; अभी सर्वथा "गज उज्जहार" नहीं; आसा पर साँसा और 'जब तक साँस तब तक आस'।

कांग्रेस की अनवस्था दुरवस्था।

नेता महोदय सदा इसी महाभ्रान्ति मे पड़े रहे हैं कि पहिले शासन-शक्ति हाथ मे आ जाय तब पीछे सोचा जायगा कि उस का प्रयोग कैसे किया जायगा; कितना भी रटा गया, इन महोदयों ने अब तक यह नहीं ही पहिचाना कि बिना इस बात को सब दलों सब मत-वालों को समझाये, और बिना उन के मन मे यह विश्वास बैठाये, कि शासन-शक्ति का प्रयोग इस-इस प्रकार से किया जायगा, ऐसी-ऐसी योग्यता के 'तपोविद्या-युक्त पुरोहितों' के द्वारा ऐसे-ऐसे कानून बनाये जायँगे, और ऐसी समाज-व्यवस्था साधी जायगी, जिस से सब को अन्न वस्त्रादि आवश्यकीय वस्तुओं की प्राप्ति निश्चित हो जायगी—बिना इस के सब वर्णों वर्गों दलों तबक़ों सम्प्रदायों प्रान्तों के भारतीयों मे वह ऐक्य वह ऐक्यमत नहीं होने का, जिस ऐक्य के बल से भारतवासी, शासन-शक्ति को परदेश-वासियों के हाथ मे से निकाल कर, अपने हाथ मे लाने मे, और पर-राज के स्थान मे स्व-राज को स्थापित करने मे, समर्थ कृतार्थ होंगे। ये महोदय अब तक कहते रहे हैं कि स्व-राज मिल जाय तो चौबीस घंटे के भीतर सब मतभेद दूर हो जायँगे अर्थात्—जब कार्य पहिले सिद्ध हो जायगा तब कारण चौबीस घंटे के भीतर उपस्थित हो जायंगे! कार्य पहिले, साधन पीछे; शब्द पहिले, अर्थ पीछे! इस महाभ्रान्ति का फल प्रत्यक्ष ही है।

अब तो मानव-संसार की दशा प्रतिदिन ऐसे वेग से बदल रही है कि भारतीयों का हाल कल क्या होगा यह आज निश्चयेन, क्या संभा-

व्यत्वेन भी, नहीं कहा जा सकता। पर अंग्रेजी मे एक कहावत है 'इट् इज़् नेवर टू लेट टु मेंड्'*; देर तो बहुत हो गयी है पर सुधार अब भी असम्भव नहीं है; जभी कुपथ को छोड़ कर सुपथ पर लौटे अच्छा है।

('अपि चेदुत्पथं यातः, भजते सत्पथं पुनः),
साधुरेव स मन्तव्यः, सम्यग्व्यवसितो हि सः,
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा, शश्वच्छांतिं निगच्छति'।

किन्तु ऐसे सुधार के लिए परमावश्यक है कि हम अपने दोषों को निश्चय से पहिचाने। भारतीय जीवन और सिद्धान्तों की जब कोई यूरोपीय जरा प्रशंसा करता है और यूरोपीय का निन्दा, तब हम बहुत प्रसन्न होते हैं और बड़े लाव-चाव शौक़-ज़ौक से उस के वाक्यों का आम्रेडन करते हैं; परन्तु जब भारतीय जीवन की निन्दा और यूरोपीय की प्रशंसा करता है तब हम उस ओर आँख कान फेरना भी नहीं चाहते। भारत का उद्धार यों नहीं होना है। जब हम दोनो के गुणांशों को भी, दोषांशों को भी, राग-द्वेष रहित निष्पक्षता-सहित सर्वं-हित-समाहित बुद्धि और हृदय से परखैं और पहिचानैंगे, और दोनो के गुणांशों का ग्रहण और दोषांशों का त्यजन करैंगे, तभी भारत का उद्धार होगा।

उपसंहार

भारतभूमि पर, परमात्मा की इच्छा से, पृथिवी पर प्रचलित सब ही मुख्य धर्म एकत्र हैं। यहाँ हिन्दू, बौद्ध, जैन, पारसी, सिख भी, ईसाई, मुसल्मान, यहूदी भी, सभी हैं। अति प्राचीन 'सनातन'-धर्मसार धर्म-सामान्य, विश्व-धर्म वेदान्त-तसव्वुफ़-ग्नास्टिक्मिस्टिसिज्म का नवावतार भारत मे यदि नहीं होगा तो अन्य किस देश से आशा है?

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः,
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैः गुणैः;
('चातुर्वर्ण्यान्तरायाताः पृथिव्यां सर्वमानवाः
त्रयः द्विजाः एकजातिः एकः); नास्ति तु पञ्चमः।'

---

* It is never too late to mend.

सर्व धर्म सम्प्रदायान्तर्गत सर्व मानवों को, व्यवस्थासार, समाज-व्यवस्थासामान्य विश्व व्यवस्था, भारत का ही देन, कर्मणा ही (न तु जन्मना) हो सकती है। और ऐसी विश्वधर्म से अनुप्राणित विश्व-व्यवस्था से ही मानव-जगत् का सब प्रकार का कल्याण हो सकता है और प्रत्येक मनुष्य के लिए उस की प्रकृति की गति पर्यन्त चारो पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं।

सुलभाः पुरुषाः नूनं सततं प्रियवादिनः,
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः,
(दुर्लभश्चापि सत्-कृत्यवर्त्म-निर्देशकः जनः)।
प्रायः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति;
आत्मनः बिल्वमात्राणि जनः पश्यन् न पश्यति।
सामान्यम् एकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्;
तुल्यार्थता हि सामान्यं, विशेषस्तु विपर्ययः;
सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणं;
ह्रासहेतुः विशेषश्च; प्रवृत्तिः उभयस्य तु।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं; परम् पश्यत माऽपरम्;
धर्मं चरत माऽधर्मं; सत्यं वदत माऽनृतं।
सर्वम् आत्मनि सम्पश्येत् सच्च असच्च समाहितः;
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति यः जनः,
सः सर्वसमताम् एत्य स्वाराज्यं अधिगच्छति।
ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येम अक्षभिः यजत्राः,
स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवांसः तनूभिः, व्यशेमहि देवहितं यद् आयुः।
स्वस्ति नः इन्द्रः वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः,
स्वस्ति न तार्क्ष्यःऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नः बृहस्पतिर् धातु। ॐ
ॐ शं नो मित्रः, शं वरुणः, शं नः भवतु अर्यमा,
शं न इन्द्रः बृहस्पतिः; शं नः विष्णुः उरुक्रमः। ॐ
ॐ सर्वः तरतु दुर्गाणि, सर्वः भद्राणि पश्यतु,
सर्वः सद्बुद्धिम् आप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु। ॐ